तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रथमावृत्ति : २०००

शकाब्द १८८५; विक्रमाब्द २०२०; खृष्टाब्द १९६३

मूल्य : सजिल्द ७·५० न० पै०

मुद्रक :
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी ५८४१ (अ)–१८

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' का प्रकाशन परिषद् की उस योजना के अन्तर्गत है, जिसमें विभिन्न विषयों के विशिष्ट विद्वानों से ही हिन्दी में उनके द्वारा अधिकृत विषयों पर भाषण तथा व्याख्यान कराये जाते हैं। इसमें देश के विद्वत्समाज के कभी दो मत नहीं हो सकते कि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजी अखिल भारतीय विद्वानों के मध्य तान्त्रिक वाङ्मय के अद्वितीय अधीती तथा विशेषज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई विषयों में भी उनका पाण्डित्य अप्रतिम है।

'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' का ही यह सौभाग्य है कि वह ऐसे विद्या-वयोवृद्ध महर्षि-कल्प मनीषी की लेखनी का प्रसाद, हिन्दी ग्रन्थ के रूप में, हिन्दी-संसार के समक्ष प्रस्तुत कर रही है। परिषद् कविराजजी द्वारा लिखित 'भारतीय-संस्कृति और साधना' (प्रथम खण्ड) नामक निबन्ध-ग्रन्थ इसके पूर्व भी प्रकाशित कर चुकी है तथा उसका दूसरा खण्ड मुद्रणाधीन है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्राचीन तन्त्र-शास्त्र के ग्रन्थों का सर्वथा अभाव देखकर परिषद् के संचालक-मण्डल ने उक्त शास्त्र पर भाषण कराने के लिए एकमात्र अधिकारी विद्वान् कविराजजी को ही माना और उन्होंने हमारे अनुरोध को कृपापूर्वक स्वीकार किया। अपने भाषण-माला-कार्यक्रम में, व्याख्यान के निमित्त परिषद् ने पूज्यपाद कविराजजी द्वारा लिखित इस ग्रन्थ के निबन्धों को, सन् १९६१ ई० में ही, प्राप्त कर लिया था, जिनका ग्रन्थाकार प्रकाशन करने में हम आज, दो वर्ष बाद, सफल हो सके हैं। निश्चय ही महामहोपाध्याय कविराजजी-जैसे प्रखर विद्वान् की लेखनी के इस महिमामय प्रसाद से हिन्दी धन्य हुई है।

भारतीय कोश-ग्रन्थों में 'तन्त्र' शब्द के जितने अर्थ प्राप्त होते हैं, उनमें एक अर्थ है—शिवमुखोक्त शास्त्र। यह शिवोक्तशास्त्र 'आगम', 'यामल' और 'तन्त्र' इन तीन भागों में विभक्त माना गया है। 'वाराहीतन्त्र' नामक ग्रन्थ तो तन्त्र को 'कल्प' के अन्तर्गत मानता है, जिसके लिए वह लिखता है—

> कल्पश्चतुर्विधः प्रोक्तः आगमो डामरस्तथा।
> यामलश्च तथा तन्त्रं तेषां भेदाः पृथक्-पृथक्॥

इस ग्रन्थ के अनुसार तन्त्रशास्त्र उसे कहते हैं, जिसमें सृष्टि, प्रलय, मन्त्र-निर्णय, देवता-संस्थान, तीर्थवर्णन आदि का वर्णन हो। इस परिभाषा से तो वेद के छह अंगों का 'कल्प' ही वस्तुतः तंत्र है। बौद्धों का 'दीर्घनिकाय' इसी कल्पको 'वेदुम' कहता है, जिसका अध्ययन-अध्यापन भगवान् बुद्ध के समय में खूब प्रचलित था। किन्तु,

हमारी समझ से षडङ्गवाले 'कल्प' का तात्पर्य है—क्रियापरक शास्त्र, जिसमें 'गृह्यसूत्र', 'धर्मसूत्र' और 'श्रौतसूत्र' जैसे ग्रन्थ आते हैं।

शिवोक्त तन्त्र-साहित्य का भण्डार विशाल है। 'वाराहीतन्त्र' में जिन ५५ तन्त्रों का उल्लेख मिलता है, उनके श्लोकों की संख्या ९,६७,९४९ है। 'आगमतत्त्व-विलास' जैसे ग्रन्थों के अनुसार २०८ तन्त्र-ग्रन्थ आज भी प्राप्त हैं। केवल संस्कृत भाषा में लिखे बौद्धों के ७२ तन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तिब्बत में तो तन्त्र (रिग्-युद्) ७८ भागों में विभक्त है, जिनमें से २,६४० ग्रन्थ तो बिलकुल स्वतंत्र रूप में हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कपिल-कणाद की परम्परा की अन्तिम कड़ी पूज्य कविराजजी ने ऐसे लुप्त तथा उपलब्ध विशाल तंत्र-वाङ्मय में प्राप्त होनेवाली शाक्त दृष्टि का विशद विवेचन किया है।

हमारे देश में शैवागम तथा शाक्तागम दोनों ही अति प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के समय में प्रचलित प्रसिद्धि के अनुसार अति प्राचीन काल में जो विशाल तन्त्र अथवा आगम साहित्य विद्यमान था, काल के प्रभाव से वह लुप्त हो गया था। उसके लुप्त हो जाने के कारण साधक-समाज में नितान्त विशृंखलता पैदा हो गई थी एवं जीवों का आध्यात्मिक मार्ग अवरुद्ध-सा हो गया था। कैलासपति भगवान् श्रीकण्ठ ने इससे चिन्तित होकर अपने भक्त महर्षि 'दुर्वासा' का स्मरण किया और उन्हें आदेश दिया कि द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत मार्ग के लुप्त आगम-शास्त्र का उद्धार करें तथा अधिकार के अनुसार जगत् में उसका प्रचार करें। तदनुसार 'दुर्वासा' ने शैवागम को तीन भागों में विभक्त कर 'त्र्यम्बक', 'आमर्दक' तथा 'श्रीनाथ' नामक अपने तीन मानसपुत्रों में से प्रत्येक को एक-एक भाग की शिक्षा दी। वे क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत आगम का जगत् में शिक्षण द्वारा प्रचार करने में तत्पर हुए। इन तीन आगमों की धाराएँ पृथक्-पृथक् थीं एवं प्रत्येक धारा का विशेषरूप से क्रमशः विस्तार हुआ।

इनके अतिरिक्त एक और धारा थी, जिसका नाम था 'अर्ध-त्र्यम्बक'। यह धारा पूर्वोक्त त्र्यम्बक के कन्या-पक्ष से प्रचारित हुई थी। अर्ध-त्र्यम्बक धारा प्राचीन शाक्त धाराओं में ही अन्यतम थी।

इसी प्रकार और भी विविध और प्राचीन कालीन प्रसिद्धियाँ हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र अथवा आगम का प्रचार अति प्राचीन काल से होता आया है। वैष्णव-सम्प्रदाय में पाञ्चरात्र की धारा का, बीच-बीच में विच्छेद होकर, पुनरुद्धार हुआ था। शैव तथा शाक्त आगमों की धाराओं में भी इसी प्रकार सम्प्रदाय के लोप तथा पुनरुद्धार का पता चलता है। किरणादि आगमों के आधार पर 'शतरत्न-संग्रह' आदि ग्रन्थों में शैव-आगमों के विस्तार का जैसा परिचय मिलता है; उससे लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि विभिन्न प्रकार के आगमों का अथवा तान्त्रिक साहित्य का सर्वत्र प्रचार अति प्राचीन काल से विद्यमान रहा। शैवागम और शाक्तागम परस्पर निगूढ सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं।

वर्तमान ऐतिहासिक गवेषणा से भी स्थिर हुआ है कि अति प्राचीनकाल से

भारत के तुल्य अन्यान्य देशों में भी जैसे क्रीट (Crete), एशिया माईनर (Asia Minor), मिस्र देश के अंशविशेष, बेबिलोनिया तथा प्राचीन यवन देशों में भी जगन्माता या महाशक्ति (Magna Mater) की उपासना प्रचलित थी। उसी प्रकार लिंग-पूजा अथवा शिव की आराधना भी प्रचलित थी।

बौद्ध धर्म में मध्य युग में जो तान्त्रिक प्रभाव लक्षित होता है; जिसके सिलसिले में परवर्ती समय में तिब्बत तथा भारत में वज्रयान, कालचक्रयान, मन्त्रयान तथा सहजयान के विशाल साहित्य की रचना हुई थी; उसके भी मूल का यदि अन्वेषण किया जाय तो वह अधुना लुप्त अथवा लुप्तप्राय आगम साहित्य ही सिद्ध होगा। श्रीशैल, उड्डियान, कामरूप इत्यादि अति प्राचीन काल से पीठस्थानरूप में प्रसिद्ध थे। जहाँ आगमिक संस्कृति का परिशीलन भलीभाँति हुआ करता था।

वर्त्तमान समय में जो तान्त्रिक साहित्य प्रचलित है अथवा दो-चार सौ वर्ष पूर्व भी प्रचलित था, वह अधिकांश स्थलों में क्रिया अथवा प्रयोगात्मक है और मनुष्यों के लौकिक स्वार्थ-साधन से संसृष्ट है। प्राचीन आगम साहित्य में जो ज्ञान तथा योग के निगूढ़ रहस्य का उपदेश मिलता था, वह योग्य अधिकारी के अभाव से लुप्तप्राय हो गया है। आगमिक दृष्टि विशेषतः शाक्त दृष्टि का परिचय प्राप्त करना वर्तमान युग में कठिन होने पर भी अत्यन्त आवश्यक है। यही समझ कर शाङ्कर के वेदान्त-सम्प्रदाय में भी बड़े-बड़े आचार्य उपासना में उत्कर्ष-लाभ करने के लिए तान्त्रिक साधन मार्ग में प्रवृत्त होते थे। ऐसे साधक या योगियों का विद्यारण्य स्वामी ने 'कृतोपास्ति' के नाम से उल्लेख किया है। वस्तुतः तान्त्रिक उपासना ऐतिहासिक युग के पूर्व से ही, कभी-कभी बीच-बीचमें विच्छिन्न होने पर भी, परम्पराप्राप्त है।

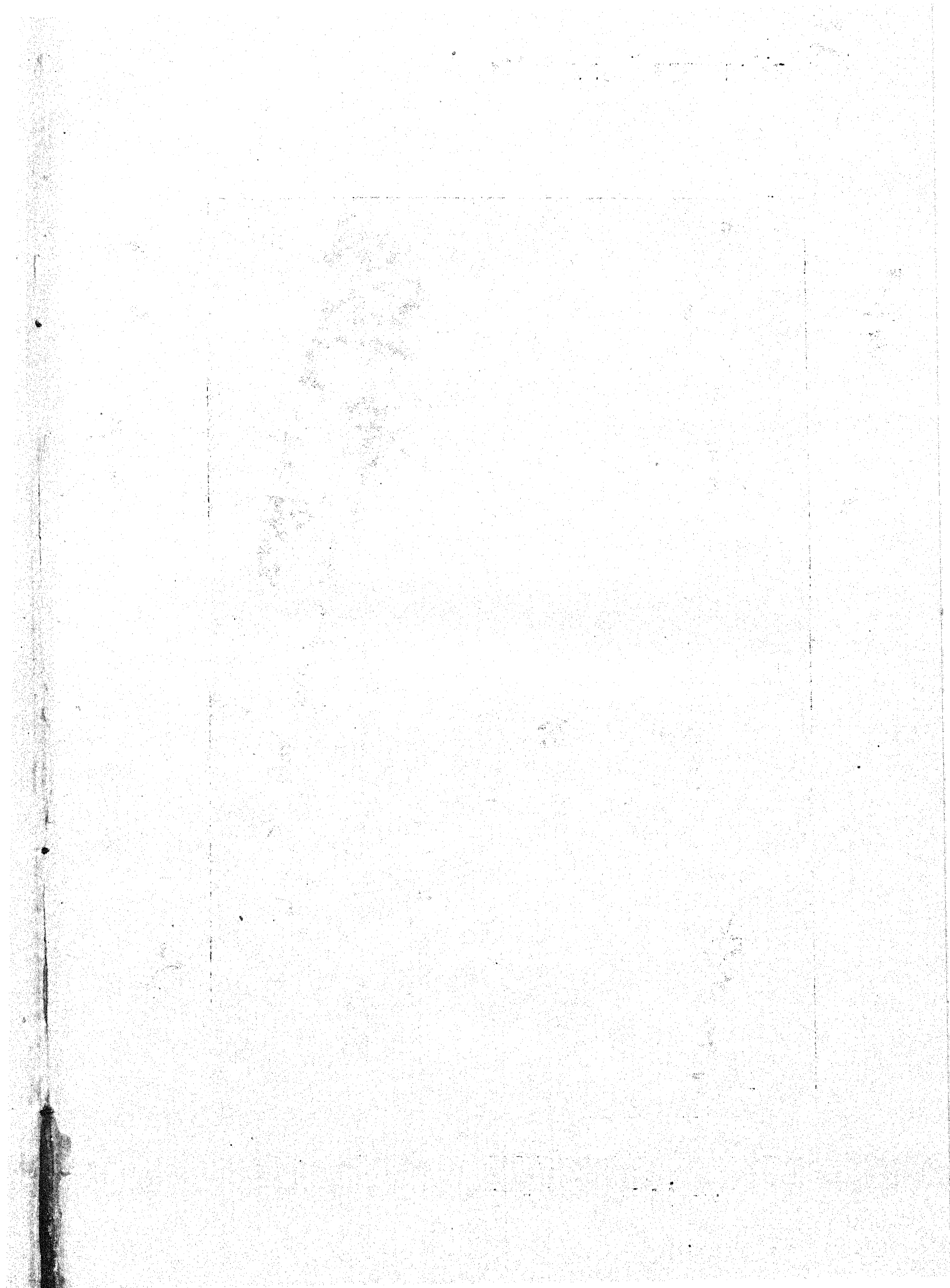
'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद' को अपनी लेखनी से गौरव प्रदान करनेवाले महा-महोपाध्याय डॉ० कविराजजी प्राच्य-प्रतीच्य सर्वविद्या-विषयक अपने लोकोत्तर वैदुष्य से केवल भारतको ही धन्य करनेवाले मनीषी नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण विश्वमें उनकी विद्वद्गरिमा की कीर्त्तिपताका फहरा रही है। वे जिस प्रकार भारतीय आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के महापण्डित, आगमतन्त्रों के परमाचार्य, वेद-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहास के उद्घाटक तथा साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य-दर्शन, रहस्यवाद (Mysticism), लिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, इतिहास आदि के भी मर्मविद् तथा प्रगाढ़ विद्वान् हैं। संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, पालि, प्राकृत आदि भाषाओं का भी उनका एकसमान ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। हम कविराजजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय पाठकों की जानकारी के लिए अलग से दे रहे हैं। हमारे अनुरोध पर कविराजजी का यह जीवन-परिचय उनके प्रिय शिष्य श्री श्रीकृष्ण पन्तजी ने तैयार किया है तथा पुस्तक के प्रकाशन में समय-समय पर उनसे अन्य प्रकार की भी सहायता हमें मिली है। इन सारी बातों के लिए हम श्री पन्तजी के चिरकृतज्ञ हैं। हम समझते हैं, आजतक के उच्चस्तरीय हिन्दी-प्रकाशनों में यह ग्रन्थ अंगुलिगण्य होगा।

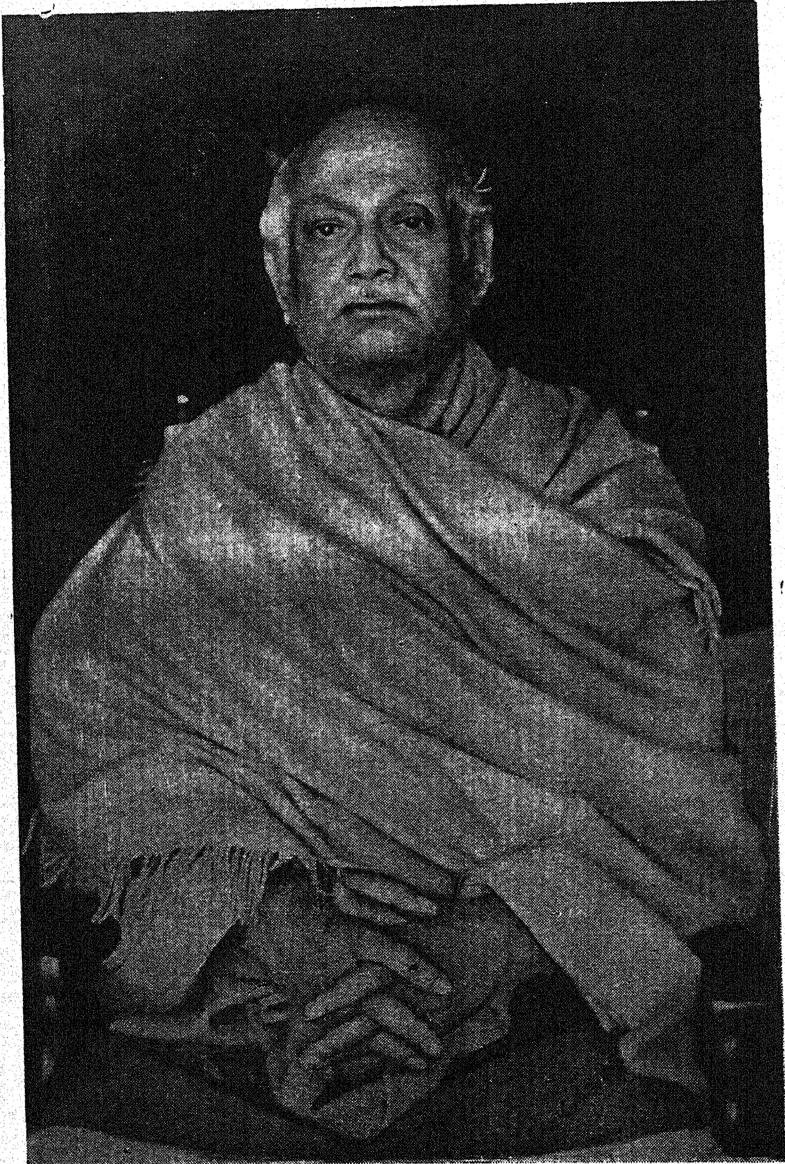
मंगलमय प्रभु की असीम अनुकम्पा से ही यह परम पवित्र महदनुष्ठान सम्पन्न हुआ। बीच में कई विघ्न-बाधाएँ आईं। स्वयं पूज्य श्रीकविराजजी का शरीर अस्वस्थ

हो गया और उपचार के लिए उन्हें बम्बई, पूना, हरिद्वार आदि स्थानों में प्रवास करना पड़ा। इस प्रकार इस ग्रन्थ के लेखन से लेकर मुद्रण-प्रकाशन तक में नाना प्रकार के विघ्न आये; परन्तु प्रभु की कृपा और करुणा से वे सभी दूर होते गये तथा आज हम अपने सुविज्ञ पाठकों के हाथों में यह ग्रन्थरत्न भेंट करते हुए अपूर्व आत्म-प्रसाद का अनुभव कर रहे हैं। हमारा विश्वास है, न केवल परिषद्-प्रकाशनों में, न केवल समस्त हिन्दी-वाङ्मय में; बल्कि समस्त भारतीय वाङ्मय में यह ग्रन्थरत्न अनन्त-काल तक मुकुटमणि के रूप में जगमगाता रहेगा। पूज्य श्रीकविराजजी ने करुणा-परवश होकर हम अकिंचन को अपार वात्सल्यभाव से यह महाप्रसाद प्रदान किया, जिसके लिए सदा भक्तिपूर्वक उनके पावन चरणों में हमारा मस्तक नत है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
विजयादशमी, २०२० वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
निर्देशक





श्रीयुक्त महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी-लिट्०,
भूतपूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी

ग्रन्थकार-परिचय

जन्म तथा वंश-परिचय—

महामहोपाध्याय डॉ० श्री गोपीनाथ कविराजजी का जन्म पूर्ववङ्ग, अब पूर्व-पाकिस्तान, के अन्तर्गत ढाका जिले के सुप्रसिद्ध धामराई ग्राम में भाद्रपद २२ सौर बुधवार १९४४ वि० (७ सितम्बर १८८७ ई०) को हुआ था। यह आपके मातामह का ग्राम है। आपके पूर्वपुरुषों का निवास स्थान मैमनसिंह जिलान्तर्गत दान्या गाँव है। आपके पिता श्री वैकुण्ठनाथ कविराज बाल्य काल में ही माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनके मातुलग्राम कांटालिया (जिला मैमनसिंह) में मातुल द्वारा पाले पोसे गये थे। उन्होंने उन्हें पढ़ाया और विवाह आदि भी उन्होंने किया। कविराजजी की पूज्या माता श्री श्री सुखदासुन्दरी स्व० हरिश्चन्द्र राय मौलिक की छोटी कन्या थीं। जन्म के बाद ही उनकी माता का देहावसान हो गया। उनकी एक बड़ी बहन और दो बड़े भाई थे।

कविराजजी के पिता श्री वैकुण्ठनाथ कविराज बड़े अच्छे स्कालर थे। वे बी० ए० में संस्कृत में आनर्स के साथ प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुए थे। एम० ए० उत्तीर्ण होने के पहले, अल्प वय में ही, उनका देहान्त हो गया। श्री कविराजजी अपने माता-पिता के एकमात्र सन्तान हैं।

अध्ययन—

कविराजजी की प्रारंभिक शिक्षा अपने पिताजी के ननिहाल कांटालिया में हुई। तदुपरान्त धामराई में इंगलिश स्कूल में प्रविष्ट हुए। उसके पश्चात् किशोरी-लाल जुबिली स्कूल, ढाका में प्रविष्ट हुए। वहीं से १९०५ ई० में उन्होंने इन्ट्रेन्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

इन्ट्रेन्स पास होने के बाद लगभग एक वर्ष मलेरिया ज्वर से पीडित रहे। वायु-परिवर्तन के लिए स्थानान्तर में भी गये। १९०६ ई० में मलेरिया से सर्वथा शुद्ध ऐसे स्थान को खोजते हुए जयपुर (राजस्थान) पहुँचे। वहाँ महाराजा जयपुर कालेज में इन्टरमीडिएट कक्षा में प्रविष्ट हुए तथा साथ ही वहाँ के प्रधान मंत्री संसारचन्द्र सेनजी के पौत्रों के गार्जियन ट्यूटर नियुक्त किये गये। दो वर्ष बाद १९०८ में इन्टर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। वहीं से १९१० में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। चार वर्ष जयपुर रहने के उपरान्त स्वदेश लौट गये।

आपको डा० आर्थर वेनिस की विद्वत्ता का परिचय पहले से था। आपने उनका लिखा वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली तथा वेदान्तपरिभाषा का इंगलिश अनुवाद पढ़ा था। उनके लिपिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, वर्ण-विज्ञान, इतिहास आदि विषयों के प्रौढ़

वैदुष्य की चर्चा भी आपके कानों तक पहुँच चुकी थी। इसलिए काशी आकर उनके अधीन अध्ययन करने की आपको बड़ी उत्कट इच्छा हुई। आपके पिताजी के कतिपय मित्रों के कलकत्ता में अध्ययन करने की सलाह देने पर भी आप काशी आये और क्वींस कालेज में, जहाँ डा० वेनिस साहब प्रिंसिपल थे, एम्० ए० पंचम वर्ष में प्रविष्ट हुए। १९११ में पंचम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपरान्त आप एम० ए० षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट हुए। परन्तु बीमार पड़ गये। चिकित्सा तथा वायु-परिवर्तन के लिए आपको कलकत्ता तथा पुरी जाना पड़ा। वहाँ से लौटकर वायु-परिवर्तन के लिए ही हरिद्वार की ओर मँसूरी आदि स्वास्थ्यवर्द्धक स्थानों में भी कुछ दिन रहे। शरीर स्वस्थ हो जाने पर पुनः षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट होकर अध्ययन में दत्तचित्त हुए। एम० ए० में आपने लिपिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, वर्णविज्ञान आदि विषय लिये थे। इन विषयों को आप डा० वेनिस साहब से पढ़ते थे। प्रो० नौर्मन साहब के निकट प्राकृत और पाली साहित्य तथा व्याकरण का अध्ययन करते थे। जर्मन और फ्रेंच भाषा भी आपने प्रो० नौर्मन साहब से ही पढी थी। पाली अध्ययन-काल में म० म० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग, जो क्वींस कालेज के अध्यापक थे, कविराजजी के सहाध्यायी हुए। एम० ए० षष्ठ वर्ष में उनके सहाध्यायी थे आचार्य नरेन्द्रदेव तथा एच्० आर० दिवेकर। श्री कविराजजी ने न्याय और वेदान्त का अध्ययन महामहोपाध्याय पं० वामाचरण भट्टाचार्य जी से किया था।

१९१३ ई० में आप एम्० ए० परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुए। आपके मौखिक परीक्षकों ने, जो विभिन्न प्रान्तों के बहुत विश्रुत विद्वान थे, आपके पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

इसके अनन्तर एक वर्ष पोष्ट ग्रेजुएट के रूप में आप गवेषणा करते रहे। इस काल में आपने अशोक की शिला-लिपि, गुप्त-लिपि आदि विषयों में विशेष योग्यता उपार्जित की।

सर्विस—

सरस्वती-भवन नामक विशाल गवेषणाप्रधान पुस्तकालय की स्थापना होने के उपरान्त अप्रैल १९१४ ई० में वेनिस साहब की इच्छा के अनुसार आप उक्त पुस्तकालय के प्रधान अध्यक्ष नियुक्त किये गये। उसी समय डा० वेनिस के इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पोष्ट वैदिक स्टडीज के अध्यापक नियुक्त होने पर आप उनके अधीन उक्त विषय के रीडर नियुक्त हुए। आपका कार्य था सरस्वतीभवन में ही बैठकर क्वीन्स कालेज के एम्० ए० (संस्कृत) कक्षा के छात्रों को अध्यापन करना एवं उनको गवेषणा कार्य में सहायता पहुँचाना। इसी रीडर का कार्य करते समय बहुत छात्र बाहर के कई स्थानों से वृत्ति प्राप्त कर आपके तथा डा० वेनिस साहब के निकट अध्ययन करने के लिए आये।

उसी समय के आसपास डा० वेनिस साहब के प्रयत्न से उत्तर प्रदेश की हिस्टोरिकल सोसाइटी की स्थापना हुई। उससे जो जर्नल निकलता था, सुना है, प्रारम्भावस्था में उसके लिए कविराजजी नियमतः लेख लिखते थे।

इधर डा० वेनिस साहब तथा कविराजजी दोनों ने मिलकर उत्तर प्रदेश गवर्नमेंट के अधीन सरस्वतीभवन टैक्स्टस् तथा सरस्वतीभवन स्टडीज नाम से दो सीरीजों (ग्रन्थमालाओं) का प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया। उनके प्रकाशन का उद्देश्य था—सरस्वतीभवन लाइब्रेरी में जो उत्तम ग्रन्थ प्रकाशन के अभाव से पण्डितों की दृष्टि के अगोचर पड़े हुए थे, उन्हें प्रकाशित करना ताकि ग्रन्थ लुप्त न हो जायँ तथा सरस्वती-भवन में जो गवेषणा का कार्य होता था उसके आधार पर लेखों को प्रकाशित करना।

प्रकाशन का काम आरम्भ करते ही डा० वेनिस साहब का देहावसान हो गया। यह १९१८ की बात है। इसके बाद डा० गङ्गानाथ झा गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष होकर आये। डा० गङ्गानाथ झा भी डा० वेनिस के तुल्य ही श्री कविराजजी पर बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे और आपके निर्देश के अनुसार ही प्रकाशनादि कार्य करते थे। डा० झा भी डा० वेनिस के ही अतिप्राचीन छात्र थे।

डा० झा तथा श्री कविराजजी दोनों के सहयोग से कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। १९२४ ई० में डा० झा इलाहाबाद युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर होकर चले गये। उनके रिक्त स्थान पर पं० कविराजजी गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। अध्यक्ष को ही रजिस्ट्रार, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज परीक्षाएँ, का काम भी सम्भालना पड़ता था। प्रायः अध्यक्ष ही सुपरिटेन्डेन्ट आफ संस्कृत स्टडीज भी होता था। इन सब पदों का कार्य श्री कविराजजी बड़ी योग्यता के साथ सुचारु रूप से चलाते रहे।

अवकाश ग्रहण—

वेरी-वेरी रोग से अस्वस्थ होने के कारण आपने ३-४ वर्ष पूर्व ही १९३७ ई० में अवकाशग्रहण कर लिया। अवकाश-ग्रहण करने के बाद आपने बाहरी कोई कार्य संभालना स्वीकार नहीं किया। कई ऊँचे अधिकारियों ने ऊँचे-ऊँचे पदों पर अध्यासीन होने के लिये आपसे बहुत अनुनय विनय किया, परन्तु आपकी निस्पृहता के समक्ष उनका अनुनय विनय व्यर्थ गया। आप अपने घर पर ही अध्यात्मज्ञान-चर्चा करते हुए भारतीय संस्कृति और विद्या का निरन्तर प्रसार कर रहे हैं।

दीक्षा गुरु—

श्री कविराजजी को आध्यात्मिक अर्थात् योग-मार्ग में पहले शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द नामक महापुरुष से साहाय्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने आर्यशास्त्रप्रदीप, परलोकतत्त्व आदि ग्रन्थों की रचना की थी। वे विशिष्ट विद्वान् तथा योगी थे। किन्तु श्री कविराजजी की यथार्थ दीक्षा हुई श्री श्रीविशुद्धानन्द परमहंस देवजी से। वे महान् योगी थे एवं लुप्त प्राचीन योग तथा लुप्त प्राचीन विज्ञान में अद्वितीय अधिकारी पुरुष थे। सूर्यरश्मि, चन्द्ररश्मि, वायु और शब्द का अवलम्बन कर सब प्रकार की स्थूल वस्तुओं का निर्माण करने का रहस्य उन्हें ज्ञात था। योग-मार्ग में भी आकाश-गमनादि तथा अष्टसिद्धि प्रभृति यहां तक कि इच्छाशक्ति भी उनके आयत्त थी। उनका

वैशिष्ट्य यह था कि वे शास्त्रोक्त सृष्ट्यादि के गुप्त रहस्य का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर उसे समझा देते थे। उन्होंने तिब्बत के अन्तर्गत गुप्त सिद्धस्थान ज्ञानगञ्ज में दीर्घकाल तक रह कर कठोर तपस्यापूर्वक सब विद्याएँ प्राप्त की थीं। उनके शरीर से निरन्तर दिव्य गन्ध का निर्गम होता था, इसलिए साधारण लोग उन्हें गन्धबाबा भी कहते थे। उनका तिरोधान १९३७ ई० में हुआ था।

श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस देव के अनन्तर श्री कविराजजी को सबसे अधिक आध्यात्मिक साहाय्य मिला है परम पूज्या श्री श्री आनन्दमयी माता, सिद्धिमाता तथा रामठाकुरजी से। अन्यान्य शक्तिसम्पन्न महापुरुषों से भी श्री कविराजजी का सम्बन्ध हुआ जिनका परिचय उन्होंने स्वरचित साधुदर्शन तथा सत्प्रसंग में दिया है।

राजकीय आदि संमान—

१९३४ में गवर्नमेंट आफ इण्डिया ने श्री कविराजजी की असाधारण विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें महामहोपाध्याय पदवी प्रदान की। इन पंक्तियों के लेखक को स्मरण है उस समय कई विद्वानों ने कहा था कि इस पदवी से कविराजजी विभूषित नहीं हुए बल्कि यह पदवी कविराजजी से विभूषित हुई।

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने उन्हे १९४७ ई० में आनरेरी डाक्टरेट (डी० लिट०) उपाधि से संमानित किया तथा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ने भी १९५५ में आनरेरी डी-लिट्० उपाधि प्रदान की। भारत के 'राष्ट्रपति' ने १९५९ में आपको सर्टिफिकेट आफ आनर से सत्कृत किया। १९६० में आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में सम्मानित अध्यापक नियुक्त किये गये। इसके अतिरिक्त गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता ने आपको अपना संस्कृत सेमिनार का आनरेरी फेलो नियुक्त किया है।

ग्रन्थ-सम्पादन, ग्रन्थरचना आदि—

पूर्व वर्णित जो दो ग्रन्थमालाएँ सरस्वतीभवन में स्थापित हुई थीं, उनमें सरस्वतीभवन स्टडीज के १० खण्डों का श्री कविराजजी ने सम्पादन किया। स्टडीज में अधिकांश लेख कविराजजी के ही रहते थे। उनमें से कतिपय लेखों का नीचे उल्लेख किया जाता है। (१) न्याय-वैशेषिक साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन (२) ईश्वरवाद (३) सांख्यदृष्टि से कारण तत्त्व, (४) गोरखनाथ के सिद्धान्तों पर अभिनव विचार, (५) वीरशैवसम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार, (६) पाशुपतदर्शन, (७) तान्त्रिकदर्शन पर विचार आदि आदि। सरस्वती-भवन टैक्स्ट में श्री कविराजजी ने न्यायवैशेषिक में—किरणावलीभास्कर, रससार प्रभृति, भक्तिशास्त्र में—भक्तिचन्द्रिका (नारायणतीर्थकृत), गौडीय सिद्धान्त में—सिद्धान्तरत्न, आगम में—त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड तथा योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों का स्वयं सम्पादन किया।

इनके अतिरिक्त बंगला में लिखे आपके ग्रन्थ हैं—(१) अखण्डमहायोग, (२) श्री श्री विशुद्धानन्द-प्रसंग ५ खण्डों में (श्री श्री गुरुदेव विशुद्धानन्द परमहंसचरित), (३) विशुद्धवाणी ७ भागों में, (४) साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग २ खण्डों में, (५) तन्त्र ओ आगमशास्त्रेर दिग्दर्शन १ म खण्ड (२ य खण्ड शीघ्र प्रकाशित होने वाला है)।

हिन्दी में—भारतीय संस्कृति और साधना १ म खण्ड बिहार राष्ट्रभाषा परिषत् से प्रकाशित, २ य खण्ड छप रहा है। वर्तमान ग्रन्थ 'तान्त्रिक वाङ्मय मे शाक्तदृष्टि'। बिहार राष्ट्रभाषा परिषत् की ओर से ही परिषत्पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित 'काशी की सारस्वत साधना' तथा उत्तर प्रदेश हिन्दी-समिति की ओर से शीघ्र प्रकाशित होनेवाला 'तान्त्रिक साहित्य'।

इंगलिश में—

(1) Ministry of Education, Govt. of India से प्रकाशित History of Philosophy Eastern and Western का Shakta Philosophy Section.

(2) Bibliography of Nyaya Vaisheshika literature.

जिन विशिष्ट पुस्तकों की आपने विस्तारपूर्वक भूमिका लिखी उनमें कतिपय के नाम—

(१) डा० गङ्गानाथ झा कृत न्यायभाष्य के इंगलिश अनुवाद की भूमिका
(२) ,, तन्त्रवार्तिक के इंगलिश अनुवाद की भूमिका
(३) श्री शङ्करार्यकृत सांख्यकारिका की टीका जयमङ्गला की भूमिका
(४) श्री भूपेन्द्रनाथ सान्याल कृत गीता-व्याख्या की ,,
(५) अच्युतग्रन्थमाला से प्रकाशित सानुवाद शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभाटीका सहित ब्रह्मसूत्र की भूमिका
(६) म० म० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य कृत कालसिद्धान्तदर्शिनी की भूमिका
(७) म० म० पञ्चाननतर्करत्न कृत ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य की ,,
(८) श्री बलदेव उपाध्याय कृत बौद्धदर्शन की ,,
(९) ,, भारतीयदर्शन की ,,
(१०) श्री वाणेश्वर विद्यालङ्कार कृत चित्रचम्पू की ,,
(११) स्वा० प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती कृत जपसूत्र की ,,
(१२) श्री अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय कृत Philosophy of Goraksha Nath की भूमिका
(१३) श्री सुरेन्द्रनाथ सेन कृत गुरुतत्त्व की भूमिका
(१४) श्री जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय कृत Vedic View of man and the Universe की भूमिका
(१५) डा० नाथमल टाटिया कृत Studies in Jain Philosophy की भूमिका
(१६) श्री गुरुप्रियादेवी कृत अखण्ड महायज्ञ की भूमिका
(१७) ,, श्री श्री मां आनन्दमयी की भूमिका
(१८) श्री प्राणकिशोर गोस्वामी कृत ज्ञानेश्वरी-वंगानुवाद की भूमिका
(१९) श्री राजबालादेवी कृत श्री श्री सिद्धिमाता की भूमिका
(२०) आचार्य नरेन्द्रदेव कृत बौद्धधर्म-दर्शन की भूमिका

(२१) श्री भगवतीप्रसाद सिंह कृत रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय की भूमिका
(२२) श्री सीतारामदास ओंकारनाथ कृत नादलीलामृत की ,,
(२३) श्री इन्दिरा देवी दिलीप राय कृत सुधाञ्जलि की ,,
(२४) महात्मा पालधि कृत सद्गुरुवाणी की ,,
(२५) श्री सर्वानन्द कृत सर्वोल्लासतन्त्र की ,,
(२६) डा० उमेश मिश्र कृत Conception of Matter की ,,
(२७) श्री तारामोहनशास्त्री कृत अगस्त्यचरित की भूमिका
(२८) डा० गोविन्दगोपाल मुखर्जी कृत Studies in the Upanishad की भूमिका
(२९) Mother as seen by her devotees की भूमिका

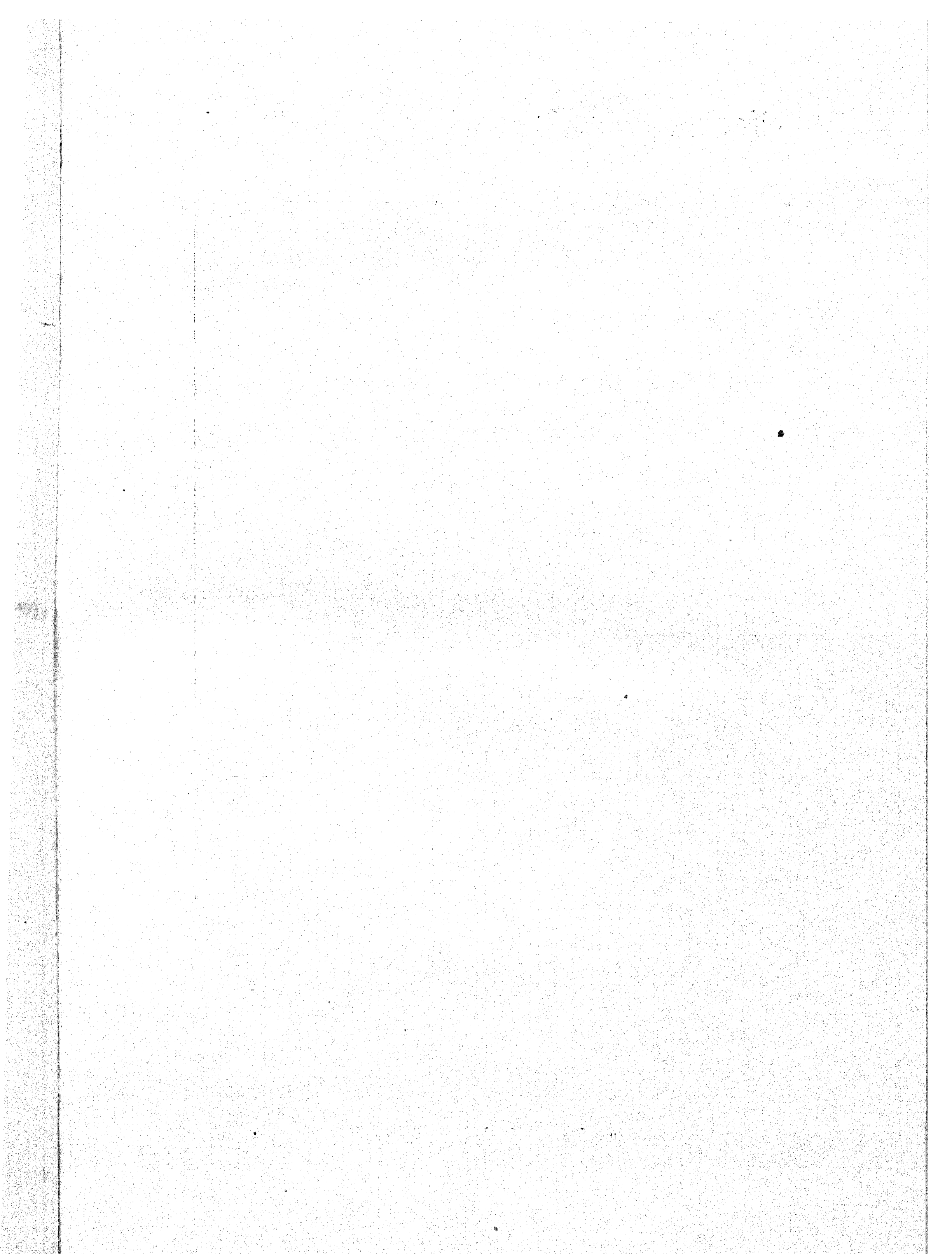
विभिन्न अभिनन्दन ग्रन्थों में भी आपके लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कुछ के नाम—

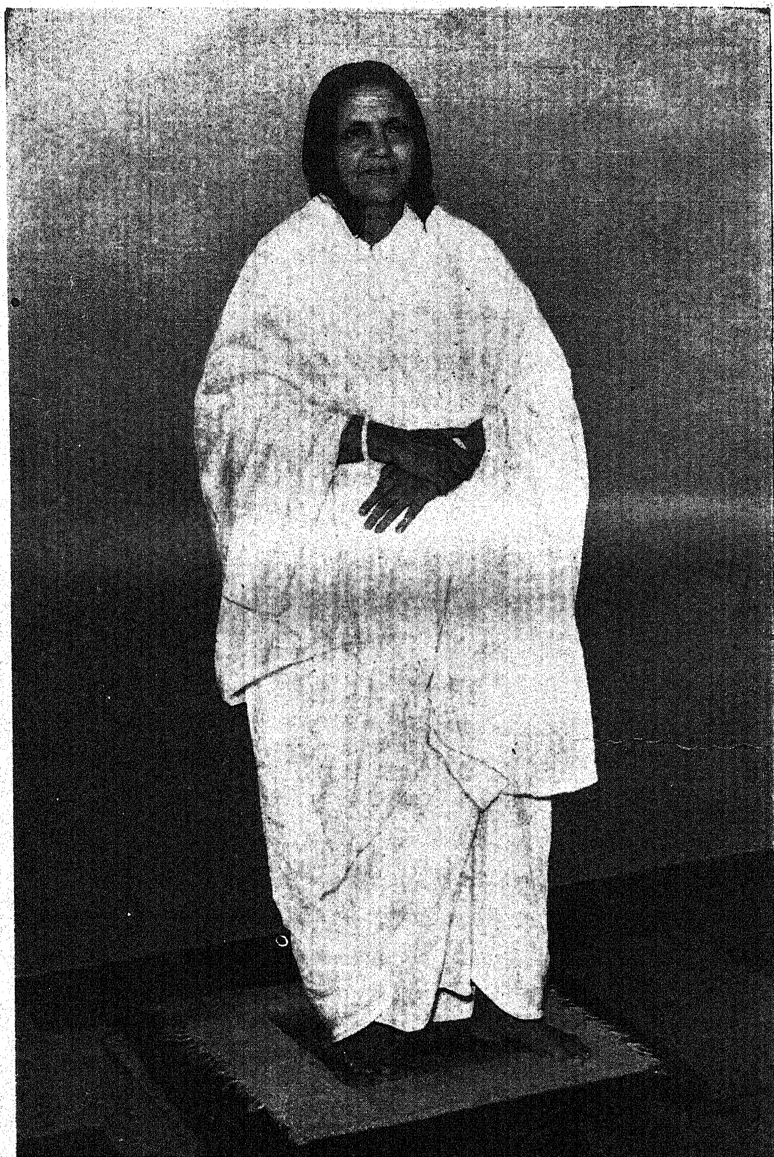
धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रंथ, महावीर संवर्धन ग्रंथ, महादेव शास्त्री अभिनन्दन ग्रंथ, Vidyapith Silver Jublee Commemoration Volume आदि आदि।

हिन्दी, इंगलिश, बंगला तथा संस्कृत में आपके प्रायः १५०।२०० लेख प्रकाशित हुए हैं जिनमें से कल्याण, त्रिपथगा, सम्मेलनपत्रिका, परिषत्पत्रिका, नागरीप्रचारिणी, राष्ट्रधर्म, मानवधर्म, मानव, विन्ध्यभूमि, विद्यापीठपत्रिका, आनन्दवार्ता, गीताधर्म, विदेह, आज आदि में हिन्दी के, Journal of the U. P. Historical Society, India—past and present, Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Modern Review, Hindustan Review, Journal of the Ganga Nath Jha Research Institute, Kalyan Kalpataru आदि में इंगलिश के, हिमाद्रि, उद्बोधन, भारतवर्ष, प्रवासी, प्रवासज्योति, उत्तरा, अलका, देवयान, वंगसाहित्य, सुदर्शन, विश्ववाणी, उत्सव, पन्था, आनन्दवार्ता, आर्यदर्पण, प्रतिभा, बान्धव आदि में बंगला के लेख तथा सारस्वतीसुषमा, संस्कृतरत्नाकर, सूर्योदय, सागरिका आदि में संस्कृत के लेख प्रकाशित हुए हैं।

सम्प्रति आपका उत्तर भारत की यूनिवर्सिटियों के पी-एच डी० तथा डी-लिट्० के लिए गवेषणा कर रहे छात्रों का गवेषणा कार्य में सहायता प्रदान करना तथा अध्यात्ममार्ग के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्ति के लिए ज्ञानचर्चा करना और अध्यात्म विषयों का अध्यापन करना यही मुख्य कार्य है। लौकिक व्यवहार के सम्बंध में आप चर्चा तक नहीं करते।

—श्रीकृष्णपन्त

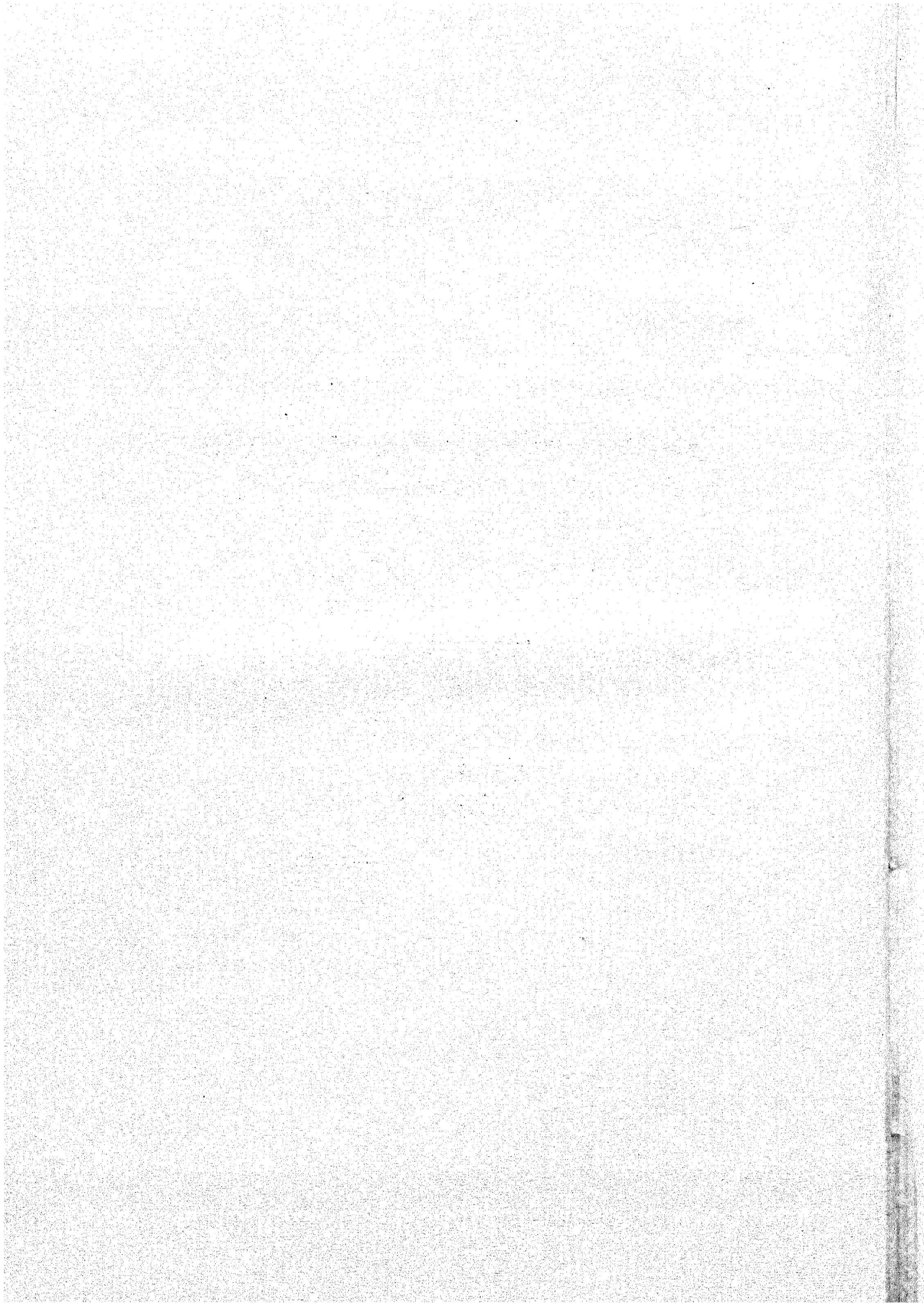




पूजनीयचरण श्री श्री माता आनन्दमयी

जो स्वरूपतः विश्वोत्तीर्ण तथा भावातीत होकर भी
महाभावस्वरूपा तथा सब भावों से क्रीडापरायणा हैं,
उन निखिल जगत् की कल्याणरूपिणी
ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वयप्रदर्शिनी
जगज्जननी परमाराध्या माता
श्रीश्रीआनन्दमयी
के
पावन चरण-कमलों में
दीन सन्तान का
सप्रेम उत्सर्ग

—ग्रन्थकार



प्रस्तावना

(१)

प्राचीन समय से ही दार्शनिक भिन्न-भिन्न दर्शनों का आलोचन करते आ रहे हैं। यह आलोचन प्रायः मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन के आकार में प्रकाशित हुआ है। बुद्धदेव तथा महावीर के समय से इस प्रकार के आलोचनों का विवरण थोड़ा बहुत मिलता है। विभिन्न समयों में प्रवर्त्तित आलोचनों का क्रमबद्ध इतिहास अभी तक संकलित नहीं हुआ। भारतीय चिन्ताधारा के पूर्ण इतिहास की रचना के समय इन सब आलोचनों से विभिन्न चिन्ताधाराएँ तो दूर रहीं, प्रत्येक चिन्ताधारा में भी भावुक के सम्मुख विभिन्न प्रकार की दृष्टिभङ्गियाँ दीख पड़ेंगी। एक दृष्टिभङ्गी को माननेवाले के निकट दूसरी भङ्गियाँ प्रावादुक की दृष्टि अथवा मिथ्या दृष्टि के रूप में उपेक्षित या अनादृत होने पर भी निरपेक्ष ऐतिहासिक के लिए उपेक्षित होने योग्य नहीं हैं। इस अनुचित उपेक्षा के प्रभाव से ही बहुत-सी दृष्टिभङ्गियों का परिचय लुप्त हो गया है, जो अब मिल नहीं रहा है। किसी-किसी दृष्टिभङ्गी का तो साधारण परिचय भी उपलब्ध नहीं है।

उदाहरण के रूप में शाक्त दृष्टि की बात कही जा सकती है। षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थों में, यहाँतक कि सर्वदर्शनसंग्रह के सदृश बृहत् तथा प्रामाणिक ग्रन्थ में भी, इस प्रकार की उपेक्षा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उस समय शाक्त दृष्टि प्रतिपादक ग्रन्थ या साधन-परम्परा थी नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस समय प्राचीन शाक्त-साहित्य का अधिकांश लुप्त हो जाने पर भी विशाल साहित्य विद्यमान था, परन्तु उसके सम्यक् प्रचार तथा पठन-पाठन का सौकर्य न रहने के कारण शाक्त-दृष्टि के साथ विद्वत्समाज में भी अधिकांश लोगों का घनिष्ठ परिचय नहीं था। वस्तुत, इसीलिए वर्त्तमान युग में भी भारतीय दर्शन तथा चिन्तन के इतिहासविषयक ग्रन्थों में यह अभाव समान रूप में ही लक्षित होता है। परन्तु आशा है, भविष्य में इस अभाव की निवृत्ति हो जायगी।

प्रस्तुत निबन्धावली में इसी उद्देश्य से सर्वसाधारण के अविदित इस शाक्त दृष्टिकोण के कतिपय प्रसिद्ध दार्शनिक तथ्यों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। यह दृष्टिभङ्गी तान्त्रिक साहित्य का एक वैशिष्ट्य है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रसंग में 'तान्त्रिक साहित्य' शब्द से शाक्त और शैव आगम तथा तन्मूलक ग्रन्थ समझना चाहिए। यद्यपि वैष्णवागमों में भी शाक्त दृष्टि है और आगमिक संस्कृति की साधारण पृष्ठभूमि का प्रकाश उसमें भी लक्षित होता है, तथापि उसकी आलोचना पृथक् रूप से होनी चाहिए, यह समझकर इसमें उसे स्थान नहीं दिया गया।

तान्त्रिक साहित्य अत्यन्त विशाल है।[१] इसमें तत्त्व का जैसा एक विभाग है, साधना का भी वैसा ही एक विभाग है। वस्तुतः, चतुष्पाद आगमवाङ्मय में यह बात सर्वत्र ही लक्षित होती है। साधना में भी एक बहिरङ्ग साधना और एक अन्तरङ्ग साधना, इस प्रकार दो विभाग हैं। उसी प्रकार बहिरङ्ग साधना में भी एक भाग में आचारभेदमूलक पार्थक्य है और दूसरे भाग में आचार से असम्बद्ध आणव उपाय के विभिन्न अंशों का अवलम्बन कर भेद किया गया है। विभिन्न प्रकार की योगाङ्ग-प्रक्रियाएँ इस द्वितीय विभाग के अन्तर्गत हैं, यह जानना चाहिए। यह हुई साधना की बात। तत्त्व के विषय में भी उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत तथा परमाद्वैत इस प्रकार का भेद है। एक दृष्टिकोण से यद्यपि तान्त्रिक नाम से परिचित सभी शास्त्र एक श्रेणी के अन्तर्गत हैं, फिर भी उनमें भी भेद है; क्योंकि विभिन्न शास्त्रों में परस्पर उत्कर्ष और अपकर्ष का विचार भी प्रत्येक सम्प्रदाय के पक्ष से किया जाता है। इस भेद के मूल में ज्ञानगत और क्रियागत वैलक्षण्य है। द्वैत, अद्वैत आदि जो भेद है, वह ज्ञानगत है। परन्तु, आचारगत जो भेद है, वह क्रिया की बाह्यता या आन्तरिकता के भेद पर प्रतिष्ठित है। इसीलिए, एक मार्ग में अभिषिक्त परतत्त्वज्ञ गुरु को भी दूसरे मार्ग में प्रवेश करते समय संस्कार-ग्रहण करना आवश्यक होता है। जैसे मतविशेष के अनुसार वाममार्ग में अभिषिक्त गुरु संस्कार-ग्रहण किये बिना भैरव-मार्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकते, उसी प्रकार भैरव-मार्ग में अभिषिक्त गुरु को भी कुलमार्ग में प्रवेश-प्राप्ति के लिए संस्कार-ग्रहण करना पड़ता है एवं कुल-मार्ग में संस्कृत, अर्थात् अभिषिक्त गुरु कौल-मार्ग में संस्कारयोग्य समझे जाते हैं। त्रिकाचार्यों का कथन है कि कौल को भी त्रिकमार्ग में प्रवेश पाने के लिए यथायोग्य संस्कार-ग्रहण करने पड़ते हैं।

अवश्य यह त्रिकवादी का कथन है। इसीलिए, प्रत्यभिज्ञाहृदय में कौल मत तथा तन्त्रमत से त्रिकमत का स्थान ऊँचा माना गया है। इसका कारण यह है कि कौलाचार्य आत्मा को विश्वरूप मानते हैं एवं तन्त्राचार्य उसे विश्वातीत मानते हैं, परन्तु त्रिकमतावलम्बी सिद्धपुरुषों की दृष्टि में आत्मा युगपत् विश्वरूप तथा विश्वातीत दोनों है।

कौलगण इस विषय में अपना परम उत्कर्ष मानते हुए कहते हैं—'कौलात्पर-तरं नहि।'

यह सब अमूलक नहीं है। इसीलिए, प्रक्रियांश में प्रत्येक मत के साधक को ही निज-निज वैशिष्ट्य दीख पड़ता है। जैसे सिद्धान्ती होतृदीक्षा मानते हैं, तो तान्त्रिक

---

१. तान्त्रिक साहित्य का सम्यक् परिचय तो दूर रहा, सब उपलब्ध (मुद्रित, अमुद्रित तथा ग्रन्थान्तरों में उद्धृत) ग्रन्थ या ग्रन्थांशों की पूर्ण सूची भी अभी नहीं बनाई गई है। इस विषय में थोड़ा बहुत प्रयत्न ऑर्थर आवलन (Arthur Avalon), प्रबोधचन्द्र बागची, चिन्ताहरण चक्रवर्ती प्रभृति मनीषियोंने किया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने भी इस विषय में, किसी-किसी अंश में, अच्छा प्रकाश डाला है। सम्प्रति वर्त्तमान निबन्धावली के लेखक की अध्यक्षता में उत्तरप्रदेशीय शासन की हिन्दी-समिति के उद्योग से इस विषय का बृहत् सूचीग्रन्थ संकलित हुआ है, जो सम्भवतः शीघ्र ही मुद्रित होकर प्रकाशित होगा। इसी लेखक के द्वारा 'तन्त्र ओ आगम शास्त्रेर दिग्दर्शन' नाम से (प्रथम खण्ड) बँगला में गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज-कलकत्ता के उद्योग से वहीं की ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

योजनिका दीक्षा मानते हैं। पक्षान्तर में कुल-मत में स्तोभात्मिका दीक्षा मानी जाती है और कौलमत में दीक्षा सामरस्यमयी है। किन्तु, त्रिकाचार्य दीक्षा को समावेशवती कहते हैं।

वर्त्तमान निबन्धावली में आगमसम्मत साधारण दृष्टिकोण को लेकर ही विचार किया गया है। एक ही विषय के स्पष्टीकरण के लिए एकाधिक दृष्टिकोणों की भी चर्चा की गई है। परन्तु, मूल में सर्वत्र ही शाक्त दृष्टि का अवलम्ब नहीं छूटा है।

(२)

तान्त्रिक साहित्य में शाक्त दृष्टि के मूल में जो शक्ति है, वह चिद्रूपा शक्ति है, जडशक्ति नहीं है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में जडशक्तिवाद को भी स्वीकार नहीं किया गया है। मीमांसक लोग शक्ति मानते हैं। शाङ्कर वेदान्ती भी शक्ति मानते हैं। परन्तु, वह शक्ति मायारूपा है, जिसको अनिर्वचनीय या मिथ्या कहा जाता है। वह मायारूपा शक्ति अचिन्त्य तथा दुर्घट अर्थ-सम्पादिनी है, यह प्राचीन युग से ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि स्थलों से पता चलता है कि प्राचीन मतों में भी एक के बहु होने में मूल में इस शक्ति की क्रिया मानी जाती थी। वस्तुतः, यह परमेश्वर की अचिन्त्य महिमा या स्वातन्त्र्य है। उपनिषद् में कहा है—'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।' चिद्रूपा शक्ति की बात भी मिलती है—योगदर्शन में 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' ऐसा कहा गया है। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने ग्रन्थ में 'अमला चितिशक्ति' की बात कही है। परन्तु, यहाँ प्रथम स्थल में शक्ति पुरुषाभिन्न है और द्वितीय स्थल में ब्रह्माभिन्न। चिद्रूपा शक्ति का विशेष आलोचन आगम में ही है। सोमानन्दादि आचार्यों के शिवदृष्टि आदि ग्रन्थों में इसका विवरण विद्यमान है।

अतएव, यहाँ शक्तिशब्द से हम कूटस्थ ब्रह्म या पुरुष का ग्रहण नहीं करेंगे। सम्प्रदाय-विशेष की अभिमत जडशक्ति भी नहीं समझेंगे, परन्तु समझेंगे 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः', इस प्रकार की चिद्रूपा शक्ति। यह शक्ति शिव से अभिन्न होने पर भी विश्वसृष्टि की मूलभूत है। इसका परिणाम नहीं होता, परन्तु प्रसार तथा संकोच होता है। शक्ति ही जगत् का रूप लेकर प्रकट होती है। भोक्ता तथा भोग्य दोनों ही शक्तिरूप हैं। इनकी नियामिका भी शक्ति ही है। वस्तुतः, अभिनय भी शक्ति ही करती है और अपने अभिनय की प्रेक्षिका भी शक्ति ही है। स्वरूप-स्थिति में जीव भी शक्त्यात्मक होने के कारण द्रष्टा-मात्र है। तटस्थ जीव स्वरूपतः द्रष्टा, माया-जाल से बद्ध जीव भोक्ता तथा किञ्चित् जाग्रत् जीव ही अभिनेता है। पूर्ण जागरण के अन्त में जीव ही शिवरूप में प्रकट होता है। उस समय पूर्ण शक्ति उसी की निज शक्ति है तथा सर्वान्त में कुलाकुल के अतीत जो कुछ है, वह एकमात्र अखण्ड सत्ता है, जो वाक् तथा मन की वृत्तियों से अतीत है।

प्रस्तुत निबन्धावली केवल उपेक्षित विषय की ओर विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट करने के लिए है। गभीर आलोचना का अवसर इसमें नहीं है। तमसाच्छन्न गुहा में

पड़े हुए शाक्त साधना के बहुत से निगूढ़ तत्त्व प्रेक्षावान् विद्वानों की दृष्टि से अतीत और तिरोहित हैं।

क्रमतत्त्व, स्पन्दतत्त्व, पादुकातत्त्व, भासातत्त्व प्रभृति का विवेचन, साधन तथा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से एक प्रकार से निर्वासित हो चुका है। क्षोभ तथा कलन का रहस्य भी इसी प्रकार अपरिचित रह गया है।

परापरात्मक स्वात्मा की परानन्दमयी परा शक्ति जब अपने आप भेद-ग्रास करने के लिए उद्यत होती है तब उसका 'पादुका' नाम से वर्णन किया जाता है: 'परा परात्मनः स्वात्मनः परानन्दमयी स्वव्यतिरेककवलनोद्युक्ता परा शक्तिः पादुकेति गीयते।' वस्तुतः स्वात्मा से अभिन्न अनुत्तरस्वभाव नादशक्तिरूप विमर्श को ही गुरुतत्त्व जानना चाहिए। इसको स्वरूपतः जानने के लिए पादुका ही एकमात्र उपाय है। क्रम का संकोच तथा प्रसार पादुका से ही होता है। योगी महेश्वरानन्द के 'पादुकोदय' ग्रन्थ में पादुकातत्त्व की किञ्चित् आलोचना है।

अति प्राचीन काल से ही क्रमतत्त्व की आलोचना होती आई है। परन्तु, यह ऐसा विषय है कि सर्वसाधारण की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता। पातञ्जलयोग-शास्त्र में इसका किञ्चित् निदर्शन है। उसमें कहा गया है कि क्रम की अन्यता, अर्थात् भिन्नता से ही परिणाम की अन्यता या भिन्नता सिद्ध होती है। फिर, काल भी वस्तुतः क्रमरूप ही है; क्योंकि वह क्षण का क्रम कहा गया है। क्षण वास्तविक है, परन्तु काल बौद्ध पदार्थ, अर्थात् बुद्धि से कल्पित है। क्षण के क्रम से ही बुद्धि में काल के ज्ञान का उदय होता है। क्षण तथा उसके क्रम के ऊपर संयम करने से विवेकज ज्ञान का उदय होता है। कृतार्थता को प्राप्त गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति धर्ममेघसमाधि के अनन्तर होती है। जबतक भोग तथा अपवर्ग सिद्ध नहीं होते, तबतक यह नहीं हो सकती। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में क्षणिकवादी बौद्धों के मत में भी क्रम की आलोचना होती थी तथा स्फोटवादी वैयाकरण-समाज में भी। कश्मीर में जिस शैवसम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ था, उसमें भी विशेषरूप से क्रम की चर्चा होती थी। क्रमसूत्र नामक एक ग्रन्थ का निर्देश मिलता है, जिसमें नित्योदित समाधि-प्राप्ति का उपाय वर्णित है। उसमें क्रममुद्रा का उपयोग दिखाई देता है। प्रसिद्धि है कि क्रममुद्रा से बहिर्मुख साधक भी समावेश को प्राप्त होते हैं। क्रममुद्रा की विशेषता यह है कि इसमें पहले बाहर से भीतर प्रवेश करना पड़ता है, तदनन्तर आवेश-संपन्न होने पर भीतर से बाहर प्रवेश किया जाता है। उसी प्रक्रिया से भीतर और बाहर बराबर हो जाता है, अर्थात् एक ही समय में पूर्णाहन्ता के साथ-साथ विषय का ग्रहण भी होता है। यह क्रममुद्रा वास्तव में चितिमुद्रा है, जो सृष्टि-स्थिति-संहाररूप संवित्-चक्र, अर्थात् क्रम को अधिष्ठित करती हुई उसे आत्मसात् कर लेती है। पराशक्ति की स्फुरत्ता के साक्षात्कार से ही इस प्रकार समावेश हो सकता है। यह परम योगावस्था का निदर्शन है।

(३)

चित्स्वरूप पुरुष और अचिद्रूपा प्रकृति में अथच चित्स्वरूप ब्रह्म और अचिद्रूपा माया में परस्पर संयोजक कुछ होना चाहिए, जो योजक होने पर भी वस्तुतः दोनों

से अभिन्न हो। वही निगूढ रहस्य है। शैवों के सदृश वैष्णव भी अपनी विचारशैली के अनुसार शुद्ध अध्वा मानते हैं। वे अप्राकृत विशुद्ध सत्त्व मानते हैं, जो त्रिगुण से अतीत होने पर भी नित्य चिदुज्ज्वलरूप में प्रकाशमान रहता है। किसी-किसी ने इसको चिद्रूप भी माना है। द्वैत शैवागम में महामाया अथवा बिन्दु का जो स्थान है, वैष्णवशास्त्रों में विशुद्ध सत्त्व का भी वही स्थान है। पतञ्जलि ने नित्य गुरु ईश्वर के उपाधिरूप जिस प्रकृष्ट सत्त्व को स्वीकार किया है, वह प्रायः इसी प्रकार की वस्तु है। इस सत्त्व-रूप आधार के ऊपर ही महायान बौद्धों की बोधिसत्त्वकल्पना प्रतिष्ठित है। सम्यक्-संबुद्ध दशा में आरूढ होने के पूर्व समय तक इसी सत्त्व का विकास माना जाता है। श्रावकयान में यह सत्त्व अव्यक्त है—एक प्रकार से 'नहीं है' ऐसा कहा जा सकता है। प्रत्येक बुद्धयान में बात प्रायः इसी प्रकार की है। इसीलिए, उनमें क्लेश-मुक्ति ही जीवन के परम पुरुषार्थरूप से परिगणित होती है। क्लेश अविद्या है अवश्य, परन्तु क्लेश की निवृत्ति होने पर भी अविद्या रहती है। यह अक्लिष्ट अज्ञान है। पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध होने पर भी धर्मनैरात्म्य सिद्ध नहीं होता। धर्मनैरात्म्य जबतक सिद्ध न हो तबतक बोधिसत्त्व दशा से उत्तीर्ण होकर अद्वय बुद्ध की स्थिति में प्रवेश नहीं किया जा सकता। शुद्ध सत्त्व त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अतीत होने पर भी गुणपदवाच्य है। उसमें प्राकृत गुण न रहने के कारण कहीं-कहीं वह निर्गुण कहा जाता है। परन्तु, वास्तव में वह निर्गुण नहीं है, सगुण है। प्रत्येक व्यक्ति के आधार में विशुद्ध सत्त्व है या नहीं, इस विषय में दृष्टिभेद के अनुसार मतभेद है। इसीलिए, बौद्धमत में गोत्रभेद का सिद्धान्त उठता है तथा इसी कारण निर्वाण सर्वसाधारण के लिए अधिगम्य होने पर भी बुद्धत्व या पूर्णत्व जीवमात्र के लिए प्राप्य नहीं माना जाता। परन्तु शुद्ध सत्त्व का अस्तित्व सर्वत्र मानने पर यह भी अवश्य मानना पड़ेगा कि पूर्णत्व में अधिकार सभी का है। परन्तु, प्राप्ति के काल के तारतम्य से परस्पर भेद होता है। जैनमत में भी प्रायः यही स्थिति है। सिद्ध या अर्हद्दशा जीवमात्र को प्राप्य होने पर भी तीर्थंकरत्व सबके लिए प्राप्य नहीं है। पातञ्जलदर्शन में विवेक ज्ञान के फलस्वरूप कैवल्य-प्राप्ति का अधिकार सभी को है। परन्तु, विवेकज ज्ञान के प्रभाव से ईश्वरत्व-लाभ सब के लिए नहीं माना जाता। आगम में भी प्रकृति अथवा माया से या महामाया से पुरुष की भिन्नता का ज्ञान विभिन्न प्रकार के कैवल्यों का हेतु माना जाता है। यह योग्यतानुसार सबको हो सकता है। परन्तु, शुद्ध विद्या का उदय हुए बिना पूर्णाहन्ता की अभिव्यक्ति या शिवत्व की प्राप्ति सबके लिए संभव नहीं है। दृष्टिकोण के भेद से तथा परिभाषा के भेद से बन्धन-भङ्गी में भेद की प्रतीति होती है। परन्तु, मूल में सर्वत्र ही बात एक ही प्रकार की है। वैदिक साधना में भी द्वितीय जन्म होने पर जिस प्रकार की प्राप्ति हो सकती है, उसके अभाव में दीर्घकालव्यापी तपस्या और साधना के प्रभाव से भी उस प्रकार की प्राप्ति नहीं हो सकती। ख्रीष्टीय गुप्त साधना में Baptismal Grace का महत्त्व माना गया है। St. John ने जिसका Archeus या मूल बाह्य सत्ता के नाम से वर्णन किया है वही सत्त्व का अनुरूप बाह्य द्रव्य है। यह Logos की समकालीन

सत्ता है। Logos Archeus में वर्त्तमान रहता है और Archeus Logos में जीवनी शक्ति के रूप में स्फुरित होता है। यह ज्योति-रूप से विकीर्ण है। Logos की यह ज्योति ही Holy Spirit अथवा मूल शक्ति है, जो जड वस्तु की प्रत्येक अवस्था में सुप्तवत् रहती है और सभी भाव-विकारों का उपपादन करती है। इस आदि शक्ति से विश्व की अनन्त शक्तियाँ विभक्त होकर उद्भूत होती हैं। मनुष्य-देह में यही शक्ति Paracletes के नाम से विद्यमान रहती है। New Testament में इसका निर्देश है। यही शक्ति मनुष्य-देह को regenarate करती है, अर्थात् चिन्मय रूप में उसका पुनर्गठन करती है। यही चित्-शक्ति का स्वरूप है।

(४)

इस निबन्धमाला में पूर्णत्व के स्वरूप के विषय में शाक्त दृष्टिकोण के अनुसार कुछ कहा गया है। महाशक्ति अथवा स्वातन्त्र्यमयी चितिशक्ति परम शिव के साथ अभिन्न रूप में विराजमान है। इस अवस्था में शिव और शक्ति में सामरस्य रहता है। शैव इसको शिव की संज्ञा देते हैं और शाक्त इसे शक्ति कहते हैं। परन्तु है यह अखण्डस्वरूप एक ही वस्तु, जिसमें प्रकाशात्मक शिव के साथ विमर्श या अतिशय या स्वभाव का तादात्म्य है। यही संवित् है। प्रकाश में यह धर्म न रहने पर उसमें अर्थ का उपराग पड़ने पर भी स्फटिक के सदृश वह प्रकाश जड-सा ही है। यही प्रकाश का कर्त्तृत्वरूप धर्म है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नहीं है। शक्तिहीन प्रकाश, स्वतन्त्रता के अभाव से, महेश्वर नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मवाद से शाक्त दृष्टि की यही विलक्षणता है। प्रकाश जैसे ग्राह्य का प्रकाशक है, वैसे ही ग्राहक का भी प्रकाशक है। परन्तु, इस शक्तिरूप विमर्श के स्फुरण या औन्मुख्य का सम्बन्ध होने पर प्रकाश में कर्त्तृत्व आ जाता है। तब वह प्रकाश आणवादि मलराशि को दग्ध करने में समर्थ होता है। इसका फल यह होता है कि इन सब मलों का प्रकाश के स्वरूप में अनुप्रवेश हो जाता है। पुण्य-पाप की वासना से जिस मल का उद्भव होता है, उस मल का नाम 'कार्मण मल' है। वेद्य वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न समझना माया-मल है तथा अपूर्णमन्यता अथवा जीवत्व आणव मल के नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि की उष्णता, चन्द्रमा की शीतलता, शय्या की मृदुता, पाषाण की कर्कशता, साधारण मनुष्य का मोह और योगी का ज्ञान यह सब परमेश्वर का स्वातन्त्र्यमात्र है।

शाक्त दृष्टि का एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें परम प्रकाश का निष्क्रियत्व स्वीकार नहीं किया जाता। वस्तुतः, इस मत में परम स्थिति में भी तदनुरूप शक्ति रहती है। स्वरूप-दृष्टि से देखने पर यह शक्ति क्रिया से अभिन्न है। उस परम प्रकाश या स्वात्म को सत् मानने पर भी उसमें भवनाख्य क्रिया माननी पड़ती है एवं उस क्रिया का कर्त्ता उसे मानना पड़ता है। यह जो भवन क्रिया है यह कर्त्तृत्वमयी है। इसी का पारिभाषिक नाम है 'विमर्श'। यह भवन या सत्त्वसामान्यरूप है। भाव के माने हैं

क्रिया, इसलिए धातु का अर्थमात्र ही क्रिया है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—जब यह आत्मस्वरूप में स्थितिमात्र है, तब उस विमर्श का नाम है शुद्ध विमर्श; परन्तु जब यह क्षोभ का अनुभव करता है, अर्थात् जब इसमें विकल्पों का उन्मेष होता है, तब विचित्र प्रपञ्च का स्फुरण होता है। यही तान्त्रिक परिभाषा से विमर्श का विश्वविस्तार कहा जाता है। यह कहना अनावश्यक है कि प्रकाश का स्वभाव ही शक्ति है। इसीलिए, प्रकाश स्वभावतः ही कृत्यकारी है। इन कृत्यों का सम्पादन आगन्तुक धर्मों से निष्पन्न नहीं होता।

अन्यान्य दृष्टियों में परमेश्वर के तीन कृत्यों का उल्लेख दिखाई देता है, इसलिए उनमें अधिकारी पुरुष तीन माने जाते हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। कृत्य वास्तव में पाँच हैं, तीन नहीं। तिरोधान (निग्रह) और अनुग्रह ये दो कृत्य शाक्त दृष्टि में अधिक माने जाते हैं। शैवागम तथा वैष्णवागम दोनों में इसीलिए पञ्चकृत्यों का अङ्गीकार किया गया है। चित्स्वरूप विभु विशुद्ध आत्मा का सृष्टि आदि से सम्बन्ध नहीं है। पहले विभु चिदात्मक आत्मा स्वातन्त्र्य-बल से आत्मसंकोच करते हैं, तदनन्तर चिदणुरूप में अपने को प्रकट करते हैं। उसके उपरान्त कर्मसम्बन्ध तथा अपने से भिन्न ज्ञेय के ज्ञान के उदय की सम्भावना होती है। कर्मवासना से देह का सम्बन्ध होता है। व्यष्टि और समष्टिरूप से देह, इन्द्रिय तथा भोग्य विषयों की सृष्टि होती है, स्थिति भी निर्दिष्ट काल तक रहती है एवं उसके पश्चात् संहार होता है। ये तीन प्रकार के कृत्य पूर्वोक्त तीन अधिकारियों के अधीन हैं। शाक्त दृष्टिकोण के अनुसार सृष्टि के पहले ही तिरोधान अथवा संकोच की प्राप्ति मानी जाती है। अन्यान्य विचार-धाराओं में सृष्टि की धारा अनादि मानी गई है। व्यवहारदृष्टि से देखा जाय, तो शाक्तमत में भी ऐसा ही है। परन्तु शाक्तभावानुप्राणित आगम की दृष्टि से आत्मा के कालप्रवाह में पड़ने के लिए किसी हेतु का निर्देश आवश्यक माना जाता है। वह कब काल के प्रवाह में पड़ा, इसका निरूपण नहीं हो सकता। परन्तु काल-प्रवाह में पड़ने के लिए किसी युक्तिसंगत कारण का निर्देश किया जाता है। वैष्णवादि-मतों में भी इसका अपनी दृष्टि के अनुरूप सुसमाधान है। परन्तु, अद्वैत शाक्त दृष्टि से वह चरम समाधान नहीं है; क्योंकि जीवभाव वहाँ नित्य माना जाता है। शाक्त दृष्टि से पूर्ण सत्ता का स्वेच्छाकृत आत्मसंकोच ही यथार्थ समाधान है। इससे एक दृष्टि से जीवभाव को नित्य मानने पर भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। स्वेच्छा के उदय में कोई आगन्तुक हेतु नहीं है, यह स्वतन्त्र आत्मा की केवल लीला है। कुछ भी हो यह आत्म-संकोच ही तिरोधान कहलाता है। पहले आत्मसंकोच हुए विना सृष्टि की उपपत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि संकोच-हीन आत्मा का देह-सम्बन्ध नहीं होता। तिरोधान-रूप संकोच की निवृत्ति होती है अनुग्रह से। जबतक अनुग्रह का उदय न हो, तबतक जो संहार होता है, वह वास्तव संहार नहीं है; क्योंकि उसमें अभिनव सृष्टि का बीज रह जाता है। संहार काल का खेल है। काल के बाहर जाने के लिए परम अनुग्रह आवश्यक है। शास्त्रसंमत शक्तिपात, दीक्षा आदि व्यापारों का यही तात्पर्य है। अभेद में जो भेद का आभासन होता है, उसी का नाम तिरोधान है। फिर, अखण्ड

प्रकाश के साथ जो एकात्मकरूप में प्रकाशन है, वही अनुग्रह है। इसीलिए शाक्त दृष्टि से अधिकारी पुरुषों की संख्या तीन न मानकर पाँच मानी जाती है। प्रचलित तीन अधिकारियों के अतिरिक्त ईश्वर और सदाशिव—दो अधिकारी और माने जाते हैं।

शाक्त दृष्टि की और एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। अद्वैत शाक्तमत तथा अद्वैत शैवमत प्रायः एक ही प्रकार के हैं, इसमें सन्देह नहीं, फिर भी शक्ति की महिमा अद्वैत शैवमत में भी मानी जाती है। शिव तथा परमशिव एक होने पर भी ठीक एक नहीं हैं; क्योंकि शिव शक्तिहीन प्रकाशमात्र है, यह शिव होने पर भी वस्तुतः शव है या जडवत् है। शक्तिहीन शिव—शिवतत्त्व— , जो अनाश्रित शिव के नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है, में चिदैक्य की ख्याति, अर्थात् स्फुरण न रहने के कारण वह एक प्रकार से अविद्या से भरा है, इसीलिए इसे अख्यातिमय कहा जाता है। यह शिव विश्वोत्तीर्ण है। परन्तु, शक्ति के योग से और उसकी समरसता के प्रभाव से वही शिव परमशिवपद को प्राप्त होता है। उस स्थिति में वह विश्वोत्तीर्ण होने पर भी विश्वात्मक है। एक निमीलन-समाधि से ज्ञेय है और दूसरा उन्मीलन-समाधि से प्राप्य है। एक कृश है और दूसरा पूर्ण। शिव प्रकाशमात्ररूप होने पर भी परमशिव आनन्दमय घनीभूत प्रकाशरूप है। इस भेद का कारण शक्ति का सम्बन्ध है। वास्तव में त्रिकवादी दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा तान्त्रिक मत में विश्वोत्तीर्ण होने पर भी तथा कुलाम्नाय के अनुसार विश्वमय होने पर भी वस्तुतः एक साथ दोनों ही है। परन्तु तृतीय मत में दोनों का युगपत् समावेश है; इसीलिए शाक्त दृष्टि के अनुसार वास्तविक सिद्धान्त यह है—'इयं हि तुरीया संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्यादिभेदानुद्वमन्ती संहरन्ती च महापूर्णा च कृशा चोभयरूपा चानुभयात्मा अक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।' यह कहना अधिक है कि प्रकाशमात्ररूप शिव वस्तुतः शक्ति ही है। शक्तिहीन होने पर भी वह शक्त्यात्मक है। शून्यातिशून्य-रूप कहकर आगम में उसका वर्णन किया गया है। शक्तिहीन इसलिए कहा जाता है कि उस स्थिति में शक्ति अव्यक्त रहती है। वस्तुतः, 'अस्ति' और 'भासते' एक ही के वाचक हैं—जिसका अस्तित्व है, उसी का भान होता है एवं जिसका भान होता है, उसी का अस्तित्व माना जाता है। इसीलिए, सत्ता माने ही चिति है और चिति माने ही सत्ता है। दोनों का आनन्द में सामानाधिकरण्य है। रसान्वय यही है।

इस आलोचना के सिलसिले में जो विश्व-विस्तार का विवरण संक्षेप में देने का प्रयत्न किया गया है, उसमें भी शाक्त दृष्टि का ही परिचय स्पष्ट है। प्रसिद्ध पुराणादि में विश्व का जो परिचय मिलता है, वह वस्तुतः चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डमात्र का ही नामान्तर है। पातञ्जलयोगभाष्य में भी भुवनज्ञान के प्रसङ्ग में ब्रह्माण्ड की चर्चा की गई है। ब्रह्माण्ड के बाहर प्रकृति का आवरण है, जिसकी कहीं कहीं कारण समुद्र अथवा विरजाख्या नदी के नाम से कल्पना की गई है। प्राचीन वैष्णव साहित्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि विरजा के इस पार ब्रह्माण्ड है और उस पार नित्यधाम। परव्योम ही, जो भगवान् की त्रिपाद विभूति के रूप में वर्णित होता है, नित्यधाम का स्वरूप है।

विरजा के इस पार में जो ब्रह्माण्ड है वह श्रीभगवान् की एकपाद विभूति है। ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है, यह बात सर्वत्र स्वीकृत होने पर भी ब्रह्माण्ड के अनन्तर भी विश्व है, इसका निर्देश अन्यत्र बहुत कम मिलता है। आगम में स्पष्टतः कहा गया है कि पृथिवी-तत्त्व के बाहर भुवनों के संनिवेश के विषय में साधारण विद्वान् जान नहीं सकता। वही जान सकता है, जिसके ऊपर पारमेश्वरी शक्ति का अनुग्रह हुआ हो। शाक्त दृष्टि में माया के भीतर भी ब्रह्माण्डों के अनन्तर असंख्य प्रकृत्यण्ड माने जाते हैं एवं सर्वान्त में मायाण्ड का स्वीकार किया जाता है। ब्रह्माण्डसमूह पृथिवी-तत्त्व में संनिविष्ट हैं, अन्यान्य तत्त्वों के भुवनों में से कुछ प्रकृत्यण्डों में और कुछ मायाण्ड में परिगणित होते हैं। शुद्ध अध्वा में शाक्ताण्ड है, यह शाक्त दृष्टि का ही वैशिष्ट्य है। प्राचीन वैष्णव तथा शैव आचार्यों ने भी इस प्रकार के शुद्ध जगत् को स्वीकार किया है। महायान बौद्धगण अनाश्रव धातु स्वीकार करते हैं। नाम चाहे कहीं कुछ क्यों न हो, शुद्ध जगत् मानना ही एक प्रकार से शाक्तदृष्टि का अनुगमन है। सृष्टि के सदृश प्रलय में भी शाक्त दृष्टि का वैशिष्ट्य है। पुराणों में महाप्रलय ही सबसे बड़ा प्रलय माना जाता है। यह ब्रह्माण्ड-ध्वंसस्वरूप है। वस्तुतः प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्ड का भी नाश होता है। यह पौराणिक महाप्रलय के ऊपर की बात है। इसके ऊपर शाक्तावरण है। यद्यपि उसका ध्वंस नहीं होता, फिर भी उपसंहार होता है। उसके पश्चात् अहोरात्ररूप सृष्टि-संहार का उपशम होता है अवश्य, परन्तु काल का उपशम नहीं होता। कालसाम्य, कालविषुवत् प्रभृति स्थितियाँ भी मानी जाती हैं। समना तक काल का सम्बन्ध रहता है। व्यापिनी या महाशून्य के बाद समना है, जिस अवस्था को प्राप्त होने के बाद मन का त्याग करना पड़ता है। वह मन विकल्पशून्य होने पर भी हेय है। शाक्तगण कहते हैं कि स्पर्श-पर्यन्त मन का विषय है। पहले जिस महाशून्य की बात कही गई है, वह समग्र अध्वा का व्यापक है। वहाँ की अनुभूति पिपीलिका-संचारवत् स्पर्शात्मक मानी जाती है। नादान्त में शब्दानुभव समाप्त होता है, परन्तु स्पर्शानुभव की समाप्ति होती है महाशून्य में। समना स्पर्शातीत होने के कारण क्षीण-विषय है। वहाँ विकल्प नहीं रहते, परन्तु मन का अभाव नहीं होता। उसके बाद मन का भी त्याग करना पड़ता है। निर्विकल्पक मन से ही निर्विकल्पक मन का त्याग होता है। यह अवस्था एकाग्रता की चरम अवस्था है। इसके बाद आभासमय ज्ञेय पदार्थों के ग्रहण की इच्छा संकुचित हो जाती है, इसीलिए संवेदन निवृत्त हो जाता है। इसी का नाम मन का त्याग है। यह विकल्पहीन अवस्था है। मन के उपशान्त होने के कारण जीवात्मा विशुद्ध ज्ञाता के रूप में स्थिति-लाभ करता है, यही कैवल्य है। शाक्त योगी इसको आत्मव्याप्ति का पूर्वाभास कहते हैं। यही विशुद्धविज्ञानकैवल्य है। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता—आत्मा सत्ता अथवा प्रकाशमात्र रूप में विराजमान रहता है। यह समना के अतीत आत्मस्थिति है, इसीलिए सदाशिवादि दृश्य समग्र विश्व इसके नीचे प्रतिभासमान दिखाई देता है। इस अवस्था में अधःस्थित विश्व का ज्ञान नहीं रहता और ऊर्ध्वस्थित शिवरूपी परमभाव का भी ज्ञान नहीं होता। यह केवल अपने प्रशान्त आत्मस्वरूप में स्थिति है। सांख्यादि दर्शनों के संमत कैवल्य से

यह श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें आत्मा की स्वानुरूप ज्ञानक्रिया रहती है। परन्तु, परम शिव की सामरस्यात्मक विलक्षण ज्ञानक्रिया नहीं रहती। यह शुद्धविज्ञानकैवल्य की बात है। अशुद्धविज्ञानकैवल्य माया के ऊर्ध्व में होता है। उसमें आणव मल रहता है। उस अवस्था में जो ज्ञान रहता है, वह माया और पुरुष का विवेकरूप ज्ञान है। परन्तु, शुद्ध विज्ञानकेवली के ज्ञान में अखिल विश्व ज्ञेयरूप में प्रतिभासमान रहता है। अवश्य, मन्त्रमहेश्वरादि के ज्ञान में ज्ञेय के साथ सम्बन्ध रहता है। केवल अवस्था के ज्ञान में वह नहीं रहता। यह शुद्ध विज्ञानकैवल्य की अवस्था सदाशिव से विलक्षण है। परमशिव से भी विलक्षण है। परमशिव की स्थिति स्वच्छ, स्वच्छन्द और चिदानन्दघन है। परन्तु, शुद्धविज्ञानकैवल्य इस प्रकार का नहीं है। यह शिव के अपर रूप के ऊर्ध्व में है, परन्तु परम रूप के नीचे है। आत्मा उस समय में शुद्ध ज्ञातामात्र है, यही आत्मव्याप्ति है।

महाशक्ति के परम अनुग्रह के विना इस आत्मव्याप्ति के आगे कोई बढ़ नहीं सकता। इसके अनन्तर परम शिवभाव है। वही परमतत्त्व है। यदि कोई उन्मना तक आरूढ न हो सके, तो उसे चिदानन्दघन परम शिवभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्धविज्ञानकैवल्य में समना-पर्यन्त बन्धनों की निवृत्ति होती है सही, परन्तु निवृत्ति का संस्कार रह जाता है। किन्तु, परमशिव में यह संस्कार भी नहीं रहता। यह संस्कार-हीन निरुपाधि स्थिति है। यह युगपत् विश्वातीत तथा विश्वात्मक है। शिवव्याप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। सम्प्रदाय-भेद से कोई-कोई साधक शुद्धविज्ञानकेवली आत्मा में ही शिवत्वका आरोप करते हैं। एक दृष्टि से यदि देखा जाय, तो यह ठीक ही है; क्योंकि व्यापकत्व, नित्यत्व, चित्त्व, स्रष्टृत्व आदि धर्म शिव में तथा शुद्ध आत्मा में समान-रूप में विद्यमान रहते हैं। इसीलिए शुद्ध, आत्मा-मात्र ही शिवरूपी है। परन्तु, वह शिवरूपत्व भेदभावमूलक है। अद्वय-मार्ग का सिद्धान्त है कि इससे परमशिवत्व नहीं होता। आत्मव्याप्ति के अनन्तर विद्याव्याप्ति के प्रभाव से ही परम शिव के साथ तादात्म्य-लाभ हो सकता है। यह विद्या है उन्मना। समना का ज्ञान क्रमिक है, परन्तु उन्मना का ज्ञान युगपत् है। इस ज्ञान में विश्व के आभास, अवभास, निर्वाण आदि अनन्त वैचित्र्य रहते हैं। यह उन्मना ज्ञान ही पराशक्ति अथवा पराविद्या के नाम से शाक्त दृष्टि में प्रसिद्ध है। यह शुद्ध विद्या से विलक्षण है। शुद्धविद्या की अवधि शक्ति पर्यन्त है। आत्मविद्या की अवधि माया-पर्यन्त है, यह उससे भी ऊर्ध्व में है। इसमें सर्वज्ञतादि परम धर्मों की युगपत् प्राप्ति होती है। परम धर्म शब्द से यहाँ अभेदात्मक धर्म समझना चाहिए।

इस निबन्धावली में तत्त्वविचार और साधनाओं के विषय में जो आलोचना की गई है, वह सब तान्त्रिक साहित्य पर आधृत है। परन्तु, मूल में शाक्त दृष्टि का सम्बन्ध सर्वत्र अनुस्यूत है।

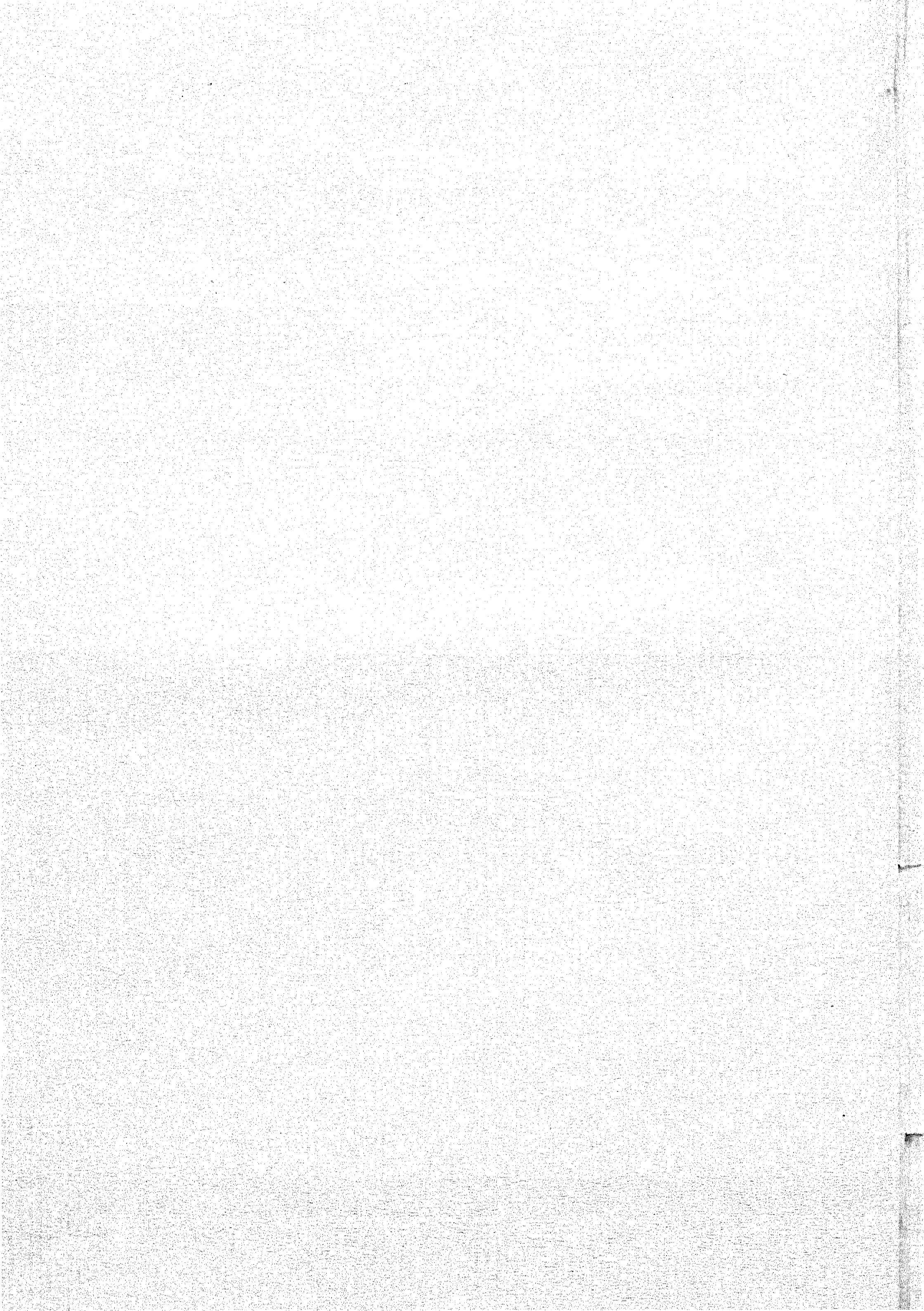
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सुयोग्य संचालक मेरे चिरस्नेहभाजन डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'जी यदि इस निबन्धमाला के संकलन के लिए मुझे निरन्तर प्रेरित न करते एवं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-ग्रन्थमाला में ही इसके प्रकाशन की सुव्यवस्था

न करते, तो इसका इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित होना सम्भव न था। इसके लिए वे मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पं० श्रीजगन्नाथ उपाध्यायजी तथा काशिकश्रीविश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्ष पं० श्री श्रीकृष्णपन्तजी का भी इस प्रसंग में साशीर्वाद सस्नेह स्मरण किये विना मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने इसके संशोधन, अनुक्रमणिका-निर्माण आदि में मुझे पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

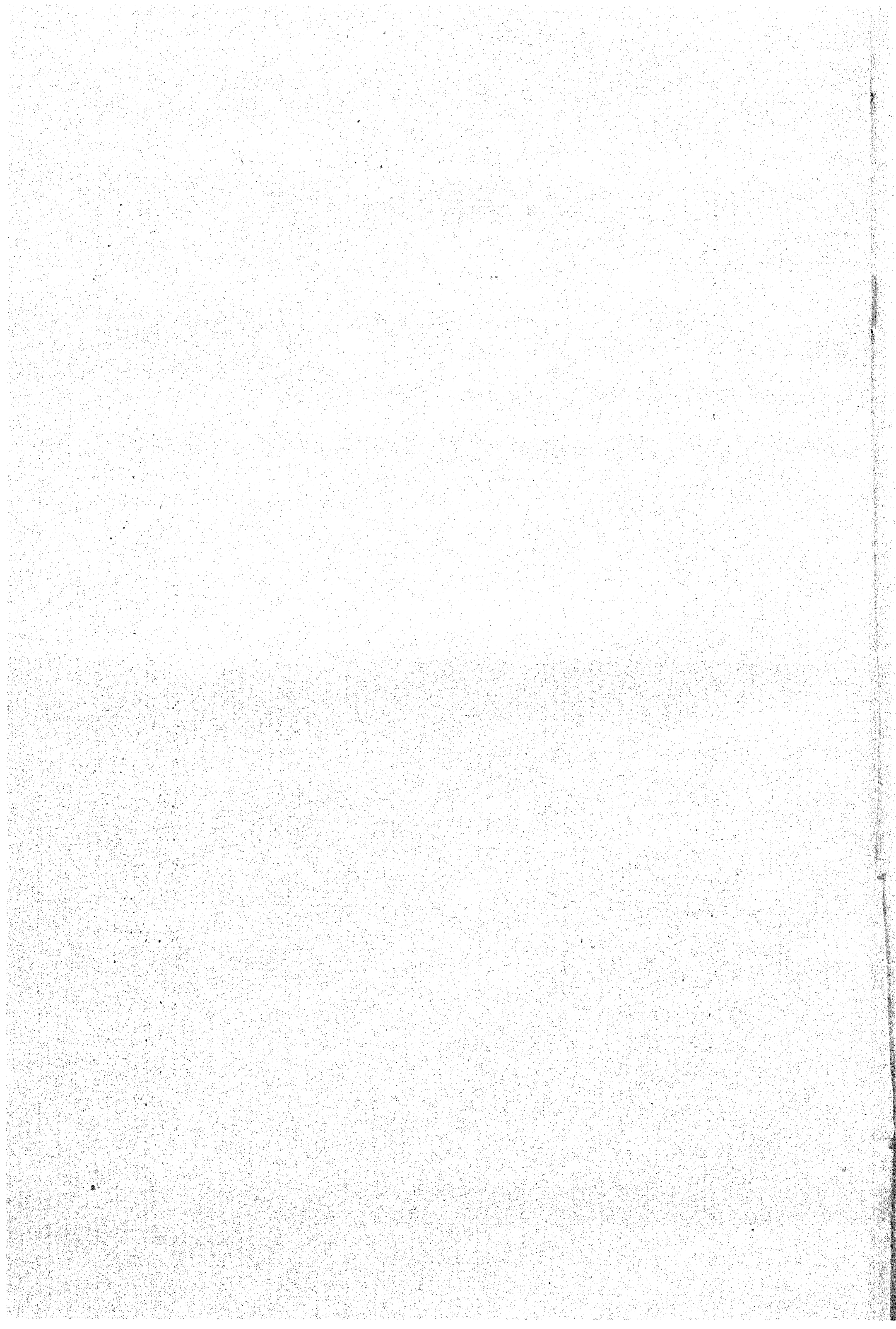
इसके मुद्रण में दृष्टिदोषवश कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिनके परिमार्जनार्थ अन्त में शुद्धिपत्र दे दिया गया है। पाठक सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।

२ ए. सिगरा, वाराणसी,
कृष्ण-जन्माष्टमी २०२०

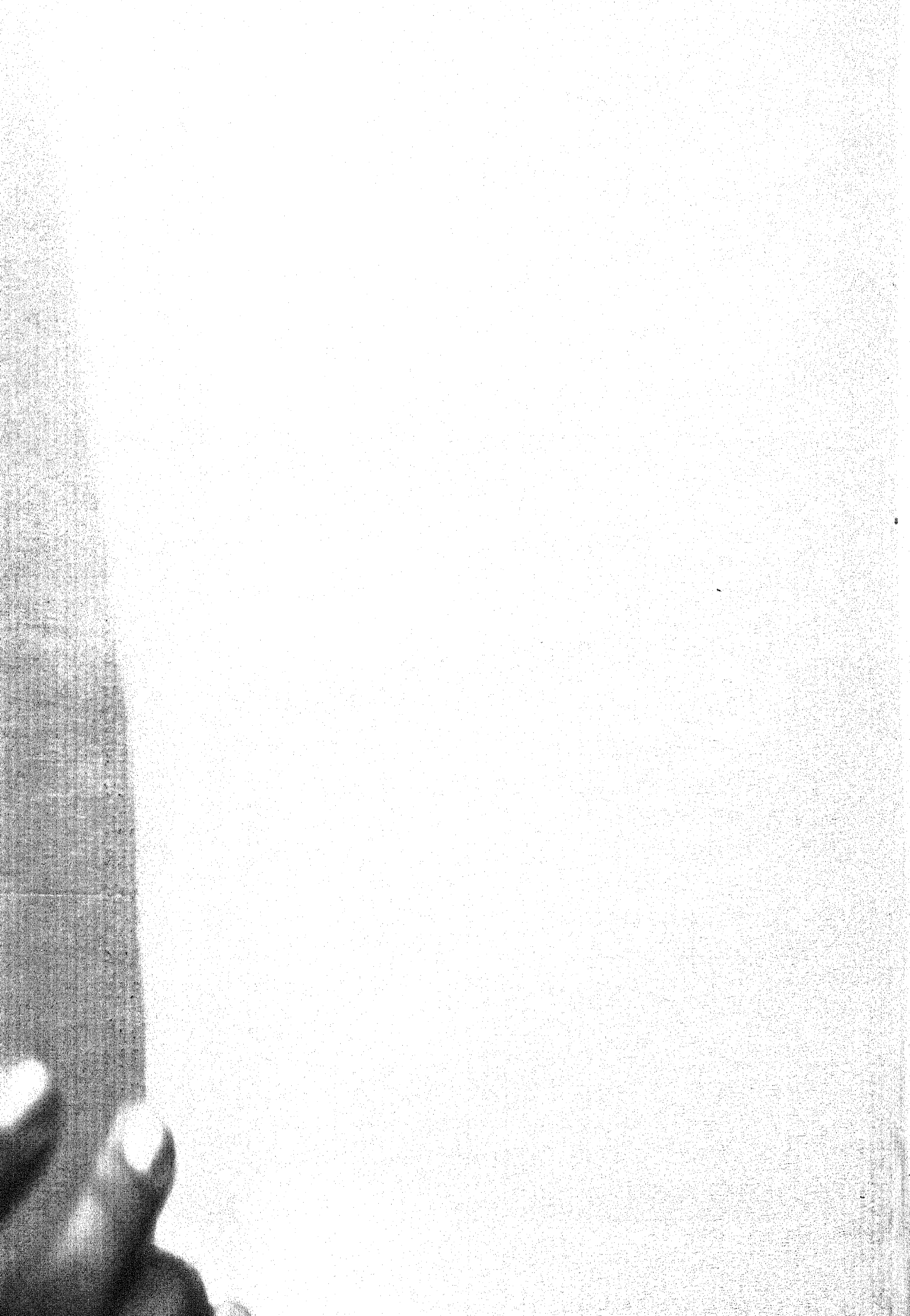
गोपीनाथ कविराज



विषय-सूची



तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि



सत्य का परमरूप तथा महाशक्ति की लीला

अद्वैत-दृष्टि का विकास—भारतीय विचारधारा में बहुत स्थलों में जागतिक खण्ड सत्ताओं के पीछे एक अखण्ड महासत्ता की कल्पना की गई है। कल्पकों के दृष्टिकोण की विचित्रता से इन कल्पनाओं में यद्यपि वैचित्र्य दिखाई देता है, फिर भी यह सत्ता वास्तव में अद्वय, परमार्थ और कल्पना से सर्वथा अस्पृष्ट है, इसमें सन्देह नहीं। इसका साक्षात्कार ही मानव-जीवन का चरम तथा एकमात्र लक्ष्य है, ऐसा सभी लोगों ने एक-स्वर से अंगीकार किया है। लोकनायक आचार्य अपने-अपने शिष्यों को उनकी धारणा-शक्ति के तारतम्य के अनुसार विविध प्रकार से इसी एक महासत्ता का उपदेश देते हैं। पात्र की दृष्टि से इन उपदेशों में भेद प्रतीत होने पर भी, वे सभी अभिन्न ही हैं। इसीलिए बोधिचित्तविवरणकार ने कहा था—"भिन्नापि देशनाऽभिन्ना।" महिम्नस्तोत्र में गन्धर्व पुष्पदन्त ने भी कहा है कि परम-पथ के यात्रियों के प्रस्थान भिन्न होने पर भी, रुचिवैचित्र्य से मार्ग के ऋजु या कुटिल होने पर भी, लक्ष्य सभी का एक ही है—"नृणामेको गम्यस्त्वमसि"।

प्राचीन भारत में पूर्णत्व के अन्वेषण के परिणामस्वरूप द्वैत तथा अनैकान्तिक दृष्टियों के साथ-साथ अद्वैत-दृष्टि का भी विकास हुआ था। दार्शनिक-विचार के क्रमविकास की दृष्टि से वैदिकसंहिता तथा उपनिषदों का अद्वैतवाद यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी बहुसंख्यक दार्शनिक समीक्षकों में अद्वैत-चिन्तन का प्रभाव दिखाई देता है। प्राचीन मीमांसा शास्त्रों में जिस प्रकार अद्वैत-तत्त्व का अनुसन्धान मिलता है, वह शांकरमत से अत्यन्त प्राचीन है। भर्तृहरि तथा मण्डनमिश्र का ब्रह्मवाद आचार्य शंकर प्रचारित अद्वैत से भिन्न होने पर भी, अद्वैतवाद ही है। प्राचीन काल में शब्दाद्वैतवाद का विद्वत्समाज में अत्यधिक प्रचार रहा। जयन्त की न्यायमंजरी में, शान्तरक्षित तथा कमलशील के तत्त्वसंग्रह तथा उसकी टीका में, जैन साहित्य में, सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य की शिवदृष्टि और उसकी टीका आदि ग्रन्थों में, पूर्वपक्ष के रूपमें इस मत की चर्चा की गई है। बौद्ध-दार्शनिक समाज में योगाचार-मत अद्वैतवाद है और माध्यमिक-मत भी उसी प्रकार का है, उनमें एक है—विज्ञानाद्वैतवाद, और दूसरा है—शून्याद्वैतवाद। प्रसिद्धि है कि कालक्रम से बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ गया था। नैयायिकों के अद्वैतवादी न होने पर भी नैयायिक-शिरोमणि उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में अद्वैतवादके ऊपर विशेष श्रद्धा प्रकट की है। शैव तथा शाक्त आगमों में भी अद्वैत की महिमा ही घोषित हुई है। इन्हें तान्त्रिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है। ईश्वराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द-साहित्य के माध्यम से प्रचारित हुआ था। शैव तथा शाक्त अद्वैतवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध है, उनमें एक से दूसरे को पृथक् नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि शिवाद्वैत का बहुत प्रकार-भेद है और शाक्त-

अद्वैत में भी अनेक प्रकार का भेद हैं। प्रसिद्धि है कि चतुःषष्टि भैरवागमों में अद्वयतत्त्व का ही माहात्म्य कहा गया है।

अद्वैतवाद विभिन्न प्रकार का होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन सब में किसी-न-किसी अंशमें सोपान-परम्परावत् एक क्रम विद्यमान है। इसके तथ्य-निरूपण के विषय में एक प्रधान उपाय है, वह है—अवच्छेद की न्यूनता अथवा आधिक्य का निरूपण। जिसमें अवच्छेद-भाव जितना अधिक हो वह उतना पूर्ववर्ती है अर्थात् निम्नस्तर का है एवं जिसमें कम हो, वह अपेक्षा दृष्टि से उच्च स्तर का है। जिसमें अवच्छेद है ही नहीं, वह सर्वोत्कृष्ट है; अर्थात् वही अद्वैतकी परम स्थिति के रूप में परिगणित किया जा सकता है। सर्वत्र इसी मूल-सूत्र के द्वारा विभाग किया जा सकता है।

शाक्त-दृष्टि में सत्ता का अभेद—वर्तमान प्रकरण में शाक्त-दृष्टि का अनुसरण करते हुए परमसत्ता के स्वरूप के विषय में विचार किया जायगा। यह सत्ता अखण्ड प्रकाश रूप है या चिद्रूप है, इस विषय में शैव तथा शाक्त मतों में कोई भेद नहीं है! यह सत्ता स्वातन्त्र्यमय है, इस अंश में भी दोनों में कोई मतभेद नहीं है। सत् ही चित् है एवं चित् ही सत् है। 'स्वातन्त्र्य' शब्द का तात्पर्य है—अन्य निरपेक्षता। इसका नामान्तर है—आनन्द, 'सर्वमात्मवशं सुखम्।' जहाँ द्वितीय नहीं है और द्वितीय की अपेक्षा भी नहीं है, वहाँ स्वरूप स्वभावतः आनन्दमय है, यही सच्चिदानन्द है; यही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है। तान्त्रिक लोग कहते हैं कि सत् परमार्थस्थिति में अवाङ्मनसगोचर है। सत् होने पर भी वह एक दृष्टि से असत् के तुल्य है। परन्तु वास्तव में असत् है नहीं, विशुद्धतम सत् ही है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह चित् है एवं रसास्वाद की दृष्टि से वही आनन्द है। परन्तु एक बात विचारणीय है कि यह अव्यक्त सत् अपने में आप अव्यक्त नहीं है, क्योंकि वही तो चित् है। इसीलिए वह अप्रमेय होने पर भी, स्वप्रकाश है; एवं स्वप्रकाशताके कारण स्वयं आनन्द भी है। परन्तु इसकी एक और विशेषता यह है कि वह अपने पास अपना प्रकाश रखता है तथा अपने स्वरूपानन्द का स्वयं आस्वादन करता है।

परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब अपने ही स्वरूप-गत अभिन्न-रूपा स्वातन्त्र्य शक्ति हो। शाक्त तथा शैव लोग स्वातन्त्र्यशक्ति मानते हैं। उपनिषदों में भी पूर्ण के इस "स्वाभाविक बल" की बात पायी जाती है, यथा—"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" इस स्वातन्त्र्य के प्रभाव से वह एक अद्वितीय रहते हुए भी, अपनी मूल सत्ता के आधार पर द्वितीय का स्फुरण कर सकता है; निःस्पन्द रहते हुए भी, स्पन्दशील हो सकता है और अचल होते हुए भी, ईषत् चलन-युक्त हो सकता है। यह स्वातन्त्र्य ही उनमें अनन्त-प्रकार के विरोधों के समन्वय का द्वार है। श्रुतियों में बहुत स्थलों में इस विरोध का उदाहरण दिखाई देता है। जैसे—'तदेजते तन्नैजते' वह कम्पनयुक्त या स्पन्दनमय है और कम्पनहीन या निःस्पन्द भी है। 'तद्दूरे तद्वदन्तिके' वह दूर से भी दूर है, फिर निकट से भी निकट है। वह अरूप, अशब्द और अस्पर्श जैसे है, वैसे ही सर्वरूप, सर्वशब्द, सर्वस्पर्श इत्यादि भी है।

यह स्वातन्त्र्य ही शाक्त-दृष्टि का प्राण है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रकाश-रूप परमात्मा सर्वदा निज-स्वरूप में रहकर भी स्वातन्त्र्य के बल से अनन्त-रूप तथा भावों में स्फुरित होते हैं, फिर इन अनन्त लीला-विलासों में भी प्रकाश ही प्रकाश है। यहाँ तक कि अप्रकाश के रूप से प्रकाश होने पर भी, उस अप्रकाश का प्रकाश भी प्रकाश में ही होता है। वह गुप्तता का स्वांग धारण करने पर भी, गुप्त नहीं होते और नित्य प्रकाशात्मक होने पर भी, चिरगुप्त हैं। वस्तुतः स्वातन्त्र्य के बलसे वह अपने को संकुचित कर लेता है। इसीलिए शक्ति के प्रति प्रसरण में एक ओर उसका आश्रय और दूसरी ओर उसके विषय की विभक्त-सत्ता, एवं मध्य में दोनों का संयोजक सेतुरूपी सम्बन्ध, अभिव्यक्त होता है। इस त्रिपुटी का भान अविभक्त महाप्रकाश में ही होता है। ज्ञान, भाव और क्रिया; सभी क्षेत्रों में यही व्यापार दिखाई देता है। इसी का नाम महाशक्ति का उल्लास या महामाया का खेल है। तान्त्रिक विचार-पद्धति से निगूढ़ रूप में इस वैदिक महावाणी की प्रेरणा दृष्टिगोचर होती है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।" जो एक है वह नाना शक्ति सम्पन्न है। इन शक्तियों की महिमा से एक रहने पर भी, वह नाना रूपों में प्रकाशित होता है। नाना भी वस्तुतः एक ही है, यह वैदिक घोषणा है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

शिव-शक्ति में गौण-मुख्य-दृष्टि—तान्त्रिकों की दृष्टि में शिव तथा शक्ति में कोई भेद नहीं है। मूलतः दोनों एक ही हैं। जो परम शिव है, वही परमा शक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ, शवमात्र है; और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्मप्रकाश में भी असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं, एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुतः चित्स्वरूप में लिंगभेद नहीं है। इसीलिए वह अलिंग होकर भी, सर्वलिंग रूप में प्रकाशित होता है तथा नाना लिंग रूप में प्रकट होने पर भी, अलिंग है। बृहणी में लिखा है—

'शिवो देवः शिवा देवी शिवज्योतिरिति त्रिधा।
अलिंगमपि तत्तत्वं लिंगभेदेन कथ्यते॥' (कुमारकृत तत्वप्रकाश व्याख्या)

यह निम्न निर्दिष्ट श्वेताश्वतर श्रुति की ही प्रतिध्वनि है—"नैव स्त्री न पुमानेष नचायं (स्यात्) नपुंसकः।"

यह मूलगत परम साम्य ही अद्वैतस्थिति है। यही सामरस्य है, जिसके सम्बन्ध में श्रुतियों में कहा गया है—"परमं साम्यमुपैति दिव्यम्।" यह स्थिति अभेदात्मक है, इसमें भेद नहीं है। परन्तु भेद न रहने पर भी, दृष्टिभेद से विलक्षणता है। पूर्व कौलगण कहते हैं कि शिव और शक्ति में साम्य रहने पर भी शेष-शेषि-भाव है, अर्थात् शिव शेषी हैं और शक्ति शेष है अथवा शक्ति शेषी है और शिव शेष हैं। उत्तर कौल शेष-शेषि-भाव नहीं मानते। उक्त मत में शक्ति ही प्रधान और जगत्कर्त्री है। प्रधान होने के कारण शक्ति का शेष भाव नहीं है। शिव नहीं है, शिव का परिणाम पंचतत्त्व रूप है; यह स्वरूप-परिणाम है। शक्ति का परिणाम मन आदि के रूप में होता है। परन्तु समयी-मत इस मत से भिन्न है। समयी

कहते हैं कि शिव और शक्ति में पांच प्रकार का साम्य विद्यमान है—(१) अधिष्ठान-साम्य, (२) अनुष्ठान-साम्य, (३) अवस्थान-साम्य, (४) रूपसाम्य तथा (५) नाम-साम्य। दोनों के साम्य में सम-प्राधान्य ही है, शेष-शेषि-भाव नहीं है।

यह स्वातन्त्र्य ही ब्रह्मवाद से शाक्त-मत का वैलक्षण्य है। प्रत्यभिज्ञाहृदय नामक शक्ति सूत्र में "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" की व्याख्या में क्षेमराज ने ठीक ही कहा है—"स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षाणश्चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते।" प्रचलित ब्रह्मवादमें चित् की स्वतन्त्रता अंगीकृत नहीं है, चिद्रूपा शक्ति वेदान्त में गुप्त है। इसीलिए ऐश्वर्य औपाधिक तथा आगन्तुक माना गया है। आगम-सम्मत चित्स्वरूप में ऐश्वर्य उपाधिमूलक नहीं है, स्वाभाविक है।

यह चिति देश, काल, आकार आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है, इसका अवच्छेदक कोई भी नहीं है; इसीलिए यह अखण्ड है।

"देशकालाकारभेदः संविदो नहि युज्यते।
तस्मादेकैव पूर्णाहं विमर्शात्मा चिदुच्यते।"

इस अखण्ड सत्ता में बोध और स्वातन्त्र्य अभिन्न रूप से विद्यमान है। इसे स्वातन्त्र्यमय बोध या बोधरूप स्वातन्त्र्य जो कुछ भी कहा जाय, अद्वैत-दृष्टि से यही आत्मा है, स्वात्मा है और यही निखिल जगत् की आत्मा के रूप से माना जाता है।

यह यद्यपि शिव तथा शक्ति का अभेद है, फिर भी जागतिक दृष्टिकोण से इसमें शिवांश निष्क्रिय और साक्षी है तथा शक्त्यंश सर्वदा पंचकृत्यकारी है, यही शक्त्यंश कहीं महेश्वर या महेश्वरी है। यह सर्वदा पूर्ण है और सर्वदा ही रिक्त है। यहाँ पूर्णता तथा रिक्तता में कोई अन्तर नहीं है। यह एक रहकर भी अनन्त है तथा अनन्त होकर भी नित्य ही एक है, फिर भी विकल्पहीन होने के कारण, एक और अनन्त ऐसा विकल्प भी इसमें नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह पूर्णरूप जैसा एक ओर विश्वोत्तीर्ण शिवरूप है, ठीक वैसा ही दूसरी ओर विश्वमय शक्तिरूप भी है, क्योंकि एक ही समय दोनों है।

यह अभेदात्मक परम-प्रमाता या अमित-प्रमाता विशुद्ध-चैतन्य परमानन्द-स्वरूप है। चैतन्य की संकोचावस्था में जैसा एक ओर प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप विभाग दिखाई देता है, ठीक वैसा ही दूसरी ओर अविभक्त प्रकाशमात्र दीख पड़ता है। दोनों पक्षों में संकोच विद्यमान रहता है। संकोचहीन अखण्ड-स्थिति में एक दृष्टि से त्रिपुटी का कोई स्थान न रहने पर भी त्रिपुटी का भान भी, उसी में होता है। अभिन्न तथा भिन्न रूप दोनों ही प्रकारों से त्रिपुटी का भान होता है। इसीलिए वह केवल प्रमाता मात्र है, त्रिपुटी के अन्तर्गत प्रमाता नहीं है। वही परम प्रमाता है। वह अपने आप पूर्ण है। प्रमाता आदि की समष्टि विश्व है। त्रिकाल के समस्त ग्राहक, ग्राह्य तथा ग्रहण एकपिण्डभाव से विश्व नाम से प्रसिद्ध है। परमस्थिति में विश्व नहीं रहता, यह बात जिस प्रकार सत्य है; उसी प्रकार वहाँ विश्व रहता है; यह भी सत्य है। अखण्ड प्रकाश निराभास होकर भी, साभास है; तथा साभास होकर भी निराभास है। अद्वैत शिवमार्गी इस स्थिति को 'परम-शिव' नाम देते हैं, शक्तिहीन शिवमात्र नहीं;

क्योंकि शिव-भाव में सभी प्रकाशात्मक हैं। उसी प्रमाता को शिव कहा जाता है जो स्वयं प्रकाशमात्र रूप है तथा जिसका प्रमेय-रूप भाव-वर्ग भी प्रकाशमात्र है। अनन्त वस्तुतः एक ही है, यही उस स्थान में प्रकाशित होता है। वहाँ विश्व भी शिवात्मक है, शिव से अभिन्न है, यही विश्वोत्तीर्ण दशा है; क्योंकि इसमें विश्व का पृथक्त्व नहीं रहता। परन्तु परमशिव अवस्था में कुछ विशेषता है। परमशिव तो शिव ही है, इसीलिए पूर्ववर्णित शिवस्वरूप भी वह है। लेकिन परम-शिव परा-शक्ति के साथ नित्ययुक्त हैं, अतः उनमें शिवभाव रहने पर भी, शक्तिभाव भी रहता है। इसीलिए विश्व का भान अभिन्न रूप में होता है, क्योंकि लीलामयी महाशक्ति के बाहर तो विश्व का कोई रूप रह नहीं सकता। इसलिए परमशिव की दृष्टि में "शिवादिधरण्यन्त-मखिलमभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचिद् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्री-परमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।" ज्ञानी की भाषा में अद्वैत-शिव का नाम परमशिव है, उपासक की भाषा में अद्वैत-शक्ति का नाम महाशक्ति है या परमाशक्ति है। दोनों नाम एक ही अखण्ड सत्ता के निर्देशक हैं। देखने में आता है कि चित्रकार अपनी निपुणता दिखलाने के लिए गज, वृषभ आदि भिन्न स्वभाव वालों की रचना इस प्रकार करते हैं कि उसमें एक प्रकार की संनिवेश-योजना द्वारा एक का अवभास होता है तथा अन्य संनिवेशयोजना से अन्य का स्फुरण होता है, अर्थात् 'गजवृषभ' चित्र में एक दृष्टि से जहाँ गज दिखलाई देता है, दूसरी दृष्टि से वहीं वृषभ भी दीख पड़ता है। जैसे ये सब विशिष्ट चित्र गज और वृषभ दोनों आकार के प्रकाशक हैं, वैसे ही एक ही पदार्थ में शिव और शक्ति दोनों ही कल्पनाओं का विधान है। शाक्त-मत स्वतन्त्राद्वैतवाद है। इस मत में कोई भी भाव तद्व्यतिरिक्त नहीं माना जाता। यद्यपि सभी सब हैं, अर्थात् शिव भी शक्ति है और शक्ति भी शिव है; तथापि प्रकाश कदापि विमर्शक्रियता छोड़ता नहीं तथा विमर्श भी प्रकाशकर्तृत्वका त्याग नहीं करता। इसीलिए शिव और शक्तिका वास्तविक रूप ऐक्यस्वभाव है। कोमलवल्लीस्तव में सिद्ध महेश्वरानन्द ने भगवती को लक्ष्य करके कहा है—

> "त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनोः।
> तत्त्वमेकमबहिर्मुखास्पदं यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया॥"

प्रकाश भाव तथा अभाव दोनोंका प्रकाशक है। भाव है ग्राहक, जिसका स्वभाव ही है प्रकाश और अभाव है ग्राह्य, जिसका प्रकाश भावके अधीन है। भावाभाव है—ग्राहक तथा ग्राह्य उभयात्मक, अर्थात् ग्रहणस्वरूप; अर्थात् एक है प्रमाता, दूसरा है प्रमेय और तीसरा है प्रमाण—इन तीनों की समष्टि ही विश्व है। प्रकारान्तरसे कहा जा सकता है कि वाच्य तथा वाचक की समष्टि ही विश्व है। विश्व को प्रकाशित करने वाला प्रकाश—स्वप्रकाश है; तथा प्रकाश्य से अतीत है। प्रकाश का स्वभाव है विमर्श या शक्ति। इसके न रहने से अर्थ का उपराग होने पर भी प्रकाश में जडता आ जाती है। विमर्श ही प्रकाश का कर्तृत्व-रूप धर्म है। प्रकाश की आत्मस्वरूप में जो विश्रान्ति है, उसी का नाम अहन्ता है, वही मुख्य ऐश्वर्य है; उसका नामान्तर 'स्वातन्त्र्य' है

स्वातन्त्र्य या पञ्चकृत्यकारित्व—ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे प्रतीत होगा कि महासत्ता में विश्व नित्य विराजमान है और उस सत्ता के स्वातन्त्र्य से निरन्तर उसके पंचकृत्यों का विषय भी भासमान है। तदनुसार स्वात्मा सर्वदा ही अपने में आप स्थित रह कर भी, विश्व की सृष्टि कर रहा है अर्थात् स्वरूप से भिन्न रूप में विश्व को प्रकाशित कर रहा है। केवल इतना ही नहीं, भिन्न रूप में प्रकाशित करने के पहले स्वयं आत्मसंकोच द्वारा निज-स्वरूप का तिरोभाव करते हुए, भिन्न या अपूर्ण रूप से स्थित है अर्थात् आणवभाव का विधान कर रहा है। यह सब उसके स्वातन्त्र्य का ही खेल है। इसी प्रकार उस स्वातन्त्र्य से अनुग्रह के द्वारा आत्मप्रकाश का सम्पादन करते हुए उस अपूर्ण अंश को अपने साथ अभिन्न कर रहा है अर्थात् अपने को पूर्ण-स्वरूप में प्रतिष्ठित करा रहा है। पंचकृत्य का कर्त्ता भी वही है, विषय भी वही है और साक्षी भी वही है। शाक्त दृष्टिकोण से यह नित्य लीलामयी शक्ति है। फिर शक्ति तो शिव ही है, इसीलिए वह लीलातीत भी है। इस दृष्टि से लीलातीत-स्थिति भी लीला का ही एक अंग है। वैष्णव-परिभाषा में कुंजलीला जैसे लीला है, निकुंजलीला भी वैसे ही लीला है। इस विश्वनाटक के जो सूत्रधार हैं, वही नट हैं; प्रेक्षक भी वही हैं। नाटक-रचना भी उन्होंने की है, अभिनय भी विभिन्न रूप धारण करते हुए वही करते हैं, स्वयं किये जा रहे अभिनयको विभिन्न रूपोंसे देखकर वे ही मुग्ध होते हैं; एवं तत् तत् रस के उदय से आविष्ट होते हैं। साथ ही साथ इन सभीके ऊपर वह अपने में आप ही विश्राम कर रहे हैं। इन सब अनन्त वैचित्र्यों को लेकर भी, वह एक ही हैं। यही परम अद्वय का स्वरूप है। सब-कुछ करके भी वे कुछ नहीं करते और कुछ न करके भी सब क्रियाओं के एकमात्र कर्ता हैं। परम भोग भी वही हैं और परम त्याग भी वही हैं। पक्षान्तर में उनमें न भोगका कोई प्रश्न है और न त्याग का ही। वह सर्वत्र स्वप्रकाश हैं, फिर भी भीतर-बाहर सर्वत्र ढूँढ़ने पर भी उनका पता नहीं चलता। वह वागिन्द्रिय तथा मन के अगोचर होने पर भी, मनोमात्रगम्य महा-भाव रूप हैं। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि वह सर्वेन्द्रिय-वेद्य और सर्वभावमय हैं। वह अनन्तमहिमामयी महाशक्ति ही ज्ञानियों के ब्रह्म, योगियों के परमात्मा तथा भक्तों के भगवान् हैं। बहुरूपी, नित्य, एकरूपी तथा अरूपी इस प्रकार उस एक की महिमा का बखान कौन कर सकता है? एक प्राचीन आचार्य ने ठीक ही कहा है—

> **"सृष्टिस्थितिसंहारमेलनरूपेयं तुरीया संविद्भट्टारिका**
> **तत्तत्सृष्ट्यादिभेदानुद्वमन्ती संहरन्ती च सदापूर्णा च कृशा**
> **चोभयरूपा चानुभयरूपा चाक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।"**

सिद्ध योगिजनों ने परमहंस अवस्था में स्वयं शिशुभाव धारण कर इस महाशक्ति को मातृरूप में अंगीकार किया है। देवीयामल में कालकर्षिणी नाम से और श्री-पूर्वशास्त्र में मातृ-सद्भाव रूप से इन्हीं का निर्देश किया गया है। बुद्धि से विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि श्रृंगाटक या त्रिकोण के मध्य-बिन्दु में परा का स्थान है,

दक्षिण में परापरा का, वाम में अपरा का और ऊर्ध्व में परातीता का स्थान है। इसमें सभी हैं, परन्तु श्रृंगाटक एक ही है। यही श्रीमाता का प्रतीक है।

यही आत्मा है, समग्र विश्व उनका शरीर है। स्वरूप-स्थिति में शरीर तथा आत्मा में भेद नहीं रहता। उनका ऐश्वर्य अनन्त प्रकार का है। पूर्वोक्त पंचकृत्य उसी का एक अंश है। उनमें अनन्त शक्तियाँ हैं। सभी उनसे अभिन्न तथा एकीभूत हैं। केवल अधीन मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत जब वे पशु का रूप ग्रहण करते हैं, तब ये सब शक्तियाँ उनको पशु बना कर मोहित करती हैं। उस समय शिव बन्धन में परिणत होते हैं। परन्तु जब वे शिवरूप में विराजमान रहते हैं, तब ये शक्तियाँ उनका सत्कार करती हैं, एवं उनके शिवोचित स्वरूप की भूषण बन जाती हैं।

दृष्टान्त द्वारा इस रहस्य का और स्पष्टीकरण किया जाता है। इस समय केवल वाग्भूमि, संवित्-क्रम के क्षेत्र तथा प्राणपद के दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है। वाग्भूमि में परा, पश्यन्ती आदि चार प्रकार के वाग्रूपों में; मातृका रूपों में और ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि अष्टवर्गाधिष्ठात्री शक्तिरूपों में; संवित् क्रम में वामेश्वरी, खेचरी आदि रूपों में; तथा प्राणपद में प्राण-अपानादि रूप लेकर ये सब शक्तियाँ कार्य करती हैं।

महासत्ता का संकोच या सृष्टिविकास—महामाया ही लीलावश शिव को अथवा अपने को खण्ड कर जीव बनाती है एवं संसार में भेजती है। फिर वही खेल समाप्त होने पर, जीव को अपने शिवमय निजस्वरूप में लौटा कर ले आती है। दोनों क्षेत्रों में स्वातन्त्र्य ही नियामक है। परन्तु स्वातन्त्र्य के साथ-साथ उसके सहायक रूप में सब अवान्तर शक्तियाँ कार्य करती हैं। पराशक्ति के संकोच-ग्रहण करने पर जब आत्मा में अणुत्व का उन्मेष होता है, तब अवान्तर शक्तियाँ उस अणुत्व के उपयोगी सभी कार्यों का सम्पादन करती हैं। फिर जब परा शक्ति के प्राकट्य का समय आ जाता है, तब अवान्तर शक्तियाँ शिवभाव की प्राप्ति के अनुकूल कार्य निष्पन्न करती हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ काल में जब शक्ति के संकोच से स्वात्मस्वरूप से भिन्न रूप में विश्व का उदय होता है, अर्थात् स्वरूप में अभिन्न रूप से स्थित विश्व जब भिन्न रूपमें प्रकट होता है; तब ग्राहक और ग्राह्य एक दूसरे से विभक्त होकर प्रकाश में आते हैं। क्रमशः यह विभाग और अधिक स्पष्ट होता जाता है। तब 'पूर्ण अहं' मानो विभक्त होकर 'अहं' तथा 'इदं' रूप धारण करता है। उस समय पूर्ण अहं की पूर्णता के ऊपर आवरण का पर्दा पड़ जाता है, तब पूर्ण अहं अपूर्ण होकर ग्राहक बन जाता है, एवं इदं अंश उसके ग्रहण का विषय बन जाता है। यह इदं-अंश पूर्ण-अहं के संकोच से उत्पन्न हुआ है। यही आत्मभाव में अनात्मभाव की सूचना है। क्रमशः इस अनात्म-भाव में गाढता आती है, परन्तु तब भी वह आत्मभाव के ही धर्म-रूप से प्रतीत होता है। अहन्ता के क्षीण होने पर भी वह उस समय इदं-भाव का आश्रय रूप है। उसके बाद अनात्मभाव में आत्मभाव मानों डूब जाता है। इसी समय महामाया से अशुद्ध-माया में अवतरण होता है। अवरोह-काल में इस अवतरण का क्रम लक्षित नहीं होता, इसे स्मरण रखना चाहिये। इसके बाद मायारूप अनात्म-सत्ता में डूबा हुआ अहंभाव धीरे-धीरे उभरता है; जो माया के कार्यभूत शरीर में अपने को व्यक्त करता है। महा-

माया के राज्य में जो गति है, वह जागरण से स्वप्न के भीतर होकर सुषुप्ति की ओर है। माया-राज्य की गति ठीक इसके विपरीत है। वह सुषुप्ति से स्वप्न का भेद कर जागरण की ओर है अर्थात् कारण से सूक्ष्म होकर स्थूल की दिशा में है। इसीलिए प्रत्यावर्तन काल में माया-राज्य में जाग्रत से सुषुप्ति में जाना पड़ता है, क्योंकि वही कारण-सत्ता है। उसका भेद करना ही माया का भेद कर महाकारण में प्रवेश करना है। इस प्रकार महामाया-राज्य में गतिलाभ का सौभाग्य प्राप्त होने पर फिर सुषुप्ति से स्वप्न को लाँघते हुए महाजागरण में प्रवेश होता है। तब महामाया का राज्य समाप्त हो जाता है। वास्तव में जो प्रबुद्ध-स्थिति है, वही शिवत्व है। शाक्तों के दृष्टिकोण से वही मातृ-अंक है।

अब पूर्व धारा का अनुसरण किया जा रहा है। पहले वाग्भूमि का व्यापार है। अणु या मित-प्रमाता विभिन्न स्तरों के हैं। उनका प्रमेय भी उन्हीं के अनुरूप है। उन मित-प्रमाताओं के ऊपर भी महाशक्ति परावाक् का रूप धारण कर कार्य करती है। अमित-प्रमाता के निकट उनसे अभिन्न परावाक् पूर्णाहन्तामयी परमैश्वर्य-रूपा है। परन्तु अणुओं को यह पश्यन्त्यादि के क्रम में ग्राहक रूप से प्रकाशित करती है और स्वयं परारूप में रहकर उनकी दृष्टि में उनके आत्म-स्वरूप को ढकती है, अर्थात् उनके सामने उसे स्फुरित होने नहीं देती और साथ ही साथ विक्षेपों की भी सृष्टि करती है। अणु या माया-प्रमाता के सामने यह परावाक् प्रतिक्षण नूतन नूतन विकल्पों को स्फुरित करती है। ये सब विकल्प अस्फुट तथा असाधारण अर्थावभास के रूप में प्रकट होते हैं। इस क्रिया के प्रभाव से शुद्ध अविकल्प-भूमि उन विकल्पों से पटी जा रही है, ऐसा प्रतीत होता है। यह वेदान्त में उपदिष्ट अविद्या की आवरण और विक्षेप क्रिया के अनुरूप है। अद्वैत-दृष्टिकोण में परावाक् का कार्य इसी प्रकार का है, परन्तु सिद्धान्तियों की दृष्टि से इस विषय में कुछ भेद दीख पड़ता है। उसके अनुसार बिन्दु या कुण्डलिनी की चार वृत्तियाँ हैं—सूक्ष्मा या परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। अणु इन्हीं वृत्तियों से व्याप्त होकर उत्तम, मध्यम तथा अपकृष्ट ज्ञान के अधिकारी बनते हैं। इनमें से सूक्ष्मा वाक् अभिधेय-बुद्धि का बीज है और 'नाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्वरूप-ज्योति कही जाती है और सुषुप्ति-काल में भी विद्यमान रहती है। यह प्रत्येक पुरुष में भिन्न है और अचेतन एवं कार्य-रूप है, इसका कारण है पर-बिन्दु। सिद्धान्ती के मतानुसार पुरुष-स्वरूप से विविक्त कर इसका स्वरूप जानना पड़ता है। यही यथार्थ विवेक-ज्ञान है, जिसका फल है पुरुष के भोगाधिकार की समाप्ति। हाँ, इससे मोक्ष नहीं होता, क्योंकि मोक्ष दीक्षा नामक ईश्वर-व्यापार से ही हो सकता है, उपायान्तर से नहीं। सिद्धान्तियों की दृष्टि से यह सूक्ष्मा वाक् पुरुष या आत्मा में समवेत है। वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। पूर्वोक्त विवेक-ज्ञान के अभाव से ही शब्द-ब्रह्मवादी लोग ऐसा समझते हैं। शब्द-ब्रह्मवाद के अनुसार षोडश कलात्मक पुरुष में यह सूक्ष्मा वाक् ही अमृत कलारूप है। सिद्धान्तियों का कहना है कि यह शब्द-ब्रह्म ही सूर्य-मण्डल है। सम्यक्-ज्ञान इसी का नाम है, जिससे इस मण्डल का भेद किया जा सके और संसार से छुटकारा मिले। वास्तव में यह वाक् सिद्धान्तियों के दृष्टिकोण से आत्म-

समवेत शक्ति नहीं है, किन्तु बिन्दु की कार्यभूत शुद्ध शब्द-वृत्ति मात्र है। प्रत्येक आत्मा में नियम से विद्यमान ये सब शब्दवृत्तियाँ बन्धन रूप हैं। आत्मा वस्तुतः इनसे परे है। जब तक आत्मा से मल का आवरण निवृत्त नहीं होगा अर्थात् शिव-भाव का उदय नहीं होगा तब तक यह विवेक-ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

यह हुआ एक ओर का व्यापार, दूसरी दिशा में अर्थात् मातृका भूमि में ब्राह्मी आदि शक्तियों से अधिष्ठित ककारादि-विचित्रवर्ण-शक्तियाँ अणुओं को मोहित कर डालती हैं, जिससे आत्मा बाध्य होकर अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझने लगती है। ये सब शक्तियाँ आत्मा की पशु दशा में भेदज्ञान का उद्भावन कर उसे स्थायी रखती हैं और अभेदज्ञान को जागने नहीं देतीं। उसका परिणाम यह होता है कि अणुरूपी आत्मा परिमित विकल्पों की विषय बन जाती है।

मातृका-रहस्य—मातृका-रहस्य यह है—परमात्मा परम-शिव में अपना विमर्श विद्यमान है, जो सदा स्वात्मा में ही विश्रान्त रहता है। परमात्मा स्वेच्छा से उस विमर्श के लेश के रूप में अकारादि वर्णों का उद्भावन करते हैं। ये सब वर्ण विभिन्न परामर्शों के वाचक हैं। जैसे—'अ' वर्ण अनुत्तर नामक परामर्श का वाचक है, 'आ' वर्ण आनन्द नामक परामर्श का वाचक है, 'इ' वर्ण इच्छा नामक परामर्श का वाचक है इत्यादि। उक्त प्रक्रिया से उद्भावित वर्णों की योजना द्वारा अष्टवर्ग तथा विभिन्न प्रकार के पद, वाक्य आदि प्रकट होते हैं। इसके अनन्तर इन सब वर्णों की विकल्प रूप में क्रिया होती है। तदनन्तर अणुरूपी आत्माएँ स्वयं उन विकल्पों के अधीन हो जाती हैं। पशुत्व अथवा जीवभाव के उदय का यही क्रम है। शिव-दशा का उन्मेष होने पर ये सब ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि शक्तियाँ जीव का भेदभाव हटाकर अभेद-भाव का उत्पादन और संरक्षण करती हैं। इसी प्रकार क्रमशः विकल्पों का ह्रास हो जाता है, शिवत्व निखर पड़ता है, एवं अविकल्प-भूमि का उदय हो जाता है। उस समय चिदानन्दा-वेशमयी शुद्ध विकल्प-शक्तियों का उत्थान होने पर शिवरूपी आत्मा समग्र जगत् को अपनी विभूति समझने लगती हैं और स्वयं विश्वात्मक रूप धारण करती है। उस समय विकल्पों का प्रसार रहने पर भी आत्मा का शिवभाव किसी अंश में लुप्त नहीं होता।

महाशक्ति का चार स्वरूप—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरी—संवित् क्रम में चितिस्वरूपा महाशक्ति 'वामेश्वरी' नाम धारण कर खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी—इन चार स्वरूपों में परिस्फुरित होकर अपना कार्य-साधन करती हैं। अविभक्त-दशा में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयों में विभाग नहीं रहता, परन्तु स्फुरण की अवस्था में प्रमाता, आन्तर-प्रमाण या अन्तःकरण, बहिः प्रमाण या बहि-रिन्द्रियाँ और प्रमेय ये चार विभाग अलग अलग प्रकाशित होते हैं। खेचरी-शक्ति का स्वभाव है—प्रमातृत्व। वामेश्वरी इस रूप से पशु-भूमि में शून्यपद में विश्रान्त होकर खेचरी-चक्र द्वारा स्वयं ही पारमार्थिक 'चिद्गगनचारित्व' नामक स्वरूप को आच्छादित कर लेती है। माया से उद्भूत होनेवाली कलादि-पञ्च कंचुक-रूप शक्तियाँ समष्टि-रूप से 'खेचरी-चक्र' के नाम से अभिहित होती हैं, जिनका काम है, आत्मा के

स्वरूपभूत पाँच नित्य धर्मों को संकुचित करना। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्यत्व, विभुत्व और आप्तकामत्व—ये पाँच आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं। इसी का नामान्तर है 'चिद्गगनचारित्व'। शिवरूपी आत्मा या परमात्मा चिदाकाश में संचरण में समर्थ होने पर भी, पशुदशा में इस खेचरी-चक्र से आक्रान्त होकर, परिमित-प्रमाता बन जाते हैं और चिदाकाश की बदल में शून्य-पद में विश्राम करते हैं। इस प्रकार परमात्मा स्वेच्छा से जीवभाव ग्रहण करने पर मित-प्रमाता बनने के लिए खेचरी-चक्र का उपयोग करते हैं। उस समय वह अल्पकर्ता, अल्पज्ञ, अनित्य, नियतदेशवृत्ति और भोगाकांक्षा से अलंकृत रूप में प्रकट होते हैं।

गोचरी-शक्ति का स्वभाव है—अन्तःकरण। इस प्रकार के गोचरी-चक्र से आत्मा का स्वभाव-सिद्ध अभेदनिश्चय, अभेदाभिमान तथा अभेद-विकल्प-मय पारमार्थिक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। भेद-निश्चय, भेदाभिज्ञान तथा भेदविकल्प-प्रधान अन्तःकरण-रूप-देवियाँ 'गोचरीचक्र' नाम से प्रसिद्ध हैं।

वामेश्वरी का तृतीय रूप है—दिक्चरी, जिसका स्वभाव बाह्य करण-वर्ग है। इस रूप में दिक्चरी-चक्र से वह अपनी पारमार्थिक अभेदप्रथा (अभेदज्ञान) को आच्छादित करते हैं तथा भेदविचारमय भेद-प्रथा को प्रकट करते हैं। बाह्यकरण-रूप देवी-चक्र ही दिक्चरी-चक्र के नाम से प्रसिद्ध है।

वामेश्वरी का चतुर्थ रूप है—भूचरी, जिसका स्वभाव है भाववर्ग या प्रमेय-सत्ता। वह भूचरी-चक्र से अपनी पारमार्थिक सर्वात्मता को आवृत करते हैं और व्यवच्छिन्न आभासमय प्रमेयवर्ग को प्रकाशित करते हैं।

ये सब चक्र पशुओं को विमोहित करते हैं, परन्तु आत्मा जब शिव-भूमि में उत्थित होती है, तब ये शक्तियाँ शिव-हृदय को विकसित करती हैं। उस समय ये खेचरी आदि शक्तियाँ ही आत्मा के पूर्ण-कर्तृत्वादि की प्रकाशक चिद्गगनचरी, अभेद-निश्चय-गोचरी, अभेदालोचनात्मक-दिक्चरी तथा स्वांगकल्प अद्वयप्रथामय प्रमेयात्मक भूचरी के रूप में प्रकाशमान होती हैं।

सामरस्य-भूमि के सम्बन्ध में यहाँ कुछ आलोचना करना अभीष्ट नहीं है, परन्तु जब शक्तियाँ उन्मिषित होकर खेलने लगती हैं, तब वे समान रूप से शिवभूमि में भी खेलती हैं और जीवभूमि में भी खेलती हैं। जिन शक्तियों से जीवों के संकुचित ज्ञान, क्रिया आदि का विधान होता है, उन्हीं से शिव की अप्रतिहत ज्ञान-क्रिया भी निष्पन्न होती है। जिनसे जीवों में भेदनिश्चयादि का उद्भव होता है, उन्हीं से शिवावस्था में अभेद निश्चयादि का भी विधान होता है। जिनसे जीव को भेद-दर्शन, भेद-श्रवण, भेद-स्पर्श, भेद-घ्राण तथा भेदास्वादन होता है, वे ही शिव में अभेद-दर्शन आदि की हेतु बन जाती हैं।

प्राणपद में शक्ति-विलास—प्राणपद में भी शक्तियों का खेल विचित्र ही प्रतीत होता है। चिदात्मा की निज की अनपायिनी शक्ति ही उनकी ऐश्वर्यशक्ति है। इसी का नामान्तर है—कर्तृत्व। जीवावस्था में उक्त शक्ति आत्मस्वरूप को आच्छादित करती है तब वह प्राण, अपान और समान का रूप धारण करती हुई जाग्रत्, स्वप्न और

सुषुप्ति भूमियों द्वारा तथा देह प्राण और पुर्यष्टक वर्गों से आत्मा को व्यामोहित करती है। यही संसार-दशा है, परन्तु जब साधक या योगी शिवरूपी स्वात्मा के प्रति अभिमुख हो जाते हैं तब यही शक्ति मध्य-स्थित सुषुम्ना-मार्ग में उल्लसित होकर, 'उदान' नाम धारण करती हुई ऊर्ध्व-दिशा की ओर अग्रसर होने लगती है। इस ऊर्ध्वगति की समाप्ति हो जाने पर, यही शक्ति 'व्यान' नाम ग्रहण कर समस्त देह में तथा विश्व में व्याप्त हो जाती है। उस समय योगी खण्ड देहात्म-भाव से पूर्णतया मुक्त होकर व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। चतुर्थ और पंचम ये दो दशाएँ चिदानन्द-घन हैं। योगशास्त्र में ये तुरीय तथा तुरीयातीत नाम से प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही शिव-दशायें हैं, इनका नामान्तर है—जीवन्मुक्ति। इस दशा का उदय देहावस्थान काल में भी हो सकता है। प्राण तथा अपान का परस्पर विरोधी-स्वभाव है। उन दोनों का साम्य—'समान' है। जब विरुद्ध शक्तियों का समीकरण हो जाता है, तब स्वभावतः अधःस्थित चिदग्नि प्रज्वलित हो उठती है। विरुद्ध शक्तियों का विरोध हटने के साथ ही साथ इडा और पिंगला मार्ग बन्द हो जाते हैं, एवं श्वास-प्रश्वास अनायास ही शान्त हो जाते हैं। तदनन्तर वह प्रज्वलित अग्नि सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर की ओर आगे बढ़ती है। उसी के साथ कुम्भक-अवस्था का उदय होता है। यह तुरीय-दशा का विवरण है। अधोबिन्दु से ऊर्ध्व-विन्दु तक अर्थात् सुमेरु-शिखर तक उत्थान या ऊर्ध्वगति का प्रसार है। इसके पश्चात् देह का त्याग कर तथा ब्रह्मरन्ध्र का भेद कर वह शक्ति चारों ओर फैल जाती है। इसी का नाम व्याप्ति या घूर्णि है। देहावस्थान काल में भी यह हो सकती है; देहान्त होने पर तो होती ही है, यदि उदान की क्रिया पहले सम्पन्न हो जाय या ब्रह्म-रन्ध्र का भेद हो जाय। यह तुरीयातीत दशा है। इसमें देह का बोध नहीं रहता, वास्तव में इस अवस्था में देह का रहना या न रहना एक-सा है।

महाशक्ति एक ही है, वही मूल-शक्ति है। जिसे पहले स्वातन्त्र्य कह आये हैं वही उसका स्वरूप है। परन्तु विभक्त-दशा में यह अनन्त शाखा-प्रशाखाओं के रूप में फैल जाती है। अविभक्त-दशा ही परम-दशा है। उस समय शक्ति और शिव अभिन्न रहते हैं।

विभक्त-दशा में विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न क्रियाएँ होती हैं, इसीलिए शक्तियों का वर्गीकरण भी विभिन्न प्रकार का होता है। परा-कुण्डलिनी शक्ति शिवस्वरूप से भिन्न नहीं है। उसका शिव से वियोग कभी नहीं होता अर्थात् 'अ' और 'ह' दोनों ही युगपत् स्थित हैं। जैसे आकाश और वायु अविभक्त हैं, ठीक वैसे ही उन्हें भी समझना चाहिये। अविभक्त होने पर भी जब शिवप्राधान्य रहता है और वे स्वरूपमात्र में विश्रान्त रहते हैं, तब चित्-शक्ति निजरूप में विद्यमान रहती है। उस अवस्था में विश्व की सृष्टि नहीं होती। परन्तु जब शिव शक्त्युन्मुख होते हैं और शक्ति शिवोन्मुख होती है, उस समय की अवस्था को यामल-अवस्था कहते हैं। उक्त अवस्था में न शिव शक्तिहीन रहते हैं और न शक्ति ही शिवहीन रहती है। इसीको संघट्ट कहते हैं। इसीका नामान्तर आनन्द-शक्ति या स्पन्द है। प्रकाश तथा विमर्श दोनों ही अनुत्तर हैं। दोनों का संघट्ट

ही 'आनन्द' कहलाता है, जिससे विश्वसृष्टि होती है; अर्थात् इच्छाशक्ति का उदय होता है। चर्या-क्रम में लिखा है कि शिवरूप विश्वोतीर्ण और शक्तिरूप विश्वमय है। दोनों ही विच्छिन्न रूप हैं। परन्तु संघट्ट है पूर्णरूप; क्योंकि उस समय नियत अवच्छेद नहीं रहता। इसीलिए उस समय विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण में कोई अन्तर रहने नहीं पाता। एकवीर अवस्था में एक मात्र शक्ति ही रहती है। वही शिव है और वही विश्व है। यामल अवस्था में शक्ति ही रहती है। कुलप्रक्रिया में त्रिशक्ति का प्रसंग है। जयादि-रूप में शक्ति के चार विभागों की कल्पना है। सद्योजातादि-रूप में शक्ति पाँच प्रकार की है। विश्वा, तदीशिका आदि छः शक्तियों का विवरण भी कहीं-कहीं दीख पड़ता है। ब्राह्मी आदि सात शक्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। अघोरादि-भेद से शक्तियों की संख्या आठ है। इसी प्रकार नौ, दस, तथा ग्यारह शक्तियों का विवरण भी प्राप्त होता है। अखण्ड द्वादशार-महाचक्र में शक्तियों की संख्या बारह है। इन बारह शक्तियों के सहित परमेश्वर पूर्ण-स्वभाव माने जाते हैं। इसीलिए सम्प्रदाय-विशेष में द्वादशार-चक्र की उपासना परम उपासना के रूप में मानी जाती है।

दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि सब शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच शक्तियों के अन्तर्गत हैं। स्वतन्त्रप्रकाश-आत्मा काल, देश तथा आकाश से परिच्छिन्न नहीं होते। इसीलिए वे नित्य, विभु, सर्वाकार और निराकार हैं। उनका जो प्रकाश भासता है—वही चित् शक्ति है, स्वातन्त्र्य—आनन्द शक्ति है, चमत्कार या खेल—इच्छाशक्ति है, आमर्षरूपता-ज्ञानशक्ति है तथा स्वीकार-योगिता—क्रियाशक्ति है। ये ही उनकी प्रसिद्ध पाँच शक्तियाँ हैं। शिव की पंचमुख-कल्पना का मूल यही पंचशक्ति-वाद है। चित् और आनन्द को एक दृष्टि से स्वरूप-शक्ति कहा जा सकता है। परमात्मा अन्य निरपेक्ष होने के कारण पूर्ण या आनन्द-रूप हैं। इसी से कोई-कोई प्राचीन आचार्य उन्हें निर्वृत-चिन्मय कहते हैं। यही स्वतन्त्र आत्मा का मुख्य शिवत्व है। इसका तात्पर्य यह है कि अनुभव या प्रकाशन परिपूर्ण-चिदात्मा में निरूढ़ है बाहर नहीं, क्योंकि चिदात्मा को छोड़कर अन्य कोई बोध है ही नहीं। इसके पश्चात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति का व्यवहार होता है। अविभक्त-दशा में विषयादि के पृथक् रूप से विद्यमान न रहने के कारण ये सब इच्छादि-शक्तियाँ अस्फुट रहती हैं, क्रमशः-विभक्त विषय आदि के सम्बन्ध से परिस्फुट होती हैं। परावस्था में केवल अपना स्वभाव ही पूर्णाहं-रूप से प्रकाशमान रहता है। वही अखिल प्रकाशरूप है। विषय के भिन्न रूप से न रहने पर भी अभ्युपगम, प्रकाश तथा संरंभ सदा ही विद्यमान रहते हैं, क्योंकि उस समय क्रम नहीं रहता। इसीलिए इच्छा आदि नाम का प्रयोग किया गया है। परन्तु यह अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है, इसमें एषणीयादि नहीं है, इसलिए इस अवस्था का विभाग नहीं हो सकता। यही पूर्णत्व या शक्ति-सामरस्य है। यह शक्ति-सामरस्य वस्तुतः शिव-शक्तिसामरस्य है, इसमें सन्देह नहीं है। संविदुल्लास में कहा गया है—

द्वैतादन्यदसत्यकल्पमपरैरद्वैतमाख्यायते
तद् द्वैते बत पर्यवस्यति कृतं वाचाटदुर्विद्यया।

एते ते वयमेवमभ्युदयिनोः कस्यापि कस्याश्चिद-
प्यालस्योज्झितमैकरस्यमुभयोरद्वैतमाचक्ष्महे ॥

यह कहना अनावश्यक है कि परावस्था में शक्तियों के मध्य किसी प्रकार का क्रम नहीं रहता, परन्तु विभक्त-अवस्था में क्रम रहता है। शक्तियों की विभिन्न प्रकार की धाराएँ हैं। किसी किसी का मत है कि परावस्था में भी अतिसूक्ष्म क्रम है, क्योंकि जिस अवस्था को शक्ति कहा जा रहा है, उसको स्पन्द-रूप मानने पर उसमें क्रम भी मानना पड़ता है। परन्तु शिव-स्थिति में क्रम का प्रश्न उठ ही नहीं सकता है।[1]

इसीलिए कहा जाता है कि जब शिवधर्म से पंचकृत्य निर्वाह की योग्यता का चमत्कार या परामर्श विश्वात्म-रूप में विकसित होता है, तब चित्स्वरूप चैतन्य में विभिन्न कार्यरचना में प्रवृति की उन्मुखता प्रकट होती है। इस उन्मुखता को इच्छा की प्रथम त्रुटि, सूक्ष्मकालावच्छिन्न भाग कहा जाता है।

चैतन्य की इस प्रकार की सूक्ष्म-उन्मुखता हृत्प्रदेश में विशेष अवसर पर अनुभव किया जाता है।[2] जब सब शक्तियों का मिश्रण होता है, तब उस उन्मुख दशा में अविभक्त शक्तियाँ, जो परवर्ती समय में विभक्त होंगी, अभिन्न रूप से पिण्डीभूत होकर अभिव्यक्त होती हैं।

प्रश्न उठता है कि परमात्मा तो अपने स्वरूपानन्द में सदा विश्राम करते हैं तब दुःख की ओर उनकी उन्मुखता क्यों होती है? शाक्त दार्शनिक लोग इसका यह उत्तर देते हैं कि उनका स्वरूप-प्रसरण ही रस या आनन्दास्वाद है। इसलिए यह स्वरूप-प्रसरण-कार्य कुत्सित या खराब नहीं है—माया-शक्ति कृत पूर्ण-स्वरूप का अख्यातिमय विचित्र कार्यरूप से जो प्रसरण है, वही रसनिमित्तक स्वरूप-प्रसरण है, यह कुत्सित नहीं है।

उन्मुखता सूक्ष्म कम्पमात्र है। जैसे निस्तरंग जल अत्यन्त तरंगित होने के पूर्व कुछ ही चंचल होता है, ठीक वैसे ही पूर्ण-स्वरूप-स्थित बोध विश्वरचना के प्रति अभिलाषमात्र है। रचना-योग्यता का प्रथम विकाश या प्रवृत्यारंभ ही उन्मुखता है। भट्ट प्रद्युम्न के मतानुसार यह किंचिद् उच्छलत्ता है, इसका नामान्तर है ऊर्मि। इसका कार्य है—इच्छा। इच्छा का पूर्व भाग जैसे उन्मुखता है, उसी प्रकार इच्छा का आभोग या दृढ़ उत्तर भाग ज्ञानादि की उत्पादन-सामर्थ्य है।

---

१. लौकिक-क्रिया में जो क्रम है उसका हेतु है काल-सम्बन्ध। परन्तु लोकोत्तर-क्रिया में क्रम नहीं है। माया-तत्त्व के ऊपर काल-विभाग नहीं है, परन्तु किसी किसी की धारणा है कि वहाँ भी परापर-रूप में इदन्ता का उन्मेष होता है, इसलिए विद्युत्-आभास-बिजली की झलक-के तुल्य काल-विभाग माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण से त्रुटि शब्द का प्रयोग सार्थक होता है।

२. शास्त्र में स्पन्द शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों में विभिन्न अर्थों में आता है। जहाँ परमार्थ परमशिव-पदवाच्य हैं, वहाँ शक्ति ही स्पन्द पद का वाच्य है। परन्तु जहाँ शिव-शक्ति परमार्थ मानी जाती है, वहाँ सदाशिवादि स्पन्द-पद के वाच्य हैं। इसीलिए किसी किसी ग्रन्थ में शिव-शक्ति विश्व के अन्तर्गत मानी गयी है। इस मत में पृथिवी से लेकर शिवतत्त्व तक ३६ तत्त्व ही विश्व है, परन्तु किसी ग्रन्थ में सदाशिव तत्त्व ही विश्व की ऊर्ध्व-सीमा है अर्थात् यही अन्तिम तत्त्व है। परन्तु यह सत्य है कि तत्त्वमात्र ही परमेश्वर की शक्ति है।

इस स्थल पर एक रहस्य समझने योग्य है। वह यह कि प्रभु परमात्मा स्वरूपानन्द में मग्न तो रहते हैं, परन्तु वहाँ भी रस रूप में आनन्द का आस्वादन नहीं होता, यदि उस स्वरूप का प्रसरण न हो। स्थिर-वायु में तृप्ति नहीं होती, यदि उस वायु का संचालन न किया जाय। इसी तरह स्वरूपानन्द के प्रसरण से ही स्वरूपानन्द प्रकट होता है। उसी से उन्मुखता होती है, इच्छा होती है और अन्त में ज्ञानादि का उदय भी होता है। स्थिर आनन्द-रूप वस्तु ही निर्वृ त-चित् है, जैसा कि पहले कहा गया है। आनन्द से इच्छा का उन्मेष अत्यन्त रहस्यपूर्ण है।

शिव-शक्तिस्वरूप समुदायात्मक परमेश्वर या महाशक्ति सर्वदा स्वरूप में स्थित हैं, इसीलिए चलन-हीन या अचल हैं। परन्तु इनके स्वरूप के अन्तर्गत शुद्ध स्पन्द है, जिसके प्रभाव से उनके बहिरुन्मेष तथा अन्तर्निमेष सम्पन्न होते हैं। उन्मेष के प्रभाव से स्वात्म-स्थित अभिन्न रूप में विद्यमान विश्व इदं-भाव लेकर प्रकट होता है। निमेष के प्रभाव से प्रकटित विश्व इदं-भाव का त्याग कर अहन्ता के उत्तेजन से अप्रकट हो जाता है। एक है—सृष्टि, दूसरा है—संहार। परम शिव के अचल होने पर भी उनका शुद्ध स्पन्द किंचिच्चलनात्मक है। 'किंचित्' इसलिये कहा जाता है कि यह उनका रूपान्तरत्वको प्राप्त आभास है, किन्तु प्ररूढ़ नहीं है। किंचिच्चलन यदि न होता तो परमेश्वर से पृथक् आभास कदापि संभव न होता। किंचित् चलन के कारण ही जगत् का स्फुरण उस समय प्रतिबिम्ब की तरह अस्फुट रहता है।

हैं तो सभी शक्तियाँ ही, परन्तु शक्तियों में भी भेद है। कई शक्तियाँ ऐसी हैं कि वे अन्यान्य बहुत सी शक्तियों को अपने स्वरूप में धारण किये हैं, इसलिए वे परमार्थ के संनिकट हैं और उपास्य हैं। यह घट में घटत्व के तुल्य समझना चाहिये। पक्षान्तर में ऐसी भी शक्तियाँ हैं, जो दूसरी शक्तियों की तुलना से स्वरूप-मात्र में स्थित हैं और दूरवर्ती हैं। घट में जैसे सत्ता रहती है, इन्हें भी वैसे ही समझना चाहिये। उन्मेष (ईश्वर) तथा निमेष (सदाशिव) दोनों ही शक्ति होने के कारण उपास्य हैं। अभी उनमें मलों का स्पर्श नहीं हुआ, वह जल्दी ही शक्तिमान् को प्राप्त करा सकते हैं। सद्-वस्तु के अन्वेषण में घट की प्राप्ति बिलम्ब से होती है। परन्तु घटत्वयुक्त वस्तु के अन्वेषण में घट की प्राप्ति शीघ्र होती है, यह भी इसी तरह समझना चाहिए।

भगवत्-कृपा का रहस्य

भगवत्कृपा की महिमा सभी शास्त्रों में पायी जाती है, साथ ही साथ कर्म, भक्ति, ज्ञान आदि का गौरव सर्वत्र दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में साधारण जिज्ञासु-साधकों के चित्त में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि पूर्णत्व-प्राप्ति के मार्ग में भगवत्कृपा प्रधान है या साधक का अपना उद्यम ? इस प्रश्न के उत्तर में द्वैत-दृष्टि से कहा जाता है कि कृपा ही प्रधान है। परन्तु अद्वैत-दृष्टि से सिद्धि की प्राप्ति के लिए उपासक में विशिष्ट गुण या योग्यता का अस्तित्व मानने की भी आवश्यकता होती है। जिस दृष्टि से मूल में अखण्ड-सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसमें अन्ततोगत्वा उसी की सामर्थ्य मानने के सिवा दूसरा चारा नहीं है। तिरोधान या आत्म-संकोच जिस प्रकार परमात्मा के निज-स्वातन्त्र्य से होता है, उसी प्रकार अनुग्रह या आत्म-विकास भी उनके स्वातन्त्र्य से ही होता है। वे अपनी इच्छा से लीला के बहाने अपने को संकुचित करते हैं, फिर अपनी इच्छा से ही उस संकोच का परिहार भी करते हैं। निग्रह या अनुग्रह मूल में उनकी स्वाभाविक-शक्ति के खेल मात्र हैं। जिस प्रकार एक सत्ता मूल में अपने एकत्व की रक्षा करती हुई भी दो या बहुत रूप धारण कर सकती है, उसी प्रकार फिर मूल अद्वैत-स्वरूप में विभिन्न रूपों की स्थापना भी कर सकती है। परमेश्वर की कृपा या अनुग्रह स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है। किसी की भी उसे अपेक्षा नहीं रहती। ये बातें पूर्ण कृपा के सम्बन्ध की हैं। परन्तु तथाकथित अपूर्ण कृपा भी निम्न स्तरों में होती है। वह अत्यन्त विचित्र है। उसकी महिमा शास्त्रों में विभिन्न स्थलों में वर्णित हुई है। वास्तव में अपूर्ण कृपा भी अपूर्ण नहीं है। कृपामात्र ही पूर्ण है और उसका लक्ष्य भी सर्वत्र अभिन्न है। फिर भी कृपा में तीव्रता, मन्दता आदि के भेद से मात्रागत वैचित्र्य है। मात्रा की न्यूनता के कारण पूर्ण कृपा भी जागतिक दृष्टि में अपूर्ण-सी मालूम पड़ती है। सत्य-कृपा मन्द मात्रा में प्रकट होने पर भी दीर्घ काल में परम लक्ष्य पर पहुँचा देती है। लेकिन जिस कृपा से परम लक्ष्य तक पहुँचने का अधिकार प्राप्त नहीं होता, वह वस्तुतः कृपा नहीं है, कृपाभासमात्र है। जहाँ कृपा अत्यन्त तीव्र होती है, वहाँ वह पूर्ण रूप से निरपेक्ष रहती है। परन्तु कृपा की तीव्रता न्यून होने के साथ-साथ निरपेक्ष कृपा भी सापेक्ष-सी प्रतीत होती है। सापेक्ष-कृपा का भी स्फुरण तथा लक्ष्य एक ही है। भेद केवल इतना ही है कि लक्ष्य-प्राप्ति के विषय में कृपा के साथ कुछ दूसरे व्यापारों की भी आवश्यकता होती है। जो लोग कृपा को सापेक्ष कहते हैं उनके मत में भगवत्कृपा के उदय में कहीं जीव का मल-पाक, कहीं कर्म-साम्य, कहीं संन्यास और कहीं काल-विशेष निमित्त माने जाते हैं। अवस्था के भेद से प्रत्येक मत में कुछ-न-कुछ सत्यांश निहित रहता है। परन्तु अद्वैत-दृष्टि से इनमें से किसी के ऊपर

भगवत्कृपा निर्भर नहीं रहती, अर्थात् किसी बाह्य-निमित्त के न रहने पर भी, एकमात्र श्रीभगवान् के स्वातन्त्र्य से ही अनुग्रह-शक्ति प्रकट हो जाती है। इसीलिए उनकी कृपा अहैतुकी-कृपा कही जाती है। अर्थात् जीवों के आणव-मल के परिपक्व होनेपर, उनके विरुद्ध कर्मों के समता को प्राप्त होने पर, उनमें भोग-वैतृष्ण्य या गुण-वैतृष्ण्य का उदय होने पर, उनमें कोई विशिष्ट धर्म संस्कार के रूप में विद्यमान रहने पर, सत्संग, पूजा, अर्चना का नित्याभ्यास रहने पर तथा भोग की पूर्णता लक्षित होने पर, भगवान्‌की कृपा प्रकट होती है, यह मत सत्य नहीं है। इन सब निमित्तों के रहने पर भी कृपा हो सकती है, कदाचित् इनके न रहने पर भी कृपालाभ हो सकता है। कभी-कभी इन सब हेतुओं के रहने पर भी कृपा का उदय नहीं होता। ये सब निमित्त भगवान् को कृपा करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते, वे स्वतन्त्र हैं। वास्तव में उनकी कृपा काल की भी प्रतीक्षा नहीं करती।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भगवत्कृपा में यदि किसी प्रकार का निमित्त न रहे तो व्यक्ति विशेष में उसकी अभिव्यक्ति में जो कमी-वेसी लक्षित होती है, वह क्यों? यदि शक्तिपात एक ही हो तो उसके फल में तारतम्य क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि शक्तिपात एक तथा निरपेक्ष होने पर भी, उसके तारतम्य का कारण है—अनुग्रह-पात्र जीवों के चित्त या आधार का वैषम्य। जो मुमुक्षु हैं, उनमें शक्तिपात की महिमा से भगवद्भक्ति का उदय होता है। वहाँ फलाकांक्षा न रहने से कुल, जाति, देह, कर्म, वय, अनुष्ठान आदि का कोई प्रश्न नहीं रहता। शक्तिपात की यही परम अवस्था है। अनवच्छिन्न शक्ति के प्रभाव से चिदात्मा का प्रकाश होता है। आधार यदि निष्काम न हो तो वह नहीं हो सकता। फलार्थियों को भी प्राप्त-अनुग्रह के प्रभाव से भक्ति प्राप्त होती है, किन्तु फलार्थियों के भोगेच्छु होने के कारण उनकी भक्ति मुमुक्षु की भक्ति के तुल्य निरपेक्ष नहीं हो सकती। उनमें कर्मादि की अपेक्षा अवश्य रहती है। यह शक्तिपात का निम्न आदर्श है। उसे 'पर' शक्तिपात न कह कर 'अपर' शक्तिपात कहा जा सकता है। यह पहली शक्ति के तुल्य अनवच्छिन्न नही होता, परन्तु साधक की भोगाकांक्षा द्वारा सीमित रहता है। चरम अवस्था में उसका भी पूर्णत्व में पर्यवसान हो जाता है।

इससे प्रतीत होता है कि यदि किसी को भगवदनुग्रह प्राप्त हो जाय, ता यह मानना पड़ेगा कि कभी न कभी उसकी भगवत्-चरणों में स्थिति अवश्य होगी, शीघ्र हो या विलम्ब से, यह दूसरी बात है। किन्तु, जो निष्काम हैं—भोगाकांक्षा से विरहित हैं और मुमुक्षु हैं, वही भगवत्-शक्ति धारण करने के लिए सर्वोत्तम अधिकारी है। पूर्णत्व-प्राप्ति में उसको कालक्षेप नहीं करना पड़ता। परन्तु जिस क्षेत्र में भोग-तृष्णादि कुछ अवशिष्ट रह जाते हैं, वहाँ तृष्णा की निवृत्ति जब तक न हो तब तक पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती। यह तृष्णा भोग भी कटती है दूसरे उपायों से भी कट सकती है, परन्तु जब तक उसकी निवृत्ति न हो जाय तब तक पूर्णत्व-लाभ करने पर भी उसमें प्रतिष्ठा नहीं होती।

प्राचीन शास्त्रों में अनुग्रह-शक्ति का जो तारतम्य दिखाया गया है, उसका कुछ

आभास यहाँ दिया जा रहा है। अन्य शक्तियों के सदृश अनुग्रह-शक्ति के भी वेग के अनुसार तीव्रतादि भेद हो सकते हैं। इस दृष्टि से इस शक्ति को तीव्र, मध्य और मन्द तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक श्रेणी में आपेक्षिक तीव्रतादि के आधार पर अवान्तर भेद भी किये जाते हैं। तदनुसार स्थूल दृष्टि से शक्तियों के नौ प्रकार हैं। ये विभाग तीव्रतादि मात्रा के ऊपर निर्भर हैं। सूक्ष्म विचार द्वारा इसी प्रकार विभाग करने पर शक्तियों के असंख्य प्रकार के भेद माने जा सकते हैं।

इस प्रसंग में एक प्रश्न का समाधान करना आवश्यक प्रतीत होता है। पहले कहा जा चुका है कि वेग या संवेग का तारतम्य ही शक्ति-विभाग का प्रधान नियामक है। परन्तु इस तारतम्य का हेतु क्या है? यह जिज्ञासा होना स्वभाविक है। इस प्रसंग में यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि सर्वत्र श्रीभगवान् का स्वातन्त्र्य ही मूल कारण है। परन्तु बाहरी दृष्टि से समझने के लिए यह कहा जाता है कि इसका नियामक आधार की विशिष्टता है। जिस आधार में शक्ति की जितनी तीव्रता का सहन हो सकता है, उसमें उतनी अधिक शक्ति का संचार किया जाता है। सहनशक्ति की अधिकता के आधार पर शक्ति की मात्रा अधिक होती है, अन्यथा कम होती है। जिसके हृदय में भोगाकांक्षा जितनी कम रहती है, उसमें प्रयोग के समय कृपाशक्ति की मात्रा उतनी ही तीव्र रहती है। परन्तु यह अत्यन्त स्थूल विश्लेषण है। उसके भीतर बड़ा गहन रहस्य है। वस्तुतः स्वभाव ही इसका नियामक है। श्रीभगवान् से शक्ति का जो संचार होता है, उसमें जिस प्रकार मात्रा का तारतम्य रहता है, ठीक उसी प्रकार संचारप्रणाली में भी भेद रहता है, अर्थात् किसी-किसी क्षेत्र में शक्तिसंचार अव्यवहित रूप से होता है अर्थात् शक्तिपात में किसी माध्यम अथवा मध्यवर्ती आधार की आवश्यकता नहीं होती। साधारणतः यह संचार व्यवहित रूप में किसी आधार के माध्यम से ही होता है। जो भगवदनुग्रह का पात्र है, उसका देह-सम्बन्ध रहने पर उसमें प्रायः किसी देहविशिष्ट आत्मा के माध्यम से मूल केन्द्र से शक्ति की प्रेरणा होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि साधारण देहाभिमानी जीव साक्षात् रूप से भगवत्-शक्ति को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि साक्षात् शक्ति अत्यन्त तीव्र होती है, उसे सहन करना अत्यन्त कठिन है, धारण करना तो बहुत दूर की बात है। परन्तु परमेश्वर की इच्छा से यदि कोई देह-विशिष्ट आत्मा उनकी साक्षात् शक्ति धारण करने के विषय में निर्वाचित हो तो देहपात होने की आशंका अधिक हो जाती है। साधारण मनुष्य की देह में यदि अकस्मात् बिजली की शक्ति प्रविष्ट हो जाय तो फिर वह देह चेतन नहीं रह सकती। परन्तु भगवत्-लीला में इसका भी व्यभिचार है। यहाँ इस विषय की आलोचना करना आवश्यक नहीं। विश्वगुरु महेश्वर जिस देह का आश्रय कर अपनी शक्ति संचारित करते हैं, उसे आचार्यदेह या गुरुदेह कहा जाता है। विश्वगुरु के साक्षात् अनुग्रह को 'निरधिकरण-अनुग्रह' कहा जाता है, देह द्वारा जो अनुग्रह होता है, उसे 'साधिकरण-अनुग्रह' कहते हैं। निरधिकरण-अनुग्रह में परमेश्वर स्वयं ही साक्षात् गुरु हैं। उस समय गुरुरूपी परमेश्वर निष्कल तथा विदेह होने पर भी शाक्त-देह का अवलम्बन कर

अनुग्रह करते हैं। साधिकरण-अनुग्रह जिन देहों द्वारा होता है, उनके दिव्य, सिद्ध और मानव ये तीन प्रकार के भेद हैं। भगवत्-शक्ति जैसे दिव्य-देह का आश्रयण कर यथास्थान संचरित हो सकती है, वैसे ही सिद्ध तथा मानव देह का अवलम्बन कर के भी संचरित हो सकती है; अथवा यह भी हो सकता है कि शक्ति पहले दिव्य-देह में संचरित होकर उससे सिद्ध-देह में तथा सिद्ध-देह से मानव-देह में पतित हो। शक्ति किसी भी स्तर में प्रविष्ट होकर साथ ही साथ दूसरे स्तर में प्रतिफलित हो सकती है अथवा किसी स्तर से उतर कर कुछ समय के लिए उसमें अटक कर तदनन्तर उससे उतर सकती है। इन स्तरों में से प्रत्येक स्तर में भी परम्पराएँ हैं। अतः कभी-कभी उनका भी आश्रय लेना पड़ता है। कभी परम्परामात्र का आश्रयण अनावश्यक हो जाता है। ये तो हुई शक्ति तथा माध्यम के वैचित्र्य की बातें, परन्तु यह जानना आवश्यक है। शक्ति का धारण करने वाले शिष्यरूपी आधार का वैशिष्ट्य ही इन सबका मूल है, आधार की विशिष्टता के मूल में भी परमेश्वर की इच्छा ही विराजमान रहती है। दिव्य, सिद्ध, तथा मानव ये तीन गुरु मण्डलियाँ 'ओघत्रय' कही जाती हैं। इनके अतिरिक्त जगत् के किसी व्यक्ति या वस्तु को निमित्त बना कर भगवत्कृपा खेल सकती है। श्री दत्तात्रेय के २४ गुरुओं की कथा तो प्रसिद्ध ही है। दूसरी भी एक बात है, वह यह कि ये सब निमित्त पूर्वसृष्ट भी हो सकते हैं अथवा परमेश्वर की इच्छा से तत्काल भी परिकल्पित हो सकते हैं। इस राज्य में असंभव कुछ नहीं है।

कोई यह न समझ ले कि बाहर के गुरु के बिना भगत्कृपा का अवतरण नहीं हो सकता, अवश्य हो सकता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि आन्तर गुरु ही श्रेष्ठ हैं। यह आन्तर गुरु प्रत्येक जीव के हृदय में अन्तर्यामी के रूप से विराजमान रहते हैं। यह अवश्य उच्च अधिकार की बात है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि अन्त में बाह्य-गुरु भी आन्तर-गुरु के रूप में परिणत हो जाते हैं।

शक्ति की तीव्रतादि के कारण शक्ति के नौ भेदों की चर्चा पूर्व में की गई है, मन्द-मात्रा में जो मन्द-शक्ति है, वह नवम कही गई है। इसी परिभाषा के अनुसार मध्यतीव्र द्वितीय है, मन्दतीव्र तृतीय है, तीव्रमध्य चतुर्थ है, मध्यमध्य पंचम है एवं मन्दमध्य षष्ठ, तीव्रमन्द सप्तम, मध्यमन्द अष्टम और मन्दमन्द नवम है। आगे विशेष वर्णन के अवसर पर संख्या द्वारा विशिष्ट मात्रा का निर्देश किया जायगा। इससे स्पष्ट होगा कि तीव्र-शक्तिपात तीन प्रकार का है, मध्य-शक्तिपात तीन प्रकार का और मन्द-शक्तिपात भी तीन प्रकार का है।

प्रथम श्रेणी का अर्थात् सबसे अधिक तीव्र शक्ति का संचार होने पर फल क्या होता है, इसकी आलोचना करनी चाहिए। स्मरण रहे कि तीव्र-तीव्र शक्तिपात में अर्थात् प्रथम श्रेणी के शक्तिपात में भी अवान्तर भेद हैं। शक्ति जब अत्यन्त तीव्र होती है, तब उसके संचार से क्षणभर में धारक की देह गिर पड़ती है और साथ-ही-साथ पूर्णत्व-लाभ भी हो जाता है। देहपात शब्द से लौकिक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि उस प्रबल शक्ति के प्रभाव से देह छूट जाती है, क्योंकि उसमें उस शक्ति को सहन करने की सामर्थ्य नहीं है, यह बात सत्य है। अपक्व देह के सम्बन्ध में यह सर्वथा सम्भव है,

परन्तु यदि देह पक्व हो तो पूर्वोक्त देहपात की आशंका नहीं रहती, किन्तु देहपात न होने पर भी शक्तिप्राप्त आत्माको देहका भान नहीं रहता। शक्तिसंचार के साथ-ही-साथ ऐसी स्थिति होती है कि उस समय में उसे देह है, यह भान नहीं रहता एवं देह नहीं है, यह भान भी नहीं रहता। तीव्र-तीव्रमें भी तीन प्रकार के अवान्तर भेद हैं—तीव्र-तीव्र-तीव्र, मध्यतीव्र-तीव्र तथा मन्दतीव्र-तीव्र। क्षणभरमें जो देहपात की बात की गयी है वह तीव्र-तीव्र-तीव्र का फल है। परन्तु द्वितीय या तृतीय अवान्तर भेद के स्थलों में शीघ्र या विलम्ब से पूर्वोक्त देहपात होता है, यह समझना चाहिए। तीव्र-तीव्र शक्तिपात में देहपात अवश्यम्भावी है[1]। इससे सिद्ध होता है कि तीव्र-तीव्र से प्रारब्ध भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि प्रारब्ध के विपाक से ही देह की उत्पत्ति होती है—जाति, आयु, देहात्मबोध और भोग इसी के अन्तर्गत हैं। किसी किसी के मत में देहपात का तात्पर्य है—सम्यक्-निवृत्ति। गीता में लिखा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

इस स्थल में 'समिद्ध' जो विशेषण है उसकी ज्ञानाग्नि के साथ योजना करनी चाहिए। अर्थात् अत्यन्त प्रबल ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। 'सर्व' शब्द से यह प्रतीत होता है कि जितने प्रकार के कर्म हैं, उन सभी का प्रबल ज्ञानाग्नि से विनाश हो जाता है अर्थात् प्रारब्ध कर्म भी उससे नष्ट हो जाता है। परन्तु यह ज्ञानाग्नि यदि अत्यन्त प्रबल न हो तो प्रारब्ध नष्ट नहीं होता, बना रहता है; केवल संचित कर्मों का ही दाह होता है। यहाँ पर सर्व कर्म से अज्ञान का आवरण और विक्षेप ये दोनों ही इसके अन्तर्गत हैं, यह समझना चाहिये। अत्यन्त प्रबल शक्ति के बिना प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं किया जा सकता। भक्त के प्रारब्ध का ध्वंस ही भगवत्ता का एक विशिष्ट निदर्शन है। साधारण दृष्टि से देहपात शब्द मृत्यु का ही बोधक माना जाता है, परन्तु अतिमृत्यु-अवस्था में मृत्यु का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए देहपात शब्द से प्राकृत देह का विलयन समझना चाहिए। किसी-किसी

---

१. तीव्र-तीव्रः शक्तिपातो देहपातवशात्स्वयम्।
मोक्षप्रदस्तदैवायं काले वा तारतम्यतः॥

इस विषय में टीकाकार का कथन है कि देहपात के लिए प्रसिद्ध नियम न रहने पर भी देहपात अवश्य हो जाता है। तीव्र-तीव्र-तीव्र स्थल में उसी क्षण होता है अन्यथा आसन्न काल में अथवा विप्रकृष्ट काल में होता है, उतना ही केवल अन्तर है।

मालिनीविजय में लिखा है—

एवमस्यात्मनः काले कस्मिंश्चिद् योग्यतावशात्।
शैवी सम्बध्यते शक्तिः शान्ता मुक्तिफलप्रदा॥
तत्सम्बन्धात् ततः कश्चित् तत्क्षणादपवृज्यते।

इस प्रसंग में भी अभिनवगुप्त का मत है कि 'काल' शब्द से यहाँ अपनी प्रत्यवमर्षणात्मक कलना है। परन्तु जयरथ कहते हैं कि यह बहिर्मुखता एक विलक्षण स्वात्म-प्रत्यवमर्षणात्मक कलना है। यह कर्म-साम्यादि से विलक्षण अन्तः स्पर्शात्मक काल है एवं योग्यता अर्थात् शिव से तादात्म्यरूप योग के लिए योग्यभाव अर्थात् ताद्रूप्य-ग्रहण करने की सामर्थ्य है।

स्थल में अप्राकृत बैन्दव-देह में अथवा चिन्मय शाक्त-देह में प्राकृत देह का परिवर्तन भी हो सकता है। इस विषय की विशेष आलोचना इस प्रसंग में नहीं की जायगी। परन्तु यह निश्चित है कि शक्तिपात से देह की जडता जाती रहती है। प्रथम शक्तिपातका फल शिवत्व-लाभ है।

द्वितीय प्रकार का शक्तिपात होने पर अर्थात् मध्य-तीव्र मात्रा में अनुग्रह-शक्ति का संचार होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। शास्त्र तथा आचार्य से निरपेक्ष होकर महाज्ञान की प्राप्ति मध्यतीव्र-शक्तिपात का फल है। इस महाज्ञान का उदय होने पर देहपात तो नहीं होता, किन्तु समग्र अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इस महाज्ञान का आविर्भाव स्वयं ही होता है। अपनी प्रतिभा से ही इसका उदय होता है; इसलिए यह 'प्रातिभ' ज्ञान कहा जाता है। जिन्हें यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वे स्वयं ही गुरु-पद प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें स्वयं-सिद्ध-गुरु कहा जाता है। उनकी आनन्दपूर्ण-दृष्टि जगत् के दुःख तथा अज्ञान का विकाश करने में सहायक होती है। वस्तुतः ऐसे स्वयंसिद्ध पुरुष किसी के शिष्य नहीं होते, क्योंकि शिष्य की ज्ञानप्राप्ति दूसरे पर निर्भर रहती है। पर इस प्रकार के महापुरुष निरपेक्ष होते हैं, इस कारण वह 'स्वयंभू' कहलाते हैं।

प्राचीन आगम ग्रन्थों में इस प्रतिभा को सत्तर्क कहा गया है। स्वयं उदित होने के कारण इसका 'प्रतिभा' नाम पड़ा है। यह अकल्पित तथा सांसिद्धिक है। जागतिक व्यवहार के मूल में व्युत्पत्ति है तथा व्युत्पत्ति के मूल में प्रतिभा है। पशु-पक्षियों की भी अपने-अपने व्यापार में जो निपुणता दीख पड़ती है, उसके भी मूल में यही प्रतिभा है। यह प्रत्येक वाणी में रहती है, इसके भेद अनन्त प्रकार के हैं। पाश्चात्यों दार्शनिक भाषा में निम्न जीवस्तर में जो Instinct तथा उच्च जीवस्तर में जो Intuition दीख पड़ता है वे भी प्रतिभा के ही एक प्रकार के रूप-भेद हैं। प्रतिभा जब दृढ होती है तब सत्य प्रतिभा कहलाती है। कम्पनशील चंचल प्रतिभा में बल कम रहता है। प्रतिभा में यदि बल कम हो तो वह युक्ति, शास्त्र अभ्यास आदि की सहायता से सामर्थ्यलाभ कर दृढ होती है। परन्तु इन सब उपकरणों की आवश्यकता सर्वत्र नहीं होती। किसी-किसी स्थल में प्रतिभा अपने आप दृढता-लाभ करती है। उसका नाम 'निर्भित्तिक प्रतिभा' है। परन्तु किसी-किसी क्षेत्र में उसे युक्ति आदि उपायों की आवश्यकता होती है। उसका नाम है 'सभित्तिक प्रतिभा'। वास्तव में निरपेक्ष प्रतिभा ही श्रेष्ठ विज्ञान है। जिस पुरुष में प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है, उसके लिए दीक्षा अभिषेक आदि संस्कारों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि संस्कार का उद्देश्य है आदि गुरु के अधिष्ठान का सम्पादन। पर प्रातिभ ज्ञान से सम्पन्न महापुरुष में महादेव स्वयं अधिष्ठित रहते हैं। इसलिए ऐसे पुरुषों के निमित्त संस्कार अनावश्यक है। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो उनकी भी दीक्षा हो ही जाती है, पर वह अलौकिक दीक्षा है, क्योंकि शक्तिपात का मुख्य-फल मुक्ति उनमें उन्मीलित हो जाती है। इसीलिए देवियाँ उन्हें दीक्षा दे देती हैं। उन्हीं से उन्हें अधिकार-प्राप्ति भी हो जाती है। इसी का नाम है—देवी-दीक्षा। परन्तु जिस क्षेत्र में प्रतिभा न्यूनबल रहती है, वहाँ आत्मभावना या व्रत, तपस्या, जप अथवा गुरु से संस्कार प्राप्त किये जा सकते हैं।

उसका शास्त्रीय नाम अकल्पित कल्पक है। उसमें भी तारतम्य है। उपाय के उत्कर्षादि के तारतम्य से उसमें तारतम्य होता है। श्रेष्ठ उपाय भावना है, उसके पश्चात् ध्यान, जप, होम, स्वप्न आदि का स्थान है। अभिषेक उनका भी होता है, पर वह आभ्यन्तर होता है, बाह्य अभिषेक नहीं होता। शास्त्र में लिखा है—'स्वेन स्वमभिषेचयति।' यह भी शास्त्रीय सिद्धान्त है कि अर्थाभाव आदि कारणों के रहने पर सब कृत्य मानसिक रूप से किये जा सकते हैं।

"यदि सम्पत्त्यभावः स्यान्मनसैवं प्रकल्पयेत्।
यस्मादिदं जगत्सर्वं मनस्यन्तः प्रतिष्ठितम् ॥"

वस्तुतः प्रातिभ ज्ञान से सब कुछ हो जाता है। योगशास्त्रकार पतंजलि का भी यही अभिप्राय है। उन्होंने कहा है—"प्रातिभाद्वा सर्वम्।"

सर्ववीर ब्रह्मयामल आदि ग्रन्थों के मत में भी प्रातिभ सर्वार्थ-साधक है। परन्तु किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का इस विषय में मतभेद है। उनका कहना है कि निष्काम-साधक या मुमुक्षु के लिए यह कथन ठीक है कि एकमात्र प्रातिभ से ही सब कुछ हो हो सकता है, परन्तु सकाम-पुरुष के लिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि सकाम क्षेत्र में यह नियम है कि नियत कारण से ही नियत फल की उत्पत्ति होती है। काम्य कर्म का नियम यही है कि सर्वांग के उपसंहार से यथाशक्ति प्रयोग का उपगम होने पर यह कहा जा सकता है कि कार्य सामग्री से उत्पन्न हुआ। इसीलिए गुरु से दीक्षा, अभिषेक आदि ग्रहण कर स्वयं विद्या और व्रत का आचरण करने पर गुरु फलप्रद होते हैं। परन्तु प्रातिभ-ज्ञान इस प्रकार का नहीं है। किन्तु सोमानन्द, कल्याण, भवभूति आदि श्रीअभिनवगुप्त के गुरुजन यह बात नहीं मानते। त्रिंशिका-व्याख्यान में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

वास्तव में प्रातिभ के अभाव के कारण उसके लिए कृत्रिम ज्ञान का आहरण करना पड़ता है, वह चाहे गुरु से हो चाहे शास्त्रों से हो। आणव-ज्ञान और शाक्त-ज्ञान सभी अन्त में सविकल्पक शाम्भव-ज्ञान की प्राप्ति के द्वार बन जाते हैं। प्रातिभ-ज्ञान वस्तुतः उक्त शाम्भव-ज्ञान का ही स्वरूप है। सांसिद्धिक सहजज्ञान को अभिव्यक्त करने के लिए प्रारम्भ में आणव आदि ज्ञानों की आवश्यकता होती है। वास्तव में सांसिद्धिक ज्ञान दीक्षादि-स्वरूप ही है। प्रचलित मार्ग में दीक्षा आदि का ज्ञानोपाय के रूप में जो निर्देश किया गया है, वह ज्ञानहीन अज्ञानी के लिए है। सच्ची बात तो यह है कि प्रातिभ ज्ञान क्रम-हीन निरुपाय-ज्ञान है।

बाह्य उपाय भिन्न भिन्न हैं, अतः शक्तिपात में भी वैचित्र्य होता है। इसीलिए प्रतिभा के उदय में भी तारतम्य रहता है। मध्य-तीव्र-शक्तिपात में भी भेद है। किसी की प्रतिभा व्यष्टि-रूप से अपनी मुक्ति मानती है, परन्तु किसी दूसरे की प्रतिभा जब तक विश्व की विमुक्ति न हो तब तक अपनी मुक्ति नहीं मानती। जुगनू और सूर्य बराबर नहीं हो सकते। जिनकी बुद्धि परोपजीवी है, उनके लिए किसी प्रमाणिक पुरुष के वचनों के विना कुछ भी ग्रहण करना सम्भव नहीं है, क्योंकि सबकी योग्यता

एक-सी नहीं होती। किरणागम में लिखा है कि किसी की योग्यता ज्ञान में होती है, किसी की योग में, किसी की चर्या में और किसी की क्रिया में होती है। इस प्रकार योग्यता में स्वभावतः वैचित्र्य है।

प्रातिभ-ज्ञान का मूल क्या है? इस विषयमें प्रश्न हो सकता है। नन्दिशिखा-तन्त्र में लिखा है—एकमात्र विवेक ही प्रातिभ-ज्ञान का मूल है। विवेक शब्द से यहाँ आत्म-परामर्श का ग्रहण किया जाता है। मायिक-हेय पदार्थों का परिहार इसी से होता है।

अब मोक्ष या पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए दीक्षा का महत्व है या प्रातिभ-ज्ञान का, इस विषय में विचार करना आवश्यक है। दीक्षा गुरु के अधीन है। बद्ध जीव को बन्धनकारी कारणों से मुक्त करने के लिए उसे अन्य की अपेक्षा होती है। परन्तु प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप है निज-स्वभाव, जिससे केवली-भाव की सिद्धि होती है। आगम से भावना भावित होती है एवं गुरु-दीक्षा से पाश-च्छेद होता है, तब जाकर सत्य वस्तु का विकास होता है, यही प्रातिभ ज्ञान है।[१]

यह प्रातिभ ज्ञान भी दो प्रकार है—(१) गुरुगत तथा आम्नायगत और (२) स्वाभाविक। अतीन्द्रिय विवेक-शक्ति जब अत्यन्त तीव्र हो जाती है, तब उसके प्रभाव से पशु, पाश तथा पति का ज्ञान अपने-आप भासित हो उठता है। जो ज्ञान इन्द्रियज है और स्तुति-गोचर है वह दूसरे के अधीन है परन्तु प्रातिभ-ज्ञान स्वाधीन है तथा अतीन्द्रिय भी है। प्रातिभ-ज्ञान के उदय से दूसरे ज्ञान निष्प्रभ हो जाते हैं, क्योंकि उस समय एक महाप्रकाश में ही विश्रान्ति हो जाती है। विवेक का उदय होने से शब्दादि पाँचों विषयों में दूर-श्रवण आदि वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है। देश, काल और आकार से विप्रकर्ष रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति में रुकावट नहीं आती। षट्चक्रों का ज्ञान, षोडश आधारों का ज्ञान, मन्त्रवेध, क्षण भर में परकाय-प्रवेश आदि असंख्य सिद्धियों का आकर्षण होता है, परन्तु उनसे विमुख होने पर पूर्ण चैतन्य में विश्रान्ति हो जाती है। पतंजलि का विवेकज-ज्ञान भी इसी प्रकार का है। परतत्त्व में भावना दृढ होने पर जीवन्मुक्ति होती है। पहले दीक्षा द्वारा पाश से मुक्ति मिलती है, तदुपरान्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है—

"दीक्षया पाशमोक्षस्तु शुद्धभावाद् विवेकजम्।"

गुरुशक्ति की तृतीय मात्रा का अर्थात् मन्दतीव्र-शक्ति का संचार होने पर

---

१. पातंजल योगदर्शन में इसे विवेकज-ज्ञान कहा गया है तथा यह भी कहा गया है कि यह अनौपदेशिक ज्ञान रूप है। तन्त्रशास्त्र में भी विवेकोत्थ आगमोत्थ के भेद से दो प्रकार के ज्ञानों की चर्चा आई है। उनमें विवेकोत्थ-ज्ञान अनौपदेशिक है शब्दजन्य नहीं है, परन्तु आगमोत्थ ज्ञान शब्द या उपदेश से उत्पन्न होता है। किन्तु वास्तव में 'ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्" इस सिद्धान्त के अनुसार आर्ष ज्ञान अर्थात् विवेकोत्थ-ज्ञान भी वस्तुतः आगमजन्य ज्ञान का एक प्रकार का भेद है, यह सिद्ध होता है। इसका कारण है कि सूक्ष्मतम दृष्टि से पता लगता है कि प्रातिभ-ज्ञान के मूल में ही शब्दात्मिका विमर्श-शक्ति काम करती है।

सद्‌गुरु के निकट जाने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसके मूल में भगवदिच्छा ही है। ये सद्‌गुरु वस्तुतः सर्वतत्त्ववेत्ता और अध्यात्म-विद्या के रहस्य के ज्ञाता होते हैं—

"स गुरुर्मत्समःप्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः।"

यह वचन मालिनीविजय का है। सद्‌गुरु के दर्शन, स्पर्शन, ध्यान आदि से पापोंसे छुटकारा मिलता है। सद्‌गुरु से दीक्षा प्राप्त होने पर भोग तथा मोक्ष दोनों ही सिद्ध होते हैं। यह दीक्षा चाक्षुषी, मानसी या स्पर्शवती हो सकती है। श्रोती दीक्षा भी इसी प्रकार की है। इसमें तारतम्य हैं। समग्र या आंशिक भेद से, क्रमिक रूप में या क्रम के बिना—सब कुछ हो सकता है। दीक्षा-प्राप्ति के साथ ही साथ शिव-भाव आ जाता है और जीवन्मुक्ति हो जाती है, यदि दीक्षा ठीक-ठीक हो जाय। शास्त्र में 'तत्क्षणाद्वा शिवं व्रजेत्' यह वचन मिलता है। वह इसी स्थिति का द्योतक है। उस समय देह आदि में अहंरूप से अभिमान नहीं रहता।

शक्तिपात की विचित्रताके कारण दीक्षा में अनन्त प्रकार के तारतम्य होते हैं। ये साधक देह रहने पर भी जीवन्मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि श्रीशंकर का वचन है कि गुरु से अपने में निर्विकल्पक ज्ञान का स्फुरण होने पर तत्क्षण मुक्ति हो जाती है। उसकी सत्ता उस समय केवल यन्त्ररूप में रह जाती है। देह-स्थिति में सुख-दुःख का अनुभव रहने पर यह नहीं समझना चाहिये कि मुक्ति नहीं हुई, कारण कि निर्विकल्प ज्ञान के प्रकट होने के बाद बन्धन छूट जाता है, भोग के निमित्त ही शरीर रह जाता है। भोगान्त में अवश्य ही शिवरूपता-प्राप्ति होती है—'देहपाताच्छिवं व्रजेत्।'

उसी समय निर्वाणप्रद दीक्षा का उल्लेख भी आगम-शास्त्र में मिलता है। किसी को इस प्रकार की दीक्षा प्राप्त होनेपर दीक्षा-प्राप्ति के साथ ही साथ प्राण-वियोग हो जाता है। मन्त्रशक्ति के प्रभाव से क्षण भर में प्रारब्ध-कर्म का नाश हो जाता है। परन्तु भगवान् का यह आदेश है कि मृत्यु का समय आसन्न न होने पर इस प्रकार की दीक्षा नहीं देनी चाहिये। क्योंकि ऐसा करने पर प्राप्त भोग भोगने से छुटकारा मिल जाता है, जो नियम विरुद्ध है। मन्त्र की सामर्थ्य से प्राणवियोग तो हो जाता है, परन्तु वास्तव में प्रारब्ध का नाश नहीं होता। मृत्यु के बाद भी देहान्तर ग्रहण कर उसे भोगना ही पड़ता है।

"दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिभिः परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत्॥"

यह हुआ तृतीय मात्रा का विवरण।

चतुर्थ या तीव्रमध्य मात्रा के विषय में आगम का सिद्धान्त यह है कि इस प्रकार का अनुग्रह सब शिष्यों के लिए नहीं है। यह केवल वागीश्वरी-गर्भ-जात पुत्रक के लिए ही है। इसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ मात्रा का शक्तिपात जिस आधार में होता है वह पुत्रक-दीक्षा-प्राप्ति का अधिकारी है। इस प्रकार के शक्तिपात से साधकों को अपना शिवत्व-बोध दृढ़ रूप से नहीं हो सकता, परन्तु देहान्त में उन्हें अपना शिवत्वबोध हो जाता है। अपने शिवत्व का दृढ बोध न होने के कारण उनके ज्ञान में विकल्प का

सम्बन्ध कुछ न कुछ रह ही जाता है। निशिसंचार तथा योगसंचार नामक आगम में इस विषय का विवरण दिया हुआ है।

पंचम मात्रा का अर्थात् मध्य-मध्य शक्ति का संचार होने से साधक शक्ति के आधार शिवधर्मी साधक की स्थिति प्राप्त करते हैं। उस समय उक्त साधकों के चित्त में शिवत्व प्राप्त करने की उत्सुकता तीव्र रहती है, परन्तु शिवत्व-ज्ञान नहीं होता। वे इष्ट तत्त्व या भुवनादि से युक्त होकर उसका भोग कर देहान्त में शिवत्व-लाभ करते हैं। यह भोग वर्तमान देह में ही सम्पन्न हो जाता है, परन्तु ये सब भोग्य लौकिक नहीं हैं, योगाभ्यास-जन्य हैं। इन योगियों को अलौकिक भोग सिद्ध होने पर भी शिवत्व का अस्पष्ट अनुभव भी वर्तमान देह में नहीं होता।

षष्ठ मात्रा में शक्तिपात होने पर अर्थात् मन्दमध्य-अनुग्रह की प्राप्ति होने पर उसके प्रभाव से भोग पूर्वोक्त प्रकार के अभिमत तत्त्व का ही होता है, पर वह वर्तमान देह में नहीं होता, शिवत्व के अनुभव के विषय में तो बात ही क्या ? परन्तु देहान्त होने पर शिवत्व का अनुभव होता है। इसके बाद सप्तम, अष्टम और नवम ये तीन प्रकार के शक्तिपात मन्द-कोटि में गिने जाते हैं। ये शिवधर्मी साधकों में नहीं होते, परन्तु लोकधर्मी साधकों में होते हैं। इनमें दीक्षा के प्रभाव से देहान्त में किसी भुवनादि में जाकर वहाँ अणिमादि भोग्यों को भोगकर पूर्णत्व-लाभ होता है। भोग के अन्त में उस भुवन के ऊपर जाकर सकल या निष्कल शिव में वे युक्त होते हैं। अष्टम शक्तिपात में किसी भुवन में कुछ दिनों तक भोग होता है, उस भुवन के ईश्वर उस समय उन्हें दीक्षा देते हैं। उसके पश्चात् अन्त में वे पूर्णत्व को प्राप्त होते हैं। नवम मात्रा में शक्तिपात होने पर भुवन में सालोक्य सामीप्य और सायुज्य को प्राप्त होकर दीर्घकाल तक ऐश्वर्य-भोग करते हैं। तदन्तर दीक्षा होती है। उसके बाद पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है।

इससे सिद्ध होता है कि शिष्य कितना ही भोग-लोलुप क्यों न हो पर भगवान् की सञ्चारित शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। निम्न मात्रा का शक्तिपात भी अन्त में अवश्य शिवत्व-दायक होता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि शक्तिपात निरपेक्ष है अर्थात् कर्मादि के अधीन नहीं है। कर्मादि अणु को (जीव को) माया में प्रविष्ट कराते हैं, वे माया से जीव का उद्धार नहीं कर सकते। जितने शुद्धात्मा अथवा रुद्राणु माया के मध्य में हैं और जितने माया के ऊपर हैं सब अपना-अपना अधिकार समाप्त होने पर हठात् अर्थात् कर्मादि की अपेक्षा के बिना भगवत्-शक्तिपात के प्रभाव से शिवत्व को प्राप्त होते हैं और जो लोग माया से आक्रान्त नहीं हैं, वे कर्मादि-निरपेक्ष हैं। वे केवल मात्र शक्तिपात से भोग और मोक्ष दोनों को प्राप्त करते हैं। ये पहले मायातीत, विश्वोत्तीर्ण शिव के विषय में जप, ध्यान आदि कार्यों में प्रवृत्त हुए थे परन्तु उसका निमित्त क्या था ? सर्वत्र भगवदिच्छा ही मूल है और सर्वत्र एक-मात्र वही निमित्त है।

वास्तव में जपादि कर्म नहीं है, परन्तु परमेश्वर के स्वरूप की प्रकाशिका क्रिया-शक्ति है। कर्म उसी का नाम है जो निम्नस्तर का परिमित भोग देकर अपरिमित या

पूर्ण भोग के स्वरूप का आच्छादन करता है एवं नाना प्रकार के संकोचों के द्वारा आवरण करता है। भगवान् की क्रियाशक्ति जब पशु में स्थित होकर बन्धन को उत्पन्न करती है, तब उसका नाम पड़ता है कर्म।

पशु में 'अहमिदं करोमि' इस प्रकार का भेद-ज्ञान रहता है। उसमें त्याग-ग्रहणात्मक-क्षोभ रहता है। कर्म स्वरूप का लोप करने वाला है, आच्छादन करने वाला है और सुख-दुःख का उत्पादक है। जब यह क्रिया-शक्ति 'संविदेव इदम्' इस रूप से शिव-शक्त्यात्मक अपने मार्ग में अधिष्ठित होकर प्रकट होती है, तब वह विविध प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करती है। उस समय वह पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति कहलाती है, कर्म नहीं। जिन लोगों पर माया या कर्म का प्रभाव नहीं रहता; वे पूर्ण हैं। उन्हें विभिन्न प्रकार की सिद्धियों की अभिलाषा नहीं होती। परन्तु यदि किसी क्षेत्र में वह हो भी तो कोई हानि नहीं होती। परमेश्वर चिद्रूप और एक है। वह अपनी स्वतन्त्रता से तत्-तत् प्रमाता प्रमेय आदि रूपों में प्रकाशमान होते हैं। वह एक होने पर भी अनेक रूपों में अवभासमान होते हैं। इसलिए वे स्वेच्छा से स्वरूपगोपन-रूप बन्धन स्वीकार करते हैं। वे भोग-क्रिया में भोक्ता का भाव धारण करते हैं और संकोच का स्फुरण करते हुए जाति, आयु तथा भोगदायक स्वकल्पित कर्मों के द्वारा अपने को बन्धन में डालते हैं। यह हुई बहिर्मुख गति की चर्चा। फिर अपने स्वरूपमें लौटने के अवसर पर वे आगन्तुक मल, कर्म आदि रूपों का परिहार कर शुद्ध स्थिति में पहुँचते हैं। उस समय पूर्ण दृक्शक्ति तथा क्रिया-शक्ति सम्पन्न परमेश्वर ही रह जाते हैं।

पूर्णत्व-लाभ ही यथार्थसिद्धि है। वह है—आत्म चैतन्य का निरवच्छिन्न स्फुरण, भोग तथा मोक्ष में पूर्ण स्वातन्त्र्य; जिसका कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार की सिद्धि देह रहने पर भी हो सकती है। इसके सामने अन्यान्य सिद्धियाँ उपेक्षणीय हैं। इस प्रसंग में और एक बात विचारणीय है। जैसे परमेश्वर की कृपा से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वैसे ही अन्यान्य देवताओं की कृपा से भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है, यह बात सत्य है; परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि देवता आदि का रूप भी परमेश्वर का ही धारण किया हुआ अपना रूप है। ये सब रूप परमेश्वर की स्वेच्छा से ही भेद-सम्बन्धों के स्फुरण के कारण मायिक रूप है। अतएव देवता आदि से भी शक्तिपात तो हो सकता है, परन्तु देवतादि को अपने-अपने अधिकार के अनुसार भोग देने की सामर्थ्य है। अन्त में पूर्णता वे नहीं दे सकते। इसलिए परमेश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा देवतामात्र का अनुग्रह निम्न स्तर का है। जैसे यदि कोई राजा अनुग्रह करता है तो परमेश्वर की शक्ति के सम्बन्ध से ही करता है, उसी प्रकार मायिक देवताओं की भी सामर्थ्य निम्न-कोटि का अनुग्रह करने में है, परन्तु उसकी भी पृष्ठभूमि में परमेश्वर की ही शक्ति खड़ी रहती है। मायागर्भस्थ अधिकारी पुरुषों के मन्द शक्तिपात से किन्हीं साधकों को प्रकृति से पुरुष का विवेक-ज्ञान प्राप्त होता है, उससे उनकी प्राकृत-बन्धन से मुक्ति हो जाती है। उन्हीं के तीव्र शक्तिपात से किसी-किसी साधक को कला से पुरुष का विवेक-ज्ञान होता है, वह साधक माया के पार हो जाते हैं। उस समय कलाश्रित

कर्म पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाते हैं। उस अवस्था में विद्यमान आत्मा 'विज्ञानाकल' कही जाती है। उस स्थिति पर पहुँच जाने के अनन्तर माया के नीचे पतन नहीं होता। प्रकृति से पुरुष का विवेक-ज्ञान होने पर भी कलाश्रित कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं। इसीलिए सांख्योपदिष्ट कैवल्य से आगमोपदिष्ट विज्ञान-कैवल्य विलक्षण है। जिसको प्रकृति से पुरुष का विवेक सिद्ध हो गया, उसका फिर प्रकृति के गर्भ में जन्म नहीं होता। प्रकृति के गर्भ में जन्म न होने पर भी उसका माया के भीतर जन्म-ग्रहण असंभव नहीं हैं। इस प्रकार की सृष्टि भगवान् अनन्त द्वारा सम्पन्न होती है। माया से पुरुष का विवेक सिद्ध होने पर जब विज्ञानाकल अवस्था की प्राप्ति होती है, तब केवल अधिकार रूप में मल अवशिष्ट रहता है। उस समय साक्षात् परमेश्वर की प्रेरणा से (भगवान् अनन्त की प्रेरणा से नहीं) साधकों को मन्त्र, मन्त्रेश्वरादि-भाव प्राप्त होते हैं। उक्त मन्त्र, मन्त्रेश्वरादि-भाव प्राप्त लोगों का परमेश्वर के साथ अभेद-ज्ञान विद्यमान रहता है। इसका हेतु भी परमेश्वर की इच्छा ही है।

विभिन्न मात्राओं में शक्तिपात होने से विभिन्न प्रकार के फलों का आविर्भाव होता है, इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण पहले दिया जा चुका है। यहाँ स्पष्टीकरण के लिए प्रसंगवश और भी दो चार बातें, कही जा रही हैं। तृतीय मात्रा का शक्तिपात होने पर सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त होती है और वर्तमान देह में स्थिति रहते हुए भी शिवत्व का अनुभव होता है, जिसके प्रभाव से पूर्ण ज्ञान-क्रिया का उन्मेष तथा जीवन्मुक्ति का उदय होता है अथवा भोगों का भोग हो जाने पर आसन्न मृत्युकाल में देहपात के अनन्तर शिवत्व-लाभ होता है। अवश्य यह सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा की सामर्थ्य से होता है, किन्तु शक्तिपात का उससे कुछ मन्द होने पर इस प्रकार का फल नहीं होता।

चतुर्थ मात्रा के शक्तिपात में दीक्षा से तत्काल शिवत्व का अनुभव नहीं होता, क्योंकि वहाँ अनात्म-रूप बुद्धि आदि में आत्माभिमान रह जाता है, इसलिए आत्मा में शिवरूपता का ज्ञान नहीं होने पाता। प्रारब्ध का भोग हो जाने के बाद देहान्त के अवसर पर शिवत्व-लाभ होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि तीन प्रकार के तीव्र शक्तिपातों से अनात्मा में आत्माभिमान क्षणभर में मिट जाता है और आत्मा में, अर्थात् शिव में, आत्माभिमान उदित होता है। हाँ, इसमें क्षेत्रभेद से तारतम्य होना सम्भव है। यहाँ भोगाकाँक्षा बिलकुल नहीं रहती, परन्तु चतुर्थ मात्रा के शक्तिपात-क्षेत्र में किंचित् भोगाकांक्षा रह जाती है, इसीलिए अनात्मा में आत्माभिमान मिटता नहीं परन्तु शिथिल अवश्य हो जाता है। इसी देह में योगज-भोग की सिद्धि होती है तथा देहान्त होने पर परम-सिद्धि का उदय होता है। पंचम तथा षष्ठ आदि मात्राओं के शक्तिपात क्षेत्रों में बुद्धि आदि अनात्मा में आत्माभिमान विद्यमान रहता है। इसी कारण वहाँ भोगों को भोगना पड़ता है। चतुर्थ मात्रा के शक्तिपात में योग-सिद्धि इसी देह में हो जाती है, पंचम मात्रा के शक्तिपात में देहान्त में होती है। पुत्रक, शिवधर्मी-साधक तथा लोकधर्मी-साधक का सर्वत्र भोग है।

श्रीभगवान् का जीवोद्धार क्रम—दीक्षा

[१]

गुरु क्या करते हैं ? गुरु का मुख्य कार्य है—शिष्य की आत्मा के साथ अभिन्न होकर शिष्य-रूप चैतन्य की भोग-भूमि को सम्पूर्ण रूप से एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा शुद्ध करना। यह गुरु का अभावात्मक कार्य है। इसके बाद उनका भावात्मक कार्य होता है—ज्ञान-दीक्षा द्वारा चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का शिष्य में उद्भावन। दीक्षा के दो मुख्य अंग हैं—एक है, पाशों का नाश और दूसरा है, शिव-तत्त्व के साथ शिष्य का योग। पहले पृथिवी आदि तत्त्वों की शुद्धि करनी पड़ती है। उसके अनन्तर समना-पद को शुद्ध करना पड़ता है, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त तत्त्वों का संस्कार रह जाता है। समना-शक्ति का रूप—अत्यन्त सूक्ष्म-तम तत्-तत् प्रपंचों की मननात्मकता है। शिष्य के समना-पद पर विद्यमान क्षीणतम भेद-संस्कारों को भी मिटा देना गुरु का एक प्रधान कर्तव्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए गुरु को चाहिये कि शिष्य की आत्मा को समना के साथ युक्त कर दे। शिष्यात्मा के समना-युक्त होते ही, वह सर्व तत्त्वों में व्यापक तत्त्व हो जाता है, क्योंकि सब तत्त्वों का सूत्रपात पहले समना में ही होता है।

इस प्रकार सब तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। केवल यही नहीं, उनके संस्कार भी शुद्ध हो जाते हैं। उस समय शुद्ध आत्मभाव की प्राप्ति होती है। तदनन्तर, ऊर्ध्व में आत्म-व्याप्ति होती है।

परन्तु इसके आगे भी एक अवस्था है, वही परमशिव की अवस्था है। शुद्ध-आत्मा की अवस्था में चित् आदि शक्तियों के साथ अभिन्नता न होने के कारण परमशिवभाव की अभिव्यक्ति नहीं होती। उसके लिए योगक्रिया की आवश्यकता होती है। उसी समय सर्वव्यापक-स्थिति का आविर्भाव होता है। समना से ही तत्त्वों का अव-सान भी होता है। समना के ऊपर स्थिर होकर योगवित् आत्मा एक उछाल में उन्मना से अतीत सर्वग-तत्त्व के साथ योग प्राप्त करते हैं। उन्मनातीत शब्द से तात्पर्य है अनुभव प्राप्त कर योगवित् आत्मा का शक्तिमत्-स्वरूप को प्राप्त करना। परमतत्त्व में योग का उपाय प्रणव-मन्त्र का उच्चारण है। प्रणव की—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म अर्थात् अ, उ, म, बिन्दु और नाद—इन मात्राओं में प्रत्येक प्रणवात्मक है; प्रणव का एकदेश भी प्रणव ही है। प्रणव का उच्चारण तब तक करना चाहिये, जब तक उन्मनातीत पद की प्राप्ति न हो।

इस विषय का और भी परिस्फुट रूप से विवेचन किया जा रहा है। दीक्षा में दो व्यापार मुख्य हैं—एक शिष्य के पाशों का नाश और दूसरा शिवत्व-योजना; अर्थात्

शिष्य में जो मलिनता है, उसका प्रक्षालन कर उसे शिवस्वरूप में युक्त कर देना। दीक्षा के सब कृत्य योग्य गुरु को ही करने पड़ते हैं। उसमें गुरु की मन्त्र-शक्ति ही प्रधान साधन है। गुरु भावना-सिद्ध होते हैं, अतः क्षेत्र-विशेष में उन्हें भावना का भी उपयोग करना पड़ता है।

पाश-नाश क्या है? यह समझने के लिए सृष्टि-व्यापार पर दृष्टिपात करना चाहिये। चिदानन्दघन-स्वतन्त्र-परमेश्वर अपनी 'उन्मना' नामक स्वातन्त्र्य-शक्ति से शून्य से लेकर पृथिवी-पर्यन्त, अनन्त वाच्य-वाचकरूप पदार्थों को अपनी स्वरूप-भित्ति पर एक ही समय में अवभासित करते हैं। वे स्वरूप से अतिरिक्त न होने पर भी, अतिरिक्त भासित होते हैं। इनमें एक भाग वाचक-रूप तथा दूसरा भाग वाच्य-रूप है। वाचक-भाग ग्राहक का है और वाच्य-भाग ग्राह्य का है। प्रथम भाग में तीन स्तर हैं— पर, सूक्ष्म और स्थूल एवं द्वितीय भाग में भी ऐसे ही तीन स्तर हैं। पहले भाग के स्तरों के नाम हैं—वर्ण, मंत्र, तथा पद; एवं द्वितीय भाग के स्तरों को नाम हैं—कला, तत्त्व तथा भुवन। इनमें 'वर्ण' अभेद का विमर्शन करनेवाला अर्थात् अभेद-ज्ञान करानेवाला है। वह किंचित् स्थूल भाव को प्राप्त होने पर भेदाभेद का ज्ञान करता है एवं मन्त्ररूप धारण करता है। स्थूलत्व के और अधिक बढ़ने पर वह भेद-ज्ञान का हेतु हो जाता है तथा पदरूप में भासित होता है। इसी प्रकार वाच्य-रूपा परमेश्वर की कला-शक्ति भी उत्तरोत्तर विशिष्ट होकर तत्त्व तथा भुवन का रूप धारण करती है। जैसे दर्पण में नगर का प्रतिभास होता है, ठीक वैसे ही भगवान् के स्वातन्त्र्य से उसमें क्रम का भान होता है। जैसे मिट्टी घटादि की व्यापक है, वैसे ही क्रम के भीतर पूर्व अंश परवर्ती अंश में व्यापक रहता है। दूसरे पक्ष में जैसे वृक्ष अपने बीज में शक्ति-रूप से स्थित रहता है, वैसे ही परवर्ती अंश पूर्व अंश में शक्ति-रूप से निहित रहता है। इसीलिए कहा जाता है—सब में सब है, 'सर्वं सर्वात्मकम्।'

यही कारण है कि पंच-तत्त्व दीक्षा में अनाश्रित-तत्त्व (शिव तत्त्व) पर्यन्त भूतों की व्याप्ति हो जाती है। इस प्रकार एक-एक आत्मा (या भाव) वस्तुतः पूर्वोक्त छः अध्वाओं का स्फुरणात्मक परमेश्वर-शक्तिमय 'अ'कार से 'ह'कार तक परामर्श या विमर्शरूप अहन्ता-विश्रान्ति-स्वरूप परमशिवरूप ही है। परन्तु अपनी माया-शक्ति के प्रभाव से उसको उक्त विषय का परिज्ञान नहीं रहता। इसीलिए आत्मा पूर्ण होकर भी, अपूर्णमन्य हैं; एवं उनका समग्र वैभव या ऐश्वर्य शब्द की कलाओं से लुप्त हो जाता है। इसी कारण यद्यपि वह तात्विक स्वरूप में अस्फुरण-शील है, तथापि मातृका-प्रभाव से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के प्रत्ययों या भावों के आविर्भाव (उदय) के द्वारा देहादि में अहं अभिमान करने के लिए तथा विषय-मात्रा में भोक्तृ-त्वाभिमान करने के लिए, बाध्य होते हैं। उस समय आत्मा खेचरी आदि चार शक्ति-चक्रों के भोग्य बन जाते हैं। यही आत्मा का बन्धन है, इसी का नाम पशुत्व है।

परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति गुरु के (जो शिव से अभिन्न हैं) हृदय में पारमार्थिक रूप से स्फुरित होती है। यह शक्ति शिष्य के पशुत्व को निवृत्त करने के लिए

सब अध्वाओं से उसके संकोच-भाव को हटाती हुई स्वयं असंकुचित रूप में प्रकाशित होकर दीक्षा, ज्ञान, योग आदि के द्वारा उक्त अध्वाओं को शुद्ध करती है। अतएव गुरु शक्ति के रूप में मन्त्रादि के शोधक हैं तथा पशु-आत्मा में अभिनिविष्ट मन्त्रादि शोध्य हैं। इस प्रकार शोध्यशोधक-भाव मानने में किसी प्रकार की हानि नहीं है। प्रत्येक अध्वा में सर्वमयत्व है अर्थात् प्रत्येक अध्वा में सूक्ष्म रूप से अन्य सब अध्वाओं की सत्ता है। इसीलिए दीक्षा की प्रक्रिया में किसी अध्वा का प्राधान्य लेकर व्यापक-भाव से तदन्तर्गत रूपों का शोधन करना पड़ता है।

[२]

दीक्षा सामान्य तथा विशेष भेद से मूल में दो प्रकार की है। सामान्य-दीक्षा साधारणतः समय-दीक्षा कही जाती है। यह विशेष दीक्षा की भूमिका के रूप में है। इस दीक्षा में गुरु शिष्य को रुद्रपद में युक्त कर देते हैं। इसके अनुष्ठान में शिखाच्छेद करने की आवश्यकता नहीं होती। इस दीक्षा में दीक्षित हो जाने पर शिष्य को समयी धर्मों का पालन करना पड़ता है। सिद्धान्तशैव मत में यह समय-धर्मपालन 'दासमार्ग' कहा गया है। इस धर्म के पालन से मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होती है। वर्तमान जन्म में यदि वह न भी हो तो आगे के एक या दो जन्मों में मुक्ति अवश्य होती ही है, ऐसा शिवधर्मोत्तर-तन्त्र में कहा गया है। यह समयी-धर्म पुत्रक तथा साधकों के लिए भी है, परन्तु उनका यह साधारण धर्म है। पुत्रक तथा साधकों के अपने अपने असाधारण धर्म रहने के कारण वहाँ इनकी समयी धर्मों के नाम से प्रसिद्धि नहीं है।

शिष्य के मस्तक पर आशीर्वाद के रूप में शिव-हस्त का अर्पण ही समयदीक्षा है।[1] इसके प्रभाव से शिष्य के विभिन्न प्रकार के पाशों के अंकुर नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए पाश रहने पर भी उनकी संसारोत्पादिका शक्ति जल जाती है। इसके प्रभाव से शिष्य की कर्म-समष्टि परिपक्व हो जाती है। इस प्रकार की दीक्षा सभी को दी जा सकती है। भगवान् की अतिसाधारण कृपा के उद्रेक से अर्थात् अत्यन्त मन्द-शक्तिपात से जिसके हृदय में भक्ति और श्रद्धा का उदय होता है, वही इस दीक्षा का पात्र है। इस दीक्षा में दीक्षित होकर शिष्य गुरु की शुश्रूषा तथा देवताओं की अर्चना का अधिकारी होता है। साधारणतया यही दीक्षा सर्वत्र प्रचलित है। शक्तिपात यदि कुछ तीव्र न हो तो विशेष दीक्षा नहीं हो सकती। असली बात यह है कि आत्मा का अध्वस्थित मल कुछ अधिक मात्रा में परिपक्व हुए बिना विशेष दीक्षा नहीं हो सकती। विशेष दीक्षा के प्रभाव से आत्मा के कर्म-संस्कार केवल परिपक्व ही नहीं होते, अपितु क्षयोन्मुख भी हो जाते हैं। इस दीक्षा के अनन्तर मन्त्र-ग्रहण तथा इष्ट देवता के अर्चन-पूजन की योग्यता प्राप्त होती है। वागीश्वरी के गर्भ में द्वितीय जन्म होने के कारण दीक्षा-प्राप्त पुरुष 'पुत्रक' कहे जाते हैं। समयदीक्षा से जैसे रुद्र-पद में योग होता है वैसे

---

१. शास्त्र में 'शिवहस्त' का लक्षण यह कहा गया है—

ब्रह्मप्रपञ्चसंयुक्तः शिवेनाधिष्ठितः शिवः।
पाशच्छेदकरः क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्तितः॥

ही इस दीक्षा से ईश्वर-पद में योग होता है। इसमें भी पूर्ववत् शिखाच्छेद नहीं होता। हुए समयी-धर्म से अतिरिक्त पुत्रक-धर्म का अनुष्ठान भी इस प्रकार के दीक्षा-प्राप्त पुरुष को करना पड़ता है। आगम के अध्ययनादि इसी के अन्तर्गत हैं।

शक्तिपात यदि और अधिक तीव्र हो तो 'निर्वाण-दीक्षा' प्राप्ति की योग्यता आ जाती है। इससे ईश्वरपद में योग न होकर परमेश्वर या शिवपद में योग होता है। जहाँ निर्वाणदीक्षा के अनन्तर संन्यास की व्यवस्था है, वहाँ शिखांच्छेद होता है; अन्यत्र नहीं होता। इस दीक्षा में दीक्षित होने पर शिव-धर्मों के अनुष्ठान की योग्यता प्राप्त होती है। यह समयी-धर्म तथा पुत्रक-धर्म से विलक्षण है। इस दीक्षा के प्रभाव से सर्वज्ञत्व आदि षाड्गुण्य अर्थात् पूर्ण भगवद्धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। कला, तत्त्व, भुवन तथा वर्ण, मन्त्र और पद इन छः अध्वाओं की भलीभाँति शुद्धि हुए बिना पूर्णत्व-प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि सब पाशों का उच्छेद करने के लिए समग्र अध्वाओं की शुद्धि आवश्यक है; तभी पशुत्व की निवृत्ति तथा शिवत्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। पहले कही गई दो दीक्षाओं से पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि समयी का अर्थात् समय-दीक्षा प्राप्त आत्मा का पूर्वजाति-सम्बन्ध रहता है, इसलिए उसमें पशुत्व रहता है। पुत्रक की देह वागीश्वरी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण समयी की देह के सदृश अशुद्ध नहीं है, किन्तु विशुद्ध है। फिर भी उसमें आणव-मल रहता है, अतः शुद्ध देह होने पर भी शिवत्व-लाभ नहीं होता। मल के अत्यन्त पक्व हुए बिना ऐसी दीक्षा हो ही नहीं सकती, जिससे शिवत्व की अभिव्यक्ति हो सके।

पूर्वोक्त संक्षिप्त विवरण से प्रतीत हो जायगा कि जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्मों के प्रभाव से तथा अचिन्त्य भाग्योदय के कारण जब अनादि चैतन्य के आवरणात्मक मल कुछ परिपक्व हो जाते हैं तब मन्द, मन्दतरादि शक्तिपात के अनुसार मस्तक पर गुरु के शिव-हस्तार्पण रूपी समय-दीक्षा होती है। उसका फल है—शिष्यों में भक्ति, श्रद्धा आदि गुणों का उद्दीपन तथा प्राक्तन कर्मों का परिपाक। इस दीक्षा से पूर्वजाति का सम्बन्ध नहीं छूटता और पशुत्व का नाश भी नहीं होता। अध्व-संसृष्ट मल के अधिकतर पक्व होने पर पुत्रक-दीक्षारूपी विशेष दीक्षा होती है। इस दीक्षा का स्वरूप है—वागीश्वरी के गर्भ से जन्म-लाभ। यही द्वितीय जन्म के नाम से प्रसिद्ध है। इससे शुद्ध देह की प्राप्ति होती है तथा पूर्वजाति-सम्बन्ध छूट जाता है। यह शुद्ध-देह अलौकिक देह है, परन्तु इस देह से भी पूर्णत्व-लाभ नहीं होता। उसके लिए वागीश्वरी-गर्भ से जन्म-रूप शुद्ध देह की प्राप्ति तो आवश्यक है ही, परन्तु पाशों का पूर्णरूप से नाश होना भी आवश्यक है। यही अध्व-शुद्धि है। वागीश्वरी के गर्भ से जन्म प्राप्त कर पुरुष दीर्घ काल के प्रयत्न से निर्वाण-दीक्षा की प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। इसी दीक्षा से ज्ञान का साधन प्राप्त होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधक के लिए ही निर्वाण दीक्षा है। मलपाक अत्यन्त तीव्र हुए बिना यह दीक्षा नहीं हो सकती।

[३]

शाक्त लोग कहते हैं कि समयी दीक्षा के प्रभाव से ब्रह्मादि पाँच अधिकारियों का विश्लेष होता है, क्योंकि ये अधिकारी उन्हीं आत्माओं के ऊपर अपना अधिकार

जमा सकते हैं, जिसके ऊपर परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति का मन्द मात्रा में भी संचार न हुआ हो। इस दीक्षा के प्रभाव से ईश्वर-तत्त्व की आराधना की योग्यता प्राप्त होती है और अन्त में ईश्वरपद का लाभ होता है। समयी-चर्या तथा ध्यानादि से शुद्ध होकर पुत्रक का पद प्राप्त कर सकते हैं। समयी-दीक्षा का विवरण प्राचीन शाक्त ग्रन्थों में भी बहुधा उपलब्ध होता है। गुरु के द्वारा शिवहस्त अर्पण के प्रभाव से समयी होना दीक्षोत्तर-तन्त्र में वर्णित है। तदनुसार समयी ईश्वरपद में सायुज्य-लाभ करते हैं। ये देह में स्थिति के समय आगमाध्ययन में योग्यता प्राप्त करते हैं। ईश्वरतत्त्व शुद्ध-विद्या के ऊपर स्थित है। स्वच्छन्दतन्त्र तथा देवीयामल में भी इसका वर्णन है। परन्तु देवीयामल में शिवहस्तार्पण सम्बन्धी जो वर्णन है, उसमें कुछ भेद है। यह भी प्रसिद्ध है कि शिवहस्तार्पण द्वारा सद्योनिर्वाण-दीक्षा भी हो सकती है, क्योंकि उत्क्रमण की इच्छा से यदि शिवहस्त विशेष-प्रक्रिया से मस्तक पर रखा जाय तो वह प्राण-वियोजक होता है, एवं उसके स्पर्शमात्र से सद्योनिर्वाण-लाभ हो जाता है। यदि समयी विधिपूर्वक तत्त्वपाश का विमोचन कर सकें तो वह पुत्रक-अवस्था लाभ करते हैं। तब गुरु उन्हें पर तत्त्व में युक्त कर देते हैं। उनका पहले निर्वाण-कलश अथवा शिव-कलश से, तदनन्तर ईश्वर-कलश से, अभिषेक करने पर वे साधक होते हैं। ऐसे साधक भोग समाप्त हो जाने पर परम तत्त्व में लीन होते हैं, क्योंकि साधकों का यद्यपि शिव से योग सिद्ध हो गया तथापि उनको अपना भोग समाप्त करने के लिए निम्न स्तर सदाशिव पद में ठहरना पड़ता है। इस प्रकार की दीक्षा में दीक्षित पुरुष में जब मन्त्र, तन्त्र आदि के ज्ञान का मार्ग खुल जाता है, तब वे अतिमार्ग होते हैं, एवं चतुष्पाद संहिता तथा अष्टाविंशति तन्त्र सब के पूर्ण अधिकारी बन जाते हैं। उस समय उनका पद होता है—आचार्य पद, अर्थात् वे गुरु होने योग्य हो जाते हैं। पृथिवी से लेकर परम शिव पर्यन्त सर्वत्र उनका योग सिद्ध हो जाता है। परन्तु वे अधिकार के लिए अपर-शिव या शिव में ही अवस्थान करते हैं। अतएव इससे सिद्ध होता है कि समयी को ईश्वर-पद में स्थिति प्राप्त होती है, पुत्रक परम-तत्त्व में और साधक सदाशिव में स्थित होते हैं। परन्तु आचार्य की स्थिति परापर पद में या शिव-तत्त्व में होती है, क्योंकि वे अधिकारी पुरुष हैं। उनका पुत्रकादि तीनों पदों पर अधिकार है। पुत्रक तथा आचार्य दोनों का पर-तत्त्व से योग एक ही प्रकार का है, फिर भी दोनों में भेद है, क्योंकि आचार्य का दीक्षा-प्रतिष्ठा आदि कार्यों में अधिकार है, पर पुत्रक को उस प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं है। इसी लिए आचार्य की स्थिति होती है परापर पद में अर्थात् आचार्य की पर-तत्त्व से युक्त होकर ऊपर पद में स्थिति होती है। पुत्रक ऐसा नहीं है। पुत्रक अपर पद में नहीं जाता।

जिस सम्प्रदाय में पहले समयी दीक्षा देने की व्यवस्था नहीं है, वहाँ आचार्य या साधक होने के लिए मार्ग अवरुद्ध रहता है। पुत्रक होने के विषय में वहाँ कोई शंका नहीं है। लिंगियों की मोक्षदीक्षा हो सकती है, परन्तु उन्हें अधिकार नहीं होता। वे लोग साधन या आचार्य मार्ग में चलने के योग्य नहीं हैं।

समयी की द्विजत्वप्राप्ति के अनन्तर के कृत्य के विषय में किसी-किसी प्राचीन

ग्रन्थ में ऐसा विवरण मिलता है कि गुरु को द्विजत्वप्राप्त समयी का द्वादशान्त में अपने साथ अभिन्न रूप से स्पर्शमात्र करने के अनन्तर ही नीचे उतर आना चाहिये। तभी वह द्विजत्वप्राप्त समयी रुद्रांश बन जाता है। वहाँ गुरु के विश्राम करने पर शिष्य की आत्मा क्षणभर में परम शिवभाव को प्राप्त हो जाती है। इसी का नाम है समयी का संस्कार। इतना होने पर ही समयी नित्य श्रवण, पूजा, गुरु-सेवा आदि के योग्य होते हैं।

इसके उपरान्त यथार्थ दीक्षा का अवसर आता है। आगम के अनुसार भोग तथा मोक्ष दोनों ही समान रूप से पुरुषार्थ हैं। कोई भोगार्थी है तो कोई मोक्षार्थी है। जो भोगार्थी है वह सकाम है। दीक्षा के प्रभाव से उन्हें भोग-सिद्धि प्राप्त होती है। मुमुक्षु निष्काम होते हैं, वे चाहते हैं—केवल मुक्ति। भोगार्थी साधक है, क्योंकि वे फल-साधना करते हैं। वह फल लौकिक हो सकता है और अलौकिक भी हो सकता है। फल यदि अलौकिक हो तो उस साधक का नाम है शिवधर्मी एवं फल यदि लौकिक हो तो साधक का नाम है लोकधर्मी। पंचम तथा षष्ठ मात्रा के शक्तिपात से अर्थात् मध्य-मध्य तथा मन्द-मध्य अनुग्रह के प्रभाव से शिवधर्मी दीक्षा होती है। मन्दशक्तिपात से (सप्तम, अष्टम तथा नवम मात्रा के शक्तिपात से) लोकधर्मी दीक्षा होती है। शिव-धर्मी साधक को मन्त्रतन्त्रोक्त रहस्यों की ज्ञान-प्राप्ति होती है। इस दीक्षा के प्रभाव से किसी-किसी को मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि पदों का लाभ होता है। किसी किसी को माया-तीत भोगभूमियों में प्रलय-पर्यन्त रहने का अधिकार प्राप्त होता है, एवं आनुषंगिक रूप से अन्यान्य बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लोकधर्मी दीक्षा में मन्त्राराधन नहीं होता। उक्त साधक, फलाकांक्षा युक्त होने के कारण, लौकिक पुण्य-कर्म करते हैं, जिनका कि इष्टापूर्त रूप से श्रुतियों और स्मृतियों में वर्णन है। ये लोग जो शुभ कर्म करते हैं, उनसे शुभ फल की प्राप्ति होती है। इस दीक्षा के प्रभाव से साधक के संचित अशुभ कर्म भोगभूमियों में नष्ट हो जाते हैं और संचित शुभ-कर्म अणिमादि सिद्धियों में पर्यवसित हो जाते हैं। उन्हें केवल प्रारब्ध कर्म का भोग करना पड़ता है। भोग-समाप्ति पर प्रारब्ध-फल रूप यह देह नष्ट हो जाती है, तब दीक्षित साधक अणिमादि ऐश्वर्य भोगने के लिए गुरु द्वारा ऊर्ध्व लोक में पहुँचाये जाते हैं। ऊर्ध्व लोक का भोग समाप्त होने पर भी यदि भोगवासना अतृप्त रहे तो उस वासना के अनुरूप भोग के लिए गुरु द्वारा लोकान्तर में पहुँचाये जाते हैं। इस प्रकार के भोग का अवसान होने पर जब वैराग्य का उदय होता है, तब उसी स्थान से परमेश्वर के निष्कल रूप में युक्त किये जाते हैं। सभी का निष्कल में योग होगा ही, ऐसी कोई बात नहीं है। किसी-किसी का मायातीत विभिन्न शुद्ध भुवनों में से किसी भुवन के अधिष्ठाता के साथ भी योग हो सकता है, जिससे अन्त में उनको सायुज्य तक की प्राप्ति हो सकती है। साधक के उत्कर्ष के तारतम्य के ऊपर ये सब अवस्थाएँ निर्भर हैं। यह जो ऊर्ध्व-गति तथा योजना की बात कही गयी है, वह क्रमशः साधक और गुरु की अभिसन्धि के अनुसार होती है।

मोक्षार्थी की दीक्षा दो प्रकार की है, एक सबीज और दूसरी निर्बीज। सद्यो-

निर्वाण दीक्षा भी निर्बीज के अन्तर्गत है। बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री, व्याधिग्रस्त आदि लोगों के लिए निर्बीज-दीक्षा का विधान है अर्थात् जो लोग शास्त्र विचार में कुशल नहीं हैं तथा व्रत-चर्यादि का क्लेश सहन नहीं कर सकते, उनके लिए निर्बीज-दीक्षा विहित है। उन लोगों के लिए समयाचार का पालन आवश्यक नहीं है। दीक्षा के प्रभाव से और केवल गुरु-भक्ति के बल से ही उनकी मुक्ति हो जाती है। उनके लिए गुरुभक्ति ही समय है।

सबीज-दीक्षा विद्वान् तथा कष्टसहिष्णु शिष्यों के लिए है। इन सब दीक्षित पुरुषों के लिए समयाचार का पालन आवश्यक है। ये यदि समयाचार का पालन न करें तो कुछ समय के लिए भ्रष्ट होकर इन्हें विपन्न होना पड़ता है। पुत्रक-दीक्षा तथा आचार्य-दीक्षा ये दोनों ही दीक्षाएँ सबीज हैं। पृथिवी से लेकर कलापर्यन्त माया का राज्य है। इसीका नाम संसार-मण्डल है। उसके अनन्तर है शुद्ध-विद्या या वागीश्वरी। वागीश्वरी के गर्भ में जन्म होने पर शुद्ध धाम में अवस्थिति और विहार का अधिकार प्राप्त होता है। यह अप्राकृत जन्म है। द्विज हुए बिना अर्थात् द्वितीय जन्म प्राप्त किये बिना इस राज्य में प्रवेश करने का अधिकार नहीं मिलता। गुरु या आचार्य ही इस द्वितीय जन्म को देनेवाले पिता हैं। वैन्दव अथवा मन्त्र-देह की प्राप्ति ही द्वितीय जन्म कहलाता है। बिन्दु या महामाया अथवा कुण्डलिनी शक्ति इस देह का उपादान है, इक्कीस अवान्तर संस्कारों से इस द्वितीय जन्म की सिद्धि होती है। इसके अनन्तर और भी तीन संस्कार होते हैं जिनके नाम हैं—भोग-संस्कार, अधिकार-संस्कार और लय-संस्कार। तदनन्तर अन्तिम संस्कार है—निष्कृति-संस्कार। इस प्रकार द्वितीय जन्म से लेकर निष्कृति तक पाँच व्यापारों के क्रमशः सम्पन्न होने पर जीव निखिलपाश तथा उसके संस्कारों से मुक्त हो जाते हैं।

इसके उपरान्त शिवत्व-योजना का व्यापार होता है। यह व्यापार समर्थ गुरु को ही करना पड़ता है, जिसके लिए त्रयोदश प्रमेयों का आगमज-ज्ञान तथा स्वानुभव आवश्यक है, क्योंकि एकमात्र गुरु ही शिवत्व के अभिव्यंजक हैं। इस योजन-क्रिया में सद्गुरु का सबसे पहला कार्य यह है कि शिष्य के पुर्यष्टक तथा सूक्ष्म-देह में जो अहं-बोध है, उसकी वे निवृत्ति कर दें। स्वप्नकाल में पुर्यष्टक प्राण के आश्रित रहता है, परन्तु सुषुप्ति में इसका आश्रय है—शून्य। अतएव गुरु को चाहिये कि प्राण और शून्य इन दोनों पदों को शून्य कर दें। परन्तु यह कार्य तब तक यथार्थ रूप से नहीं हो सकता जब तक कि श्वास का देशगत तथा कालगत परिमाण का ज्ञान न हो जाय। प्राण के संचार में दो गतियाँ हैं—एक आरोह-गति और दूसरी अवरोह-गति। इन दोनों गतियों का भली भाँति ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसके पश्चात् जिस अध्वा अथवा मार्ग का उल्लंघन कर परम स्थान में पहुँचा जाता है, उसका स्वरूप कैसा है, यह भी जानना चाहिये। किन्तु इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हंसोच्चार का ज्ञान प्राप्त होना चाहिये। यह हंसोच्चार वास्तव में श्वासप्रश्वास की एक प्रकार की गति के सिवा और कुछ नहीं है। इसे जाने बिना सम्पूर्ण मार्ग का परिज्ञान भलीभाँति हो नहीं सकता। यह उच्चार दो प्रकार का है—एक स्वाभाविक और दूसरा प्रयत्न-

साध्य। प्रयत्न से जो उच्चार होता है, उसमें यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि मन्त्र के अवयवात्मक वर्ण अर्थात् प्रणव के भिन्न-भिन्न अवयव या वर्ण क्रमशः अपने-अपने कारण स्वरूप ब्रह्मादि देवताओं का तथा तदनुरूप काल की मात्राओं का त्याग करें। इतना ज्ञान शास्त्र से तथा अनुभव से प्राप्त हुए बिना स्वप्नाश्रित प्राणपद को शान्त नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार प्राणपद के शान्त हो जाने पर भी गुरु का कर्तव्य समाप्त नहीं होता, क्योंकि इसके बाद सुषुप्ति के आश्रय शून्य-पद को भी शान्त करना पड़ता है। अतएव शून्य-पद का ज्ञान भी गुरु को होना चाहिये। परमेश्वर के साथ आत्मा को युक्त करने के पूर्व मन्त्र, आत्मा नाडी आदि का सामरस्य जानना पड़ता है। उसके पहले साम्य का ज्ञान भी आवश्यक है। आगम में साम्य विषुवत् के नाम से परिचित है। मन्त्रोच्चार के अर्थात् प्रणवोच्चार के अंग रूप से 'अ' से लेकर उन्मनी-पर्यन्त कलाओं का स्वरूप जानना पड़ता है। त्याग करने के लिए ही ज्ञान आवश्यक है, परन्तु त्याग से पहले तत्-तत् दशाओं का संयोग आवश्यक है। तत्-तत् दशाओं के त्याग में क्रमिक ऊर्ध्वारोहण अथवा उद्भव का ज्ञान आवश्यक है। परन्तु त्याग से भी ऊर्ध्वोद्भव या ऊर्ध्वगति तब तक नहीं हो सकती जब तक ग्रन्थियों का भेद न हो तथा ग्रन्थि-भेद भी तब तक नहीं हो सकता जब तक ज्ञान तथा योग अपने आयत्त न हों। परमेश्वर का आदेश है कि ज्ञान तथा योग इन दो शूलों से ग्रन्थि का भेद करना चाहिये। ज्ञान तथा योग का मूल है—भाव की दृढ़ता।

इतना ज्ञान होने पर प्राण तथा शून्य पद की प्रशान्ति हो सकती है। इसके बाद आत्मा, विद्या तथा तथा शिव—इन तीन पदों की व्याप्ति ज्ञातव्य है। आत्मा कहाँ तक व्यापक है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मदशा के अनुभव तक ही आत्मा की व्याप्ति है। परमशिव के साथ योग तेरह प्रमेयों के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। दीक्षा का उद्देश्य है सब प्रकार के पाशों का नाश कर पूर्वोक्त प्रणाली से परमेश्वर-भाव का विकास करना। यह उद्देश्य अद्वैत-दृष्टि से शिवत्वरूप और द्वैत-दृष्टि से शिव-साम्य-रूप है।

[४]

दीक्षा के लिए योजना अत्यन्त आवश्यक है। अशुद्ध तत्त्व से भक्त का उद्धार कर अभिमत सकल या निष्कल तत्त्व में उसका योग करना पड़ता है। यह क्रिया उत्तम भावना-मय ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। ज्ञानी होने पर भी यदि गुरु को उस तत्त्व का साक्षात्कार न हुआ हो तो उनके द्वारा योजनक्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि एक मात्र भावनामय ज्ञान ही इसका उपाय है। योगबल से उस तत्त्व की सिद्धि प्राप्त होने पर भी योगियों को सदाशिव आदि उत्तम पदार्थों में योजना के लिए भलीभाँति अभ्यास किया हुआ ज्ञानी होना आवश्यक है। निम्न तत्त्वों में योजना से जो सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, वे मुक्ति में सहायक नहीं होतीं। सदाशिवादि ऊर्ध्व तत्त्वों में भी योगज सिद्धियाँ हो सकती हैं, जिनके बल से किसी किसी के मतानुसार सारे जगत् को मुक्त किया जा सकता है। ज्ञान तथा योग के परस्पर सम्बन्ध में

कुछ बातें स्मरण रखने योग्य हैं। ज्ञानी चार प्रकार के होते हैं—एक ज्ञानी है, जिनमें श्रौत-ज्ञान या श्रुतिजन्य-ज्ञान उत्पन्न हुआ। चिन्तामय-ज्ञान से युक्त पुरुष दो प्रकार के हैं, जिनमें एक का अभ्यास कम है और दूसरे का अधिक है। इन तीन के अतिरिक्त चतुर्थ ज्ञानी वे हैं, जिनका ज्ञान भावनामय है। ज्ञानी अभ्यासहीन होने पर भी भली-भाँति अभ्यस्त भावनामय-विज्ञान के प्रभाव से दीक्षादि व्यापार में अधिक योग्य माने जाते हैं। योगी भी चार प्रकार के हैं—सम्प्राप्त, घटमान, सिद्ध तथा सुसिद्ध। जिन्हें केवल योग का उपदेश मात्र प्राप्त हुआ है, वे सम्प्राप्त हैं; जिनका अभ्यास चालू है, वे घटमान हैं; इन दो प्रकार के योगियों की न ज्ञान में रूढ़ि है और न योग में। इनके द्वारा अन्य लोगों की पारमार्थिक सहायता हो नहीं सकती। तृतीय प्रकार के अर्थात् सिद्ध योगी में भली भाँति अभ्यस्त ज्ञान रहता है, उस ज्ञान के द्वारा वे दूसरों को मुक्त कर सकते हैं, योग से नहीं; क्योंकि योगज सिद्धि किसी आत्मा के उद्धार या मोचन में सहायक नहीं होती। चतुर्थ प्रकार के या सुसिद्ध योगी साक्षात् सदाशिव के सदृश हैं, जो अपने स्वरूप से कभी भी स्खलित नहीं होते, वे शिवरूपी हैं।

वे ही वस्तुतः जीवमात्रके मोचक हैं। परन्तु वे साक्षात् रूप से उक्त कार्य नहीं करते, विघ्नेश्वरों के द्वारा परम्परा से कराते हैं। इसीलिए मालिनी विजय-तन्त्र में भली-भाँति अभ्यस्त विज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी को ही गुरु कहा गया है, सिद्धिसम्पन्न योगी को नहीं। वस्तुतः योगी भी गुरु हो सकता है, ज्ञानी की तो कोई बात ही नहीं, परन्तु अन्तर यह है कि जो मोक्षार्थी पुरुष है, उनके लिए भलीभाँति अभ्यास द्वारा उत्पन्न विज्ञान से सम्पन्न पुरुष ही गुरु होना चाहिये। प्राप्त हुए गुरु यदि वैसी योग्यता वाले न हों तो उनका त्याग कर देने का विधान भी किसी-किसी शास्त्र में दिखाई देता है। शिव-वाक्य ऐसा है—

आमोदार्थी यथा भृंगः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

जो शक्तिहीन हैं, वे विज्ञान-प्रदान में असमर्थ हैं। वे मोचक नहीं हो सकते। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यदि भावना ही मुख्य है तो अज्ञ गुरु से भी भावना के प्रभाव से फल क्यों नहीं होगा? यह कथन सत्य है कि भावना से सर्वत्र इष्ट फल मिल सकता है। परन्तु यदि योग्य गुरु मिल जायँ तो साक्षात् रूप से उन्हीं का आश्रयण करना चाहिये। यही सर्वसंमत सिद्धान्त है। यदि कोई भोग, मोक्ष तथा विज्ञान का प्रार्थी हो तो उसे भलीभाँति अभ्यास किये हुए ज्ञानी तथा योगसिद्ध गुरु का आश्रयण करना चाहिये। इस प्रकार का गुरु यदि प्राप्त न हो सके तो विज्ञान तथा मोक्ष के लिए ज्ञानी का आश्रयण करना चाहिये एवं भोग के लिए भी ऐसे योगी का आश्रयण करना चाहिए जो भोग देने में समर्थ हो। वह योगी न घटमान हों और न सिद्ध ही हों, किन्तु दोनों के मध्यवर्ती परिमित योगी होने चाहिये। सम्प्राप्त तथा घटमान योगी भोग देने में भी समर्थ नहीं है। वह केवल उपाय का उपदेश दे सकते हैं। ऐसे गुरु का त्याग कर ज्ञानी गुरु का आश्रयण करना चाहिये, जो ज्ञान का उपदेश देकर मुक्ति-मार्ग में ले जायँ।

दीक्षा २.

दीक्षा के प्रभाव से आत्मा की सम्यक्-शुद्धि होती है और पूर्णत्व की प्राप्ति भी होती है। पशुभाव में स्थित आत्मा पशुत्व से निवृत्त होकर शिवत्व को प्राप्त होते हैं। अनादि काल से आणवमल के सम्बन्ध से आत्मा की दृक्-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति संकुचित है, भेदज्ञान के प्रभाव से कर्म-संस्कारवश संसार-मण्डल में निरन्तर भ्रमण करते हैं। जब तक भगवान् की तिरोधान-शक्ति का प्राबल्य रहता है, तब तक इसी रूप में अर्थात् संसारी के रूप में आत्मा को रहना पड़ता है। मेघदूत के यक्ष के तुल्य आत्मा उस समय 'शापेनास्तंगमितमहिमा' होकर अपने धाम तथा प्रिय जन से अर्थात् चिदानन्दमय अपनी सत्ता से निर्वासित है। शाप काल की अवधि पूर्ण होने के साथ तिरोधान-शक्ति में शिथिलता आती है और अनुग्रह-शक्ति का जागरण होता है। उसके पश्चात् उसकी दिव्य स्वदेश-यात्रा का प्रारम्भ होता है। यात्रा के अवसान में वह अपने शिवमय नित्य धाम में प्रवेश करता है। वहाँ कर्म की चंचलता नहीं है तथा स्वरूप-शक्ति का संकोच नहीं है। वहाँ स्वातन्त्र्य का पूर्ण विकास है।

शाक्त आगमों में कहीं कहीं आत्मा, अन्तरात्मा, बाह्यात्मा, निरात्मा तथा परमात्मा के भेद से आत्मा के कल्पित भेद दिखलाये गये हैं। जब आत्मा प्रकृति या गुण-साम्य का अवलम्बन कर विद्यमान रहता है, तब उसका नाम होता है—आत्मा। उस समय उस साम्य में अनन्त जगत् सुप्तवत् रहते हैं। यह आत्मा की सुखादि-बोध से रहित मूल अवस्था है। उक्त अवस्था में आत्मा केवल कंचुकों से आवृत रहता है। परन्तु जब आत्मा पुर्यष्टक से सम्बद्ध होकर एक योनि से दूसरी योनि में पर्यटन करता करता है, तब आत्मा का नाम होता है—अन्तरात्मा। पुर्यष्टक-सम्बन्ध से प्रतीत होता है कि आत्मा का उस समय शुभाशुभ वासनाओं से सम्बद्ध है। पुर्यष्टक का तात्पर्य है—आभ्यन्तर सूक्ष्म-शरीर। यह पुरी या देह का आरंभक पंचतन्मात्रा तथा मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ अवयवों से आरब्ध है। इसके अनन्तर मातृगर्भ से निष्क्रमण कर अन्तरात्मा जिस समय दोनों प्रकार की इन्द्रियों और पंचमहाभूतों से वेष्टित होकर विषयों का भोग करता है, तब उसका नाम पड़ता है—बाह्यात्मा। यह स्थूल देह को प्राप्त करने की अवस्था है। इसके बाद जब आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म भूतों से तथा बुद्धिधर्म भावों से मुक्त हो जाता है, जब उसके पुरुष-रूप तथा कलात्मक कंचुक छूट जाते हैं, जब केवल अपूर्णमन्यतारूप आणव-मल अवशिष्ट रह जाता है और उसके स्वभाव का संकोच भी; तब उसका नाम पड़ता है—निरात्मा। उस समय तत्त्वरूपा माया का सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु शक्तिरूपा माया को अख्याति-रूप धर्म का प्रभाव रहता है। इसी कारण संकोच का आभास रह जाता है। आत्मा सैकड़ों पाशों से युक्त पुंस्तत्त्व रूप स्वभाव से निर्गत होने के कारण निरात्मा कहा जाता है। उस समय माया

तथा पुरुषतत्त्व में विवेक-ज्ञान अभ्यस्त होकर विज्ञानाकल अवस्था का उदय होता है। यह एक प्रकार की मुक्ति की ही अवस्था है। परन्तु वास्तव में अब तक आत्मा पशु ही है। इसके बाद जब परमेश्वर के तीव्रतम अनुग्रह से आत्मा का शिवमय रूप से पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, तब आत्मा का नाम होता है——परमात्मा।

शास्त्रों में कहीं-कहीं दूसरी दृष्टि से भी आत्मा की अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। तदनुसार वे हैं—अबुध, बुध, बुध्यमान, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध। माया-प्रलय में कला से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त तत्त्वों का और उनके आश्रय स्थावर ले लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त तत्त्वों का और उनके आश्रय स्थावर से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त चौदह भूतों का संहार होता है। उस समय सम्पूर्ण मायिक प्रपंच का लय हो जाता है। यह भेद सृष्टि की अनुन्मुख दशा है। उस समय आत्माओं का कला से लेकर पृथिवी-पर्यन्त तत्त्वों से रचित देह से सम्बन्ध नहीं रहता, सुख-दुःख का बोध भी उन्हें नहीं रहता। समग्र जगत गाढ़ मोह में डूबा रहता है। यहाँ संहार-दशा माया की रात्रि-स्वरूप है। फिर जब नवीन सृष्टि का प्रारम्भ होता है, तब से माया का दिन शुरू हो जाता है। जबतक मायाके दिनका उन्मेष नहीं होता, तबतक आत्मवर्ग अबुद्ध दशा में विद्यमान रहता है। यह माया में लीन प्रलयाकल की अवस्था है। सांख्य में वर्णित प्रकृतिलय अवस्था से यह अवस्था भिन्न है।

आत्माओं के असंख्य कर्मों में से किसी एक का उद्रेक अर्थात् परिपाक होने पर तथा फल-प्रसव की योग्यता उत्पन्न होने पर ईश्वर में ऐसी इच्छा का आविर्भाव होता है कि तत्-तत् भोक्ताओं को तत्-तत् फलों का भोग हो जाय। इस संकल्प के अनन्तर वह तत्-तत् आत्माओं का अपने भोग के लिए योजन करते हैं। परन्तु जब तक भोगायतन-शरीर और भोगकरण-इन्द्रियाँ न हों तब तक भोग होगा कैसे? एवं साथ ही साथ यह भी अपेक्षित है कि भोग के पहले आत्माओं के कलादि करण-वर्ग, जो प्रलय में लीन रहे, अभिव्यक्त हो जायँ। इस अभिव्यक्ति के प्रभाव से आत्माओं को प्रलय से जाग कर अपने में कंचुक-आवरण से जन्य किंचित्-कर्तृत्व आदि अवस्थाओं का अनुभव होता है। ईश्वर से उन्मीलित हुए बिना कलादि कंचुकों में आत्माओं को किंचित्-कर्तृत्वादि की प्रतीति कराने की सामर्थ्य नहीं होती। समय पर कला आत्म-चैतन्यको उन्मीलित करती है, विद्या विषय-दर्शन कराती है, राग विषयानन्द प्रदान करता है, काल त्रुटि से लेकर प्रलय तक का कलन करता है और नियति आत्माओं को शुभाशुभ से युक्त करती है। इतना होने पर आत्मा कलादि पाँच आवेष्टनों से आवृत होकर परमाणु के सहस्रांश के सदृश प्रतीत होते हैं एवं प्रभाव-प्राप्त होकर वे पुरुष-तत्त्व से योजित होते हैं। 'पुरुष' शब्द का तात्पर्य है—नाना प्रपंचों से संकुल प्रधान या पुर का पोषक, अर्थात् आत्म-सम्बन्ध द्वारा प्रकाश। उस समय आणव-बन्धन से बद्ध, कलादि-कंचुकों से वेष्टित तथा प्रधान से संबद्ध पुरुष को अर्थात् पशु को प्रधान-पर्यन्त सृष्टि के अधिकारी या अधिष्ठाता श्रीकण्ठनाथ नियति के प्रभाव से उत्थित कर्मों के अनुसार अनात्मा में अभिनिवेश के लिये प्रधान पाशों से वेष्टित कर लेते हैं। इस प्रकार गुणत्रय से बन्धन होता है, जिसके परिणामवश

अध्यवसाय-रूप बुद्धि से बन्धन होता है, अभिमान रूप वैकारिक-अहंकार से बन्धन होता है, तन्मात्रा तथा इन्द्रियों से बन्धन होता है और अन्त में आहार से उद्भूत तन्मात्रा के कार्य रजोबिन्दु-रूप स्थूल भूतों से वेष्टन होता है। इतने बन्धनों से बद्ध होकर पशु-आत्मा माया से लेकर पृथिवी-पर्यन्त विभिन्न योनियों से संचरण करता है, तब उसका नाम पड़ता है—संसारी। उसका यह संसरण-व्यापार पुनः-पुनः चलता रहता है, उसका नामान्तर है—विषयी, क्योंकि वह शब्दादि-भोग्य विषयों को प्रकृष्ट वस्तु समझता है। ये सब विभिन्न भोग्य विषय नाना प्रकार के कर्मों के विपाक से प्राप्त होते हैं। आत्मा सद्भाव-भावित होकर इन विषयों का भोग करता है। इसीलिए इस विषयी आत्मा का नाम पड़ता है—भोक्ता आत्मा। यह देह-रूप क्षेत्र का विभिन्न लोकों में कर्षण करते हैं अर्थात् कर्मबीजों के वपन के योग्य बनाते हैं। मोह से धर्माधर्म बीज का वपन करते हैं। उससे नाना शरीरेन्द्रिय रूप अंकुर उत्पन्न होते हैं, जिनका फल है—सुख-दुःख का अनुभव। काम, क्रोध आदि से उक्त अंकुरों की वृद्धि होती है एवं समय पर नियत देश में फल-लाभ तथा उसका भोग भी होता है। इस प्रकार से क्षेत्र का ज्ञान हो जाने के कारण आत्मा का नाम होता है—क्षेत्रज्ञ। यह क्षेत्रज्ञ आत्मा विषयों को समझता है, इसलिए इसका नाम बुध है।

परन्तु जब यह आत्मा इस विषय-भोगादि को अनिष्ट या अहितकर समझने लगता है, तब इसका नाम होता है—बुध्यमान।

जिस समय विषय भोग में घृणा उत्पन्न होती है, हृदय में परम वैराग्य का उदय होता है, माया से पृथिवी पर्यन्त सब कुछ इन्द्रजाल सदृश प्रतीत होने लगता है, इन सब तत्त्व, भुवन, भोगादि से विरति हो जाती है एवं पुत्रादि में आसक्ति शिथिल हो जाती है। जब संसार में अपने को संगहीन एकाकी समझने लगता है, अशुद्ध, व्याधिमय, जरा और मृत्यु के अधीन अपनी देह पर भी घृणा होने लगती है, तब वैराग्य के प्रभाव से अति तीव्र उद्वेग उत्पन्न होता है और संसार से मुक्त होने के लिए आकांक्षा जागती है। अन्त में चैतन्य का विकास होने पर सब आरम्भों से निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार के आत्मा का नाम है—प्रबुद्ध।

जब दीक्षा, ज्ञान, योग, चर्या आदि से विश्वातीत निरामय परमस्थान की प्राप्ति होती है और प्रपंचातीत स्वातन्त्र्यमय नित्य अलुप्त-शक्ति परम स्वरूप में प्रतिष्ठा होती है, तब उस आत्मा का नाम पड़ता है—सुप्रबुद्ध।

इससे ज्ञात होता है कि आत्मा, अन्तरात्मा और निरात्मा अथवा विज्ञानाकल और प्रलयाकल से लेकर सब आत्मा अबुध कोटि में हैं, क्योंकि उन्हें बाह्य विषयों का बोध है। जिस आत्मा में शक्तिपात हो चुका हो वह बुध्यमान है एवं आगमिक रीति से दीक्षा-प्राप्त तथा ज्ञान-प्राप्त पुरुष (आत्मा) को प्रबुद्ध नाम दिया गया है। जिस आत्मा में ज्ञान का अभ्यास भली भाँति हो चुका हो, जिस आत्मा ने शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया हो, जिसकी प्रतिपत्ति निश्चल हो और जो जीवन्मुक्त हो गया हो, उसका नाम है—सुप्रबुद्ध। अतएव शुद्धात्मा—बुध्यमान, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध तथा परमात्मा के भेद से चार प्रकार के हैं।

किसी किसी आगमिक-सम्प्रदाय में कहा जाता है कि आत्मा स्थूल रूप से तीन प्रकार का है—प्रथम सकल, द्वितीय केवल और तृतीय शुद्ध। सूक्ष्म-देह तथा पंचकोशों से अवच्छिन्न आत्मा सकल है। जिस समय स्थूल या सूक्ष्म शरीर नहीं रहता, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण नहीं रहते, उस समय आत्मा केवल आणवमल से आवृत, संकल्प तथा ज्ञान-क्रिया में अशक्त और बोध-हीन रहता है, तब वह कहा जाता है—केवल। परन्तु शुद्ध आत्मा केवल से भी भिन्न है। जब शक्तिपात होने के उपरान्त शिवानन्द अभिव्यक्त हो जाता है और उसके प्रभाव से तीनों मल निवृत्त होकर शिवत्व में ऐक्य की अभिव्यंजना करते हैं, तब उस आत्मा को शुद्धात्मा कहा जा सकता है।

दीक्षा के विविध भेद हैं। दीक्षार्थी शिष्य के आशय या चित्त में विभिन्न वासनाएँ होती हैं, अतः उनकी दीक्षा प्रणालियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। अध्वाओं के वैचित्र्य से दीक्षाओं में वैचित्र्य होता है। इसके अनन्तर ज्ञानदीक्षा का भेद तो है ही। शास्त्रों में सबीज तथा निर्बीज दीक्षाओं का भेद भी वर्णित है। अन्यान्य विभिन्न निमित्तों से भी दीक्षा के भेद होते हैं।

छः अध्वाओं की चर्चा पहले की जा चुकी हैं। वाचक तथा वाच्य-रूप से अथवा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय-रूप से विश्व के विभाजन में नियामक उपाधियाँ अध्वा ही हैं। आगम के अनुसार साधारणतया अध्वाओं के वैचित्र्य से दीक्षा-भेद इस प्रकार हैं—कलादीक्षा १, तत्त्व दीक्षा ५, पद-दीक्षा १, मन्त्र वर्ण-भुवन दीक्षा ३, केवल भुवन-दीक्षा १, सब मिलाकर ११ प्रकार हैं। तत्त्वदीक्षा के अवान्तर भेद हैं—एकतत्त्व-दीक्षा, त्रितत्त्व-दीक्षा, पंचतत्व-दीक्षा, नवतत्त्व-दीक्षा और छत्तीसतत्त्व-दीक्षा। ये सब पाँच प्रकार की हैं। किसी किसी स्थल पर अठारह तत्त्वों की दीक्षा का भी वर्णन दीख पड़ता है। छत्तीस तत्त्व तो सर्वत्र सुप्रसिद्ध ही हैं। अठारह तत्त्व इस प्रकार हैं—शब्दादि पाँच; मन, बुद्धि, अहंकार, गुण और प्रकृति—पाँच; पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति ये आठ; कुल अठारह। नव तत्त्व हैं—प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव। पंचतत्त्व इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। तीन तत्त्व इस प्रकार हैं—आत्म-तत्त्व (विज्ञानाकल पर्यन्त), विद्यातत्त्व (ईश्वर-पर्यन्त) और शिवतत्त्व (शेष सब तत्त्व)। एक तत्त्व माने शिवतत्व। जिस प्रक्रिया में जिस तत्त्व या जिन तत्त्वों को मुख्य रूप से ग्रहण किया जाता है, वहाँ अन्यान्य तत्त्वों का अन्तर्भाव समझना चाहिये, क्योंकि वहाँ उक्त तत्त्वों का प्राधान्य है तथा और तत्वों का गुणभाव है। है। ये ग्यारह प्रकार की दीक्षाएँ अध्वगत भेद के अनुसार कही गई हैं। अध्वा या गुणों के गुण-प्रधान भाव का रहस्य यह है कि जिस आत्मा को जिस अध्वा या अध्वाओं में अथवा जिस तत्त्व या तत्त्वों में भोग की इच्छा रहती है, उसकी दीक्षा में उसी अध्वा या तत्त्व का प्राधान्य रखकर अन्यान्य अध्वाओं और तत्त्वों को उसी में अन्तर्भूत करना पड़ता है। परन्तु यह सत्य है कि दीक्षा जितनी संक्षिप्त होती है, उतनी ही कठिन होती है। ऐसी संक्षिप्त दीक्षा सर्वसाधारण आत्माओं के लिए उपयोगी नहीं होती। तत्त्व-दीक्षाओं में एक-तत्त्व-दीक्षा अत्यन्त संक्षिप्त है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि

यह सुप्रबुद्ध गुरु और मुमुक्षु शिष्य को छोड़ कर अन्यत्र नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वत्र ही योग्यता तथा अधिकार-भेद का प्रश्न रहता है।

इसके अनन्तर ज्ञान-दीक्षा लेकर सब दीक्षाओं की संख्या बारह होती है। इनमें से प्रत्येक के सबीज, निर्बीज तथा सद्योनिर्वाणदायिनी भेद से तीन अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार दीक्षाओं की कुल संख्या ३६ है। आचार्य की दीक्षा केवल सबीज ही होती है, वह बारह प्रकार की है। साधक लोकधर्मी तथा शिवधर्मी भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसीलिए साधक-दीक्षा २४ प्रकार की है (१२ × २)। समयी का अध्व-न्यास नहीं होता। ज्ञान तथा क्रिया से उनका हृदादि वा ग्रन्थि-भेदन हो जाता है। इसीलिए इस दृष्टि से उनकी दीक्षा दो प्रकार की होती है। कुल दीक्षा-भेद ७४ हैं (३६ + १२ + २४ + २)। इनमें सकल, निष्कल अघोरेश्वरी आदि के अनुष्ठान और लोकधर्मी साधक के अवान्तर वैचित्र्यों के कारण तथा भौतिक, नैष्ठिक आदि भेदों के कारण दीक्षा के असंख्य भेद हैं।

[२]

आगम के अनुसार दीक्षा का महत्त्व अत्यन्त अधिक है। यद्यपि दीक्षा, चर्या, ज्ञान तथा योग ये चारों भोग और मोक्ष के साधन है, तथापि इनमें किसी अंश में भेद है। यह सत्य है कि इन सभी उपायों से तत्-तत् भुवनों की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु योग का यह वैशिष्ट्य है कि उसके प्रभाव से भुवनेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। चर्या का फल है कि उससे तत्-तत् भुवनेश्वरों की आराधना अविच्छिन्न रूप से होती है। दीक्षा का फल है कि उससे तत्-तत् भुवनों के साथ योजना होती है एवं ज्ञान के प्रभाव से तत्-तत् भुवनेश्वरों के स्वरूप से तादात्म्य होता है। इन सब उपायों में दीक्षा के प्राधान्य का हेतु यह है कि दीक्षा के बिना ज्ञानादि में अधिकार ही नहीं होता, एवं ज्ञान के विना चर्या तथा योग का अनुष्ठान नहीं हो सकता। यहाँ एक विषय और भी विचारणीय है, वह यह कि यद्यपि दीक्षा से भोग और मोक्ष दोनों ही सिद्ध होते हैं, परन्तु यह कहीं-कहीं दीक्षा ये साक्षात् ही होते हैं और कहीं-कहीं संस्कारोत्पादन द्वारा होते हैं। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि दीक्षा लोकधर्मी-साधक के लिए साक्षात् रूप से भोगोपाय है तथा निर्बीज-पुत्रक के लिए साक्षात् रूप से मोक्षोपाय है। परन्तु यह शिवधर्मी-साधक के लिए संस्कार द्वारा भोग की उपाय है उसी तरह सबीज पुत्रक के लिए संस्कार द्वारा मोक्षोपाय बनती है। इसका तात्पर्य यह है कि दीक्षा से जब शिवधर्मी साधक तथा सबीज पुत्रक संस्कार सम्पन्न हो जाते हैं तब योग, ज्ञान आदि में उनका अधिकार हो जाता है, इसी से उनके भोग और मोक्ष सिद्ध होते हैं। स्वायंभुव-आगम में लिखा है जो जिस स्थान पर भोग चाहते हैं उन्हें उसी स्थान पर नियोजित कर मन्त्रशक्ति के द्वारा सिद्धि का मार्ग खोल दिया जाता है। मालिनीविजय का सिद्धान्त भी इससे मिलता-जुलता है, क्योंकि उसमें कहा गया है कि योग्यतावश जिसकी जिस स्थान पर वासना रहती है, उसकी योजना वहीं होती है। वहाँ से वह च्युत नहीं होता। इससे प्रतीत होता है कि दीक्षा स्वतः ही भोग

का उपाय है। दीक्षा के बिना शैव-योग में अधिकार नहीं हो सकता। परन्तु दीक्षा से केवल योग में ही अधिकार होता है, सो बात नहीं है; मन्त्र में भी दीक्षा से अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिए दीक्षा मोक्ष के विषय में साक्षात् उपाय कही जाती है। परन्तु जहाँ परम्परा से दीक्षा से भोग और मोक्ष उदित होते हैं, वहाँ का क्रम है—दीक्षा-संस्कार-योगादि में अधिकार। यहाँ से दो धाराएँ अलग हो जाती हैं। एक धारा जाती है मोक्ष-सिद्धि की ओर तथा दूसरी धारा मन्त्र-सिद्धि द्वारा भोग की ओर अग्रसर होती है। मतंग आगम में लिखा है—जो लोग अज्ञानी हैं, असमर्थ हैं और यह नहीं जानते कि सम्यग्-ज्ञान से मोक्ष होता है, उनके लिए जगद्गुरु ने इस क्रिया-प्रधान दीक्षात्मक सरल उपाय का विधान किया है। इस उपाय की सहायता से वे लोग अनायास मोक्ष तक पहुँच जाते हैं।

प्राचीन काल में बौद्ध-सम्प्रदाय के आचार्य दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते थे। उन लोगों को दीक्षा की सफलता के सम्बन्ध में आशंकाएँ थीं। उनकी प्रधान शंका थी दीक्षा का फल आत्म-संस्कार है या बुद्धि-संस्कार? यदि उसे आत्म-संस्कार माना जाय तो उसका तात्पर्य कर्म-निवृत्ति में है या सुख-दुःखानुभव-निवृत्ति में है या प्रकृत्यादि-विवेक-दर्शन में है अथवा स्वरूप-ज्ञान में है या अद्वैत-दृष्टि में है? यदि बुद्धि-संस्कार माना जाय तो उसका तात्पर्य इन्द्रिय-प्रेरणा की सामर्थ्य में है, या रागादि दोषों की निवृत्ति में है या उनके उन्मीलन में है? उनकी यह भी एक शंका थी कि मल-क्षय हुए बिना भी शक्तिपात हो सकता है या नहीं? इस प्रकार की और भी कई शंकाएँ दीक्षा के सम्बन्ध में उन्हें थीं। किसी-किसी आगम ग्रन्थ में इन शंकाओं का समाधान भी किया गया है। (द्रष्टव्य स्वच्छन्द टीका, ५ पटल) यह प्रसिद्धि है कि बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने दीक्षा के विरोध में कुछ लिखा था। क्षेमराज ने इस विषय का उल्लेख किया है और यह भी लिखा है आचार्य खेटपाल ने धर्मकीर्ति का उत्तर भी दिया था। परन्तु न तो धर्मकीर्ति का दीक्षा-विरोधी ग्रन्थ उपलब्ध होता है और न खेटपाल का तत्सम्बन्धी समाधान ही।

आगम पंथियों में किसी-किसी का मत है कि दीक्षा के विना मुक्ति नहीं हो सकती। किसी-किसी का मत है कि शक्तिपात होने पर ही मुक्ति निश्चित है, उसमें दीक्षा की अपेक्षा नहीं है। असली बात यह है कि शक्तिपात होने पर ही दीक्षा होती है। शक्तिपात की मात्रा पर ही दीक्षा के प्रकार-भेद निर्भर हैं। तीव्रतम शक्तिपात होने पर अनुपायादि-क्रम से दीक्षा होती है और क्षणभर में मोक्ष भी होता है। एक प्रसिद्ध वचन है—

> "तस्य दीक्षां विनैव आत्मसंस्कारपरिणामतः।
> सम्यग्-ज्ञानं भवेत्, सर्वशास्त्रेषु परिनिष्ठितम्॥"

यहाँ दीक्षा शब्द का तात्पर्य बाह्य-दीक्षा से है। बाह्य-दीक्षा सर्वत्र आवश्यक नहीं होती, परन्तु आत्मसंस्कार-रूप आन्तर-दीक्षा आवश्यक है।

तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद

भारतीय-संस्कृति के पर्यालोचन के लिए वैदिक एवं तान्त्रिक साधना के स्वरूप एवं प्रसंगतः वेद और तन्त्र विषयक अनुसन्धान आवश्यक हैं। वैदिक-साधना के मूल में वेद एवं तान्त्रिक-साधना के मूल में तन्त्र हैं। आजकल साधना की उपर्युक्त परम्पराओं में मिश्रण किंवा सांकर्य हो गया है। यही नहीं, अपितु वैदिक साधना-मूलक स्मार्त्त एवं पौराणिक धाराओं में भी मिश्रण हुआ है। जिस प्रकार वैदिक-साधना के विकास-क्रम में अवान्तर धाराओं का उद्भव और विकास हुआ, उसी प्रकार तांत्रिक-साधना के क्रम में भी विभन्न धाराओं का आविर्भाव तथा सांकर्य हुआ है। प्राचीन काल से मध्य-युग एवं आज तक अनेक विषयों पर भारत की मूल सांस्कृतिक धारा में बाह्य भाव-धाराओं का आगन्तुक प्रभाव थोड़ा बहुत पड़ा है। यह ऐतिहासिक गवेषणा एवं अनुसन्धान का विषय है। तात्त्विक पर्यालोचन में ऐतिहासिक दृष्टि काम नहीं देती, क्योंकि तत्त्व और उसका उन्मेष-क्रम काल के क्रम-विकास और उसके नियमों के अधीन नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्व के अन्वेषण का भी क्रम-विकास होता है, तथापि वह ऐतिहासिक गवेषणा की परिधि के बाहर की वस्तु है।

प्राचीन काल में ही नहीं, मध्ययुग और आजकल भी वैदिक-साधना का पर्यालोचन एवं मनन जारी है। ऐतिहासिक, शाब्दिक, पौराणिक तथा अन्य दृष्टिकोणों से इस दिशा में अनुसंधान और गवेषणा हो रही है। यह महत्वपूर्ण है। अर्वाचीनकाल में योग-विज्ञान के अनुसार श्रीअरविन्द एवं उनके कतिपय अनुयायियों द्वारा इस दिशा में प्रचुर उद्योग हुआ है। इसका भी विपुल महत्व हैं; किन्तु इतने पर भी इस क्षेत्र के रहस्यावृत अंचलों की कमी नहीं है।

तान्त्रिक-साधना की दिशा में भी कुछ दिनों से कार्यारम्भ हुआ है। महात्मा शिवचन्द्र विद्यार्णव, उनके शिष्य सर जान उडरफ, परम श्रद्धास्पद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द प्रभृति मनीषियों द्वारा इस ओर विपुल प्रयास हुए हैं। किन्तु यह सब दिशा का संकेत-मात्र है। प्रचलित वैदिक-साधनाओं के क्रम का अनुशीलन जैसा बहिर्मुख है, वैसे ही तांत्रिक-साधना का अनुशीलन भी बहिर्मुख है। अभी तांत्रिक साधना के विषय में अधिक अनुशीलन नहीं हुआ और जो हुआ भी है, उससे निगूढ़ रहस्यों पर प्रकाश नहीं पड़ता।

वस्तु के स्वरूप-निरूपण के लिए उसका अन्तरंग जानना आवश्यक है। संस्कृति के प्रत्येक विभाग में एक ऐसी दिशा अवश्य है, जो रहस्याच्छन्न एवं गूढ़ होने के साथ ही केवल विशिष्ट अधिकारियों के ही बोधगम्य है। यह केवल भारतीय-संस्कृति की ही नहीं अपितु जगत् की सभी संस्कृतियों की विशेषता है।

तांत्रिक या वैदिक साधना कितना अधिक प्राचीन है, यह बताना प्रस्तुत लेख का विषय नहीं। तांत्रिक साधना से यहाँ साधारणतः शाक्त-साधना और आनुषंगिक रूप से शैव-साधना अभिहित है। किन्तु वैष्णव एवं सौरादि साधनाओंकी प्रणालियाँ भी वस्तुतः तान्त्रिक परम्परा के ही प्रकार-भेद हैं। यह सत्य है कि साधना के सभी क्षेत्रों में बाह्य प्रभाव पड़े हैं किन्तु क्षेत्रों के वैशिष्ट्य से तत्-तत् तत्प्रणालियों का नामकरण हुआ है। वैष्णव क्रम के दो विभाग पांचरात्र एवं भागवत प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं। आगे चलकर दोनों प्रणालियाँ मिश्रित-सी हो गयीं। पांचरात्र-तन्त्र, सात्वत-तन्त्र प्रभृति ग्रन्थ प्राचीन काल से वैष्णव वर्ग में सम्मानित हैं। पांचरात्र-संहिता के आज लुप्तप्राय होने पर भी दो सौ के लगभग उसकी संहिताएँ उपलब्ध हैं। प्रस्तुत लेख का विषय वैष्णव एवं तत्सजातीय तन्त्रों की समीक्षा नहीं है। शैवों एवं शाक्तों के तान्त्रिक-वाङ्मय एवं संस्कृति के विभिन्न अंगों की समीक्षा करना ही यहाँ अभीप्सित है।

वेदों एवं तंत्रों के शब्दात्मक होने पर भी वस्तुतः वे ज्ञान के ही प्रकारभेद हैं। ये ज्ञान दिव्य एवं अपौरुषेय हैं। बहिर्मुखी दृष्टि द्वारा वेद शब्द से चाहे जो तात्पर्य निकाला जाय, वस्तुतः एवं तत्त्वतः वेद का स्वरूप अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म ज्ञान-विशेष है। मन्त्रदर्शी ऋषिगण इसे प्राप्त कर सर्वज्ञ होते थे और अन्त में आत्म-ज्ञान प्राप्त कर जीवन सफल बनाते थे। इसी लिए पुराकल्प में लिखा है—

"यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते"।

अर्थात् जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है वे ऋषिगण नित्य इन्द्रियातीत सूक्ष्मा वाक् का प्रदर्शन करते हैं, जिन्हें धर्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ, वे उसका दर्शन नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को सूक्ष्मा-वाक् का संवेदन कराने के लिए ऋषिगण उस अतीन्द्रिय वाणी को इन्द्रियगम्य वेद-वेदांग के रूप में प्रकट करते हैं। यह वेद-वेदांग ही "बिल्म" पद का वाच्य है। स्वप्नानुभूति को प्रकाशित करने के लिए जैसे स्थूलेन्द्रियगोचरा वाणी का प्रश्रय लिया जाता है, वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्मा-वाक् का निरूपण भी आवश्यक है। यह सूक्ष्मवाक् ही परावाक् है[1]। वेद इसी अतीन्द्रिय

---

१. सूक्ष्म-वाक् का तात्पर्य परा वाक् से है। इसके सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। शब्दब्रह्मवादी के मत में सूक्ष्म-वाक् पुरुष-समवायिनी है एवं पुरुष की अमृतकला है। सिद्धान्त-शैव-मत में सूक्ष्मवाक् के विन्दु को कार्यरूप एवं शब्दवृत्ति कहते हैं। शैव-दृष्टि में सूक्ष्मवाक् पुरुष-समवेता शक्ति नहीं है। वह आत्मा के साथ अविभक्त रूप में रहनेवाली है। परा-वाक् कारण और नित्य नहीं, अपितु कार्य और अनित्य है। यह शब्द-ब्रह्मस्थ रवि है, जिसका भेदन ज्ञानस्वरूप या विवेकज्ञान है, जिससे मुक्ति का उदय होता है। शब्दब्रह्मवाद के अनुसार सूक्ष्मवाक पश्यन्ती से अभिन्न है, किन्तु शाक्त-मत में यह आत्मा या परमशिव की पराशक्ति है। जब आत्मा में निजस्फुरण देखने की इच्छा उदित होती है, तब विमर्शांश शान्ता का प्रकाशांश अम्बिका से सामरस्य होता है। यह परावाक् अथवा परामातृका है, जिसमें षट्त्रिंशत्तत्वमय

नित्या-वाक् का अवतीर्णरूप है, स्वरूप नहीं, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा को छोड़ अन्य के सम्मुख वेद का स्वरूप प्रकट हो, ऐसा सम्भव नहीं है। वस्तुतः वेद एक और स्वरूपतः अभिन्न है। वह वागात्मक नहीं, बोधात्मक है। किन्तु अभिव्यक्ति-काल में वागात्मक होकर यह शब्द-क्रम से प्रकाशित होता है। यह वेद ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है। अहंकार-ग्रन्थि अहं और मनरूपेण प्रकाशित होती है। इसे काट कर उत्तीर्ण होना ही ब्रह्म-प्राप्ति है। प्रचलित वेद विभिन्न रूपों से आम्नात है। ये उस अनाम्नात अखण्ड-वेद के अनुकरणमात्र हैं। आचार्य भर्तृहरि भी प्रचलित वेदों को अनुकार ही कहते हैं।[1]

वेद की भाँति तन्त्र-क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक ही है। शिव में समवेता शक्ति के दो रूप हैं—ज्ञान एवं क्रिया। ज्ञान-रूपिणी शक्ति पर और अपर भेद से द्विविध है। पर-ज्ञान बोधात्मक और अपर-ज्ञान वागात्मक है, वागात्मक ज्ञान शास्त्ररूप में प्रतिष्ठित है। बोधात्मक परज्ञान वागात्मक अपरज्ञान शब्द पर आरूढ़ हो कर अर्थ-प्रकाशन में प्रवृत्त होता है। सात्वत-संहिता में परज्ञान को शिव की साक्षात्-शक्ति और अपर-ज्ञान को तन्त्र कहा है। विश्वसृष्टि के उन्मेष-काल में भगवान् परापर मुक्ति-सम्पादन के लिए ज्ञान को प्रकाशित करते हैं। सबसे पहले परमकारण निष्कल शिव से अवबोध-रूप ज्ञान का नादात्मक प्रसार होता है, तदनन्तर नादात्मक ज्ञान सदाशिव-रूप से तन्त्र किंवा शास्त्र का रूप ग्रहण करता है। इसीलिए पौष्कर आगम ने शास्त्र को नाद रूप कहा है। नाद रूप में प्रसृत इस अवबोधत्मक विमल ज्ञान की पाँच धाराएँ हैं,—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एवं ऊर्ध्व। निष्कल परमशिव में वागादि इन्द्रियों की सम्भावना न होने पर भी नाद सम्भूत होता है। अयस्कान्त के लोहाकर्षण के सामर्थ्य के सदृश इसे समझना चाहिये। शास्त्र शुद्ध-आत्मवर्ग का भव-समुद्र से उद्धार करता है।

शास्त्र-ज्ञान का प्रकाश ही इसी प्रकार होता है। तन्त्र के अनुसार यह ज्ञान परापर-भेद से द्विविध है। वस्तुतः यह अनन्त है। जिस ज्ञान द्वारा पशु या जीव का तत्त्व जाना जा सके अथवा पाश या मायिक जगत् का अर्थबोध सम्भव हो, वह अपर ज्ञान है। भगवत्तत्व का प्रकाशक ज्ञान ही पर-ज्ञान है। भगवत्तत्व के शिवात्मक-प्रकाश से रुद्ररूप प्रकाश भिन्न है। परम-शिव से प्रवृत्त शिव का प्रकाशक ज्ञान ही शिव-ज्ञान है। आणव आत्मा के मायाख्य एवं कर्म बन्धनों को काट कर आत्मा को आणव-मल से भी मुक्त कर देना शिव-ज्ञान की महत्ता है। इसके प्रकाशित होने पर शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। पूर्वोक्त पशु या पाश-ज्ञान से शिव-ज्ञान को सर्वथा पृथक् समझना चाहिये।

विश्व बीजस्थित वृक्ष-सदृश अव्यक्तरूपेण विद्यमान रहता है तथा वह सृष्टि-काल में अभिव्यक्त होता है।

१. वस्तुतः वेद का यथार्थ स्वरूप प्रणव है "स हि सर्वः शब्दार्थप्रकृतिः", "सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टा, नावेदविन्मनुते ब्रह्म किंचिद्"। आत्मा का स्वरूपगत आन्तर ज्ञान ही सूक्ष्म-वाक् है। वह पहले शब्द रूप में प्रकट होता है, ततः मनोभाव धारण कर काय-गत तेज अथवा कायाग्नि द्वारा पक्व हो कर प्राणवायु में प्रविष्ट होता है, फिर क्रमशः स्थूल शब्द उच्चरित होता है।

अद्वैत मतानुसार ज्ञान का अवतरण-क्रम इस प्रकार है। परा-वाक् सर्व-मूल है। यह बोधस्वरूप है और पूर्ण-स्थिति है। समस्त भाव इस स्थिति में पूर्ण रहते हैं। इसीका पर्याय परम-परामर्श है। अनन्त शास्त्र पर-बोधरूप से परावाक् में वर्तमान रहते हैं। सृष्टि के उन्मेष में परा-स्थित शास्त्रादि क्रमशः निम्न भूमिकाओं में अवतरित होते हैं, किंवा बहिर्मुखरूप में प्रकाशित होते हैं। सबसे पहले परमबोध से अहं-ज्ञान का उदय अन्तर् हृदय में होता है। इस स्थिति में परम-बोध स्फुट नहीं रहता। परन्तु इस विमर्श स्वभाव में वाच्य-वाचक स्वभाव भी नहीं रहता है। यह पश्यन्ती-भूमि है। इस स्थिति में आन्तर परामर्श असाधारण रूप से उदित होता है; इसलिए प्रत्यवमर्शक आत्मा वाच्यार्थ के परामर्शन में अर्थ को अहन्ता से आच्छादित कर स्फुटित करता है। ततः मध्यमा-भूमि के अन्तराल में वाच्यार्थ वाच्य-वाचक स्वभाव लेकर उल्लसित होता है। किन्तु यह उल्लास वेद्य-वेदक प्रपंचो के उदय से भिन्न है। इस मध्यमा-भूमि में परमेश्वर अपना स्वरूप दो अंशों में विभक्त कर स्वयं ही गुरु और शिष्य रूप ग्रहण करते हैं। इस कल्पित गुरु-शिष्य-भाव के सहारे ही गुप्त-ज्ञान प्रकट करते हैं।[१] उस समय सदा-शिव नाम से गुरु एवं ईश्वर नाम से शिष्य का आविर्भाव होता है। गुरु या सदाशिव में

१. गुरु कौन है और शिष्य कौन ? वस्तुतः अद्वय-मार्ग में परमार्थसत्ता-रूप संविद् ही सब कुछ है। प्रष्टा शिष्य और प्रतिवक्ता गुरु का भेद वास्तविक नहीं है। पारमार्थिक और पूर्णस्वभाव वस्तु संविदात्मक है। वह पश्यन्ती-प्रभृति भूमियों को स्पर्श करते हुए बैखरी-भूमि पर्यन्त स्फीत होता है। यह स्वसंविद ही संकुचित होकर प्रमातृ-रूप शिष्य-भूमि का अवभासन करके प्रष्टा बनता है। अतएव संविद ही प्रष्टा है। वस्तुतः प्रश्न और उत्तर किंवा शिष्य और गुरु दोनों संविन्मात्र है।

गुरुशिष्यपदेप्येष वेद्यभेदोऽप्यतात्विकः।
प्रष्ट्री च प्रतीवक्त्री च स्वयं देवी व्यवस्थिता। (तन्त्रालोक १—२५६)

संशय और निश्चय वस्तुतः एक है। सामान्य प्रतीति संशयात्मिका और विशेष प्रतीति निश्चयात्मिका है। वेदान्तदेशिकाचार्य 'तत्त्वमुक्ताकलाप' में कहते हैं कि ईश्वर ही अभिनय करते हुए आचार्य और शिष्य की भूमिका ग्रहण करते हैं—

युक्तिःप्रश्नोत्तरादेर्नहि पुरुषभिदां बुद्धिभेदं च मुक्त्वा
तस्माद् व्यूहादिभेदे कतिचन पुरुषाः स्युः परेणानुबद्धाः।
तत्र स्वच्छन्दलीलः स्वयमभिनयति स्वान्यतां सर्ववेदी,
तद्वच्छिष्यादिवृत्तिप्रसृतिमिह सतां शिक्षयन्सानुकम्पः॥

उदयनाचार्य का अभिमत है—"मायावत्समयादयः" (न्यायकुसुमाञ्जलि २ स्तबक)। मीमांसक सृष्टि-प्रलय स्वीकार नहीं करते। इसलिए उनकी दृष्टि में वैदिक साधना-परम्परा के लोप का प्रश्न ही नहीं है। नैयायिक प्रलय और प्रलयान्त में अभिनव-सृष्टि स्वीकार करते हैं, फिर भी कोई दोष नहीं होता। सृष्टि के आदि में सभी के अव्युत्पन्न रहने के कारण समय-ग्रहण नहीं होता, अतएव शाब्द-व्यवहार के लुप्त होने की शंका रहती है। क्योंकि शाब्द-व्यवहार दृश्य-व्यवहार के अनुरूप होता है। उसी प्रकार आदर्श अर्थात् दिखानेवाला न रहने पर घटादि के निर्माण आदि की भी संगति नहीं। किन्तु नैयायिक कहते हैं—"सर्गादौ स्वयमेव परिगृहीतप्रयोज्य-प्रयोजक-वृद्धशरीरव्यवहारस्य परमेश्वरस्य व्यवहारतः एव सुकरः। अर्थात् घटादिक्रिया भी कुलालादि विग्रहधारी भगवान् से ही सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि गुरु-शिष्य भाव धारण कर परमात्मा ही ज्ञान एवं क्रिया का उपदेश करते हैं।

परमेश्वर अपनी पंच शक्ति चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, तथा क्रिया को पाँच मुखों के रूप में प्रकट करते हैं। सदाशिव के इन पाँचों मुखों के संघटन से पंचस्रोतोमय अभेद, भेदाभेद, एवं भेद की दशाएँ प्रकट होती है। तत्तत्प्रभेदों से युक्त निखिल शास्त्र अवतरित होते हैं। किन्तु अभी मध्यमा में वे अस्फुट ही रहते हैं, वैखरी-दशा में आने पर ही परिस्फुटित हो कर शास्त्र का रूप एवं आकार धारण करते हैं।

मालिनीविजय वार्त्तिक में कहा है कि विश्व वाच्य-वाचक भेद से द्विविध है। वाचक शुद्ध या दिव्य एवं मानव भेद से द्विविध है। शैवागम दिव्य-शब्द परम-विमर्श का स्थूल रूप है। स्थूल मानवीय-वाक् जैसे स्थूल-विमर्श का रूप है, वैसे ही दिव्य-वाक् विशुद्ध-विमर्श का रूप है।

अद्वैत आगम का सिद्धान्त है कि जिन शास्त्रों का जगत् में प्रकाश हो चुका है और जिनका प्रकाश अभी नहीं हुआ है तथा जो प्रकाशित होकर लुप्त हो गये हैं, वे सभी परा-वाक् में पर-बोध-भाव में नित्य वर्त्तमान है। तन्त्र का यह परम स्वरूप है। पश्यन्ती-प्रभृति भूमियों में पर-बोधात्मक शास्त्र तत्तत् भूमियों के वैशिष्ट्यों के अनुरोध से अभिव्यक्त होता है।

पर-बोध क्रमशः जिस प्रणाली से निम्नतम भूमि-पर्यन्त अवतीर्ण होता है, वही वस्तुतः तन्त्र मत में आविर्भाव का प्रकार है। यह कालविशेष में संघटित कोई ऐतिहासिक क्रम का व्यापार नहीं है। पहले वह महाज्ञान अहंज्ञान का रूप लेकर अन्तर में स्फुरित होता है, यह असाधारण रूप से ही होता है। इसमें वाच्य-वाचक अर्थात् शब्द और अर्थ परस्पर पृथक् रूप से भासमान नहीं होते एवं न तो इस अवस्था में वाच्यार्थ का भान इदं रूप से ही होता है। प्रत्यवमर्शक प्रमाता से वाच्यार्थ परामृष्ट रहता है। पश्यन्ती-भूमि का यह विवरण है। बहिर्मुख भाव की वृद्धि से कुछ विलक्षणता प्रतीत होने लगती है। प्रथम स्थिति में वेद्य-वेदक रूप प्रपंचोदय अन्तर में ही होता है, ततः उस महाज्ञान में वाच्य-वाचक स्वभाव का उल्लास होता है, किन्तु भीतर ही। यह भूमि मध्यमा पद का वाच्य है। इसमें विश्वगुरु परमेश्वर द्वारा अनन्त शास्त्रों का स्पष्ट अवतरण होता है। इसमें नाना भेद-प्रभेद विद्यमान रहते हैं।

उपरोक्त चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, और क्रिया के पंच स्रोतों में प्रत्येक की दो अवस्थाएँ हैं—एक उद्भवोन्मुख, दूसरी उद्भूत। शिव के इन पाँचों मुखों के शास्त्रीय नाम ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर हैं। प्रस्तुत लेख में आगे चलकर ये नाम ई, त, स, वा, अ, के संकेतों द्वारा प्रयुक्त होंगे। आगम के अनुसार महेश्वर-स्वरूप एक है, किन्तु शक्तियों के सम्बन्ध-भेद से उसमें अनेकता एवं भेद का उपचार होता है; और उनकी भेद-प्रधान, भेदाभेद-प्रधान एवं अभेद-प्रधान अवस्थाएँ प्रकट होती हैं।

महेश्वर की भेद-प्रधान दश अवस्थायें हैं और भेद के प्रतिपादक आगम भी मूलतः दश है। इनकी आविर्भाव-प्रणाली इस प्रकार है—उद्भवान्मुख ई, त, स के तीन मुखों से एक-एक और उद्भूत ई, त, स, के तीन मुखों से एक-एक ;तथा ई, त, स के द्विमुख मिलन से एक-एक; इस प्रकार कुल नौ। ई, त, स के त्रिमुख मिलन

से एक, एवंविध कुल दश भेद-प्रधान आगम प्रकट होते हैं। इनके नाम इस प्रकार है १. कामिक २. योगज ३. चिन्त्य ४. मुकुट ५. अंशुमत ६. दीप्त ७—अजित ८. सूक्ष्म ९. सहस्र १०. सुप्रभेद।[1]

परमेश्वर की भेदाभेद-प्रधान दशाएँ किंवा रौद्रावस्थाएँ अट्ठारह हैं, जिनसे प्रसूत रौद्रागमों का विवरण इस प्रकार है—

वा—अ दोनों एकक है, शेष तीन एकक अर्थात् ई, त, स भेद-प्रधान अवस्था के अन्तर्गत आ चुके हैं।

वा—ई अ—ई वा—अ	ये तीन द्विक हैं।

दश होने चाहिए। ई—त, ई—स, त—स का निरूपण भेद-प्रधान तन्त्रों के विवरण में हो चुका है। त और स में संगति नहीं होती। त—वा, स—वा, स—अ, त—अ, छूट गये हैं; कारण, त, स, वा, अ में दो-दो चार-चार का मेलन नहीं होता।

ई—स—त	१	ये अष्ट त्रिक है। ई—त—स, भेद-प्रधान होने से छूट गया और ई—वा—अ यहाँ नियोज्य नहीं हैं।
ई—वा—स	१	
ई—अ—त	१	
ई—स—वा	१	
ई—स—अ	१	
ई—वा—अ	१	
त—स—वा	१	
त—स—अ	१	
त—वा—अ	१	
स—वा—अ	१	
ई०—त—स—वा	१	ये चार चतुष्क हैं। त, स, वा, अ, की संगति नहीं होती एवं ये द्विक चतुष्क में मिल कर ज्ञानोत्पादन नहीं करते।
ई० त०स०अ	१	
ई०त—वा—अ	१	
ई—स—वा—अ	१	

ई-त-स-वा-अ, यह एक पंचक है। इस प्रकार दो एकक, तीन द्विक, आठ त्रिक, चार चतुष्क एवं एक पंचक के मेलन से अष्टादश रौद्रागमों की उत्पत्ति है। इनके नाम इस प्रकार हैं—विजय, निःश्वास, मद्गीत, पारमेश्वर, मुखबिम्ब, सिद्ध, सन्तान,

---

१. यहाँ उल्लिखित दश शिव-ज्ञान आचार्य जयरथ के आधार पर है। किरणागम के अनुसार ये नाम इस प्रकार है—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, सुप्रभेद, और अंशुमत। किरणागम की दृष्टि में उपरोक्त शिवज्ञान दश आत्मज शिव के पृथक्-पृथक् ज्ञान हैं। कामिक प्रणव शिव का, योगज सुधाख्य शिव का, चिन्त्य दीप्ताख्य शिव का, कारण कारणाख्य शिव का, अजित सुशिव का, सुदीप्त ईश्वर का, सूक्ष्म शिव का, सहस्र काल-शिव का, सुप्रभेद गणेश-शिव का एवं अंशुमत अंशु-शिव का ज्ञान है।

नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय, स्वयम्भू, विसर, रौरव, विमल, किरण, ललित, सौमेय। कहीं कहीं मद्गीत के स्थान प्रोद्गीत जैसे नामों का व्यवहार मिलता हैं।[१]

ऊर्ध्व स्रोत में शिव एवं रुद्र दो प्रकार के ज्ञान हैं। इनके शास्त्र आगम रूप में ऊपर विवृत है। दश भेद-प्रधान शैवागम और अष्टादश भेदाभेद-प्रधान रौद्रागमों का उल्लेख हो चुका है। परमेश्वर की अभेद प्रधान ६४ दशाएँ हैं, उन्हें भैरवावस्था कहते हैं। शिव के दक्षिण वक्त्र को योगिनी-वक्त्र कहते हैं। यह शिव-शक्ति का अद्वय और संघट्ट रूप है। अन्यान्य वक्त्रों से प्रत्येक का उद्भवोन्मुख, उद्भूत, तिरोधानोन्मुख और तिरोहित—ये चार रूप है। एवं उन चार वक्त्रों में १६ भेद निहित हैं।

एक ही समय में जब चारों वक्त्र अन्तर्लीन होकर परस्पर मिलते हैं, तब ६४ प्रकार की अद्वयप्रधान भैरवावस्थाएँ आविर्भूत होती हैं। यह दक्षिण हार्द-लिंग सर्व-संहारक होने से कृष्ण और तिमिररूपी है। यह भेदभाव के मायीय तेजोंश का ग्रासक और अन्तर में अनन्त सृष्टि के तत्त्वों से पूर्ण है। यह दक्षिण वक्त्र वैसर्गिक हार्द एवं स्वतन्त्र शिव-स्वरूप है। जब इसमें एक ही समय शेष चारों मुखों का लय होता है, तब भैरव आगमों का आविर्भाव होता है। षोडश प्रकार भेद उस समय अस्तंगत हो जाते हैं, इसीलिये यह अवस्था अद्वय है।

प्रस्थानशः भैरवागमों के निम्नलिखित भेद हैं—

भैरवाष्टक—स्वच्छन्द, भैरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्तभैरव, असितांगभैरव, महोच्छूष्म, कंकालीश।

यामलाष्टक—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, आथर्वण, रुरु, वेताल, स्वच्छन्द।

मताख्याष्टक—रक्ताख्य, लम्पटाख्य, लक्ष्मी, मत, चालिका, पिंगल, उत्फुल्लक, विश्वाद्य।

मंगलाष्टक—भैरवी, पिचुतन्त्र, समुद्भव (दो प्रकार), ब्राह्मीकला, विजया, चन्द्राख्या, मंगला, सर्वमंगला।

चक्राष्टक—मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, बिन्दुचक्र, नाद-चक्र, गुह्यचक्र।

शिखाष्टक—भैरवी, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, आथर्वक, कबन्ध, शिरश्छेद।

बहुरूपाष्टक—अन्धक, रुरुभेद, अजाख्य, मलसंज्ञक, वर्णकण्ठ, विडंग, ज्वालिन, मातृरोदन।

वागीशाष्टक—भैरवी, चित्रिका, हंसाख्य, कादम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा, विद्युन्मान।

यह सदाशिव-चक्र है, जिसके चौंसठ भेद हैं। शिवके प्रत्येक मुख में पाँच अवान्तर भेद हैं, आगम के उपभेद तो असंख्य हैं।

---

१. किरणागम के मत में अष्टादश रुद्रागम इस प्रकार है—विजय, पारमेश, निःश्वास, प्रोद्गीत, मुखबिम्ब, सिद्धमत, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रहास, भद्र, स्वायंभुव, विरज, कौरव्य, मुकुट, किरण, ललित, आग्नेय और पर।

एकैकं-पंचवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात् प्रगीयते।
दशाष्टादशभेदस्य ततो भेदेष्वसंख्यता ॥

श्रीकण्ठी में तन्त्रावतार के विषय में लिखा है कि तत्पुरुष-वक्त्र से २८ प्रकार गारुण-हृदय का अविर्भाव हुआ, पश्चिम-वक्त्र से भूत-तन्त्र का, एवं दक्षिण-वक्त्र से २४ प्रकार के दक्षिण भागों का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट होता है कि ज्ञान की सत्ता भेद, भेदाभेद, एवं, अभेद के रूप में त्रिविध है। इसीलिए शास्त्र भी त्रिविध हैं।

उपर्युक्त क्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि तन्त्र का मूल स्वरूप परावाग् रूप है। यही भगवान्‌को परा-शक्ति है। अवतरण-क्रम में निखिल वेद्यों का स्फुरण होता है। यहाँ अतीत अनागत वर्तमान के कालगत भेद नहीं रहते। एवं भेद स्वात्मा से अभिन्न तथा तद्रूपेण भासमान होते हैं। वस्तुतः यही आत्मबोधावस्था है। यहाँ न तो वाचक शब्द का अस्तित्व ही है और न अर्थ का वाच्यत्व ही है। दूसरी भूमि में अर्थ इदंरूपेण प्रतीयमान होते हैं। उस स्तर पर अर्थ वाच्य और शब्द भिन्नावस्था में वाचक बन जाता है। उस स्तर पर सूक्ष्म रूप से सब शास्त्रोंका वाचक शब्द के आश्रय से आविर्भाव होता है। आत्मा स्वयं ही वक्ता गुरु एवं श्रोता शिष्य है। यह मध्यमा-भूमि का विषय है। यहाँ समस्त शास्त्र प्रकाशित हैं। इनका अल्पांश बैखरी में रूप-ग्रहण कर स्थूलेन्द्रिय से गम्य से होकर हमारे समक्ष प्रकट होता है, शेष वहीं रह जाते हैं। मध्यमा-भूमि में अनेकविध एवं अपरिमेय ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है। योगी एवं ज्ञानी प्रयोजनानुसार वहाँ से ज्ञान का अवतरण करा लेते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के दहर-विद्या प्रकरण में इस विषय का किंचित् आभास है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं:—"ऋषीणामपि यद् ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्।" साधारण दृष्टि से प्रातिभ-ज्ञान को अनोपदेशिक कहा जाता है। यह अक्रम एवं सर्वविषयक है। पूर्वदर्शित क्रम में अवतरण की प्रथम-भूमि ही प्रातिभ-ज्ञान है। यह वाच्य-वाचक विभाग से हीन पश्यन्ती-भूमि उपदेष्टा एवं उपदेश्य के भेद से रहित है। अनौपदेशिक ज्ञान के मूल में आगम होना सत्य है, क्योंकि परा-वाक् या आगम ही पश्यन्ती या प्रतिभा का निदान है। तन्त्र के अवतरण क्रम पर योगी अमृतानन्द की दृष्टि महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं—

विमर्शरूपिणी शक्तिरस्य विश्वगुरोः सदा।
परिस्फुरति सैकापि नानाभावार्थरूपिणी ॥

महास्वच्छन्द तन्त्र में कहा है—

"गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयंदेवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैः तन्त्रं समवतारयत् ॥

अमृतानन्द ने यह भी कहा है—प्रकाशात्मकः परशिवोऽहमेव विश्वानुग्रहपरः परापश्यन्तीमध्यमाबैखरीक्रमेण व्यापृत्य विमर्शांशेन प्रकटो भूत्वा सद्प्रकाशांशेनप्रतिवचन दातापि सन् तन्त्रं समवतारयामि।"

परम-शिव की पृष्ठभूमि

अद्वैत सूफी-साहित्य में परमात्मा की तीन यात्राओं का विवरण मिलता है। उनमें पहली यात्रा है—परमात्मा से बहिर्मुख होने पर अविद्या के अवलम्बन द्वारा जीवभाव धारण कर मनुष्यभाव की प्राप्ति तक। दूसरी यात्रा है—मनुष्य-भाव में ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा अविद्या को हटाकर फिर सचेतन-भाव से निज-भाव या परमात्म-भाव की प्राप्ति, एवं सोऽहं रूप में अपने बोधस्वरूप का पूर्ण परिचय होने तक। इन दोनों यात्राओं की चर्चा अध्यात्म-साहित्य में सर्वत्र ही प्रचलित है। पहली यात्रा अज्ञान की यात्रा है और दूसरी यात्रा है—ज्ञान की। परमात्मा अज्ञान ग्रहण करते हैं, जीवभाव धारण करते हैं एवं अन्त में मनुष्य-शरीर धारण करते हैं, इसका एकमात्र उद्देश्य है—चैतन्य का विकास-सम्पादन। उसके लिए देह-धारण और चौरासी लाख योनियों द्वारा देह का क्रम-विकास आवश्यक है। इस क्रम-विकास से देह और चैतन्य का विकास पूर्ण होकर मानवीय सत्ता की अभिव्यक्ति होना सम्भव है। तब मानव को अपने को पूर्णरूप से सचेतन-भाव में जानने का अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि तब अहंभाव का विकास हो जाता है। किन्तु अवसर प्राप्त होने पर भी वह अपने को अपने अहं रूप में जान नहीं पाता। उसका कारण है—क्रम-विकास से विकसित ज्ञान के ऊपर संस्कारों का घनीभूत आवरण। उस आवरण को हटाये बिना आत्मज्ञान की परिपूर्ण स्फूर्ति होना सम्भव नहीं। आवरण के हटने के साथ ही साथ क्रम से देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि की प्राकृत सत्ता से अहं-बोध छूट जाता है एवं चरम-स्थिति में वह अहम्-शून्य होकर अपने आप ही प्रकाश करता है।

इन दोनों यात्राओं से आत्मा अपने सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व और अन्यान्य सब भावगत गुणों के प्राकट्य का अनुभव करता है और अपनी भगवत्सत्ता में ज्ञानपूर्वक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। परमात्मा के विषय में वस्तुतः बोध और अबोध पृथक् रूप से गृहीत नहीं होते। किन्तु विश्लेषण से, समझने के सौकर्य के लिए, कहा जाता है कि जैसे एक पक्ष में उनमें बोध और अबोध का कोई भेद नहीं है, वैसे ही दूसरे पक्ष में उनमें दोनों भिन्न-भिन्न स्थितियाँ नित्य मौजूद रहती हैं। उनमें से जो अबोध की स्थिति है, वह नित्य-सुषुप्ति या जडभाव कहलाने योग्य है। इस सुषुप्ति के टूटने के साथ ही साथ जडभाव हटकर जडरूप धारण करता है एवं चिद्भाव का उन्मेष जीव-रूप धारण करते हुए क्रम-विकास के मार्ग में अग्रसर होता है। इस मार्ग में चित् के साथ अर्थात् जीवभाव के साथ जड़ का सम्बन्ध अर्थात् अचेतन देह के साथ संयोग मनुष्य-देह धारण तक जीव की क्रमिक उन्नति में आवश्यक होता है। चैतन्य का क्रम-विकास या क्रम-जागरण ही इसका एकमात्र उद्देश्य और नियामक है। दूसरे पक्ष में बोध की जो दूसरी स्थिति है, वह नित्य-जाग्रत्-स्थिति के रूप में वर्णनीय है। वह

नित्य-सिद्ध, स्वप्रकाश, चैतन्य की अवस्था है। महासुषुप्ति से यह पृथक् है। इस अवस्था में आत्मा स्वभावतः अपना अनावृत चेतन अनन्त शक्तिसम्पन्न परमात्मा के रूप में अनुभव करता है। पहली अवस्था प्रकृति की परमावस्था है और यह अवस्था पुरुष की परमावस्था है, किन्तु मूल में प्रकृति और पुरुष अभिन्न हैं, यह ध्यान में रखना होगा। प्रथमावस्था में अहं-बोध का उदय नहीं होता, वस्तुतः किसी भी बोध का उदय नहीं होता। महासुषुप्ति टूटने के बाद ही उस बोध का उदय और उसकी पुष्टि होती है। दूसरी अवस्था में अहं-बोध नित्य पूर्ण-अहं के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

सूफी लोगों के अनुसार इस दूसरी यात्रा के बाद कहीं-कहीं एक तीसरी यात्रा का भी पता लगता है। एक यात्रा है—जिसमें भगवत्सत्ता अपने स्वरूप से बाहर निकल आती है। दूसरी है—जिसमें सत्ता बाहर से अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप में प्रवेश करती है। अपने स्वरूप में प्रविष्ट होने के बाद भी उस स्वरूप में ही भीतर ही भीतर जो परम अव्यक्त की ओर यात्रा है, उसी को तीसरी यात्रा समझनी चाहिये।

परम-शिव की पृष्ठभूमि के रूप में जिसका उल्लेख किया गया है, उसका पता इस तीसरी यात्रा के मार्ग में ही प्राप्त होता है। इस यात्रा की एक सीमा है, यह कहना अनावश्यक है। यद्यपि यह यात्रा असीम है तथापि मनुष्य-देह में स्थित होकर यदि इस यात्रा का यात्री बन जाय तो एक परम-अव्यक्त के द्वार पर पहुंच कर स्तम्भित होना अवश्यंभावी है। अति सूक्ष्मदर्शी ईसाई अध्यात्मविद् योगियों में से किसी-किसी ने इसीलिए God से God head को पृथक् कर विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। ज्ञान और विज्ञान-दृष्टि की निर्मलता के तारतम्य के अनुसार कोई थोड़ी दूर जाकर ही मौन अवलम्बन करने को बाध्य हुए हैं और कोई उनकी अपेक्षा कुछ अधिक दूर तक अग्रसर होने में समर्थ हुए हैं। कारण, अव्यक्त सदा अव्यक्त ही है। उसे व्यक्त करने की कितनी ही चेष्टा क्यों न की जाय, फिर भी अन्त में अव्यक्त अव्यक्त ही रह जाता है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"।

यद्यपि यह अतीव गुह्य-तत्त्व है, फिर भी हमारे अध्यात्म-शास्त्र इस तीसरी यात्रा का पता देने में चूके नहीं। विशेषरूप से तान्त्रिक शास्त्रों के गुह्यतत्त्व के प्रतिपादक होने से, इस मार्ग में अधिक दूर तक अग्रसर हुए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अन्यान्य शास्त्रों में भी स्थलविशेष पर इसका परिचय न मिलता हो, ऐसी भी बात नहीं है।

आगमशास्त्रों में साधारण दृष्टि से परम-शिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरम अवस्था मानी गई है। इसी अवस्था में शिव और शक्ति का सामरस्य या साम्य प्रकट होता है। शिवभाव अभिव्यक्त-प्रकाश का भाव है, यही वह परम-प्रकाश है, जिसके आश्रय से सब कुछ प्रकाशित होता है एवं कुछ भी न रहने पर जो स्वप्रकाश होने से निरन्तर अपने में ही स्वयं प्रकाशमान रहता है। इस प्रकाश की जो आत्म-विश्रान्ति अर्थात् अहंरूप से विमर्शन है, वही शक्ति है। शक्ति के स्फुरण से ही विश्व का उदय होता है, केवल इतना ही नहीं, विश्व की स्थिति और लय भी शक्ति के स्फुरण से ही होते हैं। इसलिए शक्ति की उन्मेषावस्था में इस समग्र-प्रकाश के अन्दर विश्व का आभास दीख पड़ता है। यह दूसरी बात है, यह आभास अहं-रूप में गृहीत हो

या इदं रूप में, किन्तु इस आभास की सत्ता ही महाप्रकाश का साभास-प्रकाश के रूप में निर्देश करती है। आभास यदि न रहे तो वह प्रकाश निराभास रूप में प्रकाशमान होता है। लोकदृष्टि से जिसको सृष्टि कहते हैं, वह इस महाप्रकाशरूपी पूर्ण अहं की स्वातन्त्र्य से कल्पित केवल इदंरूपी बाह्यसत्ता मात्र है। वह सर्वप्रथम शून्यरूप में अर्थात् शून्याति-शून्यरूप मे प्रकाशित होकर क्रमशः स्तर-स्तर में अनन्त-भाव से अपने को प्रकट करती है।

इस विश्वातीत और विश्वमय पूर्ण एवं परम शिवसत्ता के मध्य में या पृष्ठभूमि में क्या है, उसी का शास्त्र और गुरु-शक्ति की सहायता से हम कुछ समझने का प्रयत्न करेंगे। यह आपाततः गुह्यतत्त्व के आवरण का अपसारण प्रतीत हो सकता है, किन्तु जो वास्तविक यथार्थ गुह्यतत्त्व है, उसके आवरण का अपसारण नहीं किया जा सकता, यह तो केवल परम-शिव की अवस्था के अन्तर्गत अतिसूक्ष्म स्तरों का विश्लेषण मात्र है। इस विश्लेषण में जो क्रम प्रतीत होता है, वह कालगत क्रम नहीं है, केवल बोध का क्रम है। यह क्रम यदि गृहीत न हो तो देहबद्ध चैतन्य अपने भीतर स्थित अनन्त-वैचित्र्य के कुछ अंश को सचेतन रूप मे धारण नहीं कर सकता।

ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वस्तुतः सत्, चित् और आनन्द ये तीनों भाव अभिन्न हैं। फिर भी इनमें प्रत्येक एक विशिष्ट भाव का द्योतक है। सद् भाव असद्-भाव से पृथक् होकर सन्मात्ररूप से विद्यमान रह सकता है और चिद्भाव के साथ अभिन्न रूप में भी अपने को प्रकट कर सकता है। वैसे ही चिद्भाव आनन्द के अतीत परम सत्ता में विराजमान हो सकता है, एवं पक्षान्तर में वह आनन्द के साथ अभिन्न होकर भी अपने को प्रकट कर सकता है। पूर्ण-तत्त्व की जो गभीरतम स्थिति है वहाँ सत्, चित् और आनन्द कल्पित नहीं हो सकते। इस गभीर-तम सन्मात्र की स्थिति मे ही आत्मप्रकाशरूप में इन्हीं की एक कला या शक्ति निक-लती है, जिसका तान्त्रिक लोगों ने चित् के नाम से उल्लेख किया है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो यह चिद्भाव पूर्ण-सत्य के बहिरंग भाव का आदि-प्रकाश है। तान्त्रिक साहित्य में यह चिद्भाव 'अनुत्तर' नाम से कहा गया है। निजसत्ता जब सत् से चिद्रूप में बाहर निकलती है, तब चित् की स्थिति होती है। किन्तु जो बहिर्मुख-स्पन्दन चिद्भाव का प्रकाशक है, वह चिद्भाव में भी पूर्ववत् कार्य करता है। उससे चित् निज-सत्ता से आंशिकरूप में बाहर निकल कर आनन्द-रूप में स्थिति प्राप्त करती है। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जो शुद्ध सन्मात्र है, वह एक पक्ष में निस्पन्द होने पर भी, दूसरे पक्ष में स्पन्दन-हीन नहीं है। यह स्पन्दन बाहरी स्पन्दन है, जिसके प्रभाव से सत् चिद्-रूप में प्रकाशित होता है। किन्तु इसके भीतरी स्पन्दन का पता हमें नहीं चल सकता। भीतरी स्पन्दन स्वीकार करने पर भी वह विचार-योग्य नहीं है। चित् आदि प्रत्येक स्थिति में अन्तःस्पदन और बाहरी स्पन्दन दोनों ही समान रूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिए चित् जैसे स्पन्दन-वश आनन्द के अभिमुख है, वैसे ही दूसरी ओर वह सत् के भी अभिमुख है। मानव के चित्त में जैसे अन्तर्मुख और बहिर्मुख इन दो वृत्तियों का हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं;

ठीक उसी प्रकार परम-सत्य के भीतर भी चित् और आनन्द इन दो अंशों का यह द्विविध स्पन्दन गृहीत होता है। चित् से बहिःस्पन्दन के कारण जब द्वितीय चित् का आविर्भाव होता है, तब बहिर्मुख प्रथम चित् उस द्वितीय चित् के भीतर अपने प्रतिबिम्ब को देख पाती है, एवं देखकर उसे अपनी सत्ता के रूप में पहचान सकती है। शास्त्र में इसी को आनन्द कहा गया है। जैसे दर्पण में अपना स्वरूप देखा जाता है, एवं उसकी पृथक् प्रतीति होने पर भी, यह मेरी ही सत्ता है, ऐसा ज्ञान होता है; वैसे ही चित् से विश्लिष्ट चित्-सत्ता में चित् जब अपने को देख पाती है, तब उसका आनन्द के रूप में अनुभव करती है। वास्तव में यह पृथक् कुछ नहीं है, अपनी ही सत्ता है। जैसे सत् से चित् पृथक् नहीं है, किन्तु फिर भी पृथक् है, वैसे ही चित् से आनन्द पृथक् नहीं हैं, किन्तु ऐसा होने पर भी उसे पृथक् रूप से समझना पड़ता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि 'चित्' का शास्त्रीय नाम 'अनुत्तर' है अर्थात् वर्ण-माला का प्रतीक 'अ'। सब वर्णों के अगुवा 'अ' वर्ण के द्वारा अनुत्तर को ही लक्ष्य किया जाता है। वैसे ही 'आ' वर्ण आनन्द का प्रतीक है। ये सत्, चित् और आनन्द अखण्डरूप से गृहीत होने पर एक अद्वैत ब्रह्मरूप में अपने निकट आप ही प्रकाशित होते हैं। यह ब्रह्मसत्ता यद्यपि निरंश है तथापि समझने की सुविधा के लिए उसमें दो अंशों की कल्पना की जाती है। एक सन्मात्र है, जो सदा अव्यक्त और अव्याकृत है, वह है—चिरनिगूढ़ सत्य की गभीरतम स्थिति। उसी का आलम्बन कर उसका प्रकाश चिद्रूप में विराजमान है। यह चित् वास्तव में चित्-शक्ति का स्वरूप है, एवं यह जब अपने अभिमुख होता है, तथा अनुकूल संवेदन के रूप में प्रकाशमान होता है, तब यह 'आनन्द' कहा जाता है। यह आनन्द ह्लादिनी-शक्ति का स्वरूप है। चित् अवस्था में अनुकूल और प्रतिकूल भाव नहीं रहते, किन्तु आनन्दावस्था नित्य अनुकूल भावमय है, इसमें प्रतिकूल भाव नहीं है। चित्-सत्ता में एक ही एक है, दूसरा कोई नहीं है। किन्तु आनन्द-सत्ता में एक ही द्वितीय का स्वांग रचकर अपने साथ स्वयं खेल करता है। जिस अवस्था को बात कही जा रही है, वह सृष्टि के पूर्व की अवस्था है, सृष्टि की सम्पूर्ण सामग्री की अभिव्यक्ति को पूर्वावस्था है। इस आनन्द से ही उसकी, जिसे हम सृष्टि कहते हैं, अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए श्रुति कहती है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। युगलभाव के बिना आनन्द नहीं होता, एवं आनन्दभाव के बिना सृष्टि नहीं होती। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—'स एकाकी न अरमत। तदात्मानं द्विधा अकरोत्' इत्यादि। 'अ' से 'आ' की अभिव्यक्ति होना और एक से दो की अभिव्यक्ति होना, एक ही बात है। यही आत्म-रमण एवं आत्माराम अवस्था है, जिसका आस्वादन ब्रह्म-वेत्ता करते हैं।

जैसे फुहारे से जल-कण निरन्तर छलककर निकलते हैं, वैसे ही इस आनन्द-रूप स्रोत से निरन्तर आनन्द के कण छलककर बाहर की ओर दौड़ रहे हैं। वास्तव में बाहर नाम से कोई सत्ता नहीं है, फिर भी प्रतिभास रूप में एक कल्पित बाह्यसत्ता मान लेनी पड़ती है। वस्तुतः वह आनन्दसत्ता का अभावमात्र है, अन्य कुछ नहीं।

आनन्द के सूक्ष्म-कण आनन्द के मूल उद्गम-स्थान से निकलते ही एक आवरण से आच्छन्न हो पड़ते हैं, एवं अपने अन्तःस्थित आनन्दसत्ता का फिर अनुभव नहीं कर सकते। शास्त्रीय परिभाषा में यही इच्छा का विकास है। इसका प्रतीक 'इ' है। जहाँ आनन्दपूर्ण है और जहाँ अभाव शून्य है, वहाँ इच्छा नाम की कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। इच्छा का जो विषय है, उसी को इष्ट कहा जाता है, वह आनन्द के सिवा और कुछ नहीं है। कारण, इच्छामात्र ही आनन्द को चाहती है एवं आनन्द को पाकर इच्छा चरितार्थ हो अपने आप ही विलीन हो जाती है। वास्तव में इच्छा आनन्द का अन्वेषण करने अथवा खोज निकालने की शक्ति है। यह कहना अनावश्यक है कि इच्छा से ही जगत् की सृष्टि होती है। इसीलिए सम्पूर्ण जगत् के भीतर सर्वत्र ही अन्वेषण का एक भाव विद्यमान रहता है। अणु-परमाणु से सूर्य-मण्डल अथवा नक्षत्र-मण्डल तक, स्थूल से कारण-जगत् तक, सर्वत्र ही चाहे प्रकटरूप में हो चाहे गुप्तरूप में हो एक अदृश्य आकांक्षा का परिचय प्राप्त होता है। यह खोये हुए धन को फिर से पाने के लिए एक विशेष प्रकार की आन्तरिक वासना के सिवा और कुछ नहीं है। यह खोया हुआ धन इच्छा का विषयीभूत आनन्द है, अन्य कुछ नहीं। जब तक आनन्द नहीं मिलता तब तक अन्वेषण का विराम नहीं। इसीलिए इच्छा को भी तृप्ति नहीं होती और पूर्णत्व की प्राप्ति भी नहीं होती।

आनन्दरूप यह इष्ट वस्तु इस समय भी अमूर्त अवस्था में विद्यमान है। जब इच्छाशक्ति घनीभूत होती है, अथवा संवेग द्वारा स्पन्दित होती है, तब ईशान-शक्ति का उदय होता है। इसका प्रतीक 'ई' है। यह ईशान शक्ति ही उस शक्ति का प्राण है। वस्तुतः यह इच्छा के सिवा और कुछ नहीं है। यह इष्ट-वस्तु इस समय एषणीय है, यानी इच्छा का विषय है। इसकी परावस्था में जब यह गुप्त धन प्रकट हो जाता है, तब वह ज्ञेय रूप में अपने को प्रकट करता है, तब इच्छा-शक्ति ज्ञान-शक्ति का आकार धारण करती है। इस ज्ञानशक्ति का दूसरा नाम उन्मेष है, जिसका प्रतीक है 'उ'।

उन्मेषरूप ज्ञानशक्ति अपने विषय ज्ञेय-सत्ता का प्रकाश करती है। जैसे इच्छा और एषणीय पृथक् न होने पर भी पृथक् प्रतीत होते हैं, वैसे ही ज्ञान से ज्ञेय पृथक् न होने पर भी पृथक् प्रतीत होता है। ज्ञानशक्ति ऊ-कार के द्वारा वर्णित होती है, एवं उसका विषय ज्ञेय ऊ-कार के द्वारा वर्णमाला में गुँथा हुआ है। यह 'ऊ' वास्तव में 'उ' की ही घनीभूत अवस्था है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार इसे 'ऊनता' या 'ऊर्मि' कहते हैं।

जैसे जल से बर्फ स्वरूपतः अभिन्न है, वैसे ही 'उ' कार से 'ऊ' कार अभिन्न है। जल जैसे घनीभूत होकर बर्फ का रूप धारण करता है, वैसे ही ज्ञानशक्ति भी घनीभूत होकर ज्ञेय का रूप धारण करती है। किन्तु बर्फ घनीभूत होने के कारण जल से पृथक् प्रतीत होने पर भी वास्तव में जल ही है, एवं जल से उत्पन्न होकर जल का आश्रय करके ही विद्यमान है। ठीक उसी प्रकार जिसे हम ज्ञेय कहते हैं अर्थात् जो ज्ञान का विषय है, वह भी ज्ञान से पृथक् नहीं है। वह ज्ञान की ही मूर्त अवस्था है, एवं ज्ञान से उत्पन्न होकर और ज्ञान का ही आश्रय कर अपने को प्रकट करता है।

इससे ज्ञात होता है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञान से पृथक् नहीं है, अविद्यावश पृथक् प्रतीत होता है। किन्तु अविद्या की निवृत्ति होने पर वह ज्ञान से भिन्न प्रतीत नहीं होता। जिस अविद्या की चर्चा यहाँ की गई है, जिसके प्रभाववश ज्ञान से ज्ञेय की पृथक् सत्ता प्रतीत होती है, वह शास्त्रानुसार क्रियाशक्ति का नामान्तर है। इस क्रियाशक्ति के प्रभाव से ज्ञान से ज्ञेय पृथक् हो जाता है। हमारे पूर्वोक्त दृष्टान्त में जल से उत्पन्न बर्फ का टुकड़ा जब तक जल में डूबा रहता है, तब तक समझना होगा कि क्रिया-शक्ति का व्यापार आरम्भ नहीं हुआ, किन्तु जब बर्फ का टुकड़ा जल से हटा दिया जाता है, जब जल से बर्फ पृथक् रूप में प्रतीत होता है, तब अविद्यारूप क्रिया-शक्ति का खेल आरंभ हुआ, समझना चाहिये। वर्णमाला में इस क्रिया-शक्ति के प्रकाशक वर्ण—ए, ऐ, ओ और औ हैं। क्रिया-शक्ति की अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम ये चार अवस्थाएँ, उन चार स्वर-वर्णों के द्वारा प्रकाशित होती हैं। क्रियाशक्ति का खेल जब पूर्ण हो जाता है, तब क्रिया की निवृत्ति हो जाती है।

इस तरह हमें प्रतीत होता है कि स्पन्द के बहिर्मुख संवेग से एक के बाद एक विभिन्न शक्तियों की अर्थात् कलाओं की अभिव्यक्ति होती है। स्थूल-दृष्टि से ये शक्तियाँ या कलाएँ पाँच भागों में विभक्त हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। प्राचीन महात्माओं ने शिव अथवा परमेश्वर के पाँच मुखों की कल्पना कर इन पांच शक्तियों का ही संकेत किया है। इन पाँच शक्तियों में से चित् और आनन्द स्वरूप-शक्ति के अन्तर्गत हैं। वे सच्चिदानन्द-स्वरूप के अन्तर्गत हैं एवं आपेक्षिक दृष्टि से इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन बहिरंग-शक्ति के रूप में कल्पित हैं। बहिरंग-शक्ति ही त्रिकोण-रूपी विश्व-योनि या महामाया है। मूल में पाँचों शक्तियाँ ही शक्ति हैं, जिन्हें मैंने स्वरूपशक्तियाँ कहा है, वह भी शक्तियाँ ही हैं। शक्ति नहीं, वह केवल सत्ता ही है, जो गुप्तरूप से उस अन्तरङ्ग-शक्ति के भी अन्तस्तल में विद्यमान रहती है। इसलिए भगवती श्रुति कहती है—'अस्ति इति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।' यह कहकर उसी परमशक्ति की स्तुति की गई है। यह जो शक्ति-प्रवाह है, यह स्पन्द का बहिःप्रवाह है। यह कहना अनावश्यक होगा कि प्रत्येक स्थिति में एक अन्तःप्रवाह है। जैसे सृष्टिमुखी गति बहिर्मुख है और प्रलय की गति अन्तमुंख है, एवं जैसे बहुत ओर ईक्षण बहिर्मुख है, किन्तु स्वरूप की ओर ईक्षण अन्तर्मुख है। सर्वत्र ही इसी तरह समझना चाहिये। जहाँ न अन्तर्मुख है और न बहिर्मुख, ऐसी भी स्थिति है। यहाँ उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जायगा। वह वाणी का अगोचर विषय है। अतएव 'अ' से 'ऊ'तक जो धारा है, जिसे प्रवृत्तिधारा कहा जाता है, वह शक्ति की बहिर्मुख धारा है, किन्तु क्रियाशक्ति की पूर्णता के साथ ही साथ बहिर्मुख धारा का अन्त हो जाता है, एवं उस समय स्वभावतः ही अन्तर्मुख धारा की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रवृत्ति की धारा जब इस बार निवृत्ति की धारा में परिणत हुई, तब वे सब पृथक्-पृथक् अवभासित हो रही शक्तियाँ या कलाएँ स्पन्दनवश एकीभूत होकर समष्टिभाव को प्राप्त होती हैं, जिनका नाम पड़ता है 'बिन्दु'। यह बिन्दु सम्पूर्ण कलाओं या शक्तियों की एकीभूत अवस्था का नामान्तर है। बिन्दु की

अभिव्यक्ति होने पर यह स्वभावतः ही अनुत्तर अथवा अकार का आश्रय कर प्रकाशित होता है। कारण, अकार ही चित् शक्ति या अनुत्तर है। उसका आश्रय लेकर ही सब कुछ प्रकाशित होता है 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

इसीका नाम अंकार अर्थात् बिन्दु-संयुक्त अनुत्तर है। पहले बहिःस्पन्दन के वेग से जो आविर्भाव होता है, वह सन्मात्र या अव्यक्त से होता है। उसके बाद जो बहिर्मुख-धारा का निर्गम होता है, वह चित् या अकार से होता है। उसका अवसान 'औकार' में अर्थात् चित्-शक्ति से क्रिया-शक्ति पर्यन्त पाँच शक्तियों का आविर्भाव सम्पूर्ण हुआ। इस बार अनुत्तर पंचशक्तिसमन्वित हुआ, अर्थात् विन्दु-संयुक्त हो गया। अब जो सृष्टि होगी वह इस 'अं' से होगी 'अ' से नहीं। पहले की सृष्टि बैन्दव-सृष्टि थी। इस बार वह एक बिन्दु ही विभक्त होकर अपने को दो बिन्दुओं में परिणत करता है। इसी का नामान्तर है—विसर्ग है; अब जो सृष्टि होगी वह वैसर्गिक सृष्टि होगी। यह वैसर्गिक सृष्टि वास्तव में व्यंजन वर्गों की सृष्टि है। तान्त्रिक परिभाषा के अनुसार यही तत्त्व-सृष्टि है। 'क' से 'ह' तक व्यंजन वर्ण विभिन्न तत्त्वों के द्योतक हैं। यह कहना अनावश्यक है कि ये सब भी प्रतीक मात्र हैं। जब इन तत्त्वों के अभिव्यक्त होने पर तत्त्वसृष्टि का अवसान होता है, तब जानना चाहिए कि ह-कार पर्यन्त सृष्टि हो गई है।

वैन्दव-सृष्टि के समय जैसे कलाएँ या शक्तियाँ बहिर्मुख-वृत्ति के बाद अन्तर्मुख-गति से विन्दुरूप धारण कर अकार में संयुक्त होती है, उसी तरह इस स्थल में भी प्रत्यावर्तन-क्रम से अकार से हकार तक सृष्टि अहं-भाव में पर्यवसित होती है। इस बार कला-सृष्टि और तत्त्व-सृष्टि का अन्त होने के कारण अहंभाव की अभिव्यक्त हुई। यह कहना व्यर्थ है कि यही पूर्ण-'अहम्' है, क्योंकि इसका प्रतियोगी अन्य अहम् नहीं है। सन्मात्र अवस्था अहम् नहीं है, यह कहना अनावश्यक है। चिदानन्द अर्थात् सच्चिदानन्द अवस्था में भी अहम् नहीं है एवं शक्ति या कलासृष्टि जहाँ समाप्त हो गई, वहाँ भी 'अहम्' नहीं है। तत्त्वसृष्टि पूर्ण होने के कारण 'अहम्' की प्रथम अभिव्यक्ति होती है। इस पूर्णाहं में समस्त तत्त्व रहते हैं, समस्त शक्तियाँ रहती हैं; अर्थात् बहिरङ्ग और अन्तरंग शक्तियाँ और परम अव्यक्त गूढ़सत्ता भी रहती हैं। वास्तव में यह 'पूर्णाहम्' परम-शिवावस्था है, जिनके साथ अभिन्न-रूप से परमशक्ति विराजमान रहती है। हम जिसे सृष्टि कहते हैं, वह इन परम-शिव से ही होती है।

किन्तु इसकी एक सूक्ष्म अवस्था है और एक स्थूल अवस्था। हम अनन्त भुवनों या समग्र विश्व को सृष्टि समझते हैं। अहं भाव से इदं-भाव का उदय हुए बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब इस इस पूर्णाहं से स्वातन्त्र्यवश इदंभाव का प्रथम विकास होता है, तभी विश्व-सृष्टि की सूचना समझनी चाहिए। किन्तु इस इदं-भाव के आविर्भाव के पहले एक अहम् ही अनन्त अहंरूपों में अपने को प्रकट करता है। तब "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुतिवाक्य की सार्थकता होती है। इसके बाद इदं-भाव का स्फुरण होने पर सर्वप्रथम सर्वशून्य-रूप परमाकाश का आविर्भाव होता है, एवं उसका आश्रय कर कर वह अनन्त-अहं द्वितीय रूप में प्रकट होता है। यह इदं-सृष्टि है। यह महा-

समष्टि रूप है, उस समय भी काल का आविर्भाव नहीं हुआ। काल का पूर्वाभास महाकाल में ही पाया जाता है। इसलिए इस सृष्टि में भी वास्तविक क्रम नहीं है। एक अन्तः-क्रम है सही, परन्तु वह वस्तुतः क्रम नहीं है। इसलिए उस समय अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीन कालों की क्रिया नहीं रहती। प्रचलित कार्य-कारण-भाव भी नहीं रहता। हाँ, अनन्त विचित्रता रहती है। सब सत्ताओं में ही सब सत्ताएँ अनुस्यूत रहती हैं। देशगत-भेद नहीं रहता, पर एक प्रकार का भेद केवल प्रतिभासमान रहता है। इसके पश्चात् उस महासृष्टि से खण्ड सृष्टियों का आविर्भाव होता है। वे ही ऐश्वरिक सृष्टियाँ हैं, उनमें काल-गत, देश-गत और स्वरूप-गत अनन्त वैचित्र्य हैं। समष्टि-सृष्टियाँ और व्यष्टि-सृष्टियाँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं। महासमष्टि-सृष्टि इनसे कुछ भिन्न है। महासमष्टि-सृष्टि में समष्टि-सृष्टि के तुल्य कर्म, जन्म, मृत्यु, सृष्टि और प्रलय आदि व्यापार नहीं होते।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, उससे समझ में आ जायगा कि प्रचलित धारणा के अनुसार विश्वसृष्टि परम-शिव से ही होती है। यह युक्तियुक्त धारणा है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु वास्तव में परमशिव-तत्त्व की जानकारी हो जाने पर उसके मध्यवर्ती अवस्था का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस अत्यन्त-गुप्त रहस्य का मानव-भाषा द्वारा प्रकाश नहीं हो सकता, फिर भी भगवदुपदिष्ट तन्त्र-शास्त्र के अनुसार अतिसंक्षेप में इस अन्तराल (मध्यवर्ती) अवस्था की एक झलक देने की चेष्टा की गयी है।



अद्वयतत्त्व के प्रकार-भेद

मायिक जगत् के आविर्भाव के मूल में अज्ञान की आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियों की क्रिया स्वीकार की जाती है। आवरण-शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप आत्मा का स्वरूप आवृत हो जाता है तथा विक्षेप-शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप नाना-प्रकार के वैचित्र्य सृष्टि के द्वारा प्रस्फुटित हो उठते हैं। वैचित्र्य के प्रकाशित होने के पूर्व आत्मा के स्वरूप का आवृत होना आवश्यक है। यह स्वरूप शक्तिहीन नहीं होता, अतएव स्वरूप के आवरण के साथ-साथ स्वरूप के साथ अभिन्न-भाव से विद्यमान शक्ति का भी आवरण हो जाता है। आत्मा का स्वरूप चिदानन्दमय है, यह मानकर इस अभिन्न-शक्ति को भी चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति के नाम से वर्णन किया जाता है। जिसके द्वारा शक्ति का आवरण होता है और विक्षेप का उदय होता है, वह भी शक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वह आत्मा अथवा चित्स्वरूप की ही शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु पूर्वोक्त चित्-शक्ति से उसको भिन्न-जाति की कहे बिना काम नहीं चल सकता। चित्-शक्ति को अभेद-शक्ति के नाम से ग्रहण करने पर इस विपरीत शक्ति को यदि भेद-शक्ति कहें तो असंगत न होगा। भेद-शक्ति का प्रथम उन्मेष भेद-ज्ञान के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि-विषयक जो ज्ञान हमें होता है, वह इस भेद-ज्ञान का ही नामान्तर है। यद्यपि यह भेद आत्मा अथवा ब्रह्म को अवलम्बन करके ही उदित होता है, परन्तु इसके पहले आवरण-शक्ति की क्रिया होती है; अतएव आत्मस्वरूप का भान नहीं होता। यह ज्ञान नहीं होता कि एक ही आत्मा विद्यमान है और प्रकाशित हो रही है, अपितु नानात्व का भान होता है। इसी कारण इस सृष्टि को अज्ञानमूलक सृष्टि कहते हैं। जब ज्ञान-शक्ति का उदय होता है, तब उसके प्रभाव से यह आवरण-अंश कट जाता है। ज्ञानशक्ति चित्-शक्ति की ही एक अवस्था है। इसमें क्रिया-शक्ति अवश्य होती है परन्तु ज्ञान में अन्तर्लीन रहती है। अतएव ज्ञानशक्ति वस्तुतः चैतन्य-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानशक्ति यदि शक्ति न होती, तो आवरणात्मिका अज्ञान-शक्ति को अभिभूत न कर सकती। ज्ञान-शक्ति के विकास में मात्रागत वैलक्षण्य अवश्य ही रहता है। अतएव मृदु-मात्रा में ज्ञान-शक्ति का विकास होने से जो फल होता है, तीव्र-मात्रा में उसका विकास होने पर पहलेकी अपेक्षा अधिक फल की प्राप्ति होती है। इन दो प्रकार के फलगत-भेद में, पहला—आत्मा के स्वरूप-गत आवरण का अपसरण है और दूसरा—उस अपसरण की अनुभूति है। ज्ञान की मात्रा के मृदु होने पर साधक का आवरण तो निवृत्त होता है, परन्तु वह उसे स्वयं अनुभव नहीं कर पाता। भूत-शुद्धि और चित्त-शुद्धि के अभाव के कारण आत्मज्ञान प्राप्त करके भी साधक उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। मलिन-देह और अन्तःकरण इस उपलब्धि के प्रतिबन्धक हैं। मल और वासना के रूप में इनका निर्देश किया

जाता है। साधक चेष्टा द्वारा अथवा साधना के द्वारा देह और मन को शुद्ध कर सके, तो गुरुप्रदत्त ज्ञान का सन्धान पा सकता है। परन्तु ज्ञान की मात्रा तीव्र होने पर साधक के लिये यह साधनारूपी कर्म आवश्यक नहीं होता। परन्तु ऐसी अवस्था में ज्ञान तीव्र होने के कारण साधक के देह और मन उसे सहन नहीं कर सकते। ज्ञानाग्नि के प्रभाव से देह और मन दोनों ही दग्धवत् हो जाते हैं। साधक विशुद्ध आत्मज्ञान की उपलब्धि के साथ-साथ विदेह-अवस्था को प्राप्त होता है। अतएव तीव्र निर्विकल्प-अवस्था के उदय होने पर देहपात अवश्यम्भावी हो जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान प्रारब्ध-कर्म को भी ध्वंस कर देता है, ऐसा नहीं कि केवल सञ्चित-कर्म का ही नाश करे। यदि साधक के साधनरूपी स्वकृत-कर्म सहायक हों, तो देहपात नहीं होता। इस अवस्था में कर्म की पूर्णता के साथ-साथ पूर्वप्राप्त स्वरूप-ज्ञान की अनुभूति होती है। फिर विक्षेप-शक्ति की प्रतिबन्धकता नहीं रहती, परन्तु न रहने पर भी, विक्षेप-शक्ति से जनित देह, ज्ञान के अधीन नहीं होतो। यद्यपि प्रारब्ध कर्म के अनुभव की प्रतिबन्धकता कट तो जाती है, तथापि उसका फल तिरोहित नहीं होता, अतएव देह का सङ्ग भी रहता है और उसके द्वारा साध्य भोगादि भी रहते हैं। परन्तु जब आत्म-ज्ञान की अनुभूति प्रतिष्ठित होती है, तब देहजनित भोग होते हुए भी न होने के समान हो जाते हैं।

केवल ज्ञान के उदय में ही जीवन्मुक्ति नहीं होती। जीवन्मुक्ति के आस्वादन के लिये उदित ज्ञान का बौद्धिक अनुभव भी आवश्यक होता है। वस्तुतः ज्ञान का उदय केवल आवरण-निवृत्ति के रूप में ही पहले प्रकट होता है। उसके बाद सम्भव हो तो बुद्धि के द्वारा उसकी अनुभूति होती है। तब बुद्धि का आवरण कट जाता है। यही जीवन्मुक्त-अवस्था है। विक्षेप-शक्ति के पूर्ण तिरोहित होने पर, अर्थात् प्रारब्ध के अवसान में उससे उत्पन्न देह का परिहार होने पर ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती है। तब आवरण को दूर करनेवाला यह ज्ञान पूर्णरूप से सफलता प्राप्त करता है। यह अवस्था ही शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने की है।

परन्तु यह पूर्णता नहीं है। शक्ति ने बहिर्मुख होकर भेद-सृष्टि की अवतारणा की थी, जिसके मूल में स्वरूप का आवरण निहित था। परन्तु शक्ति की यह बाह्य-प्रवणता अथवा बहिर्मुख-गति केवल उसकी कार्य-निवृत्ति के साथ-साथ साम्य-भाव को प्राप्त नहीं होती। सममात्रा में अन्तर्मुखी गति के द्वारा उसका साम्य स्थापित करना होता है। ऐसा न कर सकने पर प्रकृत-स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसी कारण क्रियाशक्ति का उन्मेष और विकास आवश्यक है। यह क्रियाशक्ति साधारणतः गुरु-शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह चित्-शक्ति की क्रिया है। क्रियाशक्ति के क्रमिक विकास में अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है। यह गति मन, वायु और विन्दु सबके अन्तराल में प्रवाहित होती है, इसमें सन्देह नहीं। शक्ति की बाह्य-गति के फलस्वरूप जिस प्रकार सृष्टि होती है, इस अन्तर्गति के परिणाम में भी उसी प्रकार सृष्टि होती है। पहली सृष्टि जड-शक्ति का कार्य है, परन्तु यह सृष्टि चैतन्य-शक्ति का कार्य है। इस अन्तःशक्ति की क्रिया का एक बार सूत्रपात होने पर वह निरन्तर चलती रहती है। जब तक बहिःशक्ति के साथ

यह साम्य प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक इसकी निवृत्ति नहीं होती। जिस क्षेत्रमें जितना बाह्य विकास होता है, उस क्षेत्र में उतना ही आन्तर विकास आवश्यक होता है। भीतर-बाहर समान हो जाने पर दोनों गतियाँ एक दूसरे को अभिभूत करके एक अभिन्न-गति के रूप में संचारित होती हैं, परन्तु यह बहुत दूर की बात है।

क्रियाशक्ति क्रमशः चित्-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। चित्-कला चैतन्यशक्ति की ही मात्रा है। चित्-कला का विकास हुए बिना ज्ञान की विक्षेप-शक्ति वशीभूत नहीं हो सकती; अर्थात् मायाशक्ति को अधीन करने के लिये महामाया-शक्ति की साधना करनी पड़ती है। महामाया-शक्ति की साधना क्रिया-रूप गुरु-शक्ति का ही क्रमिक विकासमात्र है। एक ही आत्मा जब बहिर्मुखी शक्ति से विशिष्ट होता है, तब उसकी परमात्मा के रूप में प्रसिद्धि होती है। दोनों में गतिरूपा-शक्ति का खेल होता रहता है, परन्तु जो गतिहीन-अवस्था है, उसमें शक्ति का खेल नहीं होता, उस समय शक्ति अव्यक्त रहती है। इस अव्यक्त-शक्ति में कोई धर्म नहीं रहता। विन्दुरूपी आत्मा या ब्रह्म से शक्ति जाग्रत् होकर बहिर्मुख और अन्तर्मुख खेल करती है। बहिर्मुख खेल के द्वारा बाह्यजगत् की उत्पत्ति होती है. यही जडजगत् है तथा आभ्यन्तर खेल के द्वारा अन्तर्जगत् या विश्व की उत्पत्ति होती है। दोनों जगत् जब साम्य-भाव को प्राप्त होते हैं, तब अखण्ड-मण्डलाकारत्व को प्राप्त होकर अनन्त विश्व का रूप धारण करते हैं।

क्रियाशक्ति के द्वारा अर्थात् शक्ति की अन्तर्मुखी गति से देह में प्रवेश प्राप्त होता है। शक्ति की बाह्यगति से जो देह-निर्माण हुआ है, जब तक शक्ति की अन्तर्मुखी गति नहीं होती, तब तक उसमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। भेद-ज्ञान अचित्-शक्ति का कार्य है, यह पहले कह चुके हैं, उसी प्रकार अभेद-दर्शन चित्-शक्ति का कार्य है, यह भी याद रखना होगा। अतएव क्रियात्मिका गुरु-शक्ति अभेदज्ञान के रूप में कार्य करती है। यह अभेदज्ञान पुष्ट होते-होते क्रमशः समस्त देह में व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में क्रियाशक्ति के द्वारा देह-भेद नाम दिया जाता है। मन, प्राण और विन्दु की अन्तर्मुखी गति अभेद-ज्ञान का ही क्रमिक विकास है। इस ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर, अर्थात् क्रियाशक्ति का कार्य सम्पन्न होने पर आत्मा की परमात्मा के रूप में स्थिति होती है और उसका व्यष्टि-देह समष्टि-देहरूप विश्व-रूप में परिणत हो जाता है। इसको योगावस्था कहते हैं। क्रियाशक्ति के उन्मेष या कुण्डलिनी के जागरण से ही इस योगावस्था की सूचना मिलती है तथा क्रियाशक्ति की पूर्णता ही इसका पूर्ण विकास है। आत्मा में जब क्रियाशक्ति का पूर्ण विकास होता है, तब आत्मा परमात्मरूप में वर्णन के योग्य हो जाता है। कहना न होगा कि यह क्रियाशक्ति वस्तुतः चैतन्य-शक्ति ही है; क्योंकि ज्ञानशक्ति सबसे पहले उपलब्ध हुई है। ज्ञानशक्ति यदि पहले प्रस्फुटित न हो तो क्रियाशक्ति का उन्मेष सम्भव नहीं होता। ज्ञानशक्ति के विकास में द्रष्टा या साक्षीभाव का आविर्भाव होता है। इस साक्षीभाव के साथ क्रियाशक्ति का विकास न हो तो आत्मा क्रमशः परमात्मा की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। स्थिति उपलब्ध न हो तो केवल गति संसार का ही नामान्तर है, अर्थात् आत्मा का स्वरूप जब

आवरणयुक्त होता है, तब उसका आश्रय लेकर जो गति उदय लेती है, वह वस्तुतः भेद-ज्ञान का ही नामान्तर है। स्वरूप का आवरण जब कट जाता है, तब उस अनावृत आत्मा का आलम्बन करके जिस गति का उदय होता है, वह अभेद-ज्ञान की क्रीड़ा होती है, वही चित्-शक्ति का विलास है।

जीव और ईश्वर का भेद स्वीकार्य है; परन्तु आत्मा और परमात्मा में भेदाभेदरूप क्रिया-शक्ति के पूर्ण विकासपर्यन्त मानना ठीक है।

गुरु-शक्तिरूपी क्रियाशक्ति क्रमशः देह-भेद करती रहती है। सब से पहले अज्ञान-राज्य में, जो काल की प्रणाली में स्थापित है; प्रवेश प्राप्त होता है। इस राज्य में प्रविष्ट होकर क्रमशः अग्रसर होना क्रिया-शक्ति का कार्य है। इस स्तर में पड़े हुए अज्ञान-राज्य का अतिक्रमण करने पर, काल की प्रणाली को पार करके ज्ञान-राज्य में प्रवेश करना सम्भव हो जाता है। अणु के कर्म द्वारा अज्ञानराज्य को पार कर सकना संभव नहीं होता तथा उसके कारण ज्ञानराज्य में भी अग्रसर नहीं हुआ जाता, अतएव परमाणु का कार्य आवश्यक है। परमाणु परम पदार्थ का अंश होता है। वह नित्य और चिन्मय है। यही सृष्टिकाल में क्रमशः विभिन्न स्तरों का भेद कर के अवतीर्ण होता है, तथा मातृगर्भ में प्रविष्ट होता है। इसके पश्चात् ही क्रमशः विभिन्न प्रकार के अणु के सम्रव में आकर वह पुष्टि प्राप्त करता है। मातृगर्भ में विकास के पश्चात् जब प्रसव और नाल-भेद हो जाता है, तब बाह्यजगत् के अणु के साथ इसका योगायोग होने लगता है। जागतिक ज्ञानबुद्धि आदि सब प्रकार के कर्म तत्तत्प्रकार के अणुओं के ही खेल हैं; इन सबको परमाणु की क्रिया नहीं कहा जा सकता। दीक्षा के बिना चैतन्य-शक्ति का सम्बन्ध परमाणु के साथ नहीं होता तथा परमाणु अपनी सुप्तवत् अवस्था के हो जाने पर दीक्षा के बिना जाग्रत् नहीं होता। योग-दीक्षा के समय शिष्य जो गुरु से चिन्मय-शरीर प्राप्त करता है, उसे ही जाग्रत्-कुण्डलिनी के नाम से पुकारते हैं। उसके संस्पर्श के द्वारा परमाणु कार्य-विशिष्ट होकर कर्म करने में समर्थ होता है। परमाणु का कर्म ही यथार्थ क्रिया-शक्ति है। धीरे-धीरे प्रयोजन के अनुसार क्रियाशक्ति का विकास होता है और उसके फलस्वरूप देह-राज्य सिद्ध होता है। अयोगी साधक भी दीक्षा के फल से चैतन्य-शक्ति प्राप्त करता है; परन्तु वह दीक्षा कायाकार में परिणत नहीं होती। कायाकार में परिणत अवस्था ही जाग्रत् अवस्था है। अतएव साधक को कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत् करनी पड़ती है। यह जागरण दीक्षा-कालीन जाग्रत्-आभास का पूर्ण विकास है। दोनों स्थानों में चैतन्य-शक्ति के प्रभाव से परमाणु की ही क्रिया होती रहती है। अज्ञानराज्य का भेद करना और ज्ञानराज्य में अग्रसर होना, दोनों ही चैतन्यरूपी क्रियाशक्ति का कार्य है। दोनों राज्य देह के ही भीतर हैं। अज्ञान-राज्य और ज्ञान-राज्य दोनों ही राज्यरूप में आलोचना के योग्य हैं। अज्ञानराज्य काल की सृष्टि है। परन्तु ज्ञानराज्य काल की सृष्टि होने पर भी काल की सीमा के परे है। यह ज्ञानराज्य वस्तुतः चैतन्यशक्ति की विशिष्ट रचना के द्वारा विभूषित है।

जब मृत्युकाल में परमाणु और अणु का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब जो परमाणु दीक्षादि के द्वारा चैतन्य को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे स्वकर्म के अभाव के कारण

अज्ञान-राज्य को भेद न कर सकने के कारण काल की सीमा के भीतर प्रसुप्तवत् अवस्थित रहते हैं। उनके सारे अणु लौकिक जगत् में निरन्तर नाना प्रकार से संचरण करते रहते हैं। इनकी सुप्तवत् नाना प्रकार की गति में सुषुप्ति-मग्न परमाणु कुछ भी विचलित नहीं होते। अतएव अणु के कर्म और परमाणु के कर्म परस्पर पृथक् होते हैं। अणु के सहस्रों प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप अणु में नाना प्रकार के धर्मों का आविर्भाव होता रहता है। उसी प्रकार परमाणु के कर्मों के फलस्वरूप परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया के प्रभाव से परमाणु स्वकर्म से विशिष्ट होकर अज्ञान-राज्य को पार करते हैं।

जब परमाणु और अणु का पारस्परिक विच्छेद सम्पन्न हो जाता है, तब परमाणु की दृष्टि के सामने एक विशेष ज्योतिर्मय सत्ता का आविर्भाव होता है। इस सर्वव्यापक महान् आलोक में स्तर-गत कोई क्रम लक्षित नहीं होता। जिसे अज्ञान-जगत् कहते हैं, वह भी इस विशाल आलोक में आभासित होता है। कर्म के प्रभाव से अज्ञान जगत् को पार करने पर एक शून्यावस्था का उदय होता है। उस समय काल की सीमा (कार्यक्षेत्र) को पार करने के साथ-साथ आत्मबोध का स्फुरण होता है और चैतन्य-शक्ति क्रमशः ज्ञानराज्य की सृष्टि करके और उसे भेद करके अग्रसर होती है। यह जो शून्यावस्था की बात कही गयी है, वह वस्तुतः शून्य है। इस शून्य में प्रविष्ट होने पर क्रमशः विभिन्न स्तरों से विशिष्ट ज्ञान के राज्य अभिव्यक्त होते हैं। अज्ञान-जगत् को पार किये बिना ज्ञान-जगत् में अग्रसर होने की सम्भावना नहीं होती। चैतन्य-शक्ति की सहायता पाये बिना देह-भेद असम्भव होने के कारण स्व-देह विश्व-देह के रूप में परिणत नहीं हो सकता।

इन्द्रिय के स्तर से हृदयरूपी शून्य में प्रवेश करने के लिए नाना प्रकार के जाल रचित होते हैं। बीच-बीच में ग्रन्थियाँ और घने आवरण दिखलायी देते हैं। निर्दिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके इस विराट् जाल का भेद करना पड़ता है। इसका ही नाम मायाजाल है। मृत्यु के पश्चात् इस जाल का भेदन नहीं किया जा सकता; क्योंकि असाधक और अयोगी के परमाणु कर्म-हीन होने के कारण इस जाल को नहीं देख सकते भेद भी नहीं कर सकते। जाग्रत्-अवस्था में गुरुप्रदत्त काया में कर्म के द्वारा यह जाल-भेद करना पड़ता है। दीक्षा के बाद कुछ भी कर्म न करने पर भी केवल गुरुशक्ति के प्रभाव से ही उसका भेद हो जाता है। गुरुशक्ति का मुख्य कार्य है—जीव को मोह-माया के जाल से उठा कर ज्ञान के राज्य में पहुँचा देना। अज्ञान-राज्य को पार करने के बाद जब शून्य में प्रवेश प्राप्त हो जाता है, तब देखने में आता है कि उसके आवरण-रूप में जो दीवाल खड़ी थी, उसमें असंख्य द्वार अथवा छिद्र वर्तमान हैं। उसके किसी भी मार्गद्वारा इस शून्य में प्रवेश किया जा सकता है। जब शून्य ज्योति से उद्भासित होता है, तब क्रमशः चारों दिशाओं के सहस्रों द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं और ऊपर की ओर एक नया द्वार खुल जाता है। यह द्वार पहले से प्रकाशित नहीं होता। अधोद्वार की क्रिया के रुद्ध हुए बिना इसकी आविर्भूति नहीं होती। इस आभ्यन्तरीण राज्य से ऊर्ध्व-द्वार के द्वारा ही निकला जाता है।

अज्ञान-राज्य बाह्य और ज्ञान का राज्य आभ्यन्तर होता है। देह-भेद के समय क्रमशः इन दोनों राज्यों को भेदन करना पड़ता है। अन्तर्मुखी क्रियाशक्ति ठीक उसी मात्रा में कार्य करती है, जितना उसने बहिर्मुख कार्य किया था। जब अन्तर्गति और बहिर्गति में साम्य हो जाता है, तब उसके साथ-साथ देह-भेद सिद्ध होता है। अन्तर्मुखी क्रिया के प्रभाव से पिण्डगत देह विश्वरूप में परिणत होता है। अतएव यह जो देहभेद की बात कही गयी, इसे विश्व-भेद भी समझना होगा। विश्व-भेद हो जाने पर भी देह सम्पूर्णरूप से अतिक्रान्त नहीं होता; क्योंकि विश्वातीत भाव-राज्य में तब भी प्रवेश प्राप्त नहीं हो पाता। भाव-राज्य में प्रविष्ट होकर उसकी पूर्णता की साधना करके उससे निकल जाना अत्यन्त आवश्यक है। इतना सम्पन्न होने पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति-राज्य एक प्रकार से अतिक्रान्त हो गया। काल-शक्ति, गुरु-शक्ति, इष्ट-शक्ति, आत्म-शक्ति आदि शक्तियों के विभिन्न विकास को क्रमशः भेद करके विशाल जाग्रत्-सत्ता के अन्त में एक ऐसी वस्तु पायी जाती है, जिसके द्वारा सुषुप्ति के राज्य में क्रिया, साधन या संचरण सम्भव हो जाता है।

विश्वातीत भाव-देह के साकार न होते हुए भी साकार, तथा साकार होकर भी निराकार है। भावराज्य के परे हो जाने पर जो भावातीत परमगुह्य सत्ता प्राप्त होती है, वही निज स्व-मन है। इसका जो आकार है, वह पिण्डातीत, विश्वातीत तथा भावातीत होकर भी साकार है। यही निराकार साकार कहलाता है। जिस मनका उल्लेख यहाँ हुआ है, वह भी एक प्रकार से शक्ति-पद का वाच्य है। परंतु इस आकार को शक्ति कहते नहीं बनता। इस अवस्था से परम-पद का पता मिलता है। परम-स्वरूप साकार और निराकार, अथवा सगुण और निर्गुण दोनों के परे होते हुए भी, उभयात्मक है।

क्रियाशक्ति का विकास तथा परमात्मभाव की अभिव्यक्ति एक ही बात है। क्रियाशक्ति का विकास पूर्ण होने पर ज्ञान और क्रिया अभिन्न रूप में प्रकाशित होकर पूर्ण चैतन्य-शक्ति के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस अवस्था में आकर्षण और विकर्षण समान होने के कारण इसको कुम्भक की अवस्था कहते हैं। चैतन्य-शक्ति का विकास होने पर वह इच्छारूप में प्रकट होती है। यह इच्छाशक्ति स्वातन्त्र्यरूपी इच्छा नहीं है, क्योंकि इसका भी विकास होता है। जबतक निजस्व मन अभिव्यक्त नहीं होता, स्वातन्त्र्यरूपी इच्छा का आविर्भाव सम्भव नहीं है। यहाँ जिस इच्छा का उल्लेख किया गया है, वह इच्छाशक्ति शुद्ध इच्छा नहीं है।

भगवत्सत्ता की अभिव्यक्ति के बिना स्वातन्त्र्यरूपी इच्छा मर्त्य-देह में सम्भव नहीं होती; क्योंकि मन मर्त्यदेह के बिना प्रकट नहीं हो सकता। अमरलोक में जो अमरदेह का प्रकाश है, उसमें मरण क्रिया नहीं होती; इसलिये स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति के लिये मर्त्यदेह की आवश्यकता होती है।

बहिर्मुखी शक्ति और अन्तर्मुखी शक्ति के समान होने पर दोनों प्रकार की शक्तियाँ प्रतिबद्ध हो जाती हैं और शून्य का आविर्भाव होता है। यही देह का हृदय विश्वका हृदय है। क्रियाशक्ति के पूर्ण हुए बिना हृदय में स्थिति नहीं होती। क्रियाशक्ति के उन्मेष के साथ-साथ जो अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है, क्रियाशक्ति की पूर्णता होने

पर परमात्मरूप से हृदय में स्थित हो जाने पर वह समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में आकर्षण और विकर्षण की क्रिया नहीं रहती। यही राग-द्वेष से अतीतावस्था है। आत्मा जिस परिमाण में क्रिया-शक्ति का विकास प्राप्त करता है, उसी परिमाण में वह परमात्मा के समीप हो जाता है तथा उसी परिमाण में उसकी योगभूमि उत्कर्ष प्राप्त कर लेती है। क्रियाशक्ति के उन्मेष के पहले योगभूमि की प्राप्ति नहीं होती तथा क्रियाशक्ति की पूर्णता के बाद भी योगभूमि नहीं रहती। बीच में एक-एक करके भूमि का भेद किया जाता है तथा क्रमशः सोपान-परम्परा के समान निम्न से ऊर्ध्वभूमि प्राप्त होती है। योगभूमि का परम उत्कर्ष ही परमात्मभूमि है।

परमात्मा और ईश्वर एक ही आत्मा की दो शक्तियुक्त अवस्थाएँ हैं। बहिर्मुखी मायाशक्ति से युक्त आत्मा ईश्वर है। इसी के ही अंश से विशिष्ट-आत्मा जीव है। माया भेद-शक्ति है। इसी कारण ईश्वर और जीव परस्पर भिन्न हैं। अन्तर्मुखी क्रियाशक्ति का नाम महामाया है। इस शक्ति से विशिष्ट आत्मा ही परमात्मा है। इस महामाया-शक्ति के आंशिक विकास से सम्पन्न आत्मा ही मुक्त-पुरुष है। इस शक्ति से अभेद-ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसी कारण मुक्त और परमपुरुष या परमात्मा परस्पर अभिन्न अर्थात् भेदाभेद-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। जीव ईश्वर का भिन्न अंश है। परंतु मुक्त-पुरुष परमात्मा का अभिन्न अंश है। अतएव मुक्त-पुरुष ही क्रियाशक्ति के विकास के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक योगी हैं। ईश्वर और परमात्मा एक ही वस्तु हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है, अतएव ईश्वर में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति पूर्ण मात्रा में रहती हैं, परन्तु जिस शक्ति का वे प्रयोग करते हैं, अर्थात् वे जिस शक्ति में अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं, वह ज्ञान से विपरीत आवरण-शक्ति तथा क्रिया से विपरीत विक्षेप-शक्ति है। ये दोनों माया या अज्ञानशक्ति के रूप हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। परन्तु अपने स्वरूप में वह अन्तर्मुखी महामाया की शक्ति के द्वारा बहिर्मुखी (माया) शक्ति को निरस्त करके ही बिराजमान रहते हैं। अतएव अन्तर्मुखी शक्ति के दो व्यापार देखने में आते हैं। उनमें एक है—साक्षीरूप में दृष्टि के द्वारा बहिर्मुखी शक्ति को संचालित करना। दूसरा है—बहिर्मुखी शक्ति की क्रिया-निवृत्ति की परावस्था में शून्यमय हृदय-देश में अवस्थान करना।

यद्यपि हृदय में यह स्थिति शाश्वत होती है, तथापि बहिर्मुखी शक्ति को संचालित करने के समय उसका भान नहीं होता। योगी इस अन्तरंगा चित्-शक्ति के द्वारा ही स्वसामर्थ्य के अनुसार माया को वश में कर सकता है। जब माया पूर्णरूप से वशीभूत हो जाती है तो योगी परमात्मरूप में हृदय के शून्य-प्रदेश में अवस्थान करता है। क्रियाशक्ति की पूर्णता के बिना यह अवस्था नहीं आती है। यह व्याप्ति की अवस्था है। आत्मा जब हृदय में प्रवेश करता है, तभी वह साक्षीभाव प्राप्त होने के कारण समस्त जगत् को अर्थात् विश्व को दृश्यरूप में एक साथ देखता है। यही उसका सर्वज्ञत्व अर्थात् सर्व-जगत्-विषयक अपरोक्ष-ज्ञान का विकास है। परन्तु यह ज्ञान अपरोक्ष होते हुए भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि दृश्यों के दृष्ट होने पर भी वे अप्राप्य रहते हैं। क्रिया के बिना, केवल ज्ञान के द्वारा उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ज्ञान के द्वारा जो सूक्ष्मरूप में

दिखलायी देता है, क्रिया के द्वारा वही अपने साथ अभिन्नरूप में प्राप्त हो जाता है। क्रिया के पूर्ण होने पर सारे व्यवधान दूर हो जाते हैं, अतएव उस समय कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जाती, जो अप्राप्य कही जाय। इसी को आत्मा की व्याप्ति या विभुत्व कहते हैं। जब क्रियाशक्ति पूर्ण होती है, तब आत्मा ही परमात्मरूप में सिद्ध होता है। यह केवल सब पदार्थों का द्रष्टा ही नहीं होता, बल्कि प्रति पदार्थ के साथ अभेदभाव-युक्त भी हो जाता है।

हृदयगर्भ से निकलने पर परमात्मा की परावस्था की अभिव्यक्ति होती है। क्रिया-शक्ति के उन्मेष में साथ-साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है, यह बात पहले कही जा चुकी है। जब-तक अज्ञान-राज्य का भेद नहीं किया जाता, तब-तक हृदय में प्रवेश नहीं होता। परन्तु प्रवेश के मार्ग में अवस्थिति होती है। अज्ञान-राज्य को भेद करके जो शून्यावस्था में स्थिति होती है, वही हृदय-प्रवेश कहलाता है। इस अन्तर्मुखी गति के द्वारा अज्ञान की विक्षेप-जनित सृष्टि के ऊपर एक पर्दा पड़ जाता है, यह याद रखना चाहिये। उसके बाद शून्य में रचना-कार्य प्रारम्भ हो जाता है। पूर्व-चित्रों के मिटे बिना नवीन चित्रों को स्थान कहाँ मिल सकता है? पूर्व चित्रों को मिटा डालना ही, हृदय-प्रवेश है। इसके बाद नवीन चित्रों का अङ्कन ही, वस्तुतः हृदय रूपी शून्य में अभिनव-सृष्टि का विकास है। अभिनव-सृष्टि एक प्रकार की देह-सृष्टि के बिना और कुछ नहीं है। यह देह ही विश्व और देही परमात्मा है।

शून्य में सबसे पहले ज्योति का उदय होता है। आकाश में सूर्योदय के पहले जिस प्रकार प्रकाश की किञ्चित् आभा आ जाती है, हृदय में भी उसी प्रकार एक क्षीण प्रकाश की आभा फूट पड़ती है। वह प्रकाश क्रमशः परिस्फुटित होने लगता है। इस प्रकाश की सीमा मण्डलाकार होती है, क्योंकि वह हृदयस्थ शून्य में अभिव्यक्त होता है। धीरे-धीरे इस व्याप्त प्रकाश में घनीभूत-आलोक दृष्टि-गोचर होता है। जलराशि में जिस प्रकार बुद्बुद उठते हैं, वैसा ही यह आलोक भी है। यह घनीभूत आलोक ज्योतिः-स्वरूप होता है, इसी का दूसरा नाम है—कला। यह क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता है। फल यह होता है कि व्यापक प्रकाश के मध्य में स्थित वह ज्योति एक मण्डलकार में परिणत हो जाती है। यह कलाके क्रमिक विकास से ही होता है। मण्डल के पूर्ण होने पर उसमें एक आकार फूट उठता है। यह आकार क्रमशः पूर्ण आकार में परिणत होता है। देह के भीतर जो अवकाश—स्थान है, वह हृदय है। हृदय में आलोक का आविर्भाव और आलोक के बीच घनीभूत आलोक या ज्योति का आविर्भाव तथा क्रमशः ज्योति का मण्डलकार होना, एवं मण्डल में आकृति का आविर्भाव, इस प्रकार क्रमशः आकृति के पूर्णरूप से प्रस्फुटित होने पर उसे रूप कहते हैं। ज्योतिर्मण्डल के मध्य की आकृति के क्रमशः पुष्ट होते-होते हृदय का तेजोमय आलोक और घनीभूत ज्योति इस रूप में परिणत होती है, अर्थात् यह रूप क्रमशः ज्योति और आलोकरूपी हृदय-कोष के समस्त रस को खींच लेता है। यह अवस्था ही परमात्मभाव की पूर्णता है।

इसके पश्चात् हृदय से निर्गम होता है। गर्भस्थ सन्तान के अवयव जब पुष्ट हो जाते हैं, तब वह आकर्षण-शक्ति के प्रभाव से गर्भ से बाहर निकल पड़ता है। उसी

प्रकार परमात्मभाव के पूर्ण होने पर भगवत्कृपा प्राप्त होती है, और ऊर्ध्व-पथ से निकलना होता है। इस बार गठन बहुत कुछ सम्पन्न हो जाता है, परन्तु कुछ अब भी शेष रह जाता है। वह कुछ और ही प्रकार का होता है। मातृ-गर्भ में सन्तान की जो देह-रचना होती है, उसके पूर्ण हुए बिना स्वभावतः मातृ-गर्भ से वह बाहर नहीं निकलता। परन्तु बाहर निकलने के बाद वह बाल्य-आदि विभिन्न अवस्थाओं में विकसित होता है। उसी प्रकार परमात्मभाव के पश्चात् रूप मूर्त-अवस्था को धारण करता है। रूप के विकास की अब आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु मूर्ति का विकाश अवश्य ही होता है। इसकी एक-एक अवस्था का नाम एक-एक वयस् है। बैष्णव लोग बाल्य, पौगण्ड और कैशोर—इन तीन अवस्थाओं को स्वीकार करके षोडश वर्ष में अर्थात् नवयौवन में स्थिति स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यौवन के पश्चात् और विकास नहीं होता, तथा इसका ह्रास भी नहीं होता। बाल्य, पौगण्ड और कैशोर—यह काल होते हुए भी, नित्य हैं; क्योंकि बाल्य-देह नित्य ही बाल्यभावापन्न होता है, यह कभी पौगण्ड-भाव को प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार पौगण्ड भी नित्य ही पौगण्ड रहता है; उसका न कभी बाल्य था, और न कभी कैशोर ही होगा। इस देह का पूर्ण विकास ही सोलह कला का विकास है। वस्तुतः प्रत्येक कला में ही यह नित्य रहता है। अतः यह भगवत्स्वरूप ही नित्य-षोडशी है। कहना न होगा कि इसको भी अतिक्रमण करना होता है, अन्यथा सप्तदशी में जाने का कोई उपाय नहीं है।

परमात्मभाव-पर्यन्त भीतर-बाहर भेद रहता है। भीतर का राज्य जैसे-जैसे विकास को प्राप्त होता है, ठीक उसी परिमाण में बाहर का राज्य उसके अधीन हो जाता है। अन्तर के राज्य की पूर्ण परिणति तभी होती है, जब बाहर का राज्य उसके अन्तर्गत हो जाता है; साथ-ही-साथ एक परा-अवस्था का उदय होता है। तब अन्तर और बाहर समान हो जाते हैं अर्थात् बाहर अन्तर् के अन्तर्गत हो जाता है। परिणाम-स्वरूप बाहर और अन्तर की विरुद्ध-क्रिया शान्त हो जाती है। वस्तुतः तब दोनों मिलकर एक ही राज्य में प्रतिष्ठित होते हैं। यह राज्य समस्त विश्व के हृदय रूपी शून्य में प्रतिष्ठित है। बाह्य और आभ्यन्तर का आकर्षण परस्पर समान होने पर इस अवस्था का उदय होता है। इस अवस्था में योगी समस्त जगत् के केन्द्र-बिन्दु में प्रतिष्ठित होता है। उसके साथ किसी वस्तु का साक्षात् स्पर्श नहीं रहता। अतएव इस प्रकार का योगी सारी वस्तुओं के साथ अस्पर्श-योग से युक्त होता है।

क्रिया-शक्ति के क्रम-विकास के समय चित्-कला-सम्पन्न योगी अपने को परमात्मा का उपासक तथा परमात्मा को अपना उपास्य जानकर, क्रमशः उपासना के गाढतर होने पर कला-वृद्धि के प्रभाव से अपने को परमात्मा का अधिकतर निकटवर्ती जानता है। यह उपासना हृदय के आभ्यन्तर परमात्म-साक्षात्कार-मूलक उपासना है।

शान्त-ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित होकर क्रमशः ब्रह्मोपासना में तत्पर होना पड़ता है। ब्रह्म में स्थित हुए बिना ब्रह्मोपासना नहीं होती, तथा ब्रह्मोपासना के बिना ब्रह्म में स्थिति भी नहीं होती। परन्तु दोनों स्थितियों में भेद है।

जब व्यापक अनन्त अपरिच्छिन्न महासत्ता में माया और विकल्प की निवृत्ति

के साथ-साथ साक्षिभाव का उदय होता है, तब वह असीम सत्ता मानों वेष्टन के आकार में प्रकाशित होती है। ज्ञान-शक्ति के उन्मेष के साथ-ही-साथ ऐसा होता है।

ज्ञानशक्ति का उन्मेष हुए बिना यह असीम सत्ता स्थिति-रूप में रह जाती है। इस अवस्था में साक्षिभाव रहता है, यह कहते नहीं बनता। परन्तु सत्ता स्वयं प्रकाशित होती है, अतएव उसे साक्षिभाव न कहने में भी कोई विशेष क्षति नहीं होती। साक्षिभाव कैसा होता है, इस विषय में एक दृष्टान्त देता हूँ—अनन्त विस्तीर्ण महासमुद्र के ऊपर भासमान एक जहाज पर खड़े होकर पर्यवेक्षण करने पर चारों ओर एक विशाल जलमय गोल दृश्य दिखलायी देता है। इस स्थिति में चारों दिशाओं के गोल का अखण्ड-मण्डल द्रष्टा का दृश्य बन जाता है, और जो इसको देखता है, वह इसका द्रष्टा या साक्षी होता है। साक्षी की दृष्टि राग-द्वेषरहित होने के कारण चारों ओर समभाव से प्रसारित होती है, इसी कारण यह मण्डलाकार में व्याप्त होती है। अपरिच्छिन्न ब्रह्म-सत्ता में साक्षिभाव के आभास में एक गोलाकार वेष्टन आविर्भूत होता है। इस वेष्टन के बाहर भी अपरिच्छिन्न सत्ता ही रहती है, इसमें संदेह नहीं; परन्तु वह अव्यक्त होती है। जो कुछ साक्षी के आलोक में आलोकित होता है, उतना व्यक्त है। यह वेष्टन वस्तुतः प्रसारित दृष्टि का विस्तार-क्षेत्र होता है।

ब्रह्म निराकार है। विदेह-अवस्था की निराकार-सत्ता में वेष्टन नहीं रहता। शक्ति की क्रिया न होने पर वेष्टन नहीं होता, उसका होना ही सम्भव नहीं है। शक्ति की क्रिया होने में देह का सम्बन्ध आवश्यक है। अतएव याद रखना होगा कि यह जो साक्षिभाव की बात कही गयी है, वह देहयुक्त-अवस्था में ही हो सकती है। देह न रहने पर साक्षी कहाँ और मण्डल कहाँ? माया की निवृत्ति होने से पहले जीव का देह से सम्बन्ध रहता है, परन्तु इस अवस्था में लिप्तता या भोग-भाव रहने के कारण साक्षि-भाव नहीं रहता। वस्तुतः यह मण्डलावच्छिन्न आकाश ही हृदयाकाश है। जब-तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, देह के साथ तादात्म्य-बोध रहता है; अतएव उस समय हृदयाकाश में इस प्रकार की निर्लिप्त-स्थिति समझ में नहीं आती। देह के साथ अभेदभाव रहने के कारण भेद-ज्ञान का उदय होता है। आत्म-विस्मृति के कारण देह के साथ तादात्म्य उत्पन्न होता है, और उस तादात्म्य के कारण भेद-ज्ञान के मूल में बाह्य-सृष्टि का उदय होता है। परंतु निर्मल हृदयाकाश में आत्मा की उपलब्धि कर सकने पर देह के साथ तादाम्य अथवा अभेद-भाव नहीं रहता, और आत्मा की असङ्गता स्फुटित हो उठती है, तब साक्षिभाव का उदय होता है। यद्यपि तब देहाभिमान नहीं रहता, फिर भी देह के साथ योग रहने के कारण साक्षिभाव प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञानशक्ति की क्रियाशील अवस्था है, अतएव शक्तिहीन अवस्था नहीं है। अज्ञान-निवृत्ति के साथ-साथ शक्तिहीन अवस्था की स्थिति में देह-सत्ता को लेकर बने रहना सम्भव नहीं, अतएव यथार्थ निर्विकल्प-समाधि का उदय होने पर देह भग्न हो जाता है।

यह हृदयाकाश ही पूर्ववर्णित साक्षी के द्वारा परिदृष्ट मण्डल है। जीव इसको नहीं देख पाता, इसे देखता है—मुक्त-पुरुष। जब तक कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान गलित नहीं हो जाता, अर्थात् बन्धन कट नहीं जाता; इस मण्डल का दर्शन नहीं होता।

शक्ति के उन्मेष से परमात्मा का ज्योतिर्मय राज्य ब्रह्मसत्ता के ऊपर स्तर-स्तर में गठित होने लगता है। शक्ति का प्रथम उन्मेष ज्ञानशक्ति के रूप में होता है, यह जान लेना चाहिये। ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति का स्वरूपतः अभेद रहने पर भी, विकास के पथ में गुण-प्रधान भाव के अनुसार प्रत्येक का पार्थक्य निर्दिष्ट होता है। ज्ञानशक्ति के उन्मेष और विकास के सिद्ध होने पर, क्रिया-प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव क्रमशः सम्भव होता है। क्रिया-प्रभृति शक्तियों की अभिव्यक्ति के बिना ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति पूर्णता को प्राप्त नहीं होती। उसी प्रकार ज्ञानादि शक्ति के प्रकाश के बिना क्रिया-प्रभृति शक्तियों की अभिव्यक्ति भी पूर्ण नहीं होती। जब कोई एक शक्ति पूर्णरूप में अभिव्यक्त होती है, तब अन्यान्य शक्तियों की अभि-व्यक्ति भी पूर्णरूप से होने लगती है। शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति भी सामान्य और विशेष—दो दिशाओं में होती है। सामान्य अभिव्यक्ति हुए बिना विशेष अभिव्यक्ति नहीं होती। ज्ञानशक्ति का प्रथम आविर्भाव सामान्य रूप में ही होता है, उसके विशेष आविर्भाव के लिये क्रिया-प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव आवश्यक है।

सामान्यतः ज्ञानशक्ति का आविर्भाव ही साक्षि-भाव का स्फुरण है। देह के बिना शक्ति का स्फुरण नहीं हो सकता। अतएव साक्षि-भाव का आविर्भाव देहावस्था में ही सम्पन्न होता है। जिनके ज्ञान का उदय होता है, परंतु ज्ञानशक्ति का उदय नहीं होता, उनका ज्ञान-प्राप्ति के साथ-साथ देह-पात अवश्यम्भावी है। ज्ञान के उदय से अज्ञान की निवृत्ति होती है और अज्ञान-निवृत्ति के साथ-साथ देह स्खलित होता है। इनके ज्ञानोदय के कारण साक्षि-भाव की प्राप्ति नहीं होती। साथ-ही-साथ विदेह-कैवल्य आ उपस्थित होता है। इस प्रकार का ज्ञान जीवन्मुक्ति का साधक नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान माया का कार्य होता है—केवल अन्तःकरण का धर्म होता है। अज्ञान भी वही वस्तु है, दोनों जड-शक्ति है। यद्यपि ज्ञान और अज्ञान में विभेद होता है। सत्त्व-गुण के प्राधान्य से ज्ञान का उदय होता और अज्ञान का मूल है—रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता। तमोगुण से विक्षेप उत्पन्न होता है। ज्ञान के मूलस्वरूप सत्त्वगुण का जब सम्यक्-विकास होता है, तब आवरण की निवृत्ति के साथ-साथ विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है। संचित कर्मो के साथ-साथ प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता है और साथ ही देह-पात भी हो जाता है। परंतु यदि सत्त्वगुण के एक अंश में और दूसरे अंश में विकासगत व्यवधान रहता है, तो आवरण के निवृत्त होने पर भी, विक्षेप की निवृत्ति अवशिष्ट रह सकती है। ऐसी अवस्था में विक्षेप-निवृत्ति भोग के द्वारा सम्पन्न करनी पड़ती है। आवरण-निवर्त्तक ज्ञान की सहायता से विक्षेप-निवृत्ति नहीं होती। वास्तव में तो जानना चाहिये कि इस अवस्था में आवरण-निवृत्ति भी नहीं होती, क्योंकि ऐसा होने पर भोक्तृभाव भी नहीं रहता। भोक्ता का भोगायतन देह भी नहीं रहता, तथा इस देह के द्वारा भोग भी सिद्ध नहीं होता। इस अवस्था में आवरण का सम्यक्-अभाव होने के कारण ठीक-ठीक साक्षिभाव का उदय नहीं हो सकता। जो होता है, वह आभासमात्र है; वास्तविक साक्षिभाव नहीं। कहना न होगा कि देह के होने पर अभ्यास भी सम्भव

है। जब आवरण पूर्णतः दूर हो जाता है, तब अविद्या का लेश भी नहीं रहता। अतएव देह भी नहीं रहता। इसलिये भोक्ता, भोग्य और भोग कुछ भी नहीं रहते। यही कैवल्य अवस्था है, जिसे लौकिक व्यवहार में जीवन्मुक्ति कहते हैं, वह साक्षी का आभास पाकर ही सम्भव होता है।

महामाया-शक्ति के उन्मेष के बिना वास्तविक साक्षिभाव कहाँ ? महामाया ही चित्-शक्ति है। ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति और चित्-शक्ति महामाया के ही प्रकार-भेद हैं।

जो लोग अणुरूपी जीव की सत्ता नहीं मानते, उनके लिये विभुरूपी शिव की सत्ता भी स्वीकार्य नहीं। चिद्-अणु के मानने पर माया-निवृत्ति के बाद भी, ब्रह्मस्वरूप में साक्षिभाव से उसकी स्थिति सम्भव है। ऐसा न होने पर ब्रह्म-स्वरूप में उसे ढूँढ़ पाने का कोई उपाय नहीं है। वस्तुतः यह चिद्-अणु चित्-शक्ति के ही ज्ञानशक्ति-रूप अंश से विशिष्ट आत्मा है। इसकी स्थिति ही साक्षिभाव है, परन्तु इस साक्षिभाव की प्राप्ति के साथ क्रियाशक्ति का विकास होते रहने पर चिद्-अणु मुक्त पुरुष के रूप में अर्थात् परमात्मा के अभिन्न अंश के रूप में हृदय में स्थित होता है। यह देहावस्था के रहते हुए ही होता है। विश्व को भेद करना मुक्त पुरुष का ही कार्य है। परन्तु विश्व-भेद करने के लिये पुरुष को सर्वप्रथम अपना देह-भेद करना पड़ता है। वस्तुतः यह देहभेद ही विश्व-भेद है। जो साक्षी नहीं अर्थात् जो देहाभिमानी है, और भोक्ता है; वह देह-भेद नहीं कर सकता—वह बद्ध है। जो अभिमान-हीन और चेतन हैं, जो देह-सम्बन्धविशिष्ट हैं, वे ही परमात्मा के अंशभूत द्रष्टा के रूप में देहमें रहकर भी, देहस्थ शून्य में अर्थात् हृदयाकाश में असङ्ग रूप में अवस्थान करते हैं। क्रियाशक्ति के विकास के साथ-साथ अन्तर्यामित्व प्राप्त करते हैं अर्थात् एक-एक करके योग में उन्नति प्राप्त करते हैं।

क्रियाशक्ति के उन्मेष के साथ-साथ उपासना का सूत्रपात होता है, क्रियाशक्ति के पूर्ण विकास में ही उपासना की समाप्ति होता है। उपासना ही योग है। योग शब्द से ज्ञात होता है कि दो वस्तुएँ सम-भावापन्न हुईं। इन दो वस्तुओं में एक मुक्त पुरुष है, जिसमें क्रियाशक्ति का प्रथम उन्मेष हुआ है और दूसरी वस्तु है—परम-पुरुष; जिसमें क्रिया-शक्ति का विकास समाप्त हो गया है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का मिलन ही योग कहलाता है। जिस मात्रा में क्रिया-शक्ति का विकास होता है, ठीक उसी मात्रा में योग स्थापित होता है। योगावस्था में जीवात्मा में क्रमशः परमात्मभाव जागने लगता है। जीवात्मा जब अपने को परमात्मरूप में उपलब्ध करता है, तभी योग पूर्ण होता है, यह याद रखना चाहिये। पूर्णयोग ही परमात्माका सायुज्य है। क्रिया-शक्ति का उन्मेष होने के साथ-साथ बाहर से शक्ति लेनी पड़ती है, तथा उसके फलस्वरूप बाहर का आकर्षण क्रमशः कम होता जाता है। बाहर से बाह्य-जगत् का सारभूत-रस क्रिया-शक्ति के प्रभाव से साक्षिस्वरूप मुक्त आत्मा को प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप पहले ज्योतिरूप में और उसके पश्चात् ज्योति के मध्य-स्थित आकृति के रूप में रचना होती रहती है। यह रूप की ही रचना है, जो ज्योति की घनीभूत अवस्था है। यह रूप जैसे-जैसे पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे चारों ओर की ज्योति को आकर्षित

कर लेता है। कहना न होगा कि यह ज्योति कर्म-शक्ति का ही सार अंश है। कर्म का आकर्षण पूर्णरूप से सिद्ध होने पर बाहर के साथ सम्बन्ध नहीं रह जाता। अन्तिम अवस्था में भीतर में भी ज्योति पूर्ण हो जाती है। फलतः उस समय रूपका पूर्ण विकास होता है। तब फिर वह ज्योतिर्मण्डल के बीच का रूप नहीं, बल्कि शुद्ध रूप होता है। इस अवस्था में हृदय के असंख्य द्वार रुद्ध हो जाते हैं तथा साथ-साथ ऊर्ध्वमुख एक द्वार उन्मुक्त हो जाता है। हृदय के समस्त द्वारों को बंद कर ऊर्ध्वमार्ग से इस द्वार का छेदन करके निकलने पर मूर्ति आविर्भूत होती है। रूप तबतक मूर्त्त रूप में परिणत नहीं होता, जबतक वह हृदय से ऊर्ध्वमुख होकर नहीं निकलता। यही एकाग्रता का फल है।

पहले जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझ में आ जायगा कि भीतर और बाहर से आकर्षण और विकर्षण समान रूप में न होने पर, अबाधित रूप में एकाकी नौका स्रोत में नहीं बह सकती। योग की धारा अन्तर्मुखी होती है। इसका कार्य तबतक आवश्यक है, जबतक बहिर्मुखी धारा को वशीभूत करके साम्य प्रतिष्ठित नहीं होता। साम्यभाव आने पर एक ओर जिस प्रकार बाह्य नहीं रहता, दूसरी ओर उसी प्रकार भीतर भी नहीं रहता। रूपका गठन पूर्ण हो जानेपर फिर बाहर से कर्मशक्ति का उपार्जित रस आवश्यक नहीं होता। इसी कारण तब पूर्व-पथ या नाना-मार्ग, जिसके द्वारा बाह्य-जगत् के साथ सम्बन्ध चलता था, वह रुद्ध हो जाता है। रूप के पूर्ण होनेपर फिर रूप नहीं रह जाता। तब रूप-भेद होकर मूर्ति का आविर्भाव होता है। मूर्ति से सब गुणों का विकास होता है। परंतु रूप में केवल एक ही गुण होता है। इसी कारण रूप एकेन्द्रिय-ग्राह्य होता है, परंतु मूर्ति सर्वेन्द्रिय-गोचर होती है।

रूपसे मूर्ति-पर्यन्त अवस्था की प्राप्ति दूसरे शब्दों में परमात्मा से भगवद्भाव-तक की प्राप्ति ही है। अब मूर्ति-रहस्य के सम्बन्ध में आपाततः कुछ न कहकर रूप के विकास के सम्बन्ध में कुछ आलोचना की जाती है। गुरुभक्ति के उन्मेष के बाद निरन्तर जो धारा उठती है, उसे बिन्दु, प्राण और मन—इनकी सम्मिलित धारा ही जाननी चाहिये। गुरुशक्ति अभिन्न और अभिन्नता की साधक है। भेद में अभेद की प्रतिष्ठा इसी के द्वारा होती है। बिन्दु, प्राण और मन भिन्न हैं, और भिन्न धारा में प्रवाहित होते हैं, तो भी गुरुशक्ति के प्रभाव से क्रमशः इनका भेद तिरोहित हो जाता है और ये तीनों धाराएँ क्रमशः मिलकर एक अभिन्न-धारा में परिणत हो जाती हैं।

बिन्दु स्वभावतः साधारण रूप में भी निरन्तर क्षरण-शील होता है। इसी कारण यह अक्षर को प्राप्त नहीं हो सकता। बिन्दु क्षरित होकर खण्ड-खण्ड वर्णरूप में प्रकट होता रहता है। परन्तु ये सारे वर्ण परस्पर मिलकर एक आकार को प्राप्त नहीं होते। वर्णों के संयोग-वियोग से ही पद, वाक्य और भाषा की उत्पत्ति होती है। यदि नाना वर्ण विलीन होकर एक रूप ग्रहण कर लें, तो उनसे पद-वाक्यादि कुछ भी नहीं बन सकते। तब जो कुछ रहेगा, वह ऊर्ध्व-प्रवाहशील नादरूपी शब्द होगा। वर्णसमूह से हमारे व्यावहारिक विकल्प-ज्ञानका उदय होता है। अतएव नाद-भाव की अभिव्यक्ति के साथ-साथ ही परमार्थ-ज्ञानका मार्ग खुल जाता है। गुरुशक्ति के उन्मेष के पश्चात्

नाद-विकास के समय यह ऊर्ध्वगति लक्षित होती है, यही यथार्थ ब्रह्मचर्य है। इस अवस्था में गुरु-शक्ति अन्तःसलिला फल्गु के समान कार्य करती है। यही अक्षरभाव की प्राप्ति की धारा है, बाहर के आपाततः प्रतीयमान क्षरण के होते हुए भी, भीतर का अक्षर-भाव क्रमशः अधिकतर स्पष्ट हो उठता है। प्राण की श्वासरूपी धारा की भी यही बात है। गुरुशक्ति की प्राप्ति के पहले श्वास निरन्तर खण्डित होता है। परन्तु गुरुशक्ति की प्राप्ति के बाद इसमें अविच्छिन्नता आ जाती है; क्योंकि बाह्य-दृष्टि से श्वास की अन्तर्गति और बाह्यगति के होते हुए भी, दोनों एक ही धारा के रूप में उपलब्ध होते हैं। यह उपलब्धि क्रमशः व्यापक रूप में परिणत होती है और गति की अविच्छिन्नता सिद्ध हो जाने के बाद वक्रता भी निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार सरल-गति की प्राप्ति के साथ-साथ बिन्दु और ब्रह्म का भेद मिट जाता है।

ठीक यही बात मन के संकल्प-विकल्प के विषय में भी समझनी चाहिये। साधारण मन में विकल्प के द्वारा संकल्प कट जाता है; परन्तु गुरु-शक्ति की प्राप्ति के बाद सत्य-संकल्प की अवस्था क्रमशः अभिव्यक्त होती है। तब आपाततः संकल्प-विकल्प के होते हुए भी, वस्तुतः उस संकल्प-विकल्प के भीतर भी अविच्छिन्न संकल्प का भाव ही जाग्रत् रहता है। इस प्रकार रूप का विकास अविच्छिन्न धारा के द्वारा ही होता रहता है तथा रूप की क्रम-परिणत अवस्था ही मूर्ति है।

इस विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे अद्वय-तत्त्व के प्रकार-भेद के सम्बन्ध में कुछ धारणा उत्पन्न हो सकती है। श्रीमद्भागवत में अत्यन्त संक्षेप में ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् के सम्बन्ध में जो निर्देश किया गया है, उसका अवलम्बन करके आचार्यगण अपनी-अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का विश्लेषण करते हुए अनेक प्रकार की आलोचना कर गये हैं। श्रीरूपगोस्वामी ने 'लघु भागवतामृत' प्रभृति ग्रन्थों में, जीवगोस्वामी ने 'षट्संदर्भ' में, सनातनगोस्वामी ने 'बृहद् भागवतामृत' में, कविवर कृष्णदास ने 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में तथा विभिन्न आचार्यों ने भागवत की टीका प्रभृति में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इस विषय में बहुत आलोचना की है। 'लघुब्रह्मसंहिता' में भी इसका किंचित् आभास मिलता है। महाप्रभु के समकालीन शुद्धाद्वतसम्प्रदाय-प्रवर्त्तक श्रीमान् वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्म और भगवान् के सम्बन्ध में तदनुरूप ही आलोचना की है। कबीर-प्रभृति संतों में भी कुछ अंशों में इस प्रकार का मत प्रचलित था; क्योंकि उनके मत से जीव कैवल्य-देह की प्राप्ति के बाद जब तक हंस-देह प्राप्त नहीं करता, अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। परमपुरुष तत्त्वातीत हैं। वह चिदात्मक ब्रह्मभूत कैवल्य-स्वरूप के भी परे हैं।

इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार करने के लिये यहाँ स्थान नहीं है। मैंने गुरु-परम्परा के क्रम से प्राप्त इस जटिल रहस्यको अपनी निजी अनुभूति के आलोक में जिस प्रकार समाधान किया है, उसका ही यहाँ आभासमात्र देने की चेष्टा की गयी है।

शक्ति-साधना

जो विचारशील है तथा साधन-राज्य में प्रविष्ट है, वे जानते हैं कि साधना-मात्र ही शक्ति की आराधना है। किसी भी मनुष्य की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख चाहे कैसा भी आदर्श लक्ष्यरूपमें प्रतिष्ठित क्यों न हो, यदि वह शक्ति संचय करते हुए अपनी दुर्बलता का परिहार न कर सके तो सम्यक्-रूप से उस आदर्श की उपलब्धि कर उसे आत्मस्वरूप में परिणत करने में वह समर्थ न होगा। समस्त सिद्धियाँ शक्ति-सापेक्ष हैं। अतएव साधक को चाहे जैसी सिद्धि अभीष्ट हो, उसका आत्मशक्ति के अनुशीलन बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य अथवा अन्य किसी भी देवता की उपासना मूलतः शक्ति की ही उपासना है। इस प्रकार से वैष्णवादि समस्त सम्प्रदायों की सारी साधनायें शक्ति-साधना के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त साक्षात् भावसे भी शक्तिकी साधना हो सकती है। हम यहाँ इस साक्षात् शक्ति-साधना के सम्बन्ध में ही संक्षेप में कुछ आलोचना करेंगे।

हम इन्द्रिय-द्वार में रूप-रसादि जिस पाञ्च-भौतिक स्थूल-जगत् का अनुभव करते हैं, वह इन्द्रियों की उपशान्त अवस्था में तद्रूप में वर्तमान नहीं रहता। वस्तुतः एक तरह से बाह्य-जगत् इन्द्रियों का ही बहिर्विलासमात्र है। चक्षु से ही रूपका विकास होता है, तथा चक्षु ही पुनः उस रूप का दर्शन करता है। समष्टि-चक्षु रूप का स्रष्टा है और व्यष्टि-चक्षु उसका भोक्ता है। इसी प्रकार अन्याय इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अतएव समष्टिभावापन्न पञ्चेन्द्रिय से भौतिक जगत् का विकास होता है तथा व्यष्टिगत पञ्चेन्द्रिय उस जगत् का सम्भोग करती है। इन्द्रियों का प्रत्याहार करके मूल-स्थान में लीन कर सकने से एक ओर जहाँ बाह्य-जगत् का लोप हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर इन्द्रियों के अभाव के कारण उनकी सम्भोग-सम्भावना भी निवृत्त हो जाती है। यदि पहले से ही चित्त-क्षेत्र में ज्ञान का सञ्चार हो, तो इस अवस्था में विशुद्ध अन्तःकरण का आविर्भाव होता है; तथा साथ-ही-साथ अन्तर्जगत् का स्फुरण होता है। बाह्य-जगत् की भाँति अन्तर्जगत् में भी समष्टिभूत अन्तःकरण स्रष्टा है, तथा व्यष्टि-अन्तःकरण भी निरुद्धवृत्तिक-अवस्था को प्राप्त होनेपर अन्तर्जगत् का लोप हो जाता है। तब अतिवाहिक जगत् का कोई भोक्ता भी नहीं रह जाता। इसके पश्चात् जीव शुद्ध कारण-भूमि में स्थान पाता है। तब समष्टिकारण-विन्दुका स्फुरणात्मक कारण-जगत् ही दृश्य होता है और व्यष्टि कारण-विन्दु तदात्मकभाव में उस दृश्यका दर्शन करता है। सौभाग्यवश यदि कोई भाग्यवान् जीव इस मूल-ग्रन्थि को भेद कर पाता है, तो वह मूल-अविद्या के विलास-स्वरूप इस मिथ्या प्रपञ्च के पाश-जाल से सदा के लिए छुटकारा पा जाता है।

उपर्युक्त आलोचना से यह प्रतीत होता है कि स्थूल सूक्ष्म और कारण जगत् तदनुरूप शक्ति के ही विकासमात्र हैं। शक्ति के इन तीन विभागों अर्थात् आत्मा, देवता तथा भूत रूप में शक्ति की तीन प्रकार की अवस्थिति का अनुसरण करते हुए, उसका परिणामस्वरूप जगत् भी कारणादि त्रिविध रूपों में प्रकट होता है। शक्ति के बहिर्मुख होकर घनीभाव तथा स्थूलतत्त्व को प्राप्त करने पर एक ओर जहाँ भौतिक तत्त्वों का आविर्भाव होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार वह क्रमशः विरल होते-होते अन्तःसंकोच-अवस्था को प्राप्त कर 'आत्मा' अथवा 'बिन्दु' पद के वाच्य हो जाती है। अतएव तथा-कथित आत्मा, देवता और भूत एक ही आद्या-शक्तिकी त्रिविध अवस्थामात्र है। वैसे ही कारण, लिंग तथा स्थूल—यह त्रिविध जगत् भी एक ही मूल सत्ता के तीन प्रकार के परिणाम के सिवा और कुछ नहीं है। शक्ति के साथ सत्ता का क्या सम्बन्ध है, सम्प्रति हम उसकी आलोचना नहीं करेंगे। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि दोनों के वैषम्य से ही जगत् की सृष्टि तथा सम्भोग अर्थात् ईश्वरभाव और जीवभाव का उन्मेष होता है। किन्तु जब साम्य अवस्था का उदय होता है, तब एक ओर जहाँ जीव और ईश्वर का पारस्परिक भेद तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर सृष्टि और दृष्टि एकार्थबोधक व्यापार हो जाते हैं। तब भूमि-भेद के अनुसार साम्यकी उपलब्धि होते-होते, त्रिविध साम्य के बाद स्वाभाविक नियम से परमाद्वैत अथवा महासाम्य का आविर्भाव होता है। जो शक्ति और सत्ता स्थूलभूमि में आत्म-प्रकाश किये हुए हैं, उनका साम्य ही प्रथम साम्य है। उसी प्रकार सूक्ष्म और कारण-जगत् के सम्पर्क में रहनेवाली शक्ति और सत्ता का साम्य क्रमशः द्वितीय और तृतीय साम्य के नाम से पुकारा जाता है। यह त्रिविध साम्य पारस्परिक भेद का परिहार कर जिस महासाम्य में एकत्व लाभ करता है, वही परमाद्वैत या ब्रह्मतत्त्व है। महाशक्ति के उद्बोधन के बिना इस अद्वैत-तत्त्व में स्थिति लाभ करना तो दूर रहा, प्रवेशाधिकार पाने की भी सम्भावना नहीं है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भूमि-भेद से प्रत्येक स्तर में शक्ति के उद्बोधनकी आवश्यकता है। नहीं तो तत्तत् भूमि की सत्ता अचेतन भाव को त्यागकर स्वयं-प्रकाश चैतन्य के साथ एकीभूत नहीं हो सकती; क्योंकि अनुद्बुद्ध-शक्ति सत्ता की प्रकाशक नहीं होती और अप्रकाशमान सत्ता कभी चिद्भावापन्न नहीं हो सकती। यह असत्कल्प एवं जडता का ही नामान्तरमात्र होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से समझा जा सकता है कि शक्तिकी आराधना के बिना एक ओर जिस प्रकार स्थूल भाव को आयत्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दूसरी ओर आत्मसत्ता की भी उपलब्धि नहीं हो सकती। पृथ्वी में जितने प्रकार के धर्म-सम्प्रदाय है, जान में हो या अनजान में अथवा साक्षात्‌रूप से हो या पारम्परिक भाव से हो, शक्ति की आराधना किये बिना किसी का काम नहीं चलता।

यह अनन्त वैचित्र्यमय विश्व, जिसे हम निरन्तर नाना प्रकार से अनुभव करते हैं, वस्तुतः वह शक्ति के आत्मप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुसूक्ष्म कारण जगत्, लिंगात्मक सूक्ष्म-जगत् और इन्द्रियगोचर स्थूल-जगत्, शक्ति के ही विभिन्न विकासमात्र है। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण-सत्ता पारमार्थिक रूप

में वर्तमान है, वही शक्ति का परम-रूप है। विशुद्ध चैतन्य के नाम से वर्णन करने पर भी इसका ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता, सच्चिदानन्द शब्द से वर्णन करने पर भी, इसका ठीक-ठीक निर्देश नहीं किया जा सकता। इस वाणी और मन के अगोचर अनिर्देश्य अवर्णनीय परमार्थ-सत्ता को ही शास्त्र में 'परम पद' कहा गया है। यह सत् है या असत्—यह विषय लौकिक विचार के विषयीभूत होने पर भी विचार-दृष्टि से देखने पर आलोचना-प्रसङ्ग से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें प्रकाश और विमर्श—ये दोनों अंश अविनाभूत रूप में वर्तमान हैं। प्रकाश के बिना जिस प्रकार विमर्श असम्भव है, उसी प्रकार विमर्श को त्याग कर प्रकाश की स्थिति भी सम्भव नहीं है। यह शिव-शक्ति-स्वरूप प्रकाश और विमर्श का नित्य सम्बन्ध ही, चैतन्यरूप से महापुरुषों की अनुभूति में आता है; तथा शास्त्रों में प्रचारित होता है। परन्तु चैतन्य होने पर भी वह प्रकाश और विमर्श की साम्यावस्था में अव्यक्त ही रह जाता है। इसी अवस्था का दूसरा नाम 'परम-पद' है, इसमें सन्देह नहीं। इस साम्यावस्था में महाशक्ति स्वरूपा अनादि-शक्ति, परम-शिव के साथ सामरस्य-भावापन्न होकर अद्वयरूप में विराजमान रहती है। स्वरूप-दृष्टि से इस अवस्था को एक प्रकार से परब्रह्म-भाव का ही नामान्तर कहा जा सकता है, परन्तु इसमें इसके स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य के नित्य वर्तमान रहने के कारण यह ब्रह्मतत्त्व से विलक्षण ही है। महाशक्ति स्वरूप इस परमपद की जो बात यहाँ कही गयी है, उससे कोई भ्रमवश यह न समझे कि यही निष्कल अथवा पूर्णकल परमेश्वर है। क्योंकि निष्कल, निष्कल-सकल तथा सकल—ये विश्व की ही तीन अवस्थाएँ हैं। परन्तु महाशक्ति सर्वातीत होने के कारण विश्वातीत परम-पद से इसी के स्वातन्त्र्य-स्वरूप आत्मविलास से नित्य साम्य के भग्न न होते हुए भी, एक प्रकार की भग्नवत् अवस्था का उद्भव होता है; तथा इस वैषम्य के फलस्वरूप गुण-प्रधान भाव में छत्तीस तत्त्व से समन्वित विश्व का आविर्भाव होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अखण्ड परमार्थस्वरूप शिव शक्ति से अभिन्न रूप होते हुए भी, स्वातन्त्र्यजनित विक्षोभ के कारण उसके द्वारा अथवा उसी में भेदमय विश्वप्रपञ्च का उदय होता है। अतएव त्रिविधविभागविशिष्ट समस्त विश्व मूलतः शक्ति का ही विकास है, यह सुनिश्चित है।

जब वह पराशक्ति आत्मगर्भस्थ एवं अपने साथ एकीभूत विश्व को अर्थात् प्रकाश को देखने के लिए उन्मुख होती है, तब मात्रावच्छिन्न शक्ति और शिव साम्य-भावापन्न होकर एक बिन्दुरूप में परिणत होते हैं, जिससे पारमार्थिक चैतन्य प्रतिफलित होकर ज्योतिर्लिंगरूप में प्रकटित होता है। यही बिन्दु तान्त्रिक-परिभाषा में 'कामरूपपीठ' के नाम से प्रसिद्ध है। पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य स्वयम्भूलिङ्ग के नाम से परिचित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह शक्तिपीठ एक मात्रा शक्ति-अंश और एक मात्रा शिवांश को समभाव में लेकर संघटित होती है। शक्ति और शिव के इस अंशद्वय को शान्ता-शक्ति और अम्बिका-शक्ति के नाम से आचार्यगण वर्णन करते हैं। इस पीठ में महाशक्ति का आत्मप्रकाश परावाक्-रूप में प्रख्यात है। जिन्होंने तन्त्रानुमोदित योग-साधना का यथाविधि अभ्यास किया है, वे जानते हैं कि यहीं से शब्द-राज्य की सूचना

होती है। यही प्रणव का परमरूप अथवा वेद का स्वरूप है। इसके पश्चात् शक्ति के क्रमिक विकास के होते-होते शान्ता-शक्ति 'इच्छा' रूप में परिणत होती है, तथा शिवांश अम्बिका-शक्ति भी 'वामा' रूप में आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियों के पारस्परिक वैषम्य का परिहार होने पर, जिस अद्वय सामरस्यमय बिन्दु का आविर्भाव होता है, उससे तदनुरूप चैतन्य का स्फुरण होता है। इस बिन्दु को 'पूर्णगिरिपीठ' एवं इस चिद्विकास को बाणलिंग के नाम से समझना चाहिये। शास्त्रीय दृष्टि से यह 'पश्यन्ती-वाक्' की अवस्था है। पराशक्ति शब्द की प्रथम-भूमि में अथवा कामरूप पीठ में आत्मगर्भस्थ विश्व को नित्य वर्तमानरूप में देखती है। यहाँ अतीत और अनागतरूप खण्डकाल की सत्ता नहीं है, तथा दूर और निकट का व्यवधान भी नहीं है। कार्य और कारण का कठोर नियम यहाँ अपरिज्ञात है। इस नित्य मण्डल में किसी प्रकार का आवरण नहीं है और न किसी प्रकार का विक्षोभ या चाञ्चल्य देखा जाता है। यह शान्तिमय अवस्था है। इसके बाद इच्छाशक्ति के उन्मेष के साथ-साथ शब्द के द्वितीय स्तर में सृष्टि का विकास होता है। जिसे नित्यमण्डल कहा गया है, वह शक्तिगर्भस्थ बीजभूत विश्व है। इच्छा के प्रभाव से जब उसकी गर्भ के एक देश से विसृष्टि होती है, तभी उसे सृष्टि का नाम प्राप्त होता है। इस भूमि से ही काल का प्रभाव प्रारम्भ होने के कारण यह सृष्टिक्रिया एक साथ न होकर क्रमानुसार होती है। इसी प्रकार देश और कार्य-कारणभाव का स्फुरण भी यहीं से समझना चाहिये। इसकी परावस्था में इच्छाशक्ति के उपराम होने पर ज्ञानशक्ति का उदय होता है, तथा वह शिवांश ज्येष्ठा-शक्ति के साथ अद्वैत-भाव में मिलित होकर 'जालन्धर-पीठ' रूप सामरस्य-बिन्दु की सृष्टि करता है। इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य इतरलिंग नाम से प्रसिद्ध है। शक्ति के इस स्तर में 'मध्यमा-वाक्' आविर्भूत होती है, और इसके प्रभाव से सृष्ट जगत् तत्तद्भाव में स्थित होता है। जब स्थितिशक्ति क्षीण हो जाती है, तब स्वभाव के नियम से ही अन्तर्मुख आकर्षण की प्रबलता होने के कारण संहार-शक्ति की क्रिया आरम्भ होती है। तब ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर शिवांश रौद्री-शक्ति के साथ साम्यभाव को प्राप्त हो जाती है और उसको 'उड्डीयान-पीठ' कहते हैं। इस बिन्दु से चित्-शक्ति महातेजः-सम्पन्न परलिंगरूप में अभिव्यक्त होती है। यह शब्द की 'वैखरी' नामक चतुर्थभूमि है। हम जिस संहारशील क्षयधर्मक जगत् का अनुभव करते हैं, वह इस वैखरी शब्द की ही विभूति है।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, शब्द की जिन तीन अवस्थाओं के विषय में कहा गया है, वही प्रणव के 'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार हैं, अथवा ऋक् यजु और साम इस वेद-त्रय के रूप में ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिभात होते हैं। त्रिलोक, त्रिदेवता, त्रिकाल-प्रभृति अखण्ड परावाक् अथवा तुरीयवाक् का ही त्रिविध परिणाम मात्र है। विन्दुगर्भित जो महात्रिकोण समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के मूलरूप में शास्त्रों में सर्वत्र व्याख्यात हुआ है, वह इसी चतुर्विध शब्द के सम्बन्ध से प्रकटित होता है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप तीन प्रकार के शब्द; सृष्टि, स्थिति और संहार रूप तीन प्रकार के व्यापार; वामा, ज्येष्ठा और रौद्री क्रिया; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप तीन प्रकार के शिवांश, अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप तीन शक्त्यंश के प्रतिनिधियाँ हैं।

त्रिकोण का मध्य-बिन्दु परावाक् अथवा अम्बिका और शान्ता इन दो शिव-शक्त्यंश का साम्यभावापन्न स्वरूप है। यद्यपि बिन्दु में शिव और शक्ति दोनों का ही अंश है, एवं त्रिकोण में भी वही है, तथापि बिन्दु प्रधानतः 'शिव' रूप में परिणत हो जाता है। इस बिन्दु-समन्वित त्रिकोण-मण्डल से समस्त बाह्य-जगत् का आविर्भाव होता है।

आद्या शक्ति तत्त्वातीत होते हुए भी सर्वतत्त्वमयी और प्रपञ्चरूपा है। वह नित्या, परमानन्द-स्वरूपिणी तथा चराचर-जगत् की बीजरूप है। वह प्रकाशात्मक शिव के स्वरूपज्ञान का उद्बोधक दर्पण-स्वरूप है। अहंज्ञान ही शिव का स्वरूप-ज्ञान है। आद्या शक्ति का आश्रय लिये बिना इस आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। आगम-विद्गण कहते हैं कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने सामने स्थित स्वच्छ दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उस प्रतिबिम्ब को 'अहं' रूप में पहचान लेता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी अधीन स्वकीया शक्ति को देखकर अपने स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। आत्मशक्ति का दर्शन, एवं आत्मस्वरूप की उपलब्धि और आस्वादन एक ही वस्तु है। यही पूर्णाहन्ता चमत्कार अथवा सच्चिदानन्द की घनीभूत अभिव्यक्ति है। 'मैं पूर्ण हूँ'—यह ज्ञान ही नित्य-सिद्ध आत्मज्ञान का प्रकृत स्वरूप है। वस्तु का सामीप्य-सम्बन्ध न होने पर जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं कर सकता अथवा वस्तु का सान्निध्य होने पर भी प्रकाश के अभाव से दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब जैसे प्रतिबिम्बरूप में नहीं भासता, उसी प्रकार पराशक्ति भी प्रकाश-स्वरूप परम-शिव के सान्निध्य के बिना अपने अन्तःस्थित विश्वप्रपञ्च को प्रकटित करने में समर्थ नहीं होती। इसी कारण शुद्ध-शिव अथवा शुद्धशक्ति परस्पर सम्बन्धरहित होकर अकेले जगत् के निर्माण का कार्य नहीं कर सकते। दोनों की आपेक्षिक सहकारिता के बिना सृष्टिकार्य असम्भव है। सारे तत्त्व इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से ही उद्भूत होते हैं। इससे कोई यह न समझे कि शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श परस्पर विभिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः।

शास्त्र का यही अन्तिम सिद्धान्त है। तथापि संहार-कार्य में शिव का और सृष्टि-कार्य में शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करना होगा। परा-शक्ति स्वतन्त्र होने के कारण परावाक्-प्रभृति क्रम का अवलम्बन कर विश्व-सृष्टि का कार्य सम्पादन करती है और तदनन्तर सृष्ट विश्व के केन्द्र-स्थान में अवस्थित होकर उसका नियमन करती है। यही स्वातन्त्र्य उपर्युक्त रीति से क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया का आकार प्राप्त कर वैचित्र्य का आविर्भाव करता है और विश्वरूप धारण करता है। शिव तटस्थ और उदासीन रहकर निरपेक्ष साक्षिरूप में आत्मशक्ति की यह लीला देखा करते हैं। यह नाना तत्वमय विश्वसृष्टि ही पराशक्ति का स्फुरण है। अतएव शक्ति की एक अव्यक्त या प्रलीन अवस्था है, जहाँ शक्ति शिव के साथ एकाकार होकर शिवरूप में ही विराजमान रहती है, तथा उसकी एक अभिव्यक्त अवस्था भी है, जिससे उसमें और उसके द्वारा तत्वमय विश्व या देवता-चक्र एक साथ ही, एवं क्रमशः आविर्भूत होते हैं। पराशक्ति द्वारा अपने स्फुरण का

दर्शन और विश्व का आविर्भाव एक ही बात है। क्योंकि इस आदिम भूमि में दृष्टि और सृष्टि समानार्थक है, परन्तु इस क्रमिक आविर्भाव की एक प्रणाली है।

सृष्टि के आदि में अनादि-काल से जो अव्यक्त, पूर्ण, निराकार और शून्य-स्वरूप वस्तु विराजमान है, वह तत्त्वातीत, प्रपञ्चातीत तथा व्यवहार-पथ के भी अतीत है। वही शाक्तों की महाशक्ति है और शैवों के परम-शिव हैं। वाणी और मन के अगोचर होने के कारण ही, इसे अनुत्तर कहा जाता है। वस्तुतः इसका वर्णन न तो कोई कभी कर सका है और न आगे कर सकने की ही सम्भावना है। इसे विशुद्ध प्रकाश कहें, तो अन्तर्लीन विमर्श के कारण यह अप्रकाशमान है। अतएव इसमे स्वयंप्रकाश-भाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार इसे विशुद्ध विमर्श भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकाशहीन विमर्श असत्कल्प है। इस तत्त्वातीत और अनुत्तर अवस्था के लिये शास्त्र में वाचक रूप में आदिवर्ण 'अ' कार का प्रयोग होता है। इसके बाद दोनों की सामरस्य-अवस्था है, 'अ' कार रूप प्रकाश के साथ 'ह' कार रूप विमर्श का अर्थात् अग्नि के साथ सोम का साम्यभाव ही 'काम' अथवा 'रवि' नामसे प्रसिद्ध है। शास्त्र में जिस अग्निषोमात्मक बिन्दु का उल्लेख पाया जाता है, वह भी यही है। शिव ही 'अ' और शक्ति ही 'ह' है—बिन्दुरूप में यही 'अहं' अथवा पूर्णाहन्ता है। साम्य-भंग होने पर यह बिन्दु प्रस्पन्दित होकर शुक्ल और रक्त बिन्दु रूप में आविर्भूत होता है। इस प्रस्पन्दन-कार्य से जो अभिव्यक्त होता है, उसे ही शास्त्र में संवित् अथवा चैतन्य के नाम से वर्णन किया जाता है। इसीका दूसरा नाम चित्कला है। अग्नि के सम्पर्क से घृत जिस प्रकार गलकर धारारूप में बहने लगता है, उसी प्रकार प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्शरूपा पराशक्ति द्रुत होती है, तथा उसके एक परमानन्दमय अमृत की धारा का स्राव होता है। यही धारा एक प्रकार से उपर्युक्त चित्कला एवं दूसरे प्रकार से ब्रह्मानन्द का स्वरूप है। निष्कल चैतन्य में कला का आरोप संभवनीय नहीं है। अतएव यह चित्कला महाशक्ति के स्वातन्त्र्य के उन्मेष के कारण शिव-शक्ति के आपेक्षिक वैषम्य से उत्पन्न शक्तिभाव के प्राधान्य से प्रकाश और विमर्शांश के घनीभूत संश्लेषण से उद्भूत होती है। शुद्ध-प्रकाश किंवा शुद्ध-विमर्श बिन्दु-पदका वाच्य नहीं है। जिस विमर्श-शक्ति में निखिल प्रपञ्च विलीन रहता है, उसके संसर्ग से अनुत्तर-अक्षर-स्वरूप प्रकाश बिन्दुरूप धारण करता है। यह संसर्ग विमर्श-शक्ति में प्रकाश के अनुप्रवेश के सिवा और कुछ नहीं है। इस बिन्दु का नामान्तर प्रकाशबिन्दु है, जो विमर्श-शक्ति के गर्भ में स्थित रहता है। इसके पश्चात् विमर्शशक्ति के प्रकाशबिन्दु में अनुप्रविष्ट होने पर यह बिन्दु उच्छून हो जाता है अर्थात् पुष्टिलाभ करता है, तब उससे तेजोमय बीजस्वरूप नाद निर्गत होता है। इस नाद में समस्त तत्त्व सूक्ष्मरूप से निहित रहते हैं। नाद निर्गत होकर त्रिकोणाकार-रूप धारण करता है। यही 'अहम्' नामक बिन्दु-नादात्मक प्रकाश-विमर्शका शरीर है। इसमें प्रकाशशुक्लबिन्दु है और विमर्श रक्त-बिन्दु है, तथा दोनों का पारस्परिक अनुप्रवेशात्मक साम्य मिश्र-बिन्दु है। उसी साम्य का दूसरा नाम परमात्मा है। इसी को 'रवि' या 'काम' के नाम से पुकारते है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अग्नि और सोम इसी काम के कलाविशेष हैं।

अतएव कामकला कहने से तीनों बिन्दुओं का बोध होता है। इन तीन बिन्दुओं का समष्टिभूत महात्रिकोण ही दिब्याक्षर-स्वरूपा आद्याशक्ति का अपना रूप है। इसके मध्य में रवि-विन्दु देवी के मुखरूप में, अग्नि और सोम-विन्दु स्तन-द्वय रूप में, तथा 'ह' कार की अर्धकला अथवा हार्धकला योनि-रूप में कल्पित होती है। यह हार्धकला अति रहस्यमय गुह्य-तत्त्व है। इसका विशेष विवरण इस निबन्ध में देना सम्भव नहीं है, तथापि सम्प्रति जिज्ञासु-साधक की तृप्ति के लिए इतना कहा जा सकता है कि शिव-शक्ति के मिलन से उत्पन्न अमृत की धारा प्रवाहित होने पर उससे जिस लीलारूप तरंग की उत्पत्ति होती है, वही तान्त्रिक परिभाषा में **हार्धकला के** नाम से विख्यात है। यह जो त्रिकोण के विषय में कहा गया है, वह पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन त्रिविध शब्दों का परस्पर संश्लेषात्मक सम्मिलित-स्वरूप है। इसका केन्द्रस्थित विन्दु, जिसका स्वरूप अहंरूप में वर्णित हुआ है, वह परमातृका का विलास-क्षेत्र सदाशिव-तत्त्व का स्वरूप है। मध्यविन्दु तथा मूल-त्रिलोक से समस्त तत्त्वों की ओर पदार्थों की उत्पत्ति होती है। चाहे किसी भी देवता या किसी भी स्तर के मूल तत्त्व का अनुसन्धान करो, उसकी चरमावस्था में यह लिंग-योनि का समन्वय रूप त्रिकोण मध्यस्थ विन्दु अथवा विन्दुगर्भित त्रिकोण दिखायी देगा। इसी कारण तन्त्र-शास्त्र में जिस किसी भी देवता के चक्र का वर्णन आया है, उसमें सर्वत्र ही यह विन्दु और त्रिकोण मूल स्थान में साधारण भाव से वर्तमान हैं। चतुरस्र-प्रभृति पीठ का वर्णन होने पर भी, अन्तर्दृष्टि से देखने पर उनके भी मूल में त्रिकोण की सत्ता अवस्थित देखी जाती है। त्रिकोण के विभिन्न स्पन्दन से वासना की विचित्रता तथा तदनुरूप चक्रकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें निष्पन्न होती है। वर्तमान प्रबन्ध में उसकी आलोचना प्रासंगिक न होगी।

महाविन्दु अनन्त कला की समष्टि होनेपर भी तत्तद् ब्रह्माण्ड के अभिव्यक्त उपादान की मात्रा के अनुसार निर्दिष्टसंख्यक कलाद्वारा गठित होकर अव्यक्त-गर्भ से अहं रूप में आविर्भूत होता है। यह दर्शनशास्त्र का एक गम्भीरतम रहस्य है। वेदान्तादि निखिल शास्त्र, निष्कल अब्यक्त सत्ता किस प्रकार से 'अहम्' रूपमें आत्मप्रकाश करता है, उसे अनादि-सिद्ध स्वीकार करते हैं। किन्तु इस 'अहम्' की उत्पत्तिप्रणाली और तिरोभावप्रणाली योगसम्पत्ति-सम्पन्न तान्त्रिक-द्रष्टा के सिवा अन्य किसी साधक को अपरोक्ष-भाव से अनुगत नहीं होती। व्यष्टि, समष्टि एवं महासमष्टि—सर्वत्र एक ही प्रणाली की क्रिया देखने में आती है। कला की निरन्तर और क्रमिक पूर्णता से एक ओर जिस प्रकार विन्दुरूप पूर्णकला अथवा अहं-तत्त्व का विकास होता है, उसी प्रकार उसके निरन्तर और क्रमिक क्षय से क्रमशः शून्य-स्वरूप अहंभाव-वर्जित आत्मभाव का आविर्भाव का होता है। दोनों में ही पूर्णकला की एक कला नित्य साक्षिरूप में प्रपंच के लय होने के बाद भी जाग्रत रहती है। यही एक कला निर्वाणकलारूप में जीव की उन्मनी-अवस्था में रहती है। इसकी भी निवृत्ति हो जाने पर जिस निष्कल अवस्था का विकास होता है, वही शिव-शक्ति-तत्व है, वही महाबिन्दु है; अतएव यह शिवत्व सदाशिव का नाममात्र है। ब्रह्माण्ड की चरमावस्था जिस प्रकार अस्मिता में

पर्यवसित होती है, जो प्रकृति और पुरुष का अवलम्बन करके आत्म-लाभ करती है, उसी प्रकार समस्त विश्व के पर्यवसान में इस विराट् अस्मिरूप अर्थात् बिन्दुस्वरूप सदाशिव-तत्व का आविर्भाव होता है, जिसमें अधिष्ठित होकर शिव-शक्तिरूप मूलवस्तु लीलामय-भाव में आत्म-प्रकाश करती है। अतएव बिन्दुरूप अहंकार के आत्म-समर्पण के बिना महाबिन्दु या पूर्णाहन्ता के स्वरूप की उपलब्धि सम्भवनीय नहीं है। इस उपलब्धि में पंचदशकलात्मक संसारी जीव, एवं षोडश अथवा निर्वाणकलात्मक मुक्त-जीव, किसी की भी सत्ता नहीं रहती। यह जीवभाव-विनिर्मुक्त शिवभाव है, यह पहले ही कहा जा चुका है। पाश-जाल से मुक्त होकर जीव जब-तक शिवरूप में प्रकाशित नहीं होता, तब-तक पूर्णस्वरूपा महाशक्ति का यथार्थ सन्धान पाना बहुत ही कठिन है। शिवभाव प्राप्त होने पर भी शव-रूप में परिणत हो, शवासन-परिग्रह न कर सकने पर; अपने भीतर महाशक्ति का उन्मेष प्राप्त नहीं हो सकता।

स्थूल-जगत्, जिसे हम सर्वदा अनुभव करते हैं, दीपकलिका से विकीर्ण-प्रभा-मण्डल की भाँति एक बिन्दु का बाह्य-प्रसारण अथवा विकिरण-मात्र है। इन्द्रियों के प्रत्याहार से इस रश्मि-माला को उपसंहृत कर सकने पर बाह्य-जगत् स्वभावतः बाह्य बिन्दु में विलीन हो जाता है। इसी प्रकार लिंगात्मक आभ्यन्तरिक जगत् भी विक्षुब्ध अन्तःकरण का बाह्य विलासमात्र है, तथा यह भी विलीन होने पर तदनुरूप बिन्दु-स्वरूप में अव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार कारण-जगत् उपसंहार को प्राप्त होकर कारणबिन्दु में पर्यवसित होता है। यह तीनों जगत् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था के द्योतक हैं। अतएव स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों बिन्दु ही त्रिकोण के तीन प्रान्तों के तीन बिन्दु हैं। इन्हें 'अकार' 'उकार' और 'मकार' के नाम से भी सांकेतिक भाषा में निर्देश किया जा सकता है। अन्तर्मुख प्रेरणा से जब ये तीनों बिन्दु रेखारूप में भीतर की ओर प्रवाहित होकर एक महाबिन्दुरूप में पर्यवसान को प्राप्त होते हैं, तो वही तुरीय-बिन्दु अथवा महाकारणरूप में अभिहित होने के योग्य होते हैं। यही त्रिकोण का अन्तःस्थित मध्यबिन्दु है, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है। इस बिन्दु में अनादिकाल से दिव्य-मिथुन शिव-शक्ति का अथवा परमपुरुष और पराप्रकृति के शृंगारादि अनन्त भावों का विलास चलता रहता है। आदिबुद्ध एवं प्रज्ञापारमिता का युगनद्ध-स्वरूप के अभ्यन्तर पारस्परिक सम्मिलन राधाकृष्ण के युगलमिलन का द्योतन करते हैं। यह त्रिकोण ही प्रणव का स्वरूप है। सार्धत्रिवलयाकारा, भुजंगविग्रहा, सुषुप्ता कुण्डलिनी-शक्ति भी इसीका नामान्तर है। कुण्डलिनी का प्रबुद्ध-भाव सम्यक्रूपसे सिद्ध होने पर शिव-शक्ति का भेद विगलित हो जाता है, तथा साथ-ही-साथ जीव के साथ शिव अथवा शक्ति का पार्थक्य तिरोहित हो जाता है, तब चक्र या यन्त्र अव्यक्तगर्भ में विलीन हो जाता है। बिन्दु एवं त्रिकोण का भेद दूर होने के कारण बिन्दु का बिन्दुत्व तथा त्रिकोण का त्रिकोणत्व कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। जो रहता है, उसका किसी नामरूपद्वारा निर्देश नहीं होता। यह सब तत्वों का मूलकारण होने पर भी, किसी विशिष्ट तत्त्व के रूप में अभिहित होने के योग्य नहीं रहता। यह चित्, अचित और ईश्वर का अनादिभूत आदिकारण होने पर भी, चित्,

अचित् वा ईश्वर किसी भी नाम से वर्णित नहीं हो सकता।

शक्तिसाधना का मूलसूत्र नादानुसन्धान अथवा शब्द का क्रमिक उच्चारण है। बिन्दु या कुण्डलिनी विक्षुब्ध होकर नादका विकास करती है। पूर्ण परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य-शक्ति से बिन्दु का विक्षोभ-कार्य सम्पन्न होता है। इसी का दूसरा नाम गुरु-कृपा या परमेश्वर का अनुग्रह है। इस चिदाकाश स्वरूप बिन्दु को दूसरी कोई निम्न-भूमिस्थ शक्ति विक्षुब्ध नहीं कर सकती। कुण्डलिनी जब मूलाधार के नीचे ऊर्ध्वमुख सहस्रार अथवा अकूल-कमल में विराजमान रहती है, तब वह अव्यक्त नामसे विश्वोत्तीर्ण अवस्था के अन्तर्गत रहती है। परन्तु स्वातन्त्र्यवश उसकी अभिव्यक्ति होने पर मूलाधार में ही उसकी अनुभूति होती है। यहीं से निराधार निरालम्ब सत्ता से आधार-भाव की सूचना होती है। क्रमशः इस शक्ति के उद्बोधन की मात्रा के अनुसार आधार-भाव पुनः क्षीण हो जाता है, एवं परिशेष में सर्वतोभावेन तिरोहित होकर ऊर्ध्वस्थ अधोमुख सहस्रदल-कमलमें पुनः अकूल-सागरमें निमग्न हो जाता है। अकूल से ही शक्ति का उद्बोधन और अकूल में ही उसका लय होता है, मध्यस्थ व्यापार केवल पूर्ण चैतन्य-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये है। जो अनन्त गर्भ में अचेतन-भाव से अनादिकाल से सुषुप्तावस्था में था, वह पूर्णरूप में प्रबुद्ध होकर चैतन्यस्वरूप के अवलम्बनपूर्वक पुनः उस अनन्त-गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। यह एक अकूल से दूसरे अकूलपर्यन्त जो मार्ग है, वही विश्वजगत् का मूलीभूत चक्र है। वृत्ताकार मार्ग में मनुष्य जिस स्थान से चलता है, निरन्तर सरलतापूर्वक आगे बढ़ता जाय तो वह पुनः उसी स्थान पर लौट आता है। मध्य का आवरण चक्र का स्वरूप है। इस प्रकार के चक्र कितने हैं, इसका संख्या द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता। तथापि साधक-जन अपने-अपने प्रयोजन और उद्देश्य के अनुसार उनका कुछ निर्देश कर गये हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र और आज्ञा—ये सब अज्ञान-राज्य के अन्तर्गत हैं। यद्यपि अधोवर्ती चक्र की अपेक्षा ऊर्ध्ववर्ती चक्र में शक्ति की सूक्ष्मता तथा निर्मलता का विकास अधिक है, तथापि ये अज्ञान की सीमा के अन्तर्गत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ज्ञान के सञ्चार के साथ-साथ ही आज्ञा-चक्र का भेदन हो जाता है, अथवा दूसरे प्रकार से यह कह सकते हैं कि आज्ञा-चक्र का भेदन करने से ज्ञान का उदय होता है। आज्ञा-चक्र के बाद ही बिन्दु-स्थान है, यही बिन्दु योगियों का तृतीय नेत्र अथवा ज्ञान-चक्षु कहलाता है। इसी बिन्दु से ज्ञानभूमि की सूचना मिलती है। चित्त को एकाग्र करके उपसंहृत किये बिना, अर्थात् विक्षिप्त अवस्था में, बिन्दु में स्थिति नहीं हो सकती। बिन्दु-अवस्था में स्थिति होने पर भी यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति में अनेकों व्यवधान रह जाते हैं। यद्यपि बिन्दुभूमि में साधक अहंभाव से प्रतिष्ठित होकर आपेक्षिक द्रष्टा बनकर निम्नवर्ती समस्त प्रपञ्च को निरपेक्षभाव से देखने में समर्थ होता है, तथापि जबतक वह बिन्दु में पूर्णतः अहंभाव का विसर्जन अथवा आत्मसमर्पण नहीं करता, तबतक महाबिन्दु अथवा शिव-भाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीलिये बिन्दुभाव को प्राप्त होकर साधक को क्रमशः कला क्षय करते-करते पूर्णतया विगतकल अवस्था में उपनीत होना पड़ता है। बिन्दु के बाद उल्लेख योग्य प्रधान चक्र बिन्दु-अर्ध अथवा अर्ध-चन्द्र के नाम से

प्रसिद्ध है। बिन्दु को चन्द्रबिन्दु कहा जाता है, इसीलिये यह अवस्था अर्धचन्द्र नाम से वर्णित होती है। इसी अवस्था में अष्टकला शक्ति का विकास होता है। इसके आगे अर्थात् शक्ति की नवकला के क्षीण होने पर एक अवरोधमय घोर आवरण स्वरूप विलक्षण अवस्था का उदय होता है। बड़े-बड़े देवताओं के लिए भी इस स्तर का भेदन करके ऊपर उठना कठिन है। परन्तु अनुग्रह-शक्ति के विशिष्ट प्रभाव से भाग्यवान् साधक इस चक्र का भेदन कर ऊपर उठने में समर्थ होता है। शास्त्र में यह अवस्था 'रोधिनी' नाम से प्रसिद्ध है, इस आवरण का भेदन करने से ही साधक नाद-भूमि में उपनीत होता है। नाद चैतन्य का अभिव्यञ्जक है, अतः इस अवस्था में चित्-शक्ति क्रमशः अधिकतर स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र के जिस स्थान में नाद का लय होता है, यह वही स्थान है। इसके बाद साक्षात् चित्-शक्तिका आविर्भाव होता है। इसी शक्ति से समस्त भुवन विधृत हो रहे हैं। इस अवस्था के आगे त्रिकोणस्वरूपा 'व्यापिका' है, वह बिन्दु के विलासस्वरूप वामादि-शक्तित्रय से संघटित है। तद-नन्तर सर्वकारणभूता समना-शक्ति का आविर्भाव होता है। यह शिवाधिष्ठित है और समस्त ब्रह्माण्डों की भरणशीला है। एतदारुढ़ शिव ही परम कारण और पञ्चकृत्य-कारी है। यह चिदानन्दरूपा पराशक्ति है, वहीं मनोराज्य का अन्त होता है। इसके आगे मन, काल, देश, तत्त्व, देवता तथा कार्य-कारण-भाव सभी सदा के लिये तिरोहित हो जाते हैं। जो जपादि-क्रिया के द्वारा नाद के उत्थान का अभ्यास करते हैं, वे जानते हैं कि आज्ञाचक्र-पर्यन्त अर्थात् जहाँतक अक्षमाला या वर्णमाला का आवर्तन होता है, वहाँतक उच्चारण अथवा ऊर्ध्व-चालन का काल एक मात्रा से न्यून नहीं हो सकता। बिन्दु में वह अर्धमात्रा में पर्यवसित होता है। इसके बाद वह क्रमशः क्षीण होते-होते समना-भूमि में एक क्षण रूप में परिणत होता है। इसके आगे मनके स्पन्दन-शून्य हो जाने के कारण देश-काल नहीं रह जाते, तथा समस्त मानसिक-विक्षोभ या कल्पना-जाल के उपशान्त होने पर, निर्विकल्पक निवृत्तिभाव का उदय होता है। यह निवृत्तिभाव होनेपर भी देश, काल और निमित्त के अतीत तथा मनोभूमि के अगोचर होने पर भी—वस्तुतः नितान्त निष्कल अवस्था नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में इसमें विशुद्ध चिद्रूपा एक कला शेष रहती है, जो निर्वाणकलारूप से शास्त्र में प्रसिद्ध है, योगिजन जिसे द्रष्टा या साक्षि-चैतन्य के नाम से पुकारते हैं। सांख्य का कैवल्य इसी अवस्था की सूचना देता है। क्योंकि सांख्य की प्रकृति पञ्चदशकलात्मिका है, और उसका पुरुष षोडशी या निर्वाणकला का स्वरूप है।

पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्।

इस कला से ऊपर उठे बिना महाबिन्दु या परमात्मस्वरूप शिवत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सांख्यभूमि से अग्रसर होने पर वेदान्त की साधना होती है, इस एक कलामात्रावशिष्ट निर्वाणभूमि वा उन्मनाभूमि को पार कर महाबिन्दुरूप पूर्णाहन्तामय अवस्था में पदार्पण करना पड़ता है। पूर्णाहन्तास्वरूप शिवभाव की स्फूर्ति होने पर जब इसका भी परिहार होता है—जब बिन्दु का क्रमशः क्षय होते-होते

उन्मनी-अवस्था का अवसान होने पर बिन्दु शून्य हो जाता है,—तब पूर्णस्वरूप महाशक्ति का आविर्भाव होता है। अर्थात् महाबिन्दु के पूर्ण रूप में स्थित होने पर उसमें परा-शक्ति की नित्य अभिव्यक्ति होती है। पक्षान्तर में महाविन्दु के रिक्त हो जाने पर परमशिव का आविर्भाव होता है। वस्तुतः शिव-शक्ति के विभिन्न न होने के कारण तथा महाविन्दु की पूर्ण और रिक्त अवस्था भी नित्य-सिद्ध होने के कारण, शून्य और पूर्णत्व का आविर्भाव नित्य ही मानना होगा। जो रिक्त दिशा है, लौकिक दृष्टि से वही अमावस्या है और जो पूर्ण दिशा है, वही पूर्णिमा है। महाशक्ति के प्राधान्य को अंगीकार कर अमावस्या की ओर जो उसकी स्फूर्ति होती है, वही कालीरूप में; तथा जो पूर्णिमा की और स्फूर्ति होती है वही षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी या श्रीविद्या के रूप से; साधक-समाज में परिचित होती है। कालीकुल और श्रीकुल का यही गुप्त रहस्य है। मध्यपथ में तारा या तारिणी विद्या है। यहाँ उसकी आलोचना नहीं करनी है। हमने जो कुछ कहा है, वह महाशक्ति का प्राधान्य अंगीकार करके ही कहा है। परन्तु प्रकाश या शिवस्वरूप का प्राधान्य अंगीकार करने पर इस अवस्था में कुछ भी कहने को नहीं रह जाता।

स-कल, निष्कल और मिश्र—शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ है, अतः शक्ति की उपासना भी स्वभावतः इन तीन श्रेणियों में ही अन्तर्भुक्त हो जाती है। उपासना के क्रम से स-कल भाव की उपासना निकृष्ट है, मिश्रभाव की उपासना मध्यम है एवं निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है। परन्तु हमलोग जिसे साधारणतः उपासना कहते हैं, वह इन तीन श्रेणियों में से किसी के अन्तर्गत नहीं है। क्योंकि जबतक गुरु की कृपादृष्टि से कुण्डलिनी-शक्ति का उद्बोधन तथा सुषुम्ना के मार्ग में प्रवेश नहीं हो जाता, तबतक उपासना का अधिकार नहीं उत्पन्न होता। मूलाधार से आज्ञाचक्र-पर्यन्त चक्रेश्वरीरूप में शक्ति की अराधना ही निकृष्ट उपासना है। परन्तु जो साधक इन्द्रिय और प्राण की गति का अवरोध कर कुलपथ में प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसके लिये देवी की अधम उपासना भी सम्भव नहीं है। साधक क्रमशः अधमभूमि से यथाविधि साधना द्वारा निर्मलचित्त होकर मध्यम-भूमि की उपासना का अधिकारी होता है। तदनन्तर उत्तम अधिकार प्राप्त कर भगवती की अद्वैत-उपासना से सिद्धि-लाभ करता है। मनुष्य जब तक द्वन्द्वमय भेद-राज्यमें वर्तमान रहता है, तबतक उसके लिए निम्नभूमि की उपासना ही स्वाभाविक है। कर्म ही इसका रूप है। चतुरस्र से बैन्दवचक्र-पर्यन्त अथवा मूलाधार से सहस्र-दल-कमल पर्यन्त आवरण देवतादिसहित समग्र देवीचक्र की उपासना सी कर्मात्मक अपरा पूजा है। इस पूजा अर्थात् षट्चक्र के क्रियारूप अनुष्ठान का अवलम्बन कर अग्रसर न हो सकने से चित्त में कदापि अभेद-ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। स्वयं शंकर भी भगवती की अपरा पूजा किया करते हैं, यह महाजनों का सिद्धान्त है। इसीलिए ज्ञानी के लिए भी चक्रपूजा उपेक्षणीय नहीं है। साधक अपनी देह में विभिन्न प्रकार के गणेश, ग्रह, नक्षत्र, राशि, योगिनी एवं पीठ का विधिपूर्वक न्यास या स्थापन कर सकने पर केवल इसी के प्रभाव से साक्षात् परमेश्वर तुल्य अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।[१]

---

१. जिन्होंने सत्य ही स्वदेह में देवताओं का न्यास करना सीख लिया है, उनके सामर्थ्य की

निम्नभूमि की उपासना के प्रभाव से साधक का अधिकार-बल बढ़ जाने पर वह मध्यम भूमि में उपनीत होकर भेदाभेद-अवस्था को उपलब्ध करता है। तब समुचित ज्ञान और कर्म का आविर्भाव होता है और आन्तर अद्वैतधाम में क्रमशः बाह्य-चक्रादिका लय हो जाता है। इसके बाद जब ज्ञान में कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है तब अभेद या अद्वैतभूमि की स्फूर्ति होती है और परापूजा का नित्य अधिकार स्वभावतः ही प्राप्त कर लेता है। एक मात्र परमशिव की स्फूर्ति या ब्रह्मज्ञान ही परापूजा का नामान्तर है। इस ज्ञान अथवा परम-तत्व के विकास को लौकिक जगत् में कोई समझ नहीं सकता।

अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल कमल वा अकूल-कमल की अन्तःकलिका में वाग्-भव नामक एक प्रसिद्ध त्रिकोण है। इस त्रिकोण से परादिक्रम से चार प्रकार के वाक् वा शब्द उत्पन्न होने के कारण इसका नाम वाग्-भव है। इस त्रिकोण के मध्य में विश्वगुरु परम शिव की पादुका है। वह प्रकाश, विमर्श तथा इन दोनों के सामरस्य-भेद से तीन प्रकार की है। इस पादुका से निरन्तर परमामृत निकलता रहता है। इस स्निग्ध अमृतमय चन्द्ररश्मि द्वारा समस्त विश्व का सञ्जीवन, माधुर्य-सम्पादन और तृप्ति होती है। यह पादुका समस्त जीवों का आत्मस्वरूप है। इसके बाद शिवाद्वैत-भावना-रूप प्रसाद को ग्रहण करने से समस्त तत्त्वों के विशुद्ध होने पर विमल आनन्द का उदय होता है। तत्वशुद्धि और आनन्द संचार के पश्चात् हृदयाकाश में जिस परम नाद का उदय होता है, उसका चिन्तन करने पर आद्याशक्ति के आनन्दमय-रूप की उपलब्धि होती है। साधक के हृदय में इस प्रकार के नाद की अभिव्यक्ति ही आन्तर-जप या मानस-जप के नाम से प्रसिद्ध है। चित्त के बाह्य प्रदेश से लौटकर अन्तर्मुख में एकाग्र होने पर इसका अनुभव होता है। इससे अश्रु, पुलक, स्वेद, कम्प-प्रभृति सात्विक विकारों का उन्मेष होता है। इस आन्तर जप या नादानुसन्धान के समय इन्द्रिय-संचार नहीं रहता, इसीलिये इसे बाह्य-जप नहीं कहा जा सकता। बाह्य जप विकल्प का ही प्रकार-भेद है, परन्तु आन्तर-जप में विकल्प का व्यापार शून्य हो जाता है। यही निष्कल चिन्तन अथवा ध्यान का स्वरूप है। वस्तुतः यह चित्त की निरन्तर अन्तर्मुखता के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का चिन्तन तब-तक उदित नहीं हो सकता, जब-तक शुद्ध चैतन्य का संकोचभाव दूर नहीं हो जाता; पर चित्कला-महाशक्ति का उल्लास होने पर स्वतः ही इस संकोच का नाश हो जाता है। तब पूर्णाहन्ता स्वयमेव विकसित हो जाती है। इन्द्रियों को तृप्त करने वाले शब्द-स्पर्श-प्रभृति के द्वारा आत्म-देवता की जो पूजा होती है, उसे स्वाभाविक पूजा वा सहज उपासना कहकर महायज्ञ-रूप से शास्त्र में उसकी प्रशंसा की गयी है। विषयानुभवजन्य आनन्द महानन्द के साथ मिलने पर जिस वैषम्यहीन अवस्था का उदय होता है, वही भगवती की उत्तम उपासना का प्रकृत तत्त्व है।

हमने अत्यन्त संक्षेप में शक्तिसाधना के साधारण-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ

तुलना नहीं हो सकती। इस प्रकार का मनुष्य यदि न्यासरहित साधारण मनुष्य को प्रणाम कर ले तो उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।

निवेदन किया है। द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत—यह त्रिविध उपासनाएँ शक्तिसाधना के अन्तर्गत हैं। अतः समस्त देवताओं की साधना तथा योग एवं कर्म-प्रभृति सब इसके अन्तर्गत हैं। काली-तारा-प्रभृति भेद से साधना के प्रकारभेद अप्रासंगिक समझकर वहाँ आलोचित नहीं हुए हैं। बीज-तत्त्व और मन्त्रविज्ञान, नाद-विन्दु-कला का स्वरूपालोचन, मन्त्रोद्धार और मन्त्रचैतन्य-प्रभृति क्रियाएँ, दीक्षा और गुरु-तत्त्व, दीक्षातत्त्व, अध्वशुद्धि, भूत और चित्त की शोधनक्रिया, मातृका और पीठविचार, न्यास और प्राणप्रतिष्ठा—इस प्रकार अनेकों विषय शाक्त साधना की विस्तृत आलोचना-सूची के अन्तर्गत हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शक्ति-उपासना के सम्बन्ध में पूर्ण-ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन सब प्रासंगिक विषयों का भी ज्ञान होना आवश्यक है।

तान्त्रिक पूजा का परम आदर्श

अध्यात्मपथ के प्रत्येक साधक को पूजा, जप और ध्यान आदि विषयों का थोड़ा-बहुत व्यावहारिक ज्ञान होता है; क्योंकि साधारण ज्ञान हुए बिना किसी भी कार्य में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं। अवश्य ही सम्प्रदायभेद और साधक के अधिकारगत तारतम्य के अनुसार इन सब विषयों में नाना प्रकार की विचित्रताएँ होती हैं। विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में आलोचनाएँ मिलती हैं। यहाँ हम उन सब विस्तृत आलोचनाओं में प्रवेश करना नहीं चाहते। केवल तान्त्रिक-साधना की दृष्टि से पूजा और जप के सम्बन्ध में दो-एक आवश्यक विषयों पर विचार करते हैं। आशा है क्रियाशील पाठकगण इस संक्षिप्त आलोचना से वक्तव्य-विषय का मर्म ग्रहण कर सकेंगे।

अब पहले पूजा के रहस्य के सम्बन्ध में विचार करें। साधकमात्र के लिये पूजातत्त्व का आदर्श और सूक्ष्म-विज्ञान जानना आवश्यक है। पूजातत्त्व का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक अपने शिवत्व का अनुभव करके जीवन्मुक्ति के आनन्द का आस्वादन कर सकता है। आलोचना की सुगमता के लिये तन्त्रशास्त्र में देवी-पूजा को साधारणतः उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। इन तीन प्रकार की पूजाओं को कहीं-कहीं 'परा' 'परापरा' और 'अपरा' कहा गया है। यहाँ प्रसङ्गवश यह कहा जा सकता है कि अपरा अथवा अधम-पूजा की अपेक्षा भी निम्नकोटि की पूजा है। व्यवहारक्षेत्र में साधारणतः जिस प्रकार की पूजा प्रचलित है, वह उन-उन अधिकारियों के आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से सर्वथा उपयोगी होने पर भी निम्नतम अर्थात् चौथी श्रेणी की या अधमाधम कोटि की पूजा के अन्तर्गत ही है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे यह प्रतीत होगा कि वर्तमान काल में जगत् में आध्यात्मिक अधिकार-सम्पत्ति का इतना ह्रास हो गया है कि साधारणतः हमारे अन्दर अधिकांश लोग इस समय भगवत्पूजा की अधम-कोटि में भी प्रवेश करने योग्य नहीं रह गये हैं। कारण, कुण्डलिनी की सुषुप्ति-भङ्ग हुए बिना, अर्थात् जीव की अनादि-माया के आवरण से ढके रहने तक, उसे अधम-पूजा का अधिकार भी नहीं प्राप्त होता। सोयी हुई महाशक्ति की दृष्टि जब-तक नहीं खुल जाती तब-तक चिन्मय जगत् में प्रवेश और सञ्चार तो हो ही नहीं सकता, उसका द्वार तक नहीं खुलता। इस समय की प्रचलित प्रायः सभी बाह्य साधनाएँ इस द्वारमुक्ति के लिये ही विभिन्न प्रकार की चेष्टामात्र हैं। 'परा' पूजा ही यथार्थ पूजा है। निम्नकोटि की पूजाएँ तो इस परम पूजा का अधिकार प्राप्त करने के सोपानमात्र हैं। इसीलिये हम यहाँ प्रसङ्गतः अधम और मध्यम श्रेणी की पूजा पर संक्षेप में विचार करके तन्त्र-प्रतिपादित उत्तम पूजा का रहस्य समझने की ही यत्किञ्चित् चेष्टा करेंगे।

'पूजा' शब्द से यहाँ किसी मनुष्य, देवता और ऋषि-आदि की पूजा का लक्ष्य नहीं है। जिनसे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है, जिनमें समस्त जगत् स्थित है और प्रलयकाल में समग्र जगत् जिनके अन्दर लौट जाता है—एकमात्र वे परमतत्त्व ही पूजा के योग्य हैं। हम यहाँ पर उन्हीं की पूजा के श्रेष्ठ आदर्श पर विचार करना चाहते हैं। उस परम पदार्थ का लोग भगवान्, भगवती, परब्रह्म और परामाया आदि विभिन्न नामों से निर्देश करते हैं, तन्त्रशास्त्र में उसको परमशिव और पराशक्ति के अभिन्नरूप एक अखण्ड वस्तु बतलाया गया है। वे जडतत्त्वमय समग्र विश्व के साथ सब प्रकार से अभिन्न होकर भी नित्य ही विश्व से अतीत हैं। वे प्रकाशस्वरूप हैं, क्योंकि उन्हीं के प्रकाश से समग्र जगत् प्रकाशमय है। उनमें उनकी स्वरूपभूता 'विमर्श' नामक महाशक्ति नित्य अभिन्न-भाव से निवास करती है। इस शक्ति के न रहने से वे प्रकाशस्वरूप होकर भी स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकते। इसी को अद्वैतवादी आगमशास्त्र 'परावाक्' कहते हैं—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

परमेश्वर की स्वरूपभूता इस विमर्शशक्ति की ही पूजा हुआ करती है। व्यवहार में इसी को परमेश्वर की पूजा कहा जाता है, क्योंकि यह शक्ति परमेश्वर से सब प्रकार और सर्वदा अभिन्न है। शक्तिनिरपेक्षरूप से परमेश्वर की पूजा, ध्यान और जप आदि कुछ भी नहीं हो सकता। कारण—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

अर्थात् शक्ति की उपेक्षा करने पर (यद्यपि उपेक्षा की जा सकती ही नहीं) परमशिव में नाम आदि किसी भाव का सम्बन्ध ही नहीं रह सकता।

परमशिव के साथ अपने अभेद-अनुभव को ही परा पूजा कहते हैं। साधक जब अपने को माया के अधीन परिच्छिन्न प्रमाता न समझकर अपरिच्छिन्न प्रमाता परमेश्वररूप से अनुभव करता है, तभी वह महाशक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपासक माना जाता है।

सङ्केतपद्धति नामक ग्रन्थ में कहा है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः॥

तात्पर्य यह है कि बाह्य-जगत् में पुष्प-चन्दनादि विभिन्न उपचारों से जो पूजा की जाती है, वह मुख्य पूजा नहीं है। जगत् में सर्वत्र इसी का प्रचार है, वस्तुतः द्वैतभाव-रहित अपनी स्वरूपमहिमा में जो साधक की स्थिति है, वही यथार्थ में पूजा कहलाने योग्य है। इस पूजा का अधिकार प्राप्त हो जाने पर फिर इससे स्खलन नहीं होता, उपर्युक्त श्लोक में 'परा-स्थिति' शब्द से यही सूचित किया गया है। अतएव जिसको लोग अद्वैतस्थिति कहते हैं, वह परमशिवरूपी आत्मा की स्व-महिमा में ही स्थिति है और वही परमपूजाका स्वरूप है।

यह पूजा अद्वैतभाव में स्थित होकर और सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापारों का आश्रय करके की जाती है। इस अवस्था में बाहर या भीतर किसी भी विषय में मन की प्रवृत्ति होने पर भी, उसमें संस्कार के लिये अवकाश नहीं रहता। कारण, सर्वव्यापक परावस्था या परमेश्वर की स्वरूपभूत-सत्ता विषयमात्र के अन्दर सर्वदा वर्तमान रहती है। उसकी सत्ता से ही विषय की सत्ता और उसके प्रकाश से ही विषय का प्रकाश है। यह आगम और निगम में सर्वत्र प्रसिद्ध है। परमेश्वर की चैतन्य-शक्ति ही इन्द्रिय-पथों के द्वारा समस्त विषयों में अभिव्यक्त होती है। इस अवस्था की सम्यक् प्रकार से प्राप्ति हो जाने पर विषयमात्र से अचित्-भाव मिट जाता है, उनकी जडता कट जाती है—तब एकमात्र अखण्ड स्वयम्प्रकाश चैतन्य की अद्वैत-अनुभूति ही रहती है। कहना न होगा कि यह स्वप्रकाश-चैतन्य के स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है।

मध्यमश्रेणी की पूजा में इस प्रकार की अद्वैतानुभूति विशुद्धरूप में नहीं रहती। कारण, 'बाह्य जड पदार्थ आभ्यन्तरिक चिन्मय स्वरूप में या अद्वैतरूप में विलीन हुए जा रहे हैं' बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना ही मध्यम पूजा का लक्षण है। इस पूजा के फलस्वरूप चिद्-वस्तु में अचिद्-वस्तु का लय हो जाता है। उत्तम पूजा में भावना की आवश्यकता नहीं रहती; परन्तु जब-तक इस चरमस्थिति का उदय न हो, तबतक पूजा में भावना की प्रधानता न रहना सम्भव नहीं।

बाह्य-चक्र, आवरण आदि की रचना करके अपरा पूजा की जाती है। अतएव इसमें सदा-सर्वदा भेदज्ञान रहता ही है—यह बतलाना व्यर्थ है। इसलिये पूजामार्ग में अग्रसर होनेवाले साधक को पहले बाह्यपूजा से साधना आरम्भ करनी पड़ती है, फिर क्रमशः आन्तर-पूजाभावना में से होते हुए अन्तिम भूमिका में विशुद्ध आन्तर-पूजा का अधिकार प्राप्त करना पड़ता हैं। इससे समझ में आ गया होगा कि प्रथम पूजा का आधार भेद-ज्ञान है, द्वितीय-पूजा में भेद-ज्ञान का थोड़ा-सा उपशम होता है और भावना के द्वारा अभेद-ज्ञान की सूचना की जाती है एवं तृतीय अथवा श्रेष्ठ पूजा में भेदज्ञान का लेश भी नहीं रहता। उस समय केवल अभेद या अद्वैत-बोध ही रह जाता है।

हम जिस चक्र-पूजा की बात कह आये हैं, वह इष्ट-देवता के तारतम्य के अनुसार नाना प्रकार की होने पर भी मूलतः एक ही है। सभी चक्रों का प्रारम्भ चतुष्कोण से होता है और समाप्ति बिन्दु में होती है। वस्तुतः सभी देवताओं के चक्र मूलाधार से लेकर सहस्रार-तक के सात चक्रों का वासनानुकूल विकास और विस्तारमात्र हैं। यहाँ 'चतुष्कोण' शब्द से मूलाधार और 'बिन्दु' शब्द से सहस्रार समझना चाहिये। इस चक्र-पूजा के अन्दर अपने इष्टदेवता के आवरण रूप में सभी देवताओं की पूजा का विधान है। यह अपरा पूजा तीसरी श्रेणी की होने पर भी, उपेक्षा के योग्य नहीं है। क्योंकि तान्त्रिक सिद्धाचार्यों ने कहा है कि परमेश्वर स्वयं सर्वज्ञ होने पर भी नित्य-निरन्तर महाशक्ति की यह अपरा पूजा किया करते हैं। इसी से समय पर अभेदज्ञान का आविर्भाव होता है। इसीलिये अभेदज्ञानरूपी सम्पत्ति को चाहनेवाले ज्ञानी साधकमात्र को सर्वदा

अपरा पूजा करनी चाहिये । इस श्रेणी की पूजा का विधिपूर्वक और नियम पूर्वक अनुष्ठान करने पर इसी के द्वारा साधक मध्यम-पूजा का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होता है। आवरणार्चनारूपी कर्मात्मक बाह्य तथा भेदमयी अवस्था क्रमशः भावना के क्रमिक उत्कर्ष के द्वारा ज्ञानमय अथवा अद्वैतबोधमय स्वरूप में विलीन हो जाती है। जब दृढ़ भावना के फलस्वरूप कर्म ज्ञान का रूप धारण करने लगता है, ठीक उसी समय मध्यमपूजा के अनुष्ठान की सूचना मिलती है। प्रज्वलित अग्नि में जिस प्रकार घी की आहुति दी जाती है, ठीक उसी प्रकार अर्चना के द्वारा अपनी बिकल्पात्मक प्रकृति को अखण्ड प्रकाशस्वरूप चिदानन्दघन परमेश्वर की परम-ज्योति में निक्षेप करना पड़ता है। यही मध्यम-पूजा का रहस्य है। साधन के बल से इसके सिद्ध होने पर परमपूजा की महिमा अपने-आप ही फूट पड़ती है। देह के ऊर्ध्वभाग में ब्रह्मरन्ध्र-नामक स्थान में सहस्रदल-विशिष्ट शुभ्रवर्ण का अधोमुख अकुल पद्म है, उसके बीच में 'निष्कला-शक्ति' विराजमान है, जिसके गर्भ में सूक्ष्म दृष्टि से अनन्त शक्तियों की सत्ता अनुभव की जाती है। इन सब शक्तियों के बीच 'व्यापिनी' नाम की एक शक्ति या कला है। इसके द्वारा ऊपर से नीचे की ओर अमृत झरता रहता है। इस महापद्म-वन के ऊपर 'समना' रूपी तिरोधानशक्ति का अधिष्ठान है। मन की गति यहीं तक हो सकती है। इसके ऊपर मनोराज्य की क्रिया सञ्चारित नहीं होती। इस पद्म को भीतरी कर्णिका में 'वाग्-भव' नामक एक त्रिकोण है, जहाँ से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये चार प्रकार की वाणियाँ निकलती हैं। जिसे भक्त साधक गुरुपादुका के नाम से वर्णन करते हैं, वह इसी त्रिकोण के भीतर अवस्थित है। विश्वगुरु परम शिव की पादुका ही गुरुपादुका है, यही तन्त्र का सिद्धान्त है।

गुरुपादुका 'पर' और 'अपर' भेद से दो प्रकार की है। इनमें स्वप्रकाश परम-शिव, उनकी स्वरूपभूता विमर्श-शक्ति तथा इन दोनों का सामरस्य—ये तीन परा-पादुका के भेद हैं।

> **स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका,**
> **तद्विमर्शतनुरेकिका, तयोः ।**
> **सामरस्यवपुरिष्यते परा**
> **पादुका परशिवात्मनो गुरोः ॥**

इस गुरुपादुका से निरन्तर स्निग्ध चन्द्र-रश्मि के समान घनीभूत चिद्-रस या परमानन्द की धारा बरसती हुई चराचर जगत् को आप्यायित और अनुप्राणित करती है। यही साधक की अपनी आत्मा है।

इसके पश्चात् प्रसाद ग्रहण करने की व्यवस्था है—जिसके फलस्वरूप परमशिव के साधक की सोऽहं-रूप में अद्वैत-भावना प्रतिष्ठित होती है। यही यथार्थ अमृत है, इसके अभिव्यक्त होनेपर साधक परमानन्दमय अद्वैतभाव में स्थिति प्राप्त करता है। तन्त्र के मतसे गुरु-प्रसाद तथा उसके ग्रहणका फल इस प्रकार है—

> **स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो**
> **यः प्रसीदति पदार्थमस्तके ।**

तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं
प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः ॥

शिवरूपी गुरु स्वप्रकाशरूप से पदार्थमस्तक में जब प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं अर्थात् चिदात्मरूप में अनुभूत होते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि परमानन्द की प्राप्ति इसका स्वाभाविक फल है। अर्थात् परमेश्वर के साथ अद्वैतभाव ही गुरुप्रसाद है। इसे अङ्गीकार करने पर स्वाभाविक ही परमानन्द समुल्लसित हो उठता है। यही परापूजा का रहस्य है।

उत्तमपूजा के जो लक्षण ज्ञानीजनों के समाजमें प्रचलित हैं, उनका तात्पर्य उपर्युक्त विवरण से कुछ ज्ञात हो सकता है। 'समस्त ज्ञेय पदार्थों की चिद्भूमि में विश्रान्ति ही पूजा कहलाती है।' ऋजुविमर्शिनी के इस लक्षण के साथ ही 'गुरु को अपने आत्मरूप में भावना करना ही पूजा है' अथवा 'निर्विकल्पक-महाकालमें आदरपूर्वक लय होना ही पूजा है' पादुकोदय-प्रभृति ग्रन्थों के इन पूजा-लक्षणों में कोई विशेष विलक्षणता नहीं है। श्रीमत् शंकराचार्यविरचित 'शिवमानसपूजास्तोत्र' के एक श्लोक में इस भावका किञ्चित् आभास पाया जाता है।

आत्मा त्वं गिरजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

हे शम्भो! मेरी आत्मा तुम्हीं हो; मेरी बुद्धि तुम्हारी शक्तिरूपिणी पार्वती हैं; मेरे सारे प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान इत्यादि तुम्हारे सहचर-स्वरूप हैं; मेरा शरीर ही तुम्हारा गृह या मन्दिर है; विषय-भोग के लिए मेरे जो इन्द्रिय व्यापार होते हैं वही तुम्हारी पूजा है; मेरी जो निद्रा है, वही वस्तुतः तुम्हारी समाधि-स्थिति है; मेरे पद-सञ्चार तुम्हारी प्रदक्षिणा हैं तथा मैं जो कुछ बोलता हूँ सब तुम्हारा ही स्तोत्र है। सारांश यह है कि मैं जब जो कर्म करता हूँ, सभी तुम्हारी आराधना है।

आत्मा के सभी कर्म शिव की अर्चना है; क्योंकि आत्मा ही शिवस्वरूप है। ये सब कर्म शिवरूपी आत्मा की तृप्ति के लिए होते हैं। भगवान् शङ्कराचार्य की इस उक्ति का मूल श्रीपूर्व-आगमशास्त्र में इस प्रकार देखने में आता है—

द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते।
गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम् ॥
षड् रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते।
यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः ॥

अर्थात् द्रव पदार्थ का स्पर्श ही उनका स्नान है। गन्ध-पुष्पादि की गन्ध को ग्रहण करना ही उनकी अर्चना है, षड्रसों का आस्वादन ही उनका नैवेद्य है तथा वर्णों का उच्चारण ही उनका जप है।

संविदुल्लास ग्रन्थ में है—

विश्वं मूर्त्तिर्वैखरी नाममाला
यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि ।
त्वद्भक्तानां स्वैरचारः सपर्या
स्वेच्छा शास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः ॥

अर्थात् हे शम्भो ! तुम्हारे भक्तों के लिये विश्व ही तुम्हारी मूर्ति है, वैखरी वाणी तुम्हारी नाममाला है, स्वैरचार ही पूजा है, स्वेच्छा ही शास्त्र है तथा अपना स्वभाव ही मोक्ष है । तुम्हारा ऐश्वर्य देश और काल के द्वारा अपरिच्छिन्न है ।

यह अवस्था अति दुर्लभ है । आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस क्षण-जन्मा पुरुष का संसार-परिभ्रमण का अन्तकाल समीप आ गया है, तथा जिसके ऊपर भगवती चित्शक्ति प्रसन्न हो गयी हैं, ऐसे विरले ही महापुरुषों के अन्तःकरण में इस प्रकार का पूजारहस्य प्रस्फुटित होता है । साधारण मनुष्य का इसमें कोई अधिकार नहीं है ।

'चिद्गगनचन्द्रिका' में तथा अन्यान्य आगम-ग्रन्थों में 'चार' 'राव' 'चरु' और 'मुद्रा'—इन चार प्रकार के पूजा-विधान की बात देखने में आती है । इनमें 'राव' का ही सर्वथा प्राधान्य वर्णन किया गया है । विमर्श अथवा अपनी आत्मशक्ति के साक्षात्कार को ही 'राव' कहते हैं । 'चार' 'चरु' तथा 'मुद्रा' शब्दों से क्रमशः आचारविशेष, द्रव्यविशेष तथा मूर्ति वा वेष-विशेष समझना चाहिए । ये तीनों क्रमशः 'राव' के ही प्रयोजकमात्र हैं । अतएव राव अर्थात् अपने स्वरूप की अपरोक्ष अनुभूति ही परम-पूजा है । इसमें कुछ सन्देह नहीं । इसी को कोई-कोई आचार्य 'निजबलनि-भालन' के नाम से वर्णन करते हैं । अर्थात् साधक की अपने हृदय की स्फुरत्ता ही परमेश्वर या देवता है । उसमें अपने साथ अभिन्नभाव में वर्तमान विश्वविक्षोभ की जो सहिष्णुता है, वही विमर्श-शक्ति या बलस्वरूप है, उसकी आलोचना करना ही पूजा का रहस्य है । इस आत्मविमर्श का ही नामान्तर जीवन्मुक्ति है । 'भगवती की परापूजा' इसका पर्यायमात्र है । इस अवस्था के उदय होनेपर 'आज्ञाधरत्व' आदि बाहरी विभूतियाँ अपने-आप ही अवश्यम्भावी रूप से प्रकट हो जाती हैं ।

आत्मविमर्श का स्वरूप भलीभाँति जानने के लिये सृष्टि प्रभृति विभिन्न चक्रों का तत्त्व-निरूपण आवश्यक है । अद्वैतदृष्टि से परमेश्वर अथवा विश्वगुरु साधक की अपनी आत्मा से अभिन्न हैं । चित्-शक्ति नाम की जो उनकी असाधारण स्वातन्त्र्य-शक्ति है, वह निरन्तर स्वभावतः पञ्चकृत्य रूप में अपने को प्रकट करती रहती है । सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा—इन पाँच कृत्यों का स्वभाव क्रमशः क्रिया, ज्ञान, इच्छा, उद्योग तथा प्रतिभा रूप में वर्णित होता है । हमने जिस स्वातन्त्र्य-शक्ति के विषय में उल्लेख किया है, उसी को आगम शास्त्रों में महाप्रतिभाशालिनी 'भासा' के नाम से निर्देश किया गया है । तरङ्गहीन समुद्र में जिस प्रकार वायु की क्रिया के कारण कुछ चाञ्चल्य दिखलायी देता है, जिसके द्वारा एक के बाद एक महातरङ्गों की उत्पत्ति होती रहती है, उसी प्रकार निर्विशेष शान्त तथा क्षोभशून्य 'भासा' रूपी महासत्ता के वक्षस्थल पर स्वातन्त्र्य के उल्लास के कारण उद्योगरूपी

आदि-स्पन्द का उदय होता है, इसे ही कहते हैं—सृष्टि की प्रथम कला का आत्म-प्रकाश। उद्योग, अवभास, चर्वण, आत्मविलापन तथा निस्तरङ्गत्व—इन पाँच प्रकार की समष्टि को सृष्टि कहते हैं। प्रत्येक जीवात्मा में यह समरूप से निहित है। दृष्टान्त के लिये एक कुम्हार के घड़ा बनाने के व्यापार को ले सकते हैं। घड़ा बनाने के पहले घड़े का भाव कुम्हार के आत्मचैतन्य के साथ अभिन्नरूप में स्थित रहता है। आत्म-स्वरूप में अभिन्नरूप से वर्तमान इस भाव को भिन्न अथवा पृथक्-रूप में बाहर निकालने के लिये जो प्राथमिक स्पन्दन होता है, वही 'उद्योग' नामक प्रथम प्रथा है। इसके पश्चात् दण्ड-चक्र-आदि की सहायता से यह भाव बाहर प्रकाशित होता है, इसीको 'अवभास' कहते हैं। सृष्टि-क्रिया के अन्तर्गत यह द्वितीय प्रथा है। इसके पश्चात् बाह्यरूप में अवभासित इस भाव को नाना प्रकार के व्यापारों के द्वारा बार-बार अपने रूप में अनुभव करना पड़ता है, इसीका पारिभाषिक नाम है 'चर्वण'। इतना हो जाने के बाद इस भाव-विशेष के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व अथवा स्रष्टा का प्रयोजन-सम्पादन ही सब भावों का एकमात्र उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के सिद्ध हो जाने पर इसके प्रति उदासीनता का होना स्वाभाविक है। यही 'विलापन' नामक चतुर्थ-प्रथा है। जब इस अर्थक्रिया की स्मृति तक लुप्त हो जाती है, तब 'निस्तरङ्गत्व' नामक पञ्चम प्रथा का आविर्भाव होता है। हमने जो दृष्टान्त दिया है उसमें आत्मा या परमेश्वर का स्वरूप ही समुद्र-स्थानीय है, तथा घटादि प्रत्येक भाव उसके तरङ्गस्वरूप हैं। ये तरंगें परमेश्वर में ही उदित होती हैं और फिर उन्हीं में लीन हो जाती हैं। भासा अथवा स्वातन्त्र्य-शक्ति वस्तुतः निष्कल होते हुए भी कलामय है; क्रमहीन होते हुए भी क्रमविशिष्ट के समान प्रतीत होती है। सृष्टि-व्यापारमें जिन पाँच प्रथाओंका उल्लेख किया गया है, ये उसी की कला के खेल हैं। सिद्धपुरुष कहते हैं कि परमेश्वर या आत्मा की सृष्टि-व्यापार में १० कलाएँ, स्थिति में २२ तथा संहार में ११ कलाएँ, एवं अनाख्या में १० कलाएँ कार्य करती हैं। सृष्टि की समस्त कलाएँ पहले प्रवृत्ति की ओर मुड़ती हैं। आत्मा की स्वधामस्थ पञ्च-योनि तथा उनके साथ अविनाभूत पंच सिद्ध, ये दस मिल कर सृष्टि की दस कला के रूप में वर्णित होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ये पूर्वलिखित उद्योग, अवभासन, आत्म-विलापन तथा निस्तरङ्गत्व से भिन्न पदार्थ नहीं हैं। सृष्टि-प्रभृति प्रत्येक व्यापार में इनका खेल देखने में आता है। इसी कारण एकमात्र सृष्टि में ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा—इन पाँचों कृत्यों की समस्त विचित्रताओं का स्पष्टरूप से विकास पाया जाता है। इसी प्रकार अन्य चक्र में भी उनसे भिन्न चक्रों के स्वभाव का अनुप्रवेश अवश्यम्भावी है। अतएव परमेश्वर के प्रत्येक कृत्य में पंचकृत्य-प्रवृत्ति की उन्मुखता देखी जाती है। इन सब कलाओं में जब एक कला स्वतः स्फुरित होती है, तब अन्य कलाएँ उसके साथ समरसभाव में वर्तमान रहती हैं।

आत्मस्वरूप को विभिन्न रूप में धारण करने की स्थिति कहते हैं। स्थिति-चक्र में जो बाईस कलाएँ कार्य करती हैं, उनमें आठ शिवचक्र में अर्थात् सहस्रार में, बारह हृदयस्थ षट्कोण में तथा दो उस षट्कोण के मध्यबिन्दु में रहती हैं। पहली आठ में से

चार पीठों के अधिष्ठाता चार युगनाथ नाम से प्रसिद्ध हैं तथा चार उन्हीं की शक्तियाँ हैं। उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप—इन चार केन्द्रों में परमेश्वर के परम कर्तृत्व की अभिव्यक्ति होने के कारण ये 'पीठ' नाम से परिचित हैं। परमेश्वर का जो प्रतिबिम्ब कर्त्तारूप में उनके परमकर्त्तृत्व की स्फुरणा के द्वारा अनुप्राणित होकर उड्डीयान पीठ में अपनी शक्ति के साथ अधिष्ठित रहता है, उसे कलियुग का 'नाथ' कहा जाता है। अकारात्मक प्रणवकला मन्त्र के द्वारा उसका ऐश्वर्य बढ़ता है। जाग्रत् अवस्थापन्न विश्व की स्थापना का अधिकार उसके ऊपर है। उसे 'कर्त्ता' कहते हैं। इसी प्रकार जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप पीठ के अधिष्ठातृ-गण द्वापर आदि तीनों युगों के नाथ-स्वरूप हैं। उनका ऐश्वर्य उकार, मकार और नादात्मक प्रणवकला मन्त्र के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। वे सभी परमेश्वर के परमकर्त्तृत्व के स्फुरण-विशेष के कर्त्ता हैं तथा क्रमशः ज्ञान, व्यवसाय या विचार और चैतन्य के आश्रयरूप में स्वप्नावस्थाक्रान्त, सुषुप्ति-अवस्था से आक्रान्त तथा तुरीयावस्था से आक्रान्त विश्व की स्थापना करते हैं। जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं में जगत् की स्थिति का सम्पादन जिन आठ कलाओं के द्वारा होता है, वे ही मस्तक के चक्र में स्थित चार पीठों के अधिष्ठाता शक्तिसहित चार युगनाथ के नामसे परिचित हैं। हृदयस्थित षट्कोणों में जिन बारह कलाओं की बात कही गयी है, वे तन्त्रशास्त्र में 'राजपुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें छः साधिकार हैं और शेष छः निरधिकार कहलाती हैं। दर्शन-शास्त्र में जिन्हें इन्द्रिय कहा जाता है, यहाँ 'राजपुत्र' शब्द से उन्हीं का निर्देश किया गया है। बुद्धि और पाँच कर्मेन्द्रियाँ साधिकार राजपुत्र हैं, तथा मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ निरधिकार राजपुत्र हैं, दोनों में यही भेद है। षट्कोण के केन्द्रस्थान में जो कुलेश्वर और कुलेश्वरी के अवस्थान की बात कही गयी है, उसे अहंकार और अभिमान-शक्ति का वर्णन समझना चाहिये। आत्मस्वरूप के तत्तत् रूप में धृति के मूल में ये ही बाईस कलाएँ अनुस्यूत रहती हैं। यही स्थितिचक्र का रहस्य है।

संहारचक्र में ग्यारह कलाओं का कार्य देखने में आता है। जितने भाव आत्म-स्वरूप से पृथक् होकर विक्षिप्त हैं, उनको फिर आत्मप्रकाश में वासनारूप से अवस्थापन करना ही 'संहार' शब्द का अर्थ है। ग्यारह संहार-शक्तियाँ अन्तःकरण के समष्टिरूप अहंकार को तथा बाह्य दस इन्द्रियों को ग्रास करके स्फुरित होती हैं। यहाँ अहंकार ही प्रमाता, इन्द्रियाँ प्रमाण तथा इन्द्रियों के विषयरूप समस्त ग्राह्य वस्तुएँ प्रमेय हैं। जो कलाएँ इन प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय को भीतर ग्रास करके प्रकाशित होती हैं, वे ही आत्मरूपी भगवान् की संहारिणी-शक्ति हैं। इन्हीं ग्यारह शक्तियों के सम्बन्ध के कारण परमेश्वर 'एकादशरुद्र' संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

'अनाख्या' नामक चतुर्थ चक्र में तेरह शक्तियों के कार्य दिखलायी देते हैं। आख्या शब्द से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन तीन प्रकार के वाक् के स्वभाव का बोध होता है। अतएव आख्याहीन अनाख्या-चक्र में ये वाक्प्रवृत्तियाँ नहीं रह सकतीं। हम पहले जिन सृष्टि-स्थिति और संहार नामक तीन चक्रों के विषय में कह आये हैं, उनमें संहार-धाम में नादरूपा पश्यन्ती-वाक् कार्य करती है, स्थितिधाम में

बिन्दुरूपा मध्यमा वाक् व्याप्त रहती है तथा सृष्टिधाम में लिपिरूपा स्थूल वा वैखरी वाक् कार्य करती है। ये तीनों प्रकार के वाक् ही ऊर्ध्वस्थित विमर्श अथवा परावाक् के द्वारा अनुप्राणित तुरीयावस्था में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—इस त्रिपुटी को उपसंहृत करके चिदग्निरूप में पर्यवसित होती हैं। संविदुल्लास नामक तन्त्रग्रन्थ में इस अवस्था के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है—

उद्योगमयमालस्यं प्रकाशैकात्मकं तमः।
अशून्यं शून्यकल्पं च तत्त्वं किमपि शाम्भवम्॥

अर्थात् शिवरूपी आत्मा का तत्त्व सचमुच ही अनिर्वचनीय है। यह उद्योगमय होते हुए भी आलस्यमय है। शुद्ध प्रकाशमय होते हुए भी तमोरूप है तथा शून्य न होते हुए भी शून्यवत् है।

इस अवस्था को वस्तुतः शून्यरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस अवस्था में योगी प्रकाश के साथ-साथ मानों एक प्रकार के अन्तर्विमर्श का भीतर-ही-भीतर अनुभव करते हैं। यह एक अलौकिक स्फुरणरूपी भासा के आनन्दमय अनुभव का विजृम्भण मात्र है। 'स्पन्दकारिका' में इस अवस्था के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है—

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥

अर्थात् चन्द्र और सूर्य जहाँ विलीन हो गये हैं, ऐसे महाव्योम में आत्मा सुषुप्ति-अवस्थापन्न मूढवत् प्रतीत होते हुए भी, वस्तुतः आवरणहीन तथा नित्य जाग्रत् अवस्था में ही रहता है। वस्तुतः यह अवस्था महासुषुप्ति के समान प्रतीत होने पर भी चिन्मय मुक्त-अवस्था का ही नामान्तर है। इस दशा में साधारणतः 'शक्ति' कहने में जो अभिप्राय व्यंजित होता है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यही नहीं, उस शक्ति के प्रकार और संख्या का निर्देश करना भी एक प्रकार से असम्भव है, तथापि तन्त्र में 'शक्ति' शब्द का औपचारिक प्रयोग देखने में आता है। अनाख्या-चक्र में जिन तेरह कलाओं की बात कही गयी है, उनमें बारह कलाएँ व्यष्टिभाव में इन्द्रियों के स्फुरणरूप में हैं, और एक कला इनकी समष्टिरूप में। वस्तुतः सृष्टि आदि करनेवाली सारी शक्तियाँ यहाँ संहारकरूप में पर्यवसित होती हैं। परन्तु जो संख्या आदि का निर्देश किया जाता है, वह भविष्यत् में होने वाले ज्ञेय पदार्थों के वचित्र्य को तथा वर्तमान समय में जो वासनारूप में भीतर स्थित है, उसको लक्ष्य करके ही किया जाता है। सृष्टि के भीतर सृष्टि, स्थिति, संहार और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ है। इसी प्रकार स्थिति और संहार—इनमें भी प्रत्येक में ये चारों अवस्थाएँ रहती हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बारह शक्ति, या देवी के खेल दिखलायी पड़ते हैं। ये बारह शक्तियाँ जिस महाशक्ति से निकलती हैं, तथा जिनमें लीन होती हैं उन्हीं को 'त्रयोदशी' कहते हैं। वस्तुतः यह त्रयोदशी सबमें अनुस्यूत तुरीय के साथ सम्मिलित 'भासा' के सिवा और कुछ नहीं है।

भासा या महाप्रतिभा भगवान् की स्वातन्त्र्यरूपा चित्-शक्ति का ही नामान्तर है, इसका हमने पहले ही उल्लेख किया है। इसीके गर्भ में पञ्चकृत्यमय अनन्त-वैचित्र्य निहित है। यह सर्वातीत होने पर भी सबकी अनुग्राहिणी पराशक्ति है। जिस प्रकार

दर्पण में नगर-आदि दृश्य-प्रपञ्च प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार इस स्वच्छ चिन्मयी पराशक्ति की भित्ति में ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप समस्त जगत् प्रतिबिम्ब की भाँति स्फुटित हो उठता है। जहाँ जो कुछ भान होता है, उस सबका पर्यवसान इसीमें है। इसी कारण इससे स्वयं किसी प्रकार के विकल्प के उदय होने की आशङ्का नहीं है। यही निर्विकल्प परमधाम है। तथापि आत्यन्तिक स्वच्छता के कारण सृष्टि आदि समस्त चक्र इसमें प्रतिबिम्बरूप में स्फुरित होते हैं। इसी कारण एक प्रकार से तत्तत् शक्ति के विकल्प रूप से उपासना करने का एक न्याय-संगत हेतु देखा जाता है। इसीलिये 'क्रमकेलि' में कहा गया है, कि 'अतएव ये निर्विमर्शं तुर्यातीतमिच्छन्ति ते निरुपदेशा एव'। इसीको 'सप्तदशी कला' कहा जाता है। षोडश कलाएँ विश्व-प्रतिबिम्ब-स्वभाव की होती हैं और सप्तदशी कला विश्व-वैचित्र्य के भित्तिस्वरूप। इसी कारण 'सप्तदशी' शब्द से विश्व तथा विश्वोत्तीर्ण परमेश्वर दोनों का ही बोध होता है।

यह स्वातन्त्र्य-शक्तिरूपा संविद्-देवी संकोच और विकास दोनों प्रणाली से नाना रूप में प्रतिभात होती हैं। पचास मातृका रूपी वर्णमाला इन्हीं का विकास है। पक्षान्तर से नवचक्र तथा पञ्च पिण्ड इन्हीं का संक्षिप्त रूप है। नवचक्र से मूर्त्ति, प्रकाश, आनन्द और वृन्द—ये चार, तथा सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा—ये पाँच कुल नवचक्रों का बोध होता है। गुरु अथवा परमेश्वर के पूर्वोक्त नवचक्र पीठ-निकेतन की ओर पाँच प्रकार से अथवा पञ्च स्रोत में प्रवाहित होते हैं। सारा प्रपञ्च इन पाँच प्रवाहों में पर्यवसित होने के कारण 'पञ्चपिण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। ये पञ्च-पिण्ड और भी संक्षिप्त होकर वाग्भव-बीज में परिणत होते हैं। वाग्भवबीज का पर्यवसान होता है 'अनुत्तरकला' में; तथा चरमावस्था में अनुत्तर कला के विशुद्ध आत्मपरामर्श-रूप में परिणत होने पर अपना परमेश्वरत्व सिद्ध होता है, एवं जीवन्मुक्ति की प्रतिष्ठा होती है। अतएव पूर्वोक्त आलोचना के द्वारा यह समझा जा सकता है कि भगवान् की पराशक्ति एक ओर जिस प्रकार आत्म-विमर्शरूप में स्थित है, दूसरी ओर उसी प्रकार पचास वर्णों के रूप में विश्व-प्रसार के विमर्श रूप में स्फुरणशील है। अर्थात् आत्मा विश्वातीत होते हुए ही विश्वमय है।

यहाँ जिन सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक पाँच चक्रों की बात कही गयी है, वही पञ्चवाह महाक्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले सृष्टि से लेकर अनाख्या-पर्यन्त चार चक्रों की पूजा क्रम-पूजा नाम से अभिहित होती है, उसके पश्चात् अक्रम-क्रमपूजा का अधिकार होता है, यही शास्त्र का विधान है।

परमेश्वर निरन्तर अविच्छिन्नभाव से अपनी स्वरूप-भित्ति से सृष्टि प्रभृति को स्फुटित करते रहते हैं। इसी कारण स्रष्टृत्व आदि सभी गुणों में उनका अपना श्रेष्ठ कर्त्तृत्व अनुस्यूत रहता है। उन्हें विमर्शमय या स्वातन्त्र्यशाली कहा जाता है, यही उसका तात्पर्य है। साधारण जीवों को वस्तुतत्त्व-विषयक ज्ञान नहीं होता, इसी कारण वे जन्म-मृत्यु के स्रोत में विवश होकर बहते चले जाते हैं। वे काल के अधीन होने के कारण पञ्च चक्रों के क्रम का अनुभव करने में समर्थ नहीं हैं, इसी कारण उनके लिये सृष्टि से भासा का व्यवधान अनुभवसिद्ध है। क्योंकि क्रमबोध के अधीन होने से सारे

जीवों की यह धारणा हो जाती है कि सृष्टि के परे स्थिति, संहार और अनाख्या क्रमशः इन तीन चक्रों का व्यवधान है और इस व्यवधान को पार किये बिना भासा का साक्षात्कार हो नहीं सकता। परन्तु यह धारणा परतन्त्रता और अज्ञान का विलासमात्र है। क्योंकि भासा ही सृष्टि की अधिष्ठान-भूमि होने के कारण तात्त्विक दृष्टि से सृष्टि और भासा के बीच किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रह सकता। हमने पहले ही कहा है कि भासा से पहले परिस्पन्दनरूप में उद्योग आदि क्रम से सृष्टि का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार विचार करने से समझा जा सकता कि सृष्टि का मूल भासा है, और भासा का विकास सृष्टि है। अन्यान्य चक्रों के विषय में भी इसी प्रकार विचार करना होगा। अर्थात् स्थिति का मूल सृष्टि है और सृष्टि का विकास स्थिति है—इत्यादि।

हमने जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि सृष्टि-प्रभृति चारो कार्यों में से प्रत्येक में ये चारों प्रकार हैं। अन्त में भासा या चित्-शक्ति में ही सब का पर्यवसान होता है। पक्षान्तर से चित्-शक्ति यद्यपि विशुद्ध स्वरूप के साक्षात्कार के कारण चैतन्य के अखण्ड अनुभव-स्वरूप तथा अद्वैत है, तथापि वह प्रतिबिम्बात्मक प्रपञ्च के स्वभाव का अनुकरण कर के पञ्चक-रूप में वर्णित होने योग्य है। इसी कारण पञ्चकरूप में से प्रत्येक में पञ्चात्मकत्व रहता है। इनमें पूर्व-पूर्व पञ्चक की पञ्चम कला का आश्रय कर के परवर्ती पञ्चक की प्रथम कला का स्फुरण होता है तथा परवर्ती पञ्चक की प्रथम कला पूर्ववर्ती पञ्चक की अन्तिम कला में विश्राम लेती है। इसी प्रकार सर्वत्र एक क्रम है। इसी के द्वारा परमेश्वर के पञ्चकृत्यचक्र का व्यापार चलता है, यह क्रम इतना सूक्ष्म है कि साधारणतः कोई उसे जान नहीं सकता, तथापि अत्यन्त तीव्र अभ्यास के द्वारा तथा सद्गुरु की कृपा से विरले ही कोई-कोई पुरुष कदाचित् ही इसे जानने में समर्थ होते हैं। इसे क्रम-परामर्श कहते हैं।

यह क्रम-परामर्श ही पूर्वोक्त स्वात्म-विमर्श या जीवन्मुक्ति है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर प्रकृति वश में हो जाती है, तथा अनन्त प्रकार की बाह्य विभूतियाँ योगी के लिये स्वाभाविक हो उठती हैं। भगवान् शङ्कराचार्य ने दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र में जिस महाविभूतिरूप ईश्वरत्व का वर्णन किया है, वह इस क्रमविमर्श से भिन्न नहीं। यही इच्छाशक्ति का विकास है। सद्गुरु की कृपा के बिना इस ज्ञान को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। क्रम-सिद्धिनामक ग्रन्थ में है—

गुर्वायत्तं क्रमज्ञानमाज्ञासिद्धिकरं परम्।
क्रमज्ञानान्महादेवि त्रैलोक्यं कवलीकृतम्॥

अर्थात् क्रमज्ञान सद्गुरु के अनुग्रह पर अवलम्बित है। यह योगी के लिये परम आज्ञासिद्धि का सम्पादन करता है। हे महादेवि! क्रमज्ञान की प्राप्ति कर लेने पर त्रैलोक्य वश में हो जाता है।

अतएव हम जिन्हें क्रमपूजा के रहस्य को जानने वाले आदर्श पूजक के नाम से वर्णन करते हैं वे क्रमसिद्ध महायोगी हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष हैं तथा परमेश्वर के साथ अभेद-ज्ञान में प्रतिष्ठित होकर स्वातन्त्र्य-शक्ति के अधिकारी हैं। महाशक्ति के श्रेष्ठ उपासक का यही स्वरूप है।

षट्-चक्र का भेद

आधुनिक साधकों तथा योगिसमाज की साधारणतः यही धारणा है कि षट्चक्रों का भेद किये बिना पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती एवं षट्चक्रों का भेद कर सकने पर पूर्णत्वप्राप्ति अवश्य ही होती है। यह धारणा बिल्कुल निर्मूल नहीं है। पर यह सोलहों आने सत्य है, यह भी नहीं कहा जा सकता। षट्-चक्र भेद किसे कहते हैं, एवं उसका मुख्य फल क्या है, यह ज्ञात होने पर इस सम्बन्ध में शास्त्रों का यथार्थ सिद्धान्त ज्ञात हो सकता है।

षट्चक्रभेद का विवरण हठयोग और राजयोग के साहित्य में विस्तार के साथ दिखाई देता है। तान्त्रिक योगसाहित्य में भी उसका वर्णन आया है। केवल यहीं नहीं, बौद्ध और जैनों के योग-सम्प्रदाय तथा नाथ-सम्प्रदाय में भी इसपर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। विभिन्न प्रस्थानों में षट्-चक्रों के विवरण पर किसी विषय में मतभेद दिखाई देता है। किन्तु मोटे तौर पर तत्त्वभेद का रहस्य सभी जगह एकसा ही है, एवं इस रहस्य के उद्घाटन का महत्त्व भी सभी सम्प्रदायों में निर्विवाद रूप से अङ्गीकार किया गया है। हम वर्तमान निबन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों में पारिभाषिक वैशिष्ट्यों एवं दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आलोचना नहीं करेंगे, केवल चक्र-भेद के प्रयोजन और उसकी प्रणाली के सम्बन्ध में निगूढ़ तत्त्व क्या है, इसी की यथासंभव संक्षेप पर विशदरूप से अपने दृष्टिकोण के अनुसार आलोचना करेंगे।

महान् पुरुषों का सिद्धान्त है कि जीव शिव से भिन्न नहीं है; किन्तु भिन्न न होने पर भी भिन्न सा बन कर बन्धन की अवस्था में सुषुप्ति की नींद में काल व्यतीत कर रहा है। शिव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हैं। उनकी इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अभिन्नरूप से परमचैतन्य नाम से अभिहित होती है। वे नित्य लीलामय हैं, एवं उनका 'पञ्चकृत्य' सम्पादन नित्य लीला का ही अङ्ग है। जगत् के सृष्टि, स्थिति और संहार ये तीन कार्य लोगों में सर्वत्र ही सुप्रसिद्ध हे। किन्तु इनके अतिरिक्त निग्रह अथवा तिरोधान और अनुग्रह ये दो अलौकिक कार्य भी भगवत्-शक्ति के साथ नित्य जुड़े हुए हैं। क्योंकि शिवरूपी परमब्रह्म एक और अद्वितीय हैं। उनकी पराशक्ति भी उनके साथ अभिन्न होने से एक और अद्वितीय है। किन्तु यदि लीला में प्रवृत्त होना हो तो सर्वप्रथम उनके लिंए स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अपने पूर्णत्व को आवृत कर अपूर्ण-रूप मे आत्मप्रकाश करना आवश्यक होता है। पूर्ण पुरुष अपने को संकुचित कर अर्थात् अपनी सम्पूर्ण शक्ति को स्वेच्छा से सीमित कर अणुरूप में अथवा जीव-रूप में अपने को प्रकट करते हैं। इसी का नाम तिरोधान अथवा निग्रह है। तदुपरान्त वे अपने अंशभूत चिदणु को क्रमशः भिन्न-भिन्न आवरणों से आवृत कर मायिक देह में

प्रकट करते हैं। यही सृष्टि का व्यापार है। जितने समय तक उक्त सृष्ट शरीर में स्थिति रहती है, तब तक स्थिति का व्यापार है। तत्पश्चात् समय पूरा होने पर उस देह का संहार होता है। तब उक्त चिदणु अपने संचित कर्मसंस्कारों को साथ लेकर माया-गर्भ में विलीन हो जाते हैं। व्यष्टिरूप से, समष्टिरूप से तथा महासमष्टिरूप से यह कार्य संघटित हो रहा है। उन सब संस्कारों के परिपक्व होने से फलोत्पत्ति का समय संनिकट होने पर उक्त चिद्णुओं को पुनः सुखदुःख-रूप फल का भोग करने के हेतु भोगायतन-भूत शरीर का ग्रहण करना पड़ता है, अर्थात् फिर सृष्टि के आवर्तन में पड़ना पड़ता है। इस तरह सृष्टि से लेकर संहार तक आवर्त निरन्तर काल-राज्य में चलता आ रहा है। अपना आत्मस्वरूप जब-तक अपरोक्ष-रूप से ज्ञात न हो, तब-तक इस काल के आवर्त से अथवा माया के चक्कर से स्थायी रूप से निस्तार पाने का दूसरा उपाय नहीं है। जब अणुरूपी जीव का मल परिपक्व हो जाता है, तब भगवान् का अनुग्रह कार्यकारी होकर उसे यथासमय आत्मज्ञान प्रदान करता है, एवं शिवमय निजस्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। इसी का नाम परमेश्वर का अनुग्रहरूप पंचम कृत्य है। परमेश्वर के निग्रह अथवा तिरोधान से जीव का संसार शुरू होता है। यही आत्मा का पतन है। ठीक इसी प्रकार परमेश्वर के अनुग्रह से जीव का संसार सदा के लिए निवृत्त हो जाता है और वह जीवभाव का त्याग कर अपना स्वाभाविक शिवत्व धारण करता है। यही आत्मा का उद्धार है, यही जीव के जीवन का पूर्ण इतिहास है।

जीव के क्रमविकास के इतिहास में मनुष्य-देह प्राप्त करना एक मुख्य कार्य है। स्थावर, उद्भिद्, पशु-पक्षी आदि चौरासी लाख योनियों में घूमने के अनन्तर जीव को मनुष्य-देह प्राप्त होती है। मनुष्यदेह-प्राप्ति के पहले तक उसके पाँच कोषों में से अन्नमय और प्राणमय कोष का ही विकास होता है। मनोमय-कोष की क्रिया एकमात्र मनुष्य-देह में ही हो सकती है। मनुष्यदेह में मनोमय-कोष की क्रिया आरंभ होती है एवं दीर्घकाल पर्यन्त जन्म-जन्मान्तरों तक वह चलती रहती है। कर्तृत्वाभिमान के प्रभाव से नूतन क्रिया सम्पन्न होती है, एवं उसके फलभोग के लिए उसके उपयोगी भोग-शरीर का ग्रहण करना पड़ता है। दीर्घकाल तक भोग सम्पन्न होने पर स्वभाव के नियमानुसार वैराग्य का उदय होता है एवं चित्त बहिर्मुखता का परित्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है। इस अवस्था में मन के परिपाकवश अलक्षितरूप में गुरु-शक्ति की क्रिया चलती है। तत्पश्चात् उक्त गुरु-शक्ति प्रबल होकर, चाहे निराधार अनुग्रह द्वारा ही हो चाहे आचार्य-देहरूप आधार के अवलम्बन-पूर्वक अनुग्रह द्वारा ही हो, जीव के ऊपर संचारित होती है। अधिकार की विशिष्टता रहने पर विवेक अथवा प्रातिभ-ज्ञान के द्वारा गुरुशक्ति का कार्य होता है। यही जीव के जीवन में भगवत्-शक्ति के अनुग्रहरूप व्यापार का रहस्य है।

मनुष्यदेह में गुरुशक्ति की क्रिया के प्रभाव से अणुरूपी जीव की शिवमय शक्ति सुप्तावस्था से जाग्रत्-अवस्था में उत्थित होती है, एवं जीव के जीवभाव को क्रमशः शिवभाव में परिणत करती है। जीवभाव की निवृत्ति होकर शिवभाव का उदय होना ही षट्चक्र-भेद का रहस्य है। शिव की शक्ति चिद्रूपा होने पर भी जीवदेह

में वह मूलाधारकुण्ड में अचिद्रूप से सोई हुई है, एवं जीव को अपने शिवस्वरूप का अनुभव नहीं करने देती। स्वरूप का आवरण तथा असत्य परकीय रूप का ग्रहण इसके कार्य हैं। पञ्च भौतिक तत्त्व तथा चित्त ये छः केन्द्ररूप में रहकर छः चक्रों का निर्माण करते हैं। ये छः चक्र निरन्तर चक्कर लगाकर शुद्ध आत्मा को जीवरूप में घुमा रहे हैं। ये यन्त्र स्वरूप हैं; जिनमें आरूढ़ होकर जीवमात्र इनके द्वारा नियंत्रित जीवन बिताने को बाध्य होता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र ही वर्तमान निबन्ध में आलोचनीय विषय हैं। प्रथम पाँच चक्र पञ्चभूतों के साथ संश्लिष्ट हैं एवं छठें चक्र का मन के साथ सम्बन्ध है।

आत्मा जब स्वातन्त्र्य के बल से जीवभाव धारण करते हैं, तब आत्मा की स्वरूपनिष्ठ परावाक् रूपा शक्ति जीव को अपने कार्यक्षेत्र के अन्दर रखकर उसके ऊपर साक्षात् भाव से या परम्पराक्रम से प्रभाव का विस्तार करती है। परावाक् जीव को आत्मविस्मृत करके रखती है एवं साथ-ही-साथ उसके हृदय में असंख्य प्रकार के विकल्पों की सृष्टि करती है। यहाँ विकल्पों से अस्पष्ट नवीन-नवीन अर्थों के आभास, जो हृदय में अकारण उदित होते हैं, समझने चाहिये। परावाक् से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों की आवरण-शक्ति का अवतरण होता है। पश्यन्ती भूमि में सर्वप्रथम ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहीता की त्रिपुटी अस्पष्ट रूप से उदित होती है, एवं क्रमशः वह उतार मार्ग में अधिक पुष्ट होती जाती है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि शिव अणुभाव ग्रहण कर जीवरूप धारण करते हैं। साथ-ही-साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि शिव की स्वाभाविक शक्ति जीवभाव की उपयोगिनी बनकर सुप्तरूप से जीवशरीर में स्थित रहती है। वस्तुतः यह सुप्तशक्ति स्थावर से लेकर मनुष्य की पूर्वावस्था तक सुषुप्ति और स्वप्नावस्था के बीच में स्वभाव के नियमानुसार क्रमविकास के मार्ग में अग्रसर होती है। मनुष्य-शरीर की सृष्टि होने पर भी वह शक्ति पूर्वोक्त स्वप्नावस्था में ही वर्तमान रहती है, यह सही है; किन्तु मनुष्य-शरीर में इस स्वप्नावस्था से जाग्रत्-अवस्था में उठने का क्रम प्राप्त होता है। जब तक यह स्वप्नावस्था रहती है (यह अवस्था सुप्ति के ही अन्तर्गत है, यह कहना अनावश्यक है) तब तक जीव की संसार-यात्रा अविछिन्न रूप से चलती रहती है। अभिमानवश कर्ता का स्वांग धारणकर कर्म करना और उसके बाद अनुरूप शरीर धारण कर उसका फल भोगना, यही संसारयात्रा है। उस शक्ति के जाग्रत् होने पर यह स्वप्न टूट जाता है। तब क्रम से मनुष्य का चित्त निरालम्ब अवस्था प्राप्त करता है, इसी को अचित्-शक्ति से चित्-शक्ति का पुनरुत्थान जानना चाहिए। सुप्तावस्था में रहने एवं अचेतनवत् प्रतीयमान होने पर भी चैतन्य अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। फलतः जब कुण्डलिनी के जागरण से चैतन्य पुनः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, तब वास्तव में जीव को किसी नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। उसको अपने स्वभावसिद्ध शिवमय स्वरूप की ही पुनः प्राप्ति होती है।

परावाक् से लेकर वैखरी-वाक् तक शब्द का अवतरण होने पर वर्णात्मक शब्द

का उदय होता है एवं वर्ण को मूल बनाकर पद, वाक्य आदि के सहकार से भाषा की सृष्टि होती है। ये सब वर्ण अथवा मातृकाएँ ही तत्वज्ञान की दृष्टि से चित्त में विकल्पों के उदय में निमित्त हैं। जब-तक मूल में वर्ण को वर्णहीन अविच्छिन्न नादरूप में परिणत न किया जा सके, एवं नाद को विन्दुरूप में प्रतिष्ठित न किया जा सके तब-तक विकल्पों का अन्त होना सम्भव नहीं है। बिन्दु परबिन्दु के रूप में आज्ञाचक्र के ऊपर नित्य विराजमान रहता है। किन्तु उसकी यदि उपलब्धि करनी हो तो अपने स्वरूप में उस विन्दु के विखरे हुए अनन्त अंशों को इकट्ठा कर पुनः उस विन्दु में उनका उपसंहार करना आवश्यक है। हम लोगों के जो लय और विक्षेप हैं, वे इन बिखरे हुए अंशों के आवरण और चञ्चलता के कारण हैं, इसमें सन्देह नहीं। षट्चक्रों का भेद करने वाले योगी का पहला लक्ष्य यहीं है कि वह उन बिखरे अंशों को एकत्र कर ऊर्ध्वगामी महास्रोत से युक्त कर दे। शास्त्र में कहा गया है कि 'चित्तनदी उभयतोवाहिनी' है। वह संसार की तरफ प्रकट रूप से निरन्तर बहिर्मुख अथवा अधोमुख होकर बह रही है एवं वही पुनः कल्याण की ओर गुप्त रूप से अन्तर्मुख अथवा ऊर्ध्वमुख होकर बह रही है। यह जो ऊर्ध्वमुखी अथवा अन्तर्मुखी धारा है, यह मानवशरीर के मेरुदण्ड के बीच में स्थित सुषुम्ना नाडी का अवम्बन कर प्रवाहित होती है, एवं बहिर्मुखी अथवा अधोमुखी धारा इडा या पिंगला तथा उनकी असंख्य शाखा-प्रशाखाओं का अवलम्बन कर प्रवाहित होती है।

शास्त्रों में मूलाधार आदि जिन सब चक्रों अथवा कमलों का वर्णन दिखाई देता है, वे सभी पूर्वोक्त विशेष वर्णों द्वारा निर्मित एक प्रकार के यन्त्र हैं। ये सब वर्ण ही परस्पर अलग-अलग रहकर और परस्पर के योग से विभिन्न प्रकार के विकल्पों की सृष्टि करते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ताप आदि सभी वृत्तियाँ इन सब विकल्पों से अनुप्राणित हैं। वैखरी के सब वर्णों को विगलित कर मध्यमा में नादाभास में परिणत करना एवं तदनन्तर पश्यन्ती से विशुद्ध नादमय ज्योति में प्रकाशित करना ही योग-साधना का प्रयोजन है। पश्यन्ती से परा में जाकर शब्दब्रह्म-भेद होने पर परम-सिद्धि का उदय होता है।

किन्तु प्रश्न यह है कि वर्णों को विगलित कर नादरूप में परिणत करने के लिए ताप आवश्यक होता है। इस ताप का मूल क्या है? यह ताप अग्नि का ताप है, एवं यह अग्नि लौकिक अग्नि नहीं है, यह चिद्-अग्नि है। मूलाधार कुण्ड में जो कुण्डलिनी सोई हुई है, उसे जाग्रत् कर सकने पर ही इस चिदग्नि की प्राप्ति और उपयोग हो सकता है। इसलिए योगी का पहला कार्य है कि जिस किसी भी प्रक्रिया द्वारा कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करे और उसके बाद उद्बुद्ध कुण्डलिनी के तेज के साथ विशेष प्रक्रिया द्वारा अथवा भावना के द्वारा अपने प्राण और मनको मिलावे। इस अवस्था में मन, प्राण और जाग्रत् कुण्डलिनी; ये तीनों वस्तुएँ पृथक् न रहकर एक शक्ति के रूप में परिणत होती हैं। मन को यदि चन्द्र माना जाय तो प्राण को सूर्य मानना आवश्यक है, एवं कुण्डलिनीरूपा वाक्शक्ति वास्तव में अग्नि का स्वरूप है। इस तरह चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि ये तीन शक्तियाँ एक शक्ति

में परिणत होती हैं। इसके प्रभाव से मूलाधार के चतुर्दल में स्थित चार वर्ण-मातृकाए विगलित होकर नाद का रूप ग्रहण करती हैं, एवं ये चार नाद समष्टि रूप से अभिन्न नाद के आकार में प्रत्यावर्तन-द्वारा मूलाधार के केन्द्रस्थ बिन्दु में पहुँचाये जाते हैं। मूलाधार का बिन्दु ऊद्‌र्ध्वमुख सुषुम्नास्रोत से क्रमशः ऊपर की ओर उठता है। इस तरह मूलाधार चक्र शून्य हो जाता है। ठीक इसी प्रणाली से स्वाधिष्ठान से आरम्भ कर आज्ञा-चक्र तक सभी चक्रों में संस्कार-कार्य चलता है। अन्त में षट्‌चक्रों की पचास मातृकाएँ नादरूप में परिणत होकर एवं पहले छः बिन्दुओं में परिणत होकर क्रमशः अन्त में एक बिन्दु में स्थित होती हैं। यही बिन्दु भ्रूमध्य में स्थित तृतीय नेत्र-रूप बिन्दु हैं। इसका स्थान आज्ञाचक्र के ऊपर है। इस नेत्र के उन्मीलन को आज्ञा-चक्र का उन्मीलन कहा जाता है। यह मूल में गुरुशक्ति के द्वारा ही निष्पन्न होता है एवं साधक के प्राण, मन और जाग्रत् कुण्डलिनी इसके सहयोगी हैं। बिन्दु के उन्मीलित होने पर अर्थात् तृतीय नेत्र या आज्ञाचक्र के खुल जाने पर जीव फिर जीव नहीं रहता, वह अपना नित्य शुद्ध शिवरूप धारण करता है। क्योंकि तीन नेत्र एकमात्र शिवजी के ही हैं—जीव के नहीं। सहस्रार में गति वास्तव में शिव की ही गति परमशिव की ओर है। तदनन्तर सहस्रार का भी भेदन होता है। किन्तु ये सब विषय यहाँ पर आलोचनीय नहीं हैं। शब्दों से अर्थात् वर्ण-मातृका रूप शब्दों से विकल्प का उदय होता है, इसलिए ये महाप्रकाश सृष्टि के कल्पक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकाश का उदय और हम लोगों की प्रच-लित भाषा में काशी-मृत्यु समानार्थक हैं। अर्थात् काशी में देहत्याग करने पर शिवत्व-प्राप्ति होती है, एवं आज्ञा-चक्र का भेदन कर महाप्रकाश में प्रवेश पाने पर देहात्मबोध हट जाता है और शिवभाव में स्थिति होती है, यह एक ही बात है।

जिस प्रणाली से ऊपर चक्रभेद की चर्चा की गई है, उससे अतिरिक्त और भी बहुत सी प्रणालियाँ हैं; एवं उन सब प्रणालियों द्वारा योगमार्ग में अग्रसर होने पर भी फलावस्था एक ही प्रकार की उदित होती है। इस अवस्था में कर्मों का शेष होता है, अहङ्कार की निवृत्ति होती है, देहात्मभाव हट जाता है तथा अप्राकृत स्वरूप में स्थिति होती है। इस अवस्था से पार होने पर ही यथार्थ उपासना का कार्य हो सकता है। क्योंकि शास्त्रों में कहा है—

"नाशिवस्य शिवोपास्तिर्घटते कल्पकोटिभिः।"

अर्थात् यदि शिव की उपासना करनी हो तो पहले स्वयं शिव होना चाहिये। शिवत्व-विहीन जीव-दशा में शिव की उपासना वास्तविक उपासना नहीं है।

षट्चक्र-भेद की परावस्था

हम अन्यत्र षट्-चक्रभेद के रहस्य के सम्बन्ध में कुछ विवेचन कर चुके हैं। पूर्णत्व के पथ पर यदि अग्रसर होना हो तो षट्-चक्र ही पहली सीढ़ी के रूप में परिगणित होने योग्य है, क्योंकि षट्चक्रभेद न होने तक देहात्म-बोध की निवृत्ति नहीं होती। यह स्थूल देह तथा इसकी आनुषङ्गिक इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदि आत्मा से पृथक् जड पदार्थ हैं। मनुष्य की अहं-बुद्धि जन्म से ही इन सबका अवलम्बन कर अभिव्यक्त और पुष्ट होती है। जब-तक देह आदि में आरोपित यह अहंबोध देहादि से मुक्त होकर आत्मस्वरूप के अवलम्बन से प्रकाशित नहीं होता, तब-तक पूर्णत्व के पथपर अग्रसर होना तो दूर की बात है; पदार्पण भी नहीं हो सकता। इसलिए प्रस्थान-भेद से जो लोग चाहे जिस प्रकार के साधन-मार्ग का ग्रहण क्यों न करें किन्तु अध्यात्मराज्य में प्रगति प्राप्त करने के लिए उन्हें सर्वप्रथम अपने अहंभाव को स्थूल अनात्मवस्तु से अवश्य मुक्त करना होगा। हाँ, देहादि से मुक्त होने पर ही विशुद्ध मार्ग में प्रवेशलाभ होता है, ऐसी कोई बात नहीं। किन्तु यह सत्य है कि विशुद्ध सत्य-मार्ग में चलने के पहले अहं-बोध को देह आदि से पृथक् कर शुद्ध करना आवश्यक है।

साधक लोगों की परिभाषा के अनुसार तृतीय नेत्र अथवा ज्ञानचक्षु का उन्मीलन ही देह से अर्थात् देहात्मबोध से मुक्त होने का पहला परिचय है। षट्चक्रों में प्रत्येक चक्र में एक-एक बिन्दु है। वही उस चक्र का केन्द्र है और उस चक्र के अधिष्ठाता चक्रेश्वर उस बिन्दु पर अधिष्ठित रहते हैं। प्रत्येक चक्र का बहिरंग वर्णमय है। उन्हें प्रबुद्ध कुण्डलिनीरूपा चित्-शक्ति की सहायता से विगलित कर नाद में परिणत कर सकने पर ही चक्रस्थ बिन्दु की प्राप्ति हो सकती है। उसके बाद ब्रह्मनाडी के स्वभावसिद्ध ऊर्ध्वमुखी स्रोत से उसकी ऊर्ध्वगति होती है। इस प्रकार छहों चक्रों की बिन्दुप्राप्ति और बिन्दु की ऊर्ध्वगति से भौहों के मध्य के कुछ ऊपरी भाग में प्रज्ञाचक्षु का उन्मीलन होता है। इस अवस्था में साधक पचास वर्ण और उनसे उद्भूत नाद का अतिक्रमण कर विकल्प-शून्य एक विशुद्ध-ज्योति को प्राप्त होता है। यह ज्योति ही बिन्दु है, जिसे भेदकर व्यष्टि-जगत् से समष्टि-जगत् में प्रवेश करना पड़ता है। बिन्दु ज्ञानात्मक ज्योतिःस्वरूप है। इसमें सब ज्ञेय पदार्थ अभिन्न रूप से निहित रहते हैं। इस ज्योति को प्राप्त कर और इसी के अन्दर स्थित शून्य का आश्रयण कर योगियों को बृहत्तर जगत् में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। भक्त और योगी लोगों ने समझने की सुविधा के लिए विश्व को व्यष्टि, समष्टि और महा-समष्टि रूप तीन भागों में विभक्त किया है। व्यष्टि कहने से एक विशिष्ट नरदेह को समझना चाहिये। सन्त लोगों की परिभाषा में इसका नाम पिण्ड है। समष्टि से ब्रह्माण्ड

का बोध होता है। असंख्य पिण्डों का समुदायरूपी ब्रह्माण्ड ही समष्टिपद का अर्थ है। ब्रह्माण्डों की संख्या अगणित है। समष्टि की दृष्टि से अगणित ब्रह्माण्डों की समष्टि ही महासमष्टि के रूप में वर्णनीय है। यहाँ तक तो भावसृष्टि की परिसीमा है। इसके बाद शून्य है। भावमय कोई भी सत्ता वहाँ नहीं रहती। किन्तु यह शून्य या अभाव भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है, यह कहना अनावश्यक है।

जैसे व्यष्टि से यदि समष्टि में जाना हो तो शून्य का भेद करके जाना पड़ता है, वैसे ही समष्टि से महासमष्टि में जाने के लिये भी शून्य-भेद आवश्यक है। इसी नियम के अनुसार महासमष्टि का भी भेद करना पड़ता है। महासमष्टि का अतिक्रम होने पर वास्तविक चरम-शून्य का साक्षात्कार होता है।

षट्चक्रों का भेद हो जाने पर समष्टि-राज्य या समष्टि-सत्ता में प्रवेश होता है। माता के गर्भ में स्थित शिशु जब माता के गर्भ में रहता है, तब वह मातृगर्भ ही उसके लिए एक राज्य है। किन्तु मातृगर्भ से प्रसव होने के पश्चात् वह फिर मातृगर्भरूप पूर्व राज्य में स्थित नहीं रहता। तब वह बाहर जो कालराज्य है, उसमें प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ का भी व्यापार कुछ अंशों में वैसा ही है। जब-तक आत्मा व्यष्टि शरीर का आश्रयण करके रहता है, तब-तक योगी का पहला लक्ष्य होता है—उस अभिमान को मिटाकर व्यापकतर राज्य में प्रवेश करना। किन्तु अभिमान मिटाने पर भी मिटता नहीं। क्योंकि व्यष्टि का अभिमान मिट जाने पर भी समष्टि का अभिमान उसकी जगह प्राप्त कर बैठ जाता है। अथवा अन्य प्रकार से कहा जा सकता है कि समष्टि के अभिमान से अभिमानी होना और व्यष्टि के अभिमान से मुक्त होना, एक ही समय में संघटित होते हैं। इसका सारांश यह है कि साधक अथवा योगी षट्चक्र-भेद करने के साथ ही साथ ब्रह्माण्ड के अभिमानी होकर क्रमशः ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं। ब्रह्माण्ड अथवा समष्टि महासत्ता में भी षट्चक्रों के तुल्य विभिन्न केन्द्र-स्थान हैं। एक के बाद उन सब केन्द्र स्थानों का अवलम्बन कर योगी का चैतन्य उन्मीलित होता है। एक पक्ष में यह गति ज्ञानराज्य के अन्तर्गत प्रगति के सिवा और कुछ नहीं है। इसके पहले ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन हो चुका है। इसलिए ज्ञानराज्य में प्रवेश और उक्त राज्य में संचरण होना संभव हुआ। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि ज्ञान के बाद भी महाज्ञान है। समष्टि के बाद भी जैसे महासमष्टि है, यह भी कई अंशों में इसी तरह है। इसलिए ज्ञानराज्य से निष्क्रमण और महाज्ञान-राज्य में प्रवेश दोनों ही आवश्यक हैं। ज्ञानराज्य से निष्क्रमण पूर्ववत् ब्रह्माण्ड के ऊपरी भाग के बिन्दु का भेद कर हो सकता है। यही ब्रह्माण्ड-पुरुष के ज्ञान-नेत्र का उन्मीलन है। पिण्डस्थ पुरुष के ज्ञाननेत्र के विकास के साथ इसका अनेक अंशों में सादृश्य है। इस नेत्र का उन्मीलन हुए बिना महाज्ञान-राज्य दृश्यपथ में नहीं पड़ता, एवं उसमें प्रवेश करने की सामर्थ्य भी पैदा नहीं होती। महाज्ञान-राज्य कहने से सृष्टि का अंगीभूत समग्र विश्व समझना चाहिये। महा समुद्र में छोटी-छोटी द्वीपमालाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। समुद्र के जल द्वारा प्रत्येक द्वीप चारों ओर व्याप्त रहता है—इस मध्यवर्ती जल के व्यवधान से एक द्वीप के साथ दूसरे द्वीप का परस्पर सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु वास्तव में अनन्त

समुद्र में असंख्य द्वीप-पुंज विद्यमान हैं। इन सब द्वीपों की संख्या बतलाना संभव नहीं है। यह महासमुद्र वस्तुतः कारण समुद्र का ही नामान्तर है, एवं इन सब द्वीपों में प्रत्येक द्वीप एक-एक ब्रह्माण्ड का स्वरूप है। इन सब द्वीपों की जो समष्टि है, वही महासमष्टि है। ब्रह्माण्ड के ऊपरी भाग में आबद्ध होकर ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता होने पर भी इन अगणित ब्रह्माण्डों के समष्टिरूप महाज्ञानराज्य का पता नहीं लगता। इसके लिए ब्रह्माण्ड-स्थित पुरुष के लिए ज्ञाननेत्र का उन्मीलन कर ब्रह्माण्ड से निष्क्रमण तथा मध्यवर्ती शून्य का भेद कर तत्-तत् ब्रह्माण्डों में प्रवेश आवश्यक है। यह महासमष्टि एक हिसाब से आदि-सृष्टि के रूप में परिगणित होने योग्य है, जिसका कारण-महासमुद्र के रूप में वर्णन किया गया है, वही विराट् आकाश है; जिसमें नक्षत्र-पुञ्ज के तुल्य अनन्त ब्रह्माण्ड भासित होते हैं।

यह कहना अनावश्यक है कि यहाँ तक अज्ञान का खेल पूर्णरूप से विद्यमान रहता है। हाँ, व्यष्टि के अज्ञान से समष्टि का अज्ञान सूक्ष्म होता है एवं समष्टि के अज्ञान से महासमष्टि का अज्ञान और भी सूक्ष्म होता है। किन्तु सूक्ष्म होने पर भी अज्ञान अज्ञान ही है। महासमष्टि का अज्ञान ही मूल अज्ञान है। महासमष्टि देह का अभिमानी पुरुष ही आदि जीव है। यही एकमात्र जीव है। इसके बाद फिर जीवभाव रहता ही नहीं। यह एक जीव ही प्रतिबिम्ब-भेद से अनन्त जीवरूपों में प्रकाशित होता है। महासमष्टि का अतिक्रमण होने पर जो ज्ञान का विकास होता है, वही पूर्णज्ञान है। वास्तव में वही यथार्थ आत्मज्ञान है। इस आत्मज्ञान का उदय होने पर आत्मा में जो अहं-प्रतीति का उदय होता है, वही पूर्ण 'अहम्' है। इस 'अहम्' का प्रतियोगी और कोई भी 'अहम्' रह नहीं सकता। दुर्गासप्तशती में आता है—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।"—यह इस अद्वितीय ज्ञान का ही सूचक है।

कारणसमुद्र के उस पार में गये बिना इस अद्वितीय अहं-प्रतीति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस अद्वैत अहंभाव के विभक्त होने पर सृष्टिकाल में 'अहम्' और 'इदम्' रूप में ज्ञाता और ज्ञेय नाम से दो धाराओं की सृष्टि होती है। इन दो धाराओं के रहने तक मध्य में शून्य की अवस्थिति अवश्यम्भाविनी है। इसलिए ज्ञान की पूर्णता के लिए एक के बाद एक सभी शून्यों का भेद करना पड़ता है। मोटे तौर पर हमने तीन शून्यों का ग्रहण किया है—शून्य, महाशून्य और अतिमहाशून्य। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर समझाने की सुविधा के लिए शून्यों की संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है। किन्तु शून्य कितने ही क्यों न हों, अतिमहाशून्य के बाद फिर शून्य नहीं रहता। कोई लोग इसे आत्यन्तिक-शून्य और अनन्त-शून्य भी कहते हैं। द्वैतदृष्टि से इस चरम शून्य का भेद होता नहीं, एवं इसी लिए चित् और अचित् का समन्वय तथा जीव और ईश्वर की एकत्व-प्रतीति संभव नहीं होती। किन्तु जो ज्ञानी अथवा योगी इस अन्तिम शून्य का भेद करने में समर्थ हैं, वे स्वभावतः ही अप्रतिद्वन्द्वी होकर रहते हैं, क्योंकि वहाँ एकमात्र अहं के सिवा 'इदम्' का कोई स्थान ही नहीं रहता। इस परम-राज्य में प्रवेश करने का जो द्वार है, उसका नाम 'भ्रमरगुहा' है। भ्रमरगुहा

चरम-शून्य के बाद एवं पूर्ण सत्य के पहले अर्थात् दोनों के सन्धिस्थान में स्थित है। भ्रमरगुहा का भेद हो जाने पर वास्तविक सत्यराज्य में प्रवेश प्राप्त हो जाता है। व्यष्टि, समष्टि तथा महासमष्टि सभी काल के राज्य तथा काल के नियन्त्रण के अधीन हैं। किन्तु सत्य-राज्य यथार्थ गुरु-राज्य है। काल के राज्य में मन और माया का खेल रहेगा ही, एवं सृष्टि और प्रलय की विभिन्न प्रकार की लीलाएँ भी आवश्यंभाविनी हैं। वहाँ प्रकाश और अंधकार, दिन और रात्रि—सब द्वन्द्व रहते हैं। किन्तु गुरु-राज्य द्वन्द्वातीत है। वहाँ रात-दिन नहीं, सृष्टि-संहार नहीं तथा चित् और अचित् का विभाग भी नहीं है। वहाँ काल नहीं है, पर ह्लादिनी-शक्ति की क्रीड़ा के लिए, आनन्द के आस्वादन के लिए नित्य-गुरु के अधीन उनका किंकर-रूप काल वहाँ रहता है। काल का राज्य कार्यकारण-भाव के ऊपर प्रतिष्ठित है। वह न्याय का राज्य है। किन्तु गुरु-राज्य स्वातन्त्र्यमय—स्वाधीनतामय—है, वही वास्तविक स्वराज है। वह प्रेम का राज्य, महाकरुणा का राज्य है। वस्तुतः जो प्रेम है, वही काल की ओर दृष्टिपात के साहाय्य से महाकरुणा के रूप में परिणत होता है। इस गुरु-राज्य के भी अनन्त वैशिष्ट्य हैं। किन्तु इस प्रसंग में उनका विवेचन अनावश्यक है।

मन से उन्मना

मनुष्यों के ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों जीवनों के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पंचकोशों में साधारण मनुष्य के लिए मनोमय-कोश की ही प्रधानता है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते-करते अन्नमय और प्राणमय कोशों का विकास होने पर मनुष्य-शरीर में मनोमय-कोश का विकास होता है। कर्म-संकार और अनुभव-संस्कार—दोनों ही मनोमय-कोश में संचित रहते हैं। इन संस्कारों के अनुसार नूतन कर्मों की निष्पत्ति होती है, एवं उसके बाद उन कर्मों का फल-भोग होता है। यह भोग-संस्कार भी मनोमय-कोश की ही सम्पत्ति है, यह कहना अनावश्यक है। जन्म-जन्मातरों तक संसार-क्षेत्र में विचरण करते-करते गुरु-कृपा से महा क्षण में जब ज्ञान का उदय होता है, तब विज्ञानमय-कोश का कार्य शुरू होता है। विज्ञानमय-कोश के बाद कारण-भूमि में आनन्दमय-कोश का काम आरंभ होता है।

मन त्रिगुणात्मक है। यद्यपि चित्त सत्त्वगुण-प्रधान है, अतः उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है तथापि रजोगुण और तमोगुण भी सदा विद्यमान रहते ही हैं। उसमें सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर भी सर्वथा पूर्णरूप से रजोगुण और तमोगुण से उसका योग कदापि नहीं होता, क्योंकि त्रिगुणात्मक कार्य में त्रिगुण की क्रिया अवश्य ही रहेगी। किन्तु सत्त्वगुण की ऐसी एक अवस्था है, जिसका वैष्णव लोगों ने विशुद्ध-सत्त्व के नाम से और योगभाष्यकार व्यासदेव ने प्रकृष्ट-सत्त्व के नाम से निर्देश किया है। यह अवस्था अप्राकृत और रजोगुण तथा तमोगुण से सदा के लिए विमुक्त है। यह विशुद्ध-सत्त्व साधारण मनुष्य में उपाधि रूप में विद्यमान नहीं रहता, अथवा रहने पर भी वह अभिव्यक्त नहीं रहता। तान्त्रिक लोग उसका 'विन्दु' नाम से उल्लेख करते हैं। बिन्दु के क्षुब्ध हुए बिना ऊर्ध्वगति नहीं होती, एवं दिव्य-भुवन का विकास भी नहीं होता। योगी मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्था का त्याग कर जब एकाग्र-भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं, तब सत्त्वगुण का उत्कर्ष स्पष्टरूप से दिखाई देता है, एवं चित्त-पटल पर रजोगुण और तमोगुण सत्त्व के भीतर लीन से रहते हैं। एकाग्र-भूमि में अस्मिता के रूप से परम प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञाभूमि में सर्वज्ञत्व और सब भावों के अधिष्ठातृत्व नामक विशोका-सिद्धि का उदय होता है। यह योगी का ऐश्वर्य है, किन्तु इसमें अविवेक या अज्ञान रहता है। इसलिए योगी को योगैश्वर्य का परित्याग कर विवेक ज्ञान प्राप्त कर अज्ञान का मूलोच्छेद करना चाहिये। इसके पश्चात् गुणातीत भूमि में प्रवेश करने की संभावना होती है।

एकाग्रभूमि में चित्त ध्येय का अवलम्बन ज्ञेय-रूप में करता है। चित्त स्वयं ही ज्ञान और स्वयं ही ज्ञाता है। अर्थात् जो एक सत्ता एकाग्रभूमि में प्रज्ञा के रूप में व्यक्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अभिन्न-रूप में प्रकट होते हैं। वस्तुतः यह चित्त के सिवा और कुछ नहीं है। स्वच्छ-चित्त में चिदालोक पड़ने पर प्रतिबिम्ब के रूप में

जिस ज्योति का विकास होता है, वही इस प्रज्ञा का स्वरूप है। यह मानो पूर्णिमा का चन्द्रमा है। किन्तु इस विशुद्ध चिदालोक को पाना यदि अभीष्ट हो तो उपाधिरूप दर्पण का अतिक्रमण करना आवश्यक है। पर आवश्यक होने पर भी वह सहज-साध्य काम नहीं है। एकाग्रभूमि से निरोधभूमि में होकर योगी का गति-मार्ग निर्दिष्ट है। यह निरोध चित्त का निरोध है, अर्थात् निरोधवृत्ति का भी निरोध एवं संस्कारों का भी निरोध है। निरोध पूरा होने पर वृत्ति तो रहती ही नहीं, संस्कार भी नहीं रहते। यहाँ तक कि तब निरोध भी नहीं रहता। वास्तव में तब चित्त ही नहीं रहता, रहता है केवल विशुद्ध-चैतन्य। चित्त का पूर्णरूप से अभाव ही उन्मनी भाव है। यही विशुद्ध चैतन्य की स्वरूप-शक्ति या निजशक्ति के रूप से योगियों के समाज में प्रसिद्ध है।

मन की एक मात्रा में स्थिति होने पर एकाग्रभूमि की प्रतिष्ठा होती है। तब द्रष्टा के दृष्टि-पथ से सम्पूर्ण विश्व विलुप्त हो जाता है—एकमात्र अनन्त चिदाकाश प्रकाशमान होता है; किन्तु चिदाकाश होने पर भी वह तब चिद्रूप में भासित नहीं होता, महाशून्य के रूप में प्रकाशित होता है। इस महाशून्य में योगी का लक्ष्य-स्वरूप स्वयं-प्रकाश एक तत्त्व—वह चाहे जो भी क्यों न हो—स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो उठता है। इस ज्ञान में व्यष्टि और समष्टि का कोई भेद नहीं रहता, एवं पिण्ड और ब्रह्माण्ड में भी कोई पार्थक्य नहीं रहता। इसमें देश और काल का कोई व्यवधान नहीं रहता। यह नित्योदित और नित्य वर्तमान है। इसके पश्चात् यह प्रज्ञा अतिक्रान्त होती है। तब 'एक' भी नहीं रहता। विश्व तो पहले ही चला जा चुका है। यह 'एक' वस्तुतः चित्त अथवा मन का ही एकत्व है। यदि इसका अतिक्रमण न किया जा सके तो शुद्ध-चैतन्य की प्राप्ति कठिन है।

किन्तु ज्ञातव्य विषय यह है कि ज्ञानप्राप्ति जैसे आवश्यक है वैसे ही प्राप्त ज्ञान की निवृत्ति भी आवश्यक है। अज्ञान का नाश कर वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करना ही ज्ञान का काम है, इसलिए अज्ञान के नष्ट हो जाने पर ज्ञान स्वतः ही निवृत्त हो जाता है; उसे निवृत्त करने के लिए पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती।

ज्ञान में 'एक' व्यक्त होने पर भी यह ज्ञान चिद्रूपी ज्ञान नहीं है, यह कहना बेकार है। यह भी मानस ज्ञान है। इसलिए यदि शुद्ध चैतन्य में स्थिति प्राप्त करनी हो तो इस ज्ञान का भी क्रमशः अथवा एक ही महाक्षण में त्याग करना होगा। तब क्रम के पथ पर यदि चलना हो तो एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित समग्र मन को तोड़ कर उसके दो टुकड़े करने होंगे। इसीका नाम है—अर्धमात्रा। मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर हो, उतनी ही चैतन्य और उससे सम्बद्ध आनन्द की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट होती है। अन्तिम अवस्था में मन इतना सूक्ष्म हो जाता है कि तब मन के रहने पर भी वह न रहने के बराबर हो जाता है। उस समय उस क्षीणतम मन का परित्याग करना पड़ता है, यही उत्सर्ग है। इसी का नामान्तर आत्मसमर्पण है। तब लेशमात्र भी मन शेष नहीं रहता। इसी का नाम चिदानन्दमय दिव्य-भूमि में प्रवेश है। जीव तब केवल शिव नहीं रहता, परम शिवरूप में अपने को प्रकट करता है। यह उन्मना-शक्ति ही होती है उसकी पराशक्ति। जैसे पूर्णिमा के बाद कृष्ण पक्ष

में चन्द्रमा की कला क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होते-होते जब कला फिर दिखाई नहीं देती तब अमावस्या का उदय होता है। वैसे ही मन भी बिन्दु अवस्था में चन्द्रबिन्दु के रूप में पूर्ण रहता है—उसके बाद अर्धमात्रा के क्रम से अर्धचन्द्र निरोधिका का अतिक्रमण कर नादमण्डल में प्रवेश-पूर्वक ब्रह्मरन्ध्र के द्वार में नादान्त पार होकर शक्ति के अवलम्बनपूर्वक व्यापिनीरूप महाशून्य में प्रवेश करता है। उसके बाद समना में उपस्थित होकर विकल्पहीन मन के द्वारा विकल्पहीन मन का परित्याग कर सकने पर ब्रह्मविद्या-स्वरूपा उन्मना-शक्ति का आविर्भाव होता है। तब पूर्णता स्वभावतः ही व्यक्त हो उठती है। जहाँ तक चञ्चल मन की गति है, वहीं तक काल का राज्य है। मन के एकाग्र होने के बाद स्थूल काल के न रहने पर भी सूक्ष्म काल रह जाता है। ये सब काल के अंश मात्राक्षय के साथ-साथ क्षीण होते रहते हैं, एवं अमात्रभूमि में प्रवेश के साथ अतर्कितरूप से कालराज्य का अवसान हो जाता है। यही भगवद्धाम में प्रवेश है। मन से उन्मना की ओर गति का यही संक्षिप्त परिचय है।

वैष्णव लोगों ने नित्यलीलाभूमि के रूप में योगमाया-क्षेत्र का वर्णन किया है। यह लीलाक्षेत्र आगमसाहित्य में विशुद्ध-अध्वा के नाम से परिचित है। यह माया से ऊपर होने पर भी विशुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत नहीं है। यह योगमाया का राज्य वस्तुतः अर्धमात्रा के राज्य के सिवा और कुछ नहीं है। भगवान् की अनन्त प्रकार के रसों की लीलाएँ इस राज्य में ही होती हैं, क्योंकि यह मायाराज्य के अतीत है। लीलातीत विशुद्ध चैतन्य में कोई लीला ही नहीं है। त्रिगुण के ऊपर शुद्ध सत्त्वमय बैन्दव-जगत् में इस लीला का आविर्भाव होता है। इस राज्य की सीमा नहीं है, क्योंकि एक मात्रा का जितनी अधिक संख्याओं में विभाग क्यों न किया जाय वह कभी भी शून्य में परिणत नहीं हो सकती और एकमात्रा अथवा तदंशभूत सूक्ष्ममात्रा जिस किसी क्षण में आत्मसमर्पण करने पर ही अबाध रूप से शून्य में परिणत हो सकती है। मात्राशून्य हो जाने पर एकमात्र अनन्त ही अवशिष्ट रहता है।

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात हो सकता है कि संक्षेपतः भगवत्सत्ता में तीन स्तर दिखाई देते हैं—एक सीमा रेखा या क्षेत्र की परिधि। इसका पहले मैं 'विन्दु' नाम से वर्णन कर चुका हूँ। एकाग्रभूमि में ही यह प्राप्त हो जाती है उसके बाद निरोध के साथ ही साथ मण्डल में प्रवेश होता है। जितना ही अन्तर में प्रवेश किया जाय उतना ही चैतन्य का स्वरूप गंभीर रूप में अनुभूत होता है। किन्तु वास्तव में इस प्रवेश का क्रम अनन्त है। इन क्रमों का अवलम्बन कर चलने पर कभी भी केन्द्र में स्थिर नहीं हुआ जाता, किन्तु क्रम-त्याग करने पर एक ही क्षण में केन्द्र में स्थिति हो जाती है, तब परमब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप में अभेद-स्थिति होती है। यह अवस्था ज्ञान की है, किन्तु भाव-आस्वादन के समय अनन्त काल तक केन्द्र की ओर गति चलती ही रहती है। कभी भी उसका अन्त नहीं होता एवं हो भी नहीं सकता। यही प्रेम और भक्ति की दिशा है। तब चित् एवं आनन्द, अद्वैत एवं द्वैत, निराकार एवं साकार एक ही महा-अनुभूति में मूर्त्त होकर प्रकट होते हैं।

देहविज्ञान

आध्यात्मिक शास्त्रों में सर्वत्र ही साधक और योगियों के लिये देहात्मदृष्टि ही सब अनर्थों की जड़ मानी गई है। महात्मा लोगों ने भी इसी तरह की बातें कही हैं। उन सबका कहना है कि मुमुक्षुओं को यथासंभव देह के चिन्तन से विरत होकर आत्म-चिन्तन में परायण होना चाहिये। यही वैराग्य के समस्त उपदेशों का मूल तत्त्व हैं, क्योंकि देहावेश से ही विविध प्रकार के भोग विलासों का अवसर आता है। अविद्यात्मक देहादि से दृष्टि हटाकर चित्स्वरूप आत्मा की ओर उसे लगाना ही विवेक का भी मूल लक्ष्य है। चिदचिद्-ग्रन्थिभेद किये बिना असम्प्रज्ञात-योग किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता।

यह हुई एक ओर की बात। दूसरी ओर देह की, विशेषरूप से नरदेह की परम उपयोगिता की बात भी शास्त्रों द्वारा ज्ञात होती है "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"—कवि की यह उक्ति लोकसमाज में सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह रक्तमांसमय षाट्कौशिक नरदेह ही कर्मदेह है। इस देह के बिना कर्मसाधन नहीं हो सकता। यद्यपि नरदेह भोगायतन भी है, कारण; इस देह से ही प्राक्तन जन्म के पाप-पुण्यों का फलभोग भी होता है, तथापि प्रधान रूप से यह कर्मदेह के रूप में ही परिगणित होता है। इस देह के द्वारा शुभ कर्मों का संचय यदि न किया जा सके तो देव-देह अथवा अमानवीय किसी अन्यप्रकार की देह द्वारा पूर्णत्व के पथ पर कर्मयोग से अग्रसर होना संभव नहीं। जो उच्च आत्माएँ दिव्य स्तरों में परमानन्दमय भोगास्वादन में निमग्न हैं, उन्हें भी यदि पूर्णत्व की ओर अग्रसर होना हो तो कर्मपथ में पदार्पण करना ही होगा एवं यह अनित्य सुख-दुःखमय मानवदेह का अवलम्बन करना ही होगा। अतएव यह निश्चित है कि केवल भोग के लिये नहीं, विशेषतः परमार्थ सिद्धि के लिये ही मानवदेह का गौरव है।

व्यष्टि तथा समष्टि के भेद से यह देह दो तरह की है। व्यष्टि देह को पिण्ड या पिण्डाण्ड (microcosm) कहते हैं; समष्टि देह का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड (macrocosm) है। समष्टि और महासमष्टि के भेद से ब्रह्माण्ड की भी दो तरह की स्थिति है। एक पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड के रूप में और दूसरी है—सब ब्रह्माण्डों की समष्टि के रूप में। इस प्रसंग में हम प्रकृत्यण्ड (जो ब्रह्माण्डों की समष्टि से भी विशाल है), मायाण्ड (जो प्रकृत्यण्ड की समष्टि से भी विशाल है) एवं शाक्ताण्ड (जो मायाण्ड से भी अनन्त गुण विशाल है) आदि की आलोचना नहीं करेंगे। समग्र ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब का सब पृथक्-पृथक् रूप से इस छोटे से नरदेह में भी है; इसलिये यदि ठीक तरह से इस मानव-देह का परिचय प्राप्त हो जाय तो ब्रह्माण्ड की बात तो क्या

समग्र विश्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। उपनिषदों में कही गयी 'दहरविद्या' पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि बाहरी आकाश में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब मानव के अन्तराकाशरूपी हृदयपुण्डरीक में विद्यमान है। अतएव बाहर की ओर दृष्टि न डालकर अन्तर्मुखदृष्टि के द्वारा हृदय की ओर लक्ष्य निविष्ट करना ही ऋषियों का मुख्य उपदेश था।

छोटी होने के कारण मानवशरीर उपेक्षा के योग्य नहीं है, यह परम सत्य वस्तु है। कवि ने कहा है—

"तुमि जानो क्षुद्र जाहा
क्षुद्र ताहा नय;
सत्य येथा किछु थाके
विश्व सेथा रय।"

अर्थात् तुम जानते हो बाहरी दृष्टि में जो छोटा है, वह वास्तव में छोटा नहीं है, क्योंकि जहाँ कुछ भी अंश में सत्य रहता है, वहाँ समग्र विश्व रहता है।

केवल यही नहीं; ब्रह्माण्ड या विशाल विश्व जिस प्रकार देहज्ञान से जाना जा सकता है, वैसे ही विश्वातीत सत्ता का यदि पता लगता हो तो भी इस नन्हें से मानव देह का ही अवलम्बन करना आवश्यक होता है।

अति प्राचीन काल से ही योगिजन यह जानते थे एवं उनमें जो विशिष्ट योग्यता सम्पन्न थे, वे योग-साधना द्वारा इस सत्य का उपयोग करते थे। वे कहते थे यदि किसी को यथार्थ रूप से देह का तत्त्व ज्ञात हो जाय अर्थात् इस मानव-देह का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाय तो वह दिव्यदेह प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है एवं अमरत्व की साधना में सिद्धि प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है। प्राचीन काल में नाथपन्थी हठयोगी, रससिद्ध-सम्प्रदाय, पाशुपत ज्ञान के साधक आचार्यगण तथा अन्यान्य अनेक महात्मा नाना प्रकार से देहतत्त्व का विश्लेषण कर गये हैं। प्राचीन योग-साहित्य के विभिन्न स्थलों में विभिन्न रूप से ये सब उपदेश निहित है। देह में स्थित जिन विषयों का क्रमशः प्रत्यक्ष करना आवश्यक है, उनमें से निम्नलिखित कतिपय प्रधान हैं। छः चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य, पाँच आकाश, बारह ग्रन्थियाँ, तीन शक्तियाँ, तीन धाम-पथ और नाडी-चक्र।

नाडी-चक्र से सर्वप्रथम एक नाडी समझनी चाहिये यह ब्रह्म-नाडी अथवा सुषुम्ना नाडी है। उसके बाद तीन नाडियाँ—अर्थात् बीच में स्थित ब्रह्मनाडी के साथ उसके अगल-बगल में स्थित वाम और दक्षिण नाडियाँ अर्थात् इडा और पिङ्गला नाम की नाडियाँ। इसके बाद दस या चौदह नाडियों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इनमें पूर्वोक्त तीन नाडियों के साथ और भी सात या ग्यारह नाडियाँ हैं, जैसे—(१) गान्धारी, (२) हस्तिजिह्वा, (३) अलम्बूषा, (४) पयस्विनी, (५) कुहू, (६) राका तथा (७) शङ्खिनी। नाडी-समूह जब और अधिक विस्तृत होता है, तब इनकी संख्या ३२ हो जाती है। तदनन्तर वे ७२ हजार हो जाती हैं। तत्पश्चात् वे बढ़कर ३॥ करोड

हो जाती हैं। वास्तव में नाडियों की संख्या नहीं है, नाड़ियाँ अनन्त हैं। प्रत्येक रोम कूप के साथ नाड़ियों का सम्बन्ध रहता है। यह देहतत्त्व का एक अत्यन्त उपयोगी अंश है। जो देह विविध मलों से कलुषित है, जरा और व्याधियों से पीड़ित है, एवं क्लेदमय एवं जीर्ण है, उसी देह को ही सूक्ष्मता के साथ जानना चाहिये। इस प्रकार सूक्ष्मतया देहज्ञान प्राप्त होने पर कर्मकौशल के द्वारा उसके आप्यायन का अनुष्ठान आवश्यक है। इससे दिव्य-देह की प्राप्ति होती है। यह ज्ञानलाभ और आप्यायन जिस प्रक्रिया के अन्तर्गत है, उसे कौलिक-प्रक्रिया कहते हैं।

यह जो छः चक्रों की बात कही गयी है, उससे कोई यह न मान बैठे कि यह प्रचलित षट्चक्रों का द्योतक है। इन चक्रों में पहला जन्मस्थान में स्थित नाडी-चक्र है, जिसका अवलम्बन कर देह सम्बद्ध विशाल नाडी-समूह टिकता है।

दूसरा चक्र मायाचक्र के नाम से प्रसिद्ध है। चौथे चक्र का स्थान तालु है। भ्रू-मध्य में बिन्दु के स्थान में जो चक्र स्थित है, उसका नाम दीप्ति-चक्र है। उसके ऊपर नाद-स्थान में शान्त-चक्र के नाम से छठे चक्र की स्थिति कही गयी है।

देहतत्त्व के प्रसङ्ग में योगशास्त्र में सर्वत्र १६ आधारों का निर्देश प्राप्त होता है, ये सब जीवभाव के आधार के नाम से प्रसिद्ध हैं। नीचे पैर के अँगूठे से लेकर ऊपर मूर्धास्थान के द्वादशान्त तक ये सब आधार स्थित है। अँगूठा, टखने, घुटने, मूत्रद्वार, मलद्वार, कन्द, नाडी, उदर, हृदय-कमल कूर्मनाडी, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त—ये प्रसिद्ध स्थान हैं। इनमें से हृदय-कमल को संजीवनी शक्ति का आधार और उदर को सब कामनाओं का आधार समझना चाहिये। कूर्मनाडी का स्थान वक्षस्थल है। तालु सोमकला के अमृत द्वारा आच्छन्न है। यह सुधा का आधार है। भ्रूमध्य में विद्याकमल का स्थान है।

लक्ष्य तीन प्रकार के कहे जा चुके हैं। इन तीनों के नाम हैं—अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और उभयलक्ष्य। किन्हीं आचार्यों ने उभयलक्ष्य को मध्य-लक्ष्य भी कहा है। मण्डलब्राह्मण-उपनिषत्, अद्वयतारक-उपनिषत् आदि में लक्ष्य के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन है। इन तीन लक्ष्यों में जो अन्तर्लक्ष्य कहा गया है, वह देहावच्छिन्न आत्मा की अन्तरिन्द्रियों तथा बहिरिन्द्रियों का अगोचर है। वह जाज्वल्यमान ज्योतिःस्वरूप है। इस लक्ष्य के सम्बन्ध में दृष्टिकोण के भेद से कुछ मतभेद है। योगियों की दृष्टि में यह सहस्रार में ज्योति के स्वरूप में अपने को प्रकट करता है। वैष्णव साधकों की दृष्टि में यह बुद्धिगुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष के रूप में प्रकट होता है। शैव साधकों की दृष्टि में यह शिर के अन्तर्गत मण्डल में शक्तियुक्त पञ्चमुख-शिव के आकार के रूप में प्रकाशित होता है। और जो उपनिषत् प्रतिपादित दहर-विद्या के उपासक हैं, उन्हें वह अंगुष्ठ-मात्र पुरुष के रूप में दिखाई देता है। किसी-किसी मत में षोडशान्त स्थित तुरीय चैतन्य भी लक्ष्य के रूप में गिना जाता है। जो लोग तारक योग की साधना करते हैं वे इस लक्ष्य के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान रखते हैं। मनुष्य मात्र के ही दो नेत्र हैं। इन दो नेत्रों के भीतर दो ताराओं में चन्द्र और सूर्य प्रतिबिम्बित रहते हैं। बाँये नेत्र में

चन्द्रमा के और दाहिने में सूर्य के दर्शन किये जाते हैं। योगीलोग कहते हैं कि ब्रह्माण्ड की तरह पिण्डाण्ड में अर्थात् मानव-देह के मध्य स्थित आकाश में चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डल स्थित है। इन दो मण्डलों के पूर्वोक्त दो ताराओं द्वारा ऊपर की ओर दर्शन किये जाते हैं। इससे तारक-योग में सिद्धि प्राप्त होती है।

अयोगी पुरुष जैसे ब्रह्माण्ड में स्थित चन्द्रमा और सूर्य का मन से संयुक्त दो ताराओं द्वारा दर्शन करते हैं, वैसे ही योगी पुरुष अपने मस्तकाकाश में चमक रहे चन्द्रमा और सूर्य का मन से संयुक्त दो ताराओं द्वारा दर्शन करते हैं। मन के संयोग के बिना यह दर्शन नहीं हो सकता। इसलिये अन्तर्लक्ष्य द्वारा यह तारक ही अनुसन्धान का विषय है। मूर्त और अमूर्त्त भेद से ये तारक दो प्रकार के हैं। जो मूर्त तारायें हैं, वह इन्द्रियों के गोचर हैं, किन्तु अमूर्त्त तारायें भ्रू-युग के परे हैं; एवं इन्द्रियों की अगोचर होने पर भी मन से संयुक्त अन्तर्दृष्टि के द्वारा वह प्रकाशित होती हैं। दो भौंहों के बीच में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में अर्थात् आज्ञाचक्र में दोनों दृष्टियाँ स्थिर कर ऊपर की ओर लक्ष्य करने पर तेज के आविर्भाव का जो अनुभव होता है, वही तारक-योग का लक्ष्य है। उसके साथ मन से संयुक्त तारक की योजना कर बहुत सावधानी के साथ-साथ दोनों भौंहों को ऊपर की ओर चढ़ाना चाहिये। यही पूर्वतारक की साधना का सारांश है।

जो उत्तर-तारक या अमूर्त-तारक है, उसी का दूसरा नाम अमनस्क है।

बहिर्लक्ष्य नासाग्र से बाहरी देश के दूरत्व के तारतम्यानुसार विविध प्रकार का है। लक्ष्य के द्वारा नाना वर्णों से युक्त व्योम या आकाश के दर्शन होते हैं। मध्य-लक्ष्य का सम्बन्ध अन्तरिक्ष में विविध प्रकार के दर्शनों के साथ है। इन दर्शनों से क्रमशः पाँच प्रकार के आकाशों के दर्शन होते हैं, उनमें पहला निर्गुण आकाश, दूसरा पराकाश, तीसरा महाकाश, चौथा तत्त्वाकाश और पाँचवाँ सूर्याकाश के नाम से प्रसिद्ध है।

लक्ष्य के बाद १२ ग्रन्थियों का ज्ञान होना भी योगी के लिये आवश्यक है। ये ग्रन्थियाँ विशुद्ध चैतन्य की आवरण होने से ग्रन्थि के नाम से प्रसिद्ध हैं। माया से शक्ति तक १२ ग्रन्थियों का परिचय तान्त्रिक योगसाहित्य में मिलता है। इनके नाम पहले १. माया और २. पाशव ये दो ग्रन्थियाँ हैं। कारण-स्थित पाँच ग्रन्थियाँ हैं ३. ब्रह्मा, ४. विष्णु, ५. रुद्र, ६. ईश्वर और ७. सदाशिव। ये पाँच कारण या अधिकारी पुरुषों के स्थानों में विद्यमान हैं, अर्थात् हृदय में, कण्ठ में, तालु में, भ्रूमध्य में और ललाट में स्थित हैं। तत्पश्चात् इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति ये पाँच ग्रन्थियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। ये निरोधिका के ऊपर नाद-शक्ति के नाम से विख्यात हैं। परम चैतन्य के आविर्भाव के प्रति ये भी आवरणरूप हैं। इनमें बहुत से गूढ़ रहस्य हैं, किन्तु इस लेख में उनके सम्बन्ध में आलोचना अप्रासंगिक होगी; अतः उनपर प्रकाश नहीं डाला गया। पहले जो माया शक्ति कही गई है, उसका स्थान कौलिक आचार्यों के मतानुसार आनन्देन्द्रिय हैं, कारण; वही देहोत्पत्ति में कारण है। पाशव-ग्रन्थि का स्थान कन्द है। पशुवर्ग संकुचित दृष्टि सम्पन्न है, इसलिये कन्दस्थित यह ग्रन्थि पाशबद्ध

जीवों का पहला उद्भेद स्वरूप है। ब्रह्मादि पाँच कारण-ग्रन्थियाँ पशुओं की सृष्टि आदि में कारण होने से निरोध के हेतु हैं। इसलिये इनकी भी ग्रन्थि के रूप में गणना की जाती है।

पहले जिन पाँच आकाशों का वर्णन किया गया है, वे शून्य स्वरूप और सौषुप्त आवेश के उत्पादक हैं। इसलिये विशुद्ध चैतन्य की प्राप्ति के लिये उनका भी अतिक्रम करना आवश्यक है।

चन्द्र, सूर्य और अग्नि नाम के तीन धाम हैं, जो बाँये, दाहिने और मध्य स्थान का अवलम्बन कर प्रकाशित होते है। इन तीन धामों के साथ त्रिविध वायु का सम्बन्ध है। उन वायुओं से मानवदेह अधिष्ठित है। तीन वायुओं के सहारे तीन प्रधान नाड़ियाँ—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। व्यापक दृष्टि से नाड़ियों की संख्या बहुत अधिक है। वास्तव में नाड़ियाँ असंख्य हैं, यह हमें पहले ही कह चुके हैं।

यह सब वैचित्र्य समना तक विभिन्न स्तरों में भिन्न-भिन्न प्रकार से विद्यमान रहता है। इनके ऊपर या बाद उन्मना-भूमि परमपद के नाम से प्रसिद्ध है। पहले जो अमनस्क की बात कही गई है, वह इसी का नामान्तर है। यही परमशिव पद तथा पूर्ण सामंजस्य या अद्वय-स्थिति है। यह परमपद ही परम-व्योम है। स्वच्छन्द संग्रह के मतानुसार यह द्वादशान्त के भी ऊपर है। द्वादशान्त ललाट के ऊपर कपाल के ऊपरी भाग तक है, किन्तु परम व्योम किसी किसी के मत से शिर से भी दो अंगुल ऊपर स्थित है।

हमने अत्यन्त संक्षेप में मनुष्य-शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का नाम और परिचय प्रदान किया। दिव्य-देह का लाभ और पूर्णत्व-प्राप्ति के मार्ग में इनका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। दिव्य देह की साधना ही अमरत्व की साधना है। काल के अधीन क्षणभंगुर, जरा और व्याधि से पूर्ण नश्वर देह के बदले शाक्त देह की प्राप्ति ही अमरत्व साधना का लक्ष्य है। यह शरीर चिच्छक्तिमय होने से चिदानन्दमय और अमृत द्वारा व्याप्त है। परा चित्-शक्ति का अमृत रूप में उन्मेष होने के साथ-साथ शाक्तदेह की अभिव्यक्ति होती है। इसकी अनेक प्रक्रियायें हैं। उनमें कौलिक-प्रक्रिया की ही यहाँ आलोचना की जाती है। आनुषङ्गिक रूप से तान्त्रिक-प्रक्रिया की भी आलोचना की गई है। इन दोनों का ही अलग अलग विवरण क्रमशः दिया जा रहा है।

पहली प्रक्रिया में तत्त्व-निरूपण के लिये सर्वप्रथम पराशक्ति के स्वरूप के विषय में कुछ ज्ञान होना आवश्यक है। पराशक्ति भगवान् की शक्ति या आत्मशक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु शक्ति होने पर भी वह स्वरूप से अभिन्न है। स्वरूप के साथ वह आधाराधेय-भाव से स्थित नहीं है। अर्थात् आत्मस्वरूप उसका आश्रय हो, और वह आत्मस्वरूप की आश्रित हो, ऐसी बात नहीं है। वह पराशक्ति चितिरूपा स्वातन्त्र्य-शक्ति है। उसका सहारा लिये बिना पूर्णत्व की अभिव्यक्ति के मार्ग में अग्रसर होना सम्भव नहीं। किन्तु मनुष्य निरन्तर श्वास-प्रश्वास अथवा उसी प्रकार की अन्यान्य द्वन्द्व वृत्तियों के अधीन है, इसलिये उसे सहज में इस मध्यमा

शक्ति का पता प्राप्त नहीं होता। प्राण और अपान की वृत्ति के रूप में ये द्वन्द्व-शक्तियाँ अथवा विरुद्ध शक्तियाँ मानव-शरीर में कार्य करती हैं। इसलिये चाहे जिस तरह भी हो प्राण और अपान की वृत्तियों को दबा रखना आवश्यक है। दो विरुद्ध शक्तियों के विरुद्ध भावों का अस्थायी उपशम होने पर अर्थात् साम्य होने पर सुषुम्णा-स्थित मध्यम प्राण में अर्थात् उदान नाम के प्राण-ब्रह्म में पूर्वोक्त पराशक्ति के संचार का, भावना के द्वारा, अनुभव करना चाहिये। किन्तु इसके पूर्व सबसे पहले देहादि में जो अहं-भाव रहता है, उसे हटा कर पूर्णाहन्ता के स्वरूप में आविष्ट होना चाहिये। यह एकमात्र अहंभाव के चिन्तन द्वारा ही हो सकता है। तदनन्तर पूर्णाहन्तामय मूलमन्त्र का पराशक्ति के साथ समरस अथवा अभिन्नरूप से चिन्तन करना आवश्यक है। इस प्रक्रिया से स्वयं उदित प्राणादि-संस्पर्श-रहित स्पन्दन की अभिव्यक्ति होती है। यह स्पन्दन ही पूर्वोक्त सामरस्य के सम्पादन में सहायक होता है। यहाँ तक की क्रिया सुचारुरूप से सम्पन्न होने पर मन्त्रवीर्य का सार भावना-मार्ग से उदित होता है, तब उस अभिमान का देह, प्राणादि परिच्छिन्न प्रमातृभाव से अभिमान हटाकर जन्माधार आनन्द-चक्र में आरोप करना चाहिये। इस प्रकार परिमित अहंभाव के हट जाने पर उस अहंकार को आनन्द-चक्र से उठाकर मूलाधार या कन्द-स्थान में स्थापित करना आवश्यक है। यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, वह प्रारम्भिक प्रक्रिया का ही विवरण है। इसके अनन्तर जिन १६ आधारों का वर्णन पहले किया गया है, उन्हें एक एक करके विद्ध करना पड़ता है। इस वेधन-कार्य में सुई का स्थान प्राप्त है नाद को, अर्थात् मन्त्रात्मक प्राण के अथवा स्फुरण भाव के उन्मेष को। इस व्यापार में सूक्ष्म योग या प्रयोग की सहायता अधिकार-भेद से अल्पाधिक परिमाण में लेना आवश्यक है। 'सूक्ष्म योग' से उन्मेष को प्राप्त स्फुरण की तीव्र उत्तेजना समझनी चाहिये। तीव्र उत्तेजना से पूर्वोक्त प्राणात्मक मन्त्र क्रमशः अपने स्थान से थोड़ा थोड़ा ऊपर आरोहण करता है। इसी को प्रयोग कहते हैं। यह आरोहण-प्रक्रिया सुषुम्णा या मध्यनाडी के मार्ग से सम्पन्न होती है, यह कहना अनावश्यक है। आरोहण-क्रिया में कुल-शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार सब आधार और सब ग्रन्थियों का एक के बाद एक भेद हो जाता है। अर्थात् १६ आधार और १२ ग्रन्थियाँ अतिक्रान्त हो जाती हैं। सब के बाद द्वादशान्त नाम के ध्रुव स्थान का भी वेध कर बाहर होना पड़ता है। यह वेध-क्रिया वस्तुतः आवेश की क्रिया है, इसमें सन्देह नहीं। द्वादशान्त में प्रवेश करने पर ही महामाया पर्यन्त सब बन्धन छूट जाते हैं। इसलिये ध्रुवपद में स्थिति होती है। द्वादशान्त का वेध पूरा होने पर जिस व्यापकता का आविर्भाव होता है वह नित्योदित पराशक्ति का सामरस्य है। यहाँ तक की योग-क्रिया के अनुष्ठान से पराशक्ति के साथ अभेद सिद्ध हो जाता है। पराशक्ति के साथ अभेद और परम शिव के साथ तादात्म्य एक ही वस्तु है।

अमरत्व-साधना की कौलिक प्रक्रिया का पहला पर्व यहाँ पर समाप्त हुआ। इस प्रथम पर्व में ही परम-शिव के साथ तादात्म्य हो जाता है। इसके बाद उक्त साधना का द्वितीय पर्व आरम्भ होता है। जब द्वादशान्त के भीतर संचार करने वाली

शक्तिधारा मध्यम मार्ग द्वारा हृदय को आपूरित करती है, तब परमानन्द का आविर्भाव होता है। इसका प्रवाह ही अमृतधारा है। यह कहना अनावश्यक है कि हृदय में प्रवेश के साथ ही साथ पूर्वोक्त परमानन्द ठीक रसायन का काम करता है। जब-तक हृदय में विश्रान्ति रहे तब-तक भावना द्वारा यह अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिये। इसके अनन्तर हृदय से छलके हुए उस परमानन्द को प्रवाह की ओर चारों तरफ प्रसारित करना चाहिये। इससे एक प्रकार से अनन्त नाड़ी-प्रवाह को प्रसार प्राप्त होता है।

इस अमृत-प्रसार के अनुरूप ध्यान को समाप्त कर उस अमृत द्वारा अपनी देह को भीतर और बाहर पूर्ण करना चाहिये। इस तरह अपने शरीर के अमृतमय होने के बाद द्रुतवेग से उस प्रवाह को शरीरस्थित सम्पूर्ण रोमकूपों द्वारा बाह्य जगत् में अथवा विषय-समूह में अनवच्छिन्नरूप से प्रेरित करना चाहिये। इसके पश्चात् सूक्ष्म शाक्तानन्द-ज्ञान के द्वारा समस्त जगत् आप्यायित हुआ, ऐसा ध्यान कर सकने पर अजर और अमर-भाव की प्राप्ति तथा अन्त में सिद्धिलाभ अवश्यंभावी है। कौलिक साधना-साहित्य में यह मृत्यु पर विजय पाने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है।

यह कहना अनावश्यक है कि देह के अंग और प्रत्यंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान के बिना कौलिक प्रक्रिया की अमरत्व-साधना की क्रिया संभव नहीं।

प्रसङ्गानुसार तान्त्रिक प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण भी यहाँ पर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले सूक्ष्म प्राणशक्ति को अश्विनी मुद्रा के अनुरूप संकोच-विकासात्मक क्रिया के द्वारा विकसित करना पड़ता है। तदुपरान्त उस सूक्ष्म प्राणशक्ति को अधिष्ठान बनाकर आगे की क्रियायें निष्पन्न की जाती हैं। यह शक्ति स्पन्दाविष्ट मध्यम-कला के नाम से प्रसिद्ध है। इस जागी हुई प्राणशक्ति का निरन्तर मनोयोग के साथ ईक्षण करते-करते इसमें आवेश की प्राप्ति करना आवश्यक है। तदनन्तर पादाङ्गुष्ठ नामक आधार का, भावना के द्वारा, सहारा लेकर ऊपर के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये। यह अङ्गुष्ठ ही देह की अथवा अपनी सबसे नीचे स्थित कालाग्नि का आश्रय है। यहाँ तक की क्रिया सुचारुरूप से सम्पन्न होने पर कन्द-भूमि में प्राप्त शाक्तानन्दरूप वीर्य का उस जगह विक्षेप कर परिस्फुट भावना के बल से उसे अभिव्यक्त करना चाहिये। इससे प्राणस्पन्दरूप क्रियाशक्ति पूर्वोक्त शक्तिस्पन्द के द्वारा आपूरित होकर खूब प्रदीप्त हो उठती है एवं नाभि को प्राप्त होती है। इस नाभि-प्राप्तिरूप व्यापार में भिन्न-भिन्न उपायों का निर्देश तन्त्रशास्त्र में दिखाई देता है। उनमें से इच्छा अथवा संकोच-क्रम से उत्पन्न ऊर्ध्वारोहण में प्रयत्न और विज्ञान या भावना प्रधान हैं। मूलस्पन्द का आश्रय करने की बात जहाँ-जहाँ कही गयी है, वहाँ पूर्वोक्त अश्विनी-मुद्रा के अनुरूप संकोचन-प्रसारण पूर्वक स्थान-विशेष में निरोध समझना चाहिये। किसी-किसी तन्त्र में दिव्य करणों की बात कही गई है, यह उसी का उपलक्षण है। दक्षिण और वाम स्थित दो नाड़ियों का त्याग कर पूर्वोक्त इच्छा और ज्ञान का आश्रय कर मध्यमार्ग में बहने वाली प्राण-ब्रह्मशक्ति के द्वारा सुषुम्णा नाड़ी का अवलम्बन करना चाहिये। सुषुम्णा में प्रविष्ट होकर इन्द्रियगोचर विचारों से

विरत होना चाहिये एवं सब इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर तदनन्तर मायाहीन विज्ञान के द्वारा अर्थात् चिदानन्दरूपी ज्ञानशक्ति के द्वारा, जिसमें प्राण आदि की प्रधानता वश अविद्यांश नहीं रहता, हृदय, कण्ठ आदि स्थानों में स्थित ब्रह्मादि कारण-वर्गका एक एक करके त्याग करना चाहिये। तदुपरान्त मायादि ग्रन्थियों का भेदन एवं हृदयादि स्थानों में स्थित पाँच आकाशों का भी त्याग करना चाहिये। इसके अनन्तर ब्रह्मा से सदाशिव पर्यन्त पाँच कारणों के ऊपर कुण्डल-शक्ति अथवा समनाशक्ति की प्राप्ति होगी, इस समनाशक्ति के गर्भ में शून्यातिशून्य पर्यन्त समग्र विश्व कुण्डलरूप में स्थित रहता है। समनाशक्ति प्राप्त होने के पश्चात् विज्ञान के द्वारा ऊर्ध्व देश में विराम-लाभ करना चाहिये। यही उन्मना परतत्त्व-प्राप्ति अथवा परमशिव की अवस्था या सामरस्य है। पूर्णत्वलाभ की इस साधन-प्रक्रिया का संकेत तन्त्रशास्त्रमें है। कौलिक और तान्त्रिक प्रक्रिया में कुछ भेद है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। सूक्ष्मबुद्धि पाठकगण उसे स्वयं समझ लेंगे।

स्वरूप-दृष्टि से आत्मा सब भावों से परे है, इसलिए यह सब भावों के मध्य सर्वात्मक होकर भी सदा सर्वत्र अपने स्वभाव में स्वयंरूप से स्थित है। इसलिये यह निर्विकार, द्वन्द्वातीत, निर्दोष और समरस है। किन्तु व्यवहारभूमि में और प्रतिभास स्थलों में इसके अवस्थाकृत भेद दिखाई देते हैं। इन सब अवस्थाओं अथवा दशाओं के भेद असंख्य हैं, किन्तु इनके मुख्य विभाग जाग्रत् आदि के भेद से पाँच प्रकार के ही सर्वत्र माने जाते हैं। इन पाँच अवस्थाओं में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ सभी की सुपरिचित हैं। अन्य दो अवस्थाओं को ज्ञान का उदय और परिपाक न होने तक कोई भी स्पष्टरूप से जान नहीं सकता। वास्तव में कोई भी अवस्था विशुद्ध आत्मा की नहीं है, किन्तु देहादिसंसृष्ट आत्मा की ही सब अवस्थाएँ हैं, यह स्मरण रखना चाहिये।

प्रश्न हो सकता है कि ये परिदृश्यमान अवस्थाएँ किस तरह उदित होती हैं? साधारण दृष्टि से मोटे तौर पर इन अवस्थाओं के उपपादन के सिलसिले में कहा जा सकता है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और बाह्य विषयों के परस्पर सम्बन्ध के वैशिष्ट्य से ही इन सब अवस्थाओं का उदय होता है। आत्मा शब्द से यहाँ देहविशिष्ट जीव-आत्मा ही समझना चाहिये, विदेही केवलात्मा नहीं। आत्मा और मन का संसर्ग, मन और इन्द्रियों का संसर्ग एवं इन्द्रिय और विषयों का संसर्ग जिस अवस्था में विद्य-मान रहता है, वह जाग्रत्-अवस्था कही जाती है। किन्तु जिस अवस्था में इन्द्रिय और विषयों का संसर्ग नहीं रहता, अवशिष्ट दो संसर्ग पूर्ववत् अक्षुण्ण रहते हैं, उसका प्रचलित नाम स्वप्नावस्था है। जिस अवस्था में इन्द्रिय और विषयों का सम्बन्ध नहीं रहता, उसके सिवा मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध भी नहीं रहता, एकमात्र आत्मा और मन का ही सम्बन्ध विद्यमान रहता है, उसका सुषुप्ति के नाम से वर्णन किया जाता है। अज्ञानाच्छन्न जीव निरन्तर इन तीन अवस्थाओं के चक्कर का अनुभव करता है। इस चक्कर से यदि त्राण पाना हो तो अपरोक्ष-ज्ञान के उदय के लिए प्रयत्न करना चाहिये। जब-तक अपरोक्ष-ज्ञान का उदय नहीं होता अर्थात् जब

तक आत्मा का सम्यक् ज्ञान उदित नहीं होता, तब-तक यह चक्कर अवश्यम्भावी है। व्यष्टिभाव में यह जैसा सत्य है, समष्टिभाव में भी वैसा ही सत्य है। मृत्यु के बाद दूसरे लोक में गमन अथवा जन्मान्तर ग्रहण, यहाँ तक कि प्रलय आदि के व्यापार भी इस नियम के अधीन हैं।

सुषुप्ति अवस्था में भी आत्मा के साथ मन का संयोग रहता है। यह अनादि संयोग है एवं मूल अज्ञान से उत्पन्न है। सुषुप्ति के समय मन पुरीतत् नाड़ी में अर्थात् वेष्टन के भीतर हृदय-प्रदेश में रहता है, वह आकाश-स्थान है। वहाँ किसी प्रकार की नाड़ी नहीं है एवं वायु का भी वहाँ किसी प्रकार का स्पन्दन अनुभूत नहीं होता। सुषुप्तिकाल में मन हृदय के मध्य में निश्चल होकर स्थित होता है, इसलिए उस समय किसी प्रकार के लौकिक-ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि मन यदि मनोवहा नाड़ियोंमें संचार न करे तो लौकिक-ज्ञान आविर्भूत नहीं होता। प्रत्येक नाड़ी वायु से बना हुआ एक संस्थान है और सारा मानव-शरीर नाड़ियों के जाल से आच्छन्न है, किन्तु देह में एकमात्र वह हृदयस्थित दहराकाश ही नाड़ीशून्य, वायुशून्य तथा मन की क्रिया से शून्य स्थान है। देह में सर्वत्र ही मन का सञ्चार और वायु की क्रिया संभव है, किन्तु हृदय में वायु, मन आदि कुछ भी क्रिया नहीं करते हैं। जब मन हृदय में प्रविष्ट होता है, तब वह वहाँ निष्क्रिय होकर विद्यमान रहता है, यह मन की लयावस्था है। मन की क्रिया न होने से उस समय विलक्षण आत्म-मन का संयोग न घट सकने के कारण ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के लौकिक विशेष-गुणों की उत्पत्ति नहीं होती।

किन्तु जब गुरु-कृपा से तथा अपने पूर्व के शुभ-अदृष्ट के परिपाक से अलौकिक ज्ञान का उदय होता है, तब उस अनादि आत्म-मनः-संयोग का हेतुभूत अज्ञान कट जाता है। तब वह आत्ममनः-संयोग भी नहीं रहता। तब हृदयाकाश नवोदित ज्ञानसूर्य की स्निग्ध किरणों से आलोकित हो उठता है। यही अवस्था स्थूलरूप से आत्मा की तुरीयावस्था की पूर्व सूचनारूप मानी जाती है। इस अवस्था का उदय होने पर और इसके स्थायी होने पर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में यह समानरूप से अनुस्यूत रहती है। यद्यपि यह पूर्णावस्था है तथापि इसका उन्मेष पहले साधारणतः पूर्णरूप से प्रतीत नहीं होता। इसीलिये ज्ञानोदय के बाद भी जाग्रत् आदि अज्ञानावस्थाएँ कुछ समय तक बदस्तूर रहती हैं। पर वह क्रमशः ही अधिकाधिक क्षीण-शक्ति होती जाती हैं। जब तक शरीर रहता है, अथवा जब-तक प्रारब्ध का बल भोग के द्वारा नष्ट नहीं होता, तब-तक साधारणतः इसी तरह चलता है। प्रारब्ध का भोग हो जाने पर देहाभिमान आभासरूप में भी नहीं रहता। जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद भी नहीं रहते। उस समय एक सी अनवच्छिन्न स्थिति विद्यमान रहती है। उस समय तुरीय अवस्था 'तुरीयातीत' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करती है। यद्यपि यह वस्तुतः नित्यावस्था है तथापि तुरीय अवस्था का उदय और परिपाक हुए बिना इसका स्वरूप-साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत् आदि तीन पृथक् अवस्थाएँ जब तक रहती हैं, तब तक चतुर्थ या तुरीय नामों की सार्थकता है, जब-तक अज्ञान है तभी तक ज्ञान की

सार्थकता है। किन्तु जब जाग्रत् आदि पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ नहीं रहतीं, अज्ञान भी नहीं रहता; तब वह तुरीय अवस्था ही तुरीयातीत या स्वरूपस्थिति के नाम से प्रख्यात होती है।

जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियाँ बहिर्मुख रहती हैं और रूपरसादिमय पाँच बिषयों के साथ संसृष्ट होकर उन्हें ग्रहण करती हैं। इस तरह हम लोगों के बाह्य-जगत् के ज्ञान का उदय होता है। किन्तु स्वप्नावस्था में यह बाह्य-ज्ञान नहीं रहता। थकावट वश इन्द्रियों की बाह्योन्मुखता उस समय विरत हो जाती है। इन्द्रियाँ उस समय अन्तर्मुख रहती हैं। किन्तु इन्द्रियों के अन्तर्मुख रहने पर भी मन उस समय भी बहिर्मुख ही रहता है अर्थात् उस समय इन्द्रियाँ यद्यपि विषयाभिमुख नहीं रहती हैं तथापि मन की इन्द्रियो-न्मुखी प्रवणता निवृत्त नहीं होती। इसी कारण स्वप्नानुभव का उदय होता है। यह संस्कारजन्य ज्ञान है। इसके सिवा, उस समय मन देह के अन्दर ही मनोवहा नाड़ियों का अवलम्बन कर आभ्यन्तर के वायुमण्डल में संचरण करता है और नाना प्रकार के दर्शन तथा स्पर्शों का उसे अनुभव होता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड अभिन्न हैं, इसलिये यह संचार एक ओर जैसे व्यष्टि में है, दूसरी ओर वैसे ही समष्टि में भी हो सकता है। सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। इसके पश्चात् जब इन्द्रियों की तरह मन भी थक जाता है तब मन की इन्द्रियोन्मुख गति रुक जाती है और मन उपरत होकर विश्राम करना चाहता है। उस समय स्वभावतः वह हृदय में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। मन के बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होने के साथ ही साथ हृदय का दरवाजा खुल जाता है, क्योंकि हृदयावच्छिन्न आकाश परिमित मालूम पड़ने पर भी वास्तव में सर्वव्यापक है। मन चाहे जब कभी और जिस किसी स्थान पर ही क्यों न रहे वह नित्य उसके निकट रहता है। फिर भी मन सदा उसमें प्रवेश नहीं कर सकता। मन बाह्योन्मुख भाव से हटकर अन्तर्मुख होने के साथ-साथ उस आकाश में अर्थात् हृदय के भीतर प्रवेश का मार्ग पाता है। एक बार हृदय में प्रविष्ट होने के बाद मन में फिर संचरण करने की सामर्थ्य नहीं रहती, क्योंकि उस आकाश में चलने का कोई मार्ग नहीं है, इसीलिये मन वहाँ निश्चल होकर रहता है। किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि मन के थक कर निश्चल होने के साथ साथ हृदयगुहा में प्रविष्ट होने पर भी मन की ओर आत्मा की उन्मुखता नष्ट नहीं होती। इसलिये दोनों का संयोग विद्यमान रहता है। जब-तक अनादि अविद्या यथार्थ ज्ञान के उदय से निवृत्त नहीं हो जाती तब-तक आत्मा की अर्थात् जीवात्मा की मन की ओर यह उन्मु-खता निवृत्त नहीं हो सकती। इसलिये मन कुछ काल के लिये सुषुप्ति में स्थिर रहता है सही, पर यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रहती। पूर्व संस्कारों के जागने के साथ ही साथ मन बहिर्मुख हो जाता है और पूर्ववत् नाड़ी-मार्ग में संचरण करना आरम्भ कर देता है। पूर्वसंस्कार के जागने में वास्तविक कारण काल है। इसलिए जानना होगा कि सुषुप्ति अवस्था में भी मन कालातीत नहीं हो सका। इसीलिये मन के स्थिर होने पर भी सुषुप्ति में ज्ञान का उदय नहीं होता। लौकिक ज्ञान मन की क्रिया की अपेक्षा रखता है। इसीलिये हृदयाकाश में लौकिक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। जिस

समय मन स्थिर होता है और साथ ही साथ लोकोत्तर ज्ञान का उदय हो उठता है उसी समय तुरीय अवस्था का उन्मेष समझना चाहिये। सुषुप्ति में जो स्थिरता है, वह तामसिक है। उस अवस्था में सत्त्वगुण यद्यपि रहता है, पर वह शुद्ध सत्त्व नहीं है, इसलिये विशुद्ध सत्त्व का उदय और विकास हुए बिना मूल अज्ञान का विनाश नहीं होता और लोकोत्तर ज्ञान का भी आविर्भाव नहीं होता। गुरु की कृपा से यदि आत्मा की मनोभिमुखी दृष्टि रुक जाती है अथवा उससे अधिक गुरुकृपा से यदि वह दृष्टि परमात्माभिमुखी दृष्टि में परिणत हो जाती है तो पूर्वोक्त अनादि-अज्ञान उच्छिन्न हो जाता है और आत्ममनः-संयोग कट जाता है। उस समय मन निष्क्रिय और चेतन-भावापन्न हो जाता है। इसी का नाम मन का जागरण, मन का उद्धार या मन का त्राण अर्थात् ज्ञान का उन्मेष है। हमने जिस तुरीय अवस्था का उल्लेख किया है वह इसी का नामान्तर है। तदुपरान्त यह चेतन और शुद्ध मन भी फिर नहीं रहता। वही तुरीयातीत अवस्था है। तब एकमात्र आत्मा ही अपने स्वरूप में विराजमान रहता है एवं अपने साथ स्वयं क्रीडा करता है।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है वह प्रचलित साधारण दृष्टि की बात है। किन्तु विज्ञानदृष्टि से और भी अनेक रहस्यों का पता चलता है। विज्ञानवेत्ता लोगों ने इस सम्बन्ध में जो कुछ खोज की है उसका कुछ अंश साधारण जिज्ञासुओं के औत्सुक्य की निवृत्ति और ज्ञान-सम्पादन के लिये यथासंभव संक्षेप में दर्शाने की मैं चेष्टा कर रहा हूँ।

जो लोग देहविज्ञान में प्रवीण हैं, वे कहते हैं कि हमारा यह मानवशरीर सर्वमय है—इसमें सब कुछ है। केवल यही नहीं, सब कुछ से परे जो कुछ है, वह भी इसमें है। पिण्ड केवल ब्रह्माण्ड से अभिन्न है सो बात नहीं है ब्रह्माण्डातीत या विश्वातीत सत्य तत्त्व का भी पिण्ड में प्रकाश पाया जाता है।

इस देहचक्र का विश्लेषण कर इसका सांकेतिक यन्त्र के रूप में निरीक्षण करने पर एक दृष्टि से चतुरस्र यानी चतुष्कोण के रूप में और दूसरी दृष्टि से षट्-कोण के रूप में इसका वर्णन किया जा सकता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का जीवभाव से सम्बन्ध है, इसलिये इन तीनों को जीव-अवस्था कह सकते हैं। तुरीय अवस्था का नाम शिव-दशा है। इस शरीर का आश्रय लेकर तीन जीव-अवस्थाएँ और एक शिव-अवस्था अर्थात् कुल चार अवस्थाएँ प्रकाशित होती हैं, इसलिए इसकी चतुरस्ररूप में कल्पना की जाती है। किन्तु तुरीय अवस्था के अवान्तर भेदों की भी कल्पना की जा सकती है, क्योंकि इस अवस्था में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का औपाधिक सम्बन्ध रह सकता है। इस औपाधिक सम्बन्ध के दृष्टिकोण से तुरीय को भी तीन प्रकार का माना जा सकता है। इस तरह देखने पर जीव अवस्थाएँ तीन होने से जीव त्रिकोण कहलाता है एवं शिव-दशाएँ भी तीन हैं, इसलिये शिव भी त्रिकोण पदवाच्य है। देह-चक्र में इन दो प्रकार की अवस्थाओं का परस्पर सम्मिलन है। इसलिए देहचक्र को सांकेतिक भाषा में यदि षट्-कोण कहा जाय तो कोई आपत्ति न होगी।

अतएव तुरीय को एक दशा मान लेने पर शरीर चतुरस्र (चतुष्कोण) के नाम से अभिहित होता है। और जब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन जीवावस्थाओं के साथ जाग्रत् आदि उपाधि-सम्पन्न शिवावस्था के रूप से तुरीय को तीन प्रकार का मानकर जोड़ा जाय, तब यह शरीर षट्कोण कहा जाता है। देहचक्र में एक नाभि या मध्यबिन्दु है। वही सब चक्रों का धारण और नियन्त्रण करता है। जिसको हम लोग तुरीयातीत-अवस्था कहते हैं, वही उसका स्वरूप है; वही देहचक्र का केन्द्र है।

जाग्रत् एक सक्रिय अवस्था है। घट, पट आदि बाहरी पदार्थों का अनुसन्धान ही इसका स्वरूप है। सुषुप्ति अवस्था की निवृत्ति होने पर इस प्रकार के बाहरी पदार्थों का जो ज्ञान होता है, यही जाग्रत् है। इसमें क्रिया की प्रधानता रहती है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में क्रिया की प्रधानता नहीं रहती—वह जड़ताप्रधान निष्क्रिय-अवस्था है। इन दोनों अवस्थाओं के मध्य में और एक अवस्था है, उसका नाम है स्वप्न। सुषुप्ति की निवृत्ति होने के पूर्व विविध प्रकार के मानसिक भेदमय जिन विकल्पज्ञानों का उदय होता है, उन्हीं का नाम स्वप्न है। जीव की संसार-दशा का विश्लेषण करने पर इन तीन अवस्थाओं के साथ हमारा परिचय होता है। जिसका सुषुप्ति के नाम से निर्देश किया गया है वही संसार की बीज-दशा है, जिसका स्वप्न के नाम से उल्लेख किया गया है, वह संसार की उन्मेष दशा है एवं जिस दशा का हमने जाग्रत् नाम रखा है वह संसार की गाढ़ और वृद्धिंगत अवस्था है। आत्मा के संस्कारों की क्रमवृद्धि के अनुसार एक के बाद एक इन तीन अवस्थाओं का निर्देश किया गया है। किन्तु तुरीय अवस्था इन तीन अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न है। इन तीन अवस्थाओं में परस्पर भेद रहने के कारण इनमें से कोई भी दो अवस्थाएँ एक साथ प्रकट नहीं हो सकती हैं, एक के बाद दूसरी होती है। अर्थात् जिस समय जाग्रत् अवस्था रहती है, उस समय स्वप्न या सुषुप्ति नहीं रहती; जिस समय स्वप्न रहता है, उस समय जाग्रत् या सुषुप्ति नहीं रहती एवं जिस समय सुषुप्ति रहती है, उस समय जाग्रत् या स्वप्न नहीं रहता। किन्तु तुरीय अवस्था इस तरह की नहीं है। क्योंकि वह उक्त तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक के साथ ओत-प्रोत रूप में विद्यमान रहती है। तुरीय अवस्था जाग्रत् में रहती है, स्वप्न में रहती है तथा सुषुप्ति में भी रहती है। तुरीय के प्रकाश के लिए किसी अन्य अवस्था का निवृत्त होना आवश्यक नहीं है। चित् का अनुसन्धान होना ही तुरीय अवस्था की विशेषता है। उक्त तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था चित् से उत्पन्न है, इसलिये चित् उनका कारण है और वे चित् के कार्य हैं। कार्य में जैसे कारण व्यापकरूप से रहता है, वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में तुरीय अवस्था व्यापकरूप से विद्यमान रहती है। तुरीय अवस्था यद्यपि शुद्ध और निर्मल है फिर भी उसमें जाग्रत् आदि भिन्न अवस्थाओं के कलंक का स्पर्श रहता है। वह स्पर्शमात्र है इसमें सन्देह नहीं है, तथापि वह है अवश्य। किन्तु तुरीयातीत अवस्था में वह स्पर्श भी नहीं रहता।

परम शिव की प्राणस्वरूपा परा-शक्ति मातृका महायन्त्र की वाच्य है। यह

महाशक्ति पाँच अवयवों से युक्त है, इनका स्वरूप जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाओं से बना है। मूर्ति के अवयवों के दृष्टिकोण से विचार करने पर जाग्रत्-अवस्था को इसके शरीर का दाहिना पार्श्व कहा जा सकता है, क्योंकि दाहिना पार्श्व क्रियाप्रधान है और जाग्रत् अवस्था भी क्रियाप्रधान है। सुषुप्ति को बांया पार्श्व माना जा सकता है, क्योंकि वह कई अंशों में निष्क्रिय है। स्वप्न अवस्था जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। उसकी देवी के जघन या गुह्यप्रदेश के रूप में कल्पना की जाती है। विकल्पराशियाँ इसी प्रदेश से उत्पन्न होती हैं। सुषुप्ति की निवृत्ति होने के बाद जो विषय-ज्ञान होता है, वह जाग्रत् है एवं सुषुप्ति की निवृत्ति न होने पर भी यदि अर्थ-ज्ञान होता है, तो उसे स्वप्न जानना चाहिये। तुरीय अवस्था को देवी का मुख माना गया है। जाग्रत् आदि तीन प्रकार की अवस्थाओं में जो जड़ भाव प्रकट होता है, उसको निगलने की शक्ति एकमात्र तुरीय में ही है। मुख जैसे चर्वण और भक्षण का काम करता है, वैसे ही चिदनुसन्धान-प्रधान तुरीय-अवस्था भी जड़ाव को निगल जाती है। तुरीयातीत अवस्था देवी का हृदय मानी गई है। वही सब अवस्थाओं की प्राणरूपा है। वास्तव में तुरीयातीत अवस्था साक्षात् महाशक्ति का ही प्रतिपादन करती है। इस दृष्टि से अवस्थाओं के विचार के प्रसंग में तुरीयातीत अवस्था का ही प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है। यद्यपि तुरीय और तुरीयातीत दोनों ही अवस्थाओं में चिद्भाव प्रकट होता है, तथापि तुरीय अवस्था में संसाररूप कलंक का क्षीण आभास रह जाता है; किन्तु तुरीयातीत में वह भी नहीं रहता। परम शिव की अवस्था षष्ठ अवस्था के रूप में गणना के योग्य है—वह अखण्ड और व्यापक है। किन्तु ऐसा होने पर भी परम शिव से पराशक्ति का ही उत्कर्ष कहना चाहिये, क्योंकि परम शिव की सत्ता चित् का सारभूत विमर्शरूप पराशक्ति के अधीन है। इसलिए शिव-शक्ति में वस्तुतः कोई भेद न रहने पर भी शक्ति की ही प्रधानता मानी जाती है।

यह जो विभिन्न दशाओं का वर्णन किया गया है इसके साथ साथ अकारादि वर्णों का एक निगूढ़ सम्बन्ध है। कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण के श्लोक में शक्ति और शिव का अभेद्य सम्बन्ध बतलाने के लिये उपमा के बहाने शब्द और अर्थ के परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध का उल्लेख किया है। सृष्टि के प्रसंग में शब्द का ही अर्थ के रूप में विवर्त होता है, ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। वैदिक और तान्त्रिक साधनाशास्त्रों में सर्वत्र शब्द और अर्थ के इस निगूढ़ सम्बन्ध की चर्चा की गयी है। ईसाई योगी गण भी यह जानते थे एवं इस विषय में अनेक गूढ़ तत्त्व उनके साधन-साहित्य में मिलते हैं।

शब्द अध्वा या धारा का मूल वर्ण है। वर्ण से मन्त्र, पद आदि का आविर्भाव होता है। अर्थ अध्वा का मूल कला है, जिससे तत्त्व, भुवन आदि कार्य-वर्ग का क्रमिक स्फुरण होता है। दोनों धाराओं का परस्पर सम्बन्ध हर एक स्तर में विद्यमान रहता है।

✓ प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम वर्ण को आत्मिक दशा का ज्ञापक या व्यञ्जक मान सकते हैं। इसलिये तदनुसार दशा और वर्ण के मध्य व्यंग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध है, यह कहा

जा सकता है। वर्ण से ही अवस्थाओं की अभिव्यक्ति होती है, यह तात्पर्य है। जिस निमित्त को लेकर दोनों में इस सम्बन्ध की कल्पना हुई है, वह दोनों का सादृश्य है। क्रमशः आलोचना के सिलसिले में यह विषय स्पष्ट होगा।

अ से लेकर विसर्गतक स्वर वर्ण सुषुप्ति अवस्था के द्योतक हैं। ककार से लेकर मकार तक पचीस स्पर्श वर्ण जाग्रत्-अवस्था के द्योतक हैं। य, र, ल और व ये चार अन्तस्थ वर्ण स्वप्नावस्था के परिचायक हैं। श, ष और स—ये तीन ऊष्म वर्ण तुरीयवाचक हैं एवं कूटाक्षर 'क्ष' तुरीयातीतरूप माना जाता है। आपाततः इसका विचार तुरीय के साथ ही करना पड़ता है। जो तुरीय कहा गया है, वह जाग्रत् अवस्था में आविर्भूत सुषुप्ति का नामान्तर है। इसी की पारिभाषिक संज्ञा है योगनिद्रा।

वर्णों का उच्चारण करने के लिये जिस प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसकी वैशिष्ट्य-अवस्था सब के वैशिष्ट्य के अनुरूप है। उच्चारण के संकोच और विकास पर लक्ष्य रखकर ही यह बात कही गई है। स्पर्श वर्णों के उच्चारण में स्पृष्ट प्रयत्न की आवश्यकता होती है, यह जाग्रत् अवस्था का द्योतक है। इस प्रयत्न में संकोच का भाव प्रधान रहता है। किन्तु विवृत प्रयत्न में संकोच का भाव मिट जाता है, उसमें प्रसार की प्रधानता रहती है। स्वर वर्णों का उच्चारण विवृत प्रयत्न के द्वारा ही होता है। स्वर वर्ण सुषुप्ति अवस्था के ज्ञापक हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। स्वर वर्ण नादकल्प हैं। इसलिए उनका नादरूप में ही ग्रहण किया जाता है। स्पर्श वर्ण सृष्टि-प्रलयविषयक हैं। स्पृष्ट प्रयत्न कहने से कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों के निम्न और ऊपरी भागों का संगठन समझना चाहिये। इसी का नाम संकोचग्रहण है। विवृत प्रयत्न का उद्देश्य है पूर्वोक्त संगठित कण्ठ आदि के दो भागों का पुनः विघटन करना। इसका नामान्तर संकोच-त्याग है। जाग्रत्-अवस्था में घट, पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। इस अवस्था में आत्मा में संकोचभाव का उदय होता है। सुषुप्ति-अवस्था विश्राम की अवस्था है, उस समय आत्मा में पूर्णता का प्रकाश होता है।

यद्यपि वर्ण ही अवस्था के अभिव्यञ्जक हैं, तथापि संकोचग्रहण और संकोचत्याग मूलक अवस्था-सादृश्य वर्ण के प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। इसलिये यत्न को उपचार से अवस्था-व्यञ्जक माना जाता है। स्वप्न अवस्था के ज्ञापक अन्तस्थ वर्णों में ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न है। इस उच्चारण-प्रयत्न में स्पृष्टता ही प्रधान है—पर गौणभाव से विवृतता भी इस में है, इसलिये इसे मिश्र प्रयत्न या ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न कहा जाता है। तुर्यावस्था के ज्ञापक ऊष्म वर्णों में ईषद्विवृत प्रयत्न है। यह विवृत प्रयत्न स्पृष्टता से मिश्रित है, अतः यह पूरा नहीं है—यह संकीर्ण या ईषत् है।

इसलिये सुषुप्ति की पूर्णता समग्र या पूर्ण है, क्योंकि वह निर्विकल्प पद है और बाह्य या आभ्यन्तर इन्द्रियवर्ग का विश्रामस्वरूप है। विकल्प का अभाव ही पूर्णत्व का बोधक है। जाग्रत् की अपूर्णता ठीक इसी तरह सम्यक् या पूर्ण है। क्योंकि यह संसार पद है और गाढ़ विकल्प का उदय-स्थान है। यह अवस्था घट-पट आदि की अनुसंधान-रूप है, इसमें विश्राम का स्पर्श तक नहीं है। इन विकल्पों ने ही जाग्रत्-अवस्था को महा-

संकोचमय बना रखा है। तुरीय अवस्था को जाग्रत् और सुषुप्ति का मिश्रण समझना चाहिये। यद्यपि तुरीय अवस्था में चिद्-विश्रान्ति व्यापकरूप में है एवं चिद्-विश्रान्ति ही सुषुप्ति है, तथापि उस व्याप्ति का अनुसन्धान होता है चैत्यवर्ग में या जड़ वस्तु में, इसीलिये विकल्प स्पृष्टता भी जाग्रत् का अनुसरण करती है। स्वप्न भी मिश्ररूप है, क्योंकि वह जाग्रत् और सुषुप्ति का सम्मिलित रूप है। तुरीय में पूर्णता असमग्र है, किन्तु स्वप्न में संकोच असमग्र है।

ज्ञान और क्रिया की दृष्टि से जाग्रत्, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि जाग्रत् के दो ही रूप हैं—एक ज्ञानरूप अर्थात् सुषुप्ति और दूसरा क्रियारूप यानी प्रसिद्ध जाग्रत्। वैसे ही सुषुप्ति के भी दो रूप हैं—एक ज्ञानरूप अर्थात् तुरीय और दूसरा क्रियारूप अर्थात् प्रसिद्ध सुषुप्ति। इससे ज्ञात होता है कि स्वप्न जाग्रत् का ही एक भेद है एवं तुरीय सुषुप्ति का ही अवान्तर भेद है। जाग्रत् की तरह स्वप्न में भी घट-पट आदि का ज्ञान होता है, इसलिए स्वप्न भी एक प्रकार का जाग्रत् ही है। पर स्वप्न में सुषुप्ति की अनुवृत्ति रहती है, किन्तु जाग्रत् में वह नहीं रहती। उसी प्रकार सुषुप्ति ही तुरीय है, क्योंकि दोनों ही जगह विश्रान्ति प्राप्त होती है। पर तुरीय में जाग्रत् की अनुवृत्ति रहती है, परन्तु सुषुप्ति में नहीं रहती।

यह जो चार अवस्थाओं का दो श्रेणियों में विभाग किया गया है, इससे सब अवस्थाओं का स्वरूप समझना सहज होगा। जाग्रत् और सुषुप्ति के साथ स्वप्न और तुरीय अवस्था का सम्बन्ध स्पष्टरूप से जानना चाहिए। बोध (awakening) भीतर या अन्तःस्तर में यदि उदित हो तो वह ज्ञानरूप से उदित होता है, उसी का नाम स्वप्न है। किन्तु वह बाहर अर्थात् बाह्य-स्तर में यदि उदित हो तो क्रियारूप में उदित होता है, उसका नाम है—जाग्रत्। वैसे ही सुप्ति के ज्ञानरूप में अन्तःस्तर में उदित होने पर उसका नाम पड़ता है तुरीय एवं बाहर उदित होने पर उसका नाम पड़ता सुषुप्ति। अतएव अन्तरिन्द्रियों के अनुसन्धान का नाम ज्ञान और बहिरिन्द्रियों के अनुसन्धान का नाम क्रिया है, यह तात्पर्य है।

संसार और विश्राम की प्रतीति पहले अन्तरिन्द्रियों के द्वारा होती है। तदनन्तर वह बाह्य इन्द्रिय-धारा में उतरती है। स्मरण रखना होगा कि सभी भाव (पदार्थ) शिव-शक्तिरूप होने से ज्ञान-क्रियारूप हैं। अतएव ज्ञान-जाग्रत् (स्वप्न), क्रिया-जाग्रत् (जाग्रत्), ज्ञान-सुषुप्ति (तुरीय), क्रिया-सुषुप्ति (सुप्ति), फिर ज्ञान-जाग्रत् (स्वप्न), क्रिया-जाग्रत् (जाग्रत्) इत्यादि क्रम से चार अवस्थाओं में अवतीर्ण होने वाले कालचक्र का परिभ्रमण हो रहा है। इस कालचक्र का केन्द्र तुरीयातीत है। जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं का स्वभाव है—भेदाभेदरूप संसार और उसकी विश्रान्ति। (१) जाग्रत् का स्वभाव है—भेदसृष्टि या भेदप्रवृत्तिरूप संसार को बाह्येन्द्रिय-धारा में प्रतिभासित करना। (२) स्वप्न का स्वभाव है—अन्तः इन्द्रियधारा में भेदसृष्टि का स्फुरण करना। तुरीय क्या है ? पूर्वोक्त जाग्रत् और स्वप्न ये दोनों ही अवस्थाएँ अभेद-सृष्टि में तुरीय नाम से प्रसिद्ध होती हैं। विश्रान्ति के उन्मुख होने से भेदनिवृत्तिरूप मार्ग का ग्रहण ही अभेद अवस्था है। सुषुप्ति दोनों भूमियों की जन्म और लय स्थान है। यह भेदमय

जीव-संसार के उदय और लय की भूमि है एवं अभेदमय शिव-संसार की भी उदय और लय की भूमि है। जीव की संसृति के तीन पद भेदात्मक हैं। उनका क्रम यों है—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। जीव की विश्रान्ति के भी ये तीन ही पद हैं, ये अभेदात्मक हैं, उनका नाम तुरीय है। उन तीन पदों का क्रम यह है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। विश्राम का मार्ग भी बन्धन के अन्तर्गत है, पर वहाँ माया का स्पर्श नहीं है। शिव की संसृति के तीन पद हैं—भेदहीन सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् के तुल्य तीन अवस्थाएँ अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया। शिव की विश्रान्ति के तीन पद हैं—जाग्रत् से सुषुप्ति तक—निवृत्तिमार्ग। शिव में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग दोनों ही अभिन्न और एकरूप हैं, क्योंकि दोनों ही अभेदात्मक हैं। इसलिये दोनों के लिये 'तुरीय' शब्द का व्यवहार किया जाता है। फिर भी 'तुरीय' पद की मुख्यता निवृत्तिमार्ग में ही है, प्रवृत्तिमार्ग में नहीं है। अद्वैत-संसार का समाधान द्वैत-संसार के तुल्य ही समझना चाहिये।

पहले अवस्थाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया गया है। अब इन अवस्थाओं के अधिष्ठाता शिव और जीव का स्वरूप क्या है? इस विषय में विवेचन किया जाता है। पहले मन्त्रशास्त्र में प्रचलित बिन्दु और विसर्ग इन दो परिभाषाओं के अनुसार उन्हीं का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

शिव प्रकाशतत्त्व है। प्रकाशतत्त्व अपने से जिसका मानो बाहर विसर्जन (बिदा) करता है, उसको विसर्ग या विमर्श कहते हैं। इसके दूसरे नाम हैं—स्वभाव और प्रकृति। वस्तुतः वह बाहर विसर्जन नहीं करता, क्योंकि सर्वव्यापी प्रकाश के बाहर कुछ रह ही नहीं सकता। प्रकाश की भित्ति से संलग्न होकर ही प्रत्येक वस्तु स्वसत्ता प्राप्त करती है। प्रकाश के बाहर सत्ता रहती ही नहीं। जो वस्तु प्रकाशमान नहीं होती, उसे 'सत्' कहना नहीं बनता। विसर्जन एक चमत्कारमात्र है। प्रकाश का स्वभाव ही विमर्श है। जिसके न रहने पर यदि प्रकाश विषय द्वारा उपरक्त हो जाय तो भी स्फटिक आदि के तुल्य उसमें जड़ता का प्रसंग होता है। दीक्षा के बाद संवित्शास्त्रसिद्धान्त में अधिकार उत्पन्न होता है। दीक्षित पुरुष ही परम रहस्यरूप मन्त्रार्थ के उपदेश का अधिकारी होता है। इसीलिये किसी किसी आचार्य ने मन्त्रार्थ के प्रस्ताव में संवित्-मत का सार प्रकट किया है। यह जो विमर्श है, यह प्रकाश का अपना निजी स्वभावरूप और आत्मविश्रान्त है; इसके दूसरे पर्याय परा-प्रकृति, स्वातन्त्र्य, माया और अविद्या हैं। यही जगत् का बीज है। किसी समय प्रपञ्च का अनुसन्धान करने की इच्छा होने पर प्रकाश इस विमर्श का आत्म-भित्ति में ही बाह्य की तरह जो विसर्जन करता है, वही विसर्ग है। यह विसर्गरूप विमर्श ज्ञेय का आकार धारण कर वेत्ताको ग्रस लेता है और स्वयं प्रमाता बन बैठता है। वेत्ता यद्यपि चिद्रूप है, तथापि यह अपने वैभव को खोकर अर्थात् स्वाभाविक ऐश्वर्य से वञ्चित होकर प्रमाण का रूप धारण करता है और जीव या पशु के नाम से परिचित होता है। फिर जब वह शिवरूपी प्रकाश प्रपञ्च के संहार की इच्छा करता है तब विमर्शरूपिणी प्रकृति को अपने में निगल लेता है। तब उसका नाम पड़ता है—बिन्दु। बिन्दु का स्वभाव

अपरिच्छिन्न है। अतएव वेद्य, विमर्श और विसर्ग एकरूप हैं। वैसे ही वेदक, प्रकाश और बिन्दु भी अभिन्न हैं। विमर्श का स्वभाव फैलना है। प्रकाश का स्वभाव विश्राम है। यह विचित्र संसार विसर्ग के द्वारा ही उद्भव को प्राप्त होता है। वस्तुतः पशु, शिव और परम शिव सभी संसारी हैं। इसीलिये संसार विचित्र कहा जाता है।

अब किसका संसार किस तरह का है? इसपर प्रकाश डाला जाता है। पशु का संसार द्वैतरूप है, क्योंकि इस संसार में विसर्ग या विमर्श अविद्या के रूप से भेद की सृष्टि करता है। किन्तु शिव का संसार अद्वैतरूप है, वहाँ विमर्श विद्या के रूप से अभेदभाव ग्रहण करता है। मगर परमशिव का संसार द्वैताद्वैतरूप है, क्योंकि उसमें विमर्श विद्या और अविद्या दोनों के रूप से एक साथ भेदाभेदरूप रहस्य का प्रदर्शन करता है। इस त्रिविध संसार की विश्रान्ति कहाँ है? इस प्रश्न के उत्तर में सिद्ध पुरुष कहते हैं कि शुद्ध महाबिन्दुपद ही संसार-कलङ्क से अस्पृष्ट, अन्तर्मुख और विश्रान्ति-स्वभाव है। यही अनुत्तर परमधाम है। इस महाबिन्दु में भी दो स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति त्रिविध संसार की उपादानरूप पूर्ण विमर्शस्वभाव होने से महाविश्रान्ति स्थान होने पर भी तीन कक्षाओं में प्रकटित प्रपञ्च के कलरव और अनुसन्धान की गन्ध से एकदम शान्त नहीं है। यह चतुर्थ पद है। दूसरी स्थिति का नाम परम व्योम है। यह पञ्चाम्नाय से शोधित निष्कल महाबिन्दुतत्त्व है। यह पञ्चम पद है। इसलिए उक्त पाँच दशाएँ यों हैं—(१) भेद-संसार—यह पशु का संसार है; (२) अभेदसंसार—यह शिव का संसार है; (३) मिश्रित (भेदाभेद-मिश्र) संसार—यह परम शिव का संसार है; (४) सब संसारों की एकमात्र विश्रान्ति अवस्था तुरीय है—ये सकल महाबिन्दु हैं और (५) निष्कल महाबिन्दु तुरीयातीत है।

बिन्दु अपरिच्छिन्न होने से शिवरूप है परन्तु जब उसमें विकल्प का स्पर्श होता है, तब वह परिच्छिन्नवत् हो जाता है। प्रश्न उठता है कि उस अवस्था में उसे 'बिन्दु' कहना उचित है या नहीं। इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में विकल्प-स्पर्श रहने के कारण सम्पूर्ण बिन्दु-लक्षण उसमें नहीं घटता। पर गौणरूप से 'बिन्दु' शब्द का व्यवहार विकल्पक्षेत्र में भी होता है। क्योंकि संवित्ति अथवा ज्ञान अभेदरूप है। पर यह गुणगर्भित अभेदरूप है, इसीलिये यह गुण है। इस प्रकार बिन्दु गौण है। 'बिन्दु' शब्द के व्यवहार का यही निमित्त है। यह ज्ञान ही शिव का स्वरूप अथवा शरीर है। इस तरह मिश्र संसार का अधिष्ठाता भी 'बिन्दु' है। प्रचुर व्यवहार के अभिप्राय से शिव को ही बिन्दु कहा जाता है। किन्तु परिच्छेद होने पर भी चिद्रूप होने के कारण पशु को भी बिन्दु कहा जाता है।

'वेद्य' शब्द से भेदपद या भेदस्थान की प्रतीति होती है। यह जीव का व्यापक है, इसलिये यह जीव-स्वरूप है। जो जिसका व्यापक या आवरणकर्ता है, वह उसका स्वरूप होता है। वेद्य भेद का आवरणकर्ता या व्यापक होने से भेद का स्वरूप है। इसलिये जीव वेद्यरूप होने से वेद्य के तुल्य 'विसर्ग' पद वाच्य है। मन्त्रवेत्ता लोग ऐसा ही व्यवहार करते हैं।

पशुपद में और शिवपद में वेद्य और वेत्ता आपस में एक दूसरे पर आक्रमण

करते हैं। क्यों ऐसा करते हैं ? इसके हेतु का पता लगाना चाहिये। रहस्यागम का सिद्धान्त यह है कि यह जगत् शिव-शक्ति का अथवा प्रकाश और विमर्श का परिणाम है। यद्यपि प्राचीन मत में जगत् विमर्श का ही विलास माना गया है, तथापि यह अवश्य ही अङ्गीकार करना पड़ता है कि प्रकाश के बिना विमर्श का स्वरूप सिद्ध ही नहीं होता। इसलिये विमर्श का जगत् के रूप में विकास होने पर भी वह जाग्रत् में प्रकाश के अंश को अपने अर्द्ध भाग से प्रकाशित करता है और शेष अर्द्ध भाग से अपने अंश को प्रकाशित करता है। प्रकाश का अंश वेत्ता है ओर विमर्श का अंश वेद्य है। इसलिये वेद्य या चैत्य विमर्श का परिणाम होने से विमर्श ही है। यह विमर्श चित् या प्रकाश का धर्म है, क्योंकि प्रकाश से ही इसका जन्म होता है और प्रकाश में ही इसका लय होता है। सभी वस्तुएँ स्फुरण के बिना सत्ताहीन हैं और स्फुरण प्रकाश के अधीन है। इसलिए सभी वस्तुओं का मूल कारण प्रकाश है। और एक बात है, वह यह कि शब्दरूप विमर्श के उदय और लय का स्थान आकाश है। यह प्रकाश का ही नामान्तर है। दूसरे पक्ष में प्रकाश विमर्श का धर्म है। प्रकाश के रूप का विमर्श हुए बिना यानी यह ऐसा ही है, इस प्रकार के विमर्श द्वारा प्रकाश के स्वरूप का निर्देश हुए बिना वह प्रकाश रह कर भी न रहने के समान है। जो वस्तु 'यह इसी तरह की है' यों विमर्श-विषय नहीं होती, उसकी सत्ता का यदि अंगीकार किया जाय तो शशश्रृंग आदि की भी सत्ता माननी पड़ेगी। इसलिए सभी वस्तुओं का पार्थक्येन प्रतीत होना तथा स्वसत्ता-लाभ करना विमर्श के अधीन है। अतएव प्रकाश के अस्तित्व में भी विमर्श में कारणता होने से प्रकाश को विमर्श का धर्म मानना पड़ता है।

शिव और शक्ति का परस्पर धर्मधर्मिभाव दिखलाया जा चुका है। उसकी प्रकृत में आवश्यकता है। पूर्वोक्त रीति से चित् और चैत्य का धर्मधर्मिभाव तुल्य होने के कारण एक दूसरे पर स्वभावतः आक्रमण करते हैं। धर्मी 'धर्म' पद का व्यापक होता है। जब चित् चैत्य से आवृत या व्याप्त होती है तब वह 'पशु' कही जाती है। तब उसकी अपनी शक्ति आच्छन्न हो जाती है यानी उसमें दैन्य (अनैश्वर्य) आ जाता है। इसके विपरीत जब चित् चैत्य को आवृत करती है, तब वह शिव कही जाती है।

पशु और शिव के दो पदों के आपस का सम्बन्ध समझ में आ गया। अब चित् और चैत्य का सम-व्याप्ति पद कैसा है इस सम्बन्ध में विचार किया जाता है। जिस समय चित् और चैत्य समव्याप्ति वाले होते हैं, उस समय उनका स्वभाव स्तिमित या निश्चल होता है—वह निश्चल मध्यम-पद या मिश्र-पद विश्रान्तिस्वभाव का अवगाहन कर परमशिव के नाम से प्रसिद्ध होता है। शिव और जीव के दो व्यापार जहाँ एक काल में होते हैं, उस स्थल में परस्पर के अभिघात से परस्पर का व्यापार-वेग क्षीण होने पर जो निर्व्यापार अवस्था उपस्थित होती है, वही समव्याप्ति पद है। यह स्तिमितावस्था दोनों का मूल होने से दोनों पक्षों में रहती है और दोनों पक्षों पर अपना विशेष आधिपत्य रखती है। इस प्रकार मिश्रपद में प्रमाता शिव और जीव के व्यापार की

युगपत् प्रतीति होती है। इस तरह धर्मी तीन प्रकार के हैं—चित्, चैत्य और मिश्र एवं उनके विमर्श भी उसी तरह तीन प्रकार के हैं अर्थात् जीव का द्वैत विमर्श, शिव का अद्वैत विमर्श एवं परम शिव का उभयात्मक विमर्श।

ज्ञान और क्रिया का स्वरूप क्या है? इस बात की इस समय आलोचना करनी है। ज्ञान अभेदात्मक होने से चित् है। क्योंकि घट, पट आदि की प्रतीति के समय "ज्ञात होता है" यों विभिन्न घट, पट आदि में एकरूपता की प्रतीति होती है। इसीलिये चित् का अभिन्न रूप से अनुभव होता है। क्रिया भेदरूपा है, यह चैत्य है। घट, पट आदि चैत्य परस्पर व्यावृत्तस्वरूप होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। अतएव चित् अथवा चैत्य, ज्ञान या क्रिया आपस में भिन्न नहीं है। पर जो भेद की प्रतीति होती है, उसका कारण विपर्यय ज्ञान अर्थात् माया है। तत्त्वदृष्टि से दोनों ही अभिन्न हैं। ज्ञान या प्रकाश ही विमर्श के आकार से कठिनत्व गुण धारण करने पर क्रिया कहलाता है। जैसे आकाश का कठिनत्व ही शब्द है वैसे ही चिदाकाश का काठिन्य ही विमर्श है। जैसे पानी और ओलों का भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही प्रकाश और विमर्श का भेद भी वास्तविक नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि प्रकाश और विमर्श के बीच भेद वास्तविक न रहने पर भी यह मानना पड़ेगा कि चैत्यरूप होने से घट-पट आदि नानारूप क्रिया को ज्ञानरूप प्रकाश से मोटे तौर पर भिन्न न मानना सम्भव नहीं है। फिर एक बात और है। वह यह कि विमर्श वर्णरूप है, घट, पट आदि निर्दिष्ट आकारात्मक हैं। इस दृष्टि से विमर्श से घट, पट आदि के भेद का निश्चय होता है। इस प्रकार की आशंका निर्मूल नहीं है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि विवेक-दशा में घट, पट आदि किसी भी वस्तु का घट, पट आदि शब्दरूप विमर्श के अलावा कोई पृथक् स्वरूप पाया नहीं जाता। गुरु के कृपाकटाक्ष से जिनके अज्ञानान्धकार की निवृत्ति हो चुकी हो, वे ही इसको समझ सकते हैं। अतएव क्रिया ज्ञान से वस्तुतः अभिन्न है, यह बात सत्य है। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि विमर्शरूप क्रिया काठिन्य का त्याग कर विश्रान्तिस्वरूप विरलता ग्रहण करने पर ज्ञान कही जाती है, अर्थात् प्रकाश के साथ एकरस होती है। अतएव ज्ञान की बाह्यरूप क्रिया, क्रिया का वास्तविक रूप ज्ञान—दोनों का एक ही अर्थ है। यह ज्ञान ही प्रकाश या शिव है एवं क्रिया विमर्श या शक्ति है। दोनों की प्रधानता एक सी है; इसलिए दोनों ही युगपत् सत्य हैं। सिद्ध लोग कहते हैं कि यह यामलसिद्धान्त मन्त्रविज्ञान का रहस्य-स्वरूप है।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ज्ञान क्रिया का कारण हो और क्रिया ज्ञान का कारण हो, यह कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि क्रिया या विमर्श के बिना ज्ञान का प्रकाशस्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। ठीक उसी तरह ज्ञान के बिना क्रिया की उपलब्धि भी सिद्ध नहीं होती। इसलिए सिद्ध लोग कहते हैं कि ज्ञान और क्रिया यामल या युगपत्सिद्ध हैं। यही मन्त्र का रहस्य है। ज्ञान और क्रिया में पौर्वापर्य नहीं है, यौगपद्य ही है। वेद्य-वेदक के रूप से, प्रकृति-पुरुष के रूप से, देह-आत्मा के रूप से और शब्द-अर्थ के रूप से अथवा अन्य किसी प्रकार के पर्याय के आकार से ज्ञान

और क्रिया दोनों ही युगपत्सिद्ध हैं।

शिव का दक्षिण अर्धभाग क्रिया है, इसीलिये कर्मकाण्ड दक्षिण मार्ग है। उनका बाँया अर्ध-भाग ज्ञान है, इसीलिये ज्ञान-काण्ड वाम-मार्ग है। सिद्ध लोगों के मत से शैवमत दक्षिणाचार और शाक्तमत वामाचार है, ऐसी प्रसिद्धि है। इसका तात्पर्य यह है कि क्रिया विमर्शरूप होने के कारण शक्तिरूप है तथा ज्ञान प्रकाशरूप होने से शिवस्वरूप है, यह रहस्य जानना चाहिये। ज्ञान और क्रिया रूप शिव और शक्ति में परस्पर अनुरागवश परस्पर का स्वभाव परस्पर में उपरक्त होता है। शिव का स्वभाव ज्ञान जड़ाकार क्रिया के द्वारा उपरक्त या रञ्जित होता है। तब वह जड़ की शुक्लता से (चन्द्रमा की शुक्लता से) शुक्ल होता है। शक्ति की स्वभावरूप क्रिया अजड़ ज्ञान के द्वारा उपरक्त होकर अजड़ सूर्य की रक्तता से रक्त होती है। दोनों का मिश्रित रूप दो वर्णों के संसर्ग से सुवर्ण-तुल्य (Golden) होता है। शिव, शक्ति और मिश्र इन तीनों का स्वरूप पर्याय और गुरु-पादुका के अन्तर्गत तीन चरणों की तरह वर्णवासना भी समझनी चाहिये। इसीलिये शिव ज्ञानस्वरूप होने पर भी शक्ति के स्वभाव-क्रिया के स्वरूपानुसन्धान कार्य में सदा निरत रहने के कारण ज्ञानमार्ग या वामाचार में प्रतिष्ठित हुए हैं। यही कौलिक रहस्य है। यह तत्त्व अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। ज्ञान और क्रिया की सत्य पुरुष के वाम और दक्षिण अर्ध के रूप में कल्पना कर सिद्ध लोग समझाने की चेष्टा करते हैं कि ज्ञान और क्रिया की व्याप्ति बराबर-बराबर होने पर उसका नाम पड़ता है—इच्छा। यही मध्य है। इच्छातत्त्व परमात्मस्वभाव के ज्ञान और क्रिया इन दो पक्षों का मूलरूप है—दोनों का बीजस्वरूप है। यद्यपि एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि ज्ञान क्रिया और इच्छा का मूल है एवं क्रिया ज्ञान और इच्छा की मूल है; तथापि यह सत्य है कि इच्छा मध्यवर्ती होने के कारण सुषुम्णास्वरूप है। इसलिए सिद्ध लोगों ने इच्छा को ही एक साथ ज्ञान-क्रिया के रूप में स्वीकार किया है। इच्छा का स्वभाव अचल और स्तिमित है। यही विशेष-रूप से बीजत्व की समर्पिका है। क्योंकि बीज निश्चलरूप से स्थित रहता है एवं मूल और अंकुर भीतर और बाहर की ओर फैलते हैं। ज्ञान अन्तर्मुखी गति के द्वारा निवृत्ति के रूप में फैलता है। इसलिये ज्ञान को मूल कहा जाता है। बीज के नीचे की ओर फैलनेवाले अवयव होते हैं। क्रिया बहिर्मुखी गति के द्वारा प्रवृत्ति के रूप में फैलती है। इसलिये क्रिया को बीज का अंकुर कहा जाता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय माने जाते हैं। ज्ञान, क्रिया और इन दोनों की समष्टिस्वरूप और सामरस्यरूपी इच्छा—ये तीन तत्त्व परस्पर परस्पर का आश्रय कर प्रकट होते हैं। एक को छोड़कर अन्य दो प्रकट नहीं हो सकते। नित्ययुक्त प्रमाता आदि भी त्रिपुटीरूप होने के कारण ठीक उसी तरह सम्बद्ध हैं। इस विवरण से ही इच्छा, ज्ञान आदि के साथ प्रमाता आदि का सादृश्य समझ में आ सकेगा।

श्रीभगवान् का स्वरूप और कार्य (द्वैत शैवमत)

दार्शनिकों में भगवान् के स्वरूप तथा कार्य के सम्बन्ध में सभी देशों में विविध प्रकार के विचार होते आये हैं। हमारे देश में भी विभिन्न सम्प्रदायों में इस सम्बन्ध में विविध मत प्रचलित हैं। प्रस्तुत लेख में हम द्वैतवादी सिद्धान्तशैवागम के अनुसार इस विषय की कुछ चर्चा करेंगे। यह कहना अनावश्यक है कि शैवगण 'भगवान्' शब्द का प्रयोग न कर उसके बदले 'शिव' शब्द का प्रयोग करते हैं। हम भी उस रीति के अनुसार इस प्रसङ्ग में 'शिव' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

उनका कथन है कि मूल में तीन तत्त्व विद्यमान हैं। वे तीनों तत्त्व परम तत्त्व हैं। उन तत्त्वों को वे 'रत्न' भी कहते हैं। उनके नाम हैं—शिव, शक्ति और बिन्दु अथवा महामाया। बौद्ध लोग जिस प्रकार धर्म, बुद्ध और संघ को 'रत्नत्रय' कहते हैं उसी प्रकार इस सम्प्रदाय के शैवगण भी उक्त तीन परम तत्त्वों का रत्नत्रय के नाम से उल्लेख करते हैं। सृष्टि की पूर्वावस्था में शिव, शक्ति और बिन्दु का पार्थक्य समझ में नहीं आ सकता। शिव चित्स्वरूप हैं, शक्ति भी चित्स्वरूपा हैं, किन्तु बिन्दु अचिद्रूप है। शक्ति स्वरूपतः चिन्मयी हैं एवं शिवस्वरूप में नित्य समवेत हैं। किन्तु वह कभी सक्रियरूप और कभी निष्क्रियरूप रहती हैं। शक्ति के क्रियाशील होने पर उनके प्रभाव से अचिद्रूप बिन्दु में क्षोभ उत्पन्न होता है। किन्तु जब शक्ति निष्क्रिय रहती हैं तब बिन्दु भी क्षोभरहित तथा शान्त रहता है। शक्ति के निष्क्रिय रहनेपर शिव केवल स्वप्रकाश स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। उस समय उनका परिचय प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं रहता। यह सृष्टि की पूर्वावस्था की बात है। शिव के स्वातन्त्र्य से ही शक्ति में क्रिया का उन्मेष होता है; एवं क्रिया का उन्मेष होने पर ही बिन्दु में चञ्चलता आती है और परिणाम होता है। बिन्दु का दूसरा नाम महामाया है। चिदाकाश तथा कुण्डलिनी शब्दों द्वारा इस बिन्दु का ही निर्देश किया जाता है। बिन्दु क्षुब्ध होकर शुद्ध और अशुद्ध जगत् की सृष्टि की सूचना करता है। यह किससे होता है? यह विशेष ध्यान देने योग्य विषय है। सूर्य से जिस तरह रश्मियाँ या किरणें निकलती हैं उसी तरह शुद्ध बिन्दु से किरण-मालाएँ निकली हैं। इन मूल किरणों का अथवा शक्तियों की धारा का आगम-शास्त्र में कला के रूप में वर्णन किया गया है। दीपक के उजियाले के चारों ओर फैलने पर भी जो उजियाला दीपक के जितना अधिक निकट रहता है वह उतना उज्ज्वल रहता है और जो दीपक से जितना दूर रहता है उसकी उज्ज्वलता उतनी कम होती है। दीपक की फैलने की शक्ति मोटे तौर पर सीमाबद्ध मान लेने पर दीपक के फैलने की एक अन्तिम सीमा स्वीकार कर लेनी चाहिये। जिसके कारण दीपक का उजियाला क्रियाशील नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार बिन्दु को दीपक-स्थानीय मानकर कलाओं की परिधि

चारों ओर कल्पित हो जाती है। बिन्दु से गणना के अनुसार जो पाँचवीं कला है वह अन्तिम कला है। उसका नाम है निवृत्ति, क्योंकि उसके बाद कलाओं का बाहर फैलना निवृत्त हो जाता है। निवृत्तिकला की अपेक्षा बिन्दु के अधिक सन्निकट कला का नाम प्रतिष्ठाकला है। प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिक निकट कला का नाम विद्याकला है। विद्या की अन्तरङ्ग कला शान्तिकला के नाम से प्रसिद्ध है। सबसे अधिक निकटवर्ती कला, जो बिन्दु के साथ अभिन्नरूप से वर्तमान है, का नाम शान्त्यतीतकला है। इन पाँच कलाओं की समष्टि बिन्दु है। बिन्दु क्षुब्ध होकर ज्योति और शब्द के रूप में प्रकट होता है, किन्तु ये ज्योति और शब्द क्रमशः बहिर्मुख होते होते आच्छन्न हो जाते हैं। दीप के उजियाले के बाहर जैसे छाया दिखाई देती है वैसे ही अभिव्यक्त बिन्दु के बाहर छायारूप माया दिखाई देती है। बिन्दु जब अव्यक्त अवस्था में रहता है तब यह उजियाला और छाया दोनों ही अव्यक्त रहते हैं। यह सृष्टि की पूर्वावस्था है। किन्तु सृष्टिकाल में उजियाले का राज्य और मायाराज्य दोनों अलग अलग भासमान रहते हैं। अवश्य, इनके बीच में अवान्तर विभाग न हो, सो बात नहीं है। यहाँ हम उसकी आलोचना नहीं करेंगे। उजियाले का राज्य महामाया का राज्य है; छाया का राज्य माया का राज्य है। किन्तु छाया छाया होने पर भी उसमें उजियाले का आभास रहता है। ठीक वैसे ही मायाराज्य में भी महामाया का अंश विद्यमान रहता है, यह जानना चाहिये। पहले कहा जा चुका है कि महामाया विक्षुब्ध होकर जिन पाँच कलाओं के रूप में परिणत होती है उनमें तीन कलाएँ अर्थात् निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या मायाराज्य के अन्तर्गत हैं एवं शेष दो कलाएँ अर्थात् शान्ति और शान्त्यतीता महामाया-राज्य के अन्तर्गत हैं। महामाया-राज्य की सृष्टि पहले होती है; तदुपरान्त मायाराज्य की सृष्टि होती है। माया-राज्य पर शासन करने के लिए महामाया-राज्य का गठन पहले ही आवश्यक होता है।

श्रीभगवान् आगमशास्त्र के अनुसार सदा पंचकृत्यनिरत रहते हैं। तदनुसार सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह या तिरोधान और अनुग्रह सदा ही वे करते रहते हैं। ये उनके नित्यकृत्य हैं। पर उनके स्वरूप की ऐसी भी एक अवस्था है जहाँ वे कुछ करते हैं ऐसा कहना नहीं बनता। द्वैतमत में जीव या पशु अनादि काल से मल से आच्छन्न है। यद्यपि जीव स्वरूपतः शिवत्वसम्पन्न है तथापि इस मल के आवरण वश वह अपना शिवत्व भूलकर, जीव का स्वाँग धारण कर एवं कर्तृत्वभाव ग्रहण कर शुभाशुभ कर्म फल-भोग के लिए मायिक जगत् में विभिन्न लोकों और देहों में संसारी बनकर निरन्तर भ्रमण करता है। इस भ्रमणरूप व्यापार की जड़ में है उसकी आत्मविस्मृति; वस्तुतः इस विस्मृति के मूल में मल की आवरण या रोध शक्ति है। यह परमेश्वर की इच्छा से बनी है एवं उनकी इच्छा अर्थात् अनुग्रह से यह आवरण शक्ति जब हट जाती है तब जीव शिवत्व प्राप्त करता है। यही उसकी परा मुक्ति है। जब तक यह नहीं होती तब तक जीव चाहे जिस किसी अवस्था में क्यों न रहे वह चरम अवस्था नहीं है। इस निग्रह और अनुग्रह के मूल में श्रीभगवान् स्वयं हैं एवं दोनों के मध्य में सृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र चलता है। मायिक उपादानों से देह का ग्रहण करना ही सृष्टि

है, उस देह का संरक्षण स्थिति है एवं मृत्यु या प्रलय में उसकी निवृत्ति संहार है। जब तक देह-बीज नष्ट न हो जाय तब तक देह-ग्रहण बन्द नहीं हो सकता। इसीलिए सृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। देह-बीज के नष्ट होने पर अर्थात् अविवेक और अविद्या की निवृत्ति होने पर मायिक देहग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जीव का परम स्वरूप जो शिवत्व है, उसकी प्राप्ति उसे तब भी नहीं होती, उसके लिए श्रीभगवान् की अनुग्रहशक्ति की क्रिया अपेक्षित है।

श्रीभगवान् का स्वरूप अर्थात् शिवस्वरूप, समझने की सुविधा के लिए, तीन भागों में विभक्त किया जाता है—(१) निष्कल, (२) सकल-निष्कल और (३) सकल। श्रीभगवान् या शिव निरन्तर ही इस त्रिविध भाव से अखण्ड स्वरूप में विराजमान रहते हैं। विभाग की कल्पना जीव के समझने की सुविधा के लिए है। इन तीन विभागों के साथ चित्शक्ति की तीन अवस्थाओं का तथा साथ ही साथ बिन्दु की भी तीन अवस्थाओं का स्मरण रखना चाहिये। भगवान् का जो निष्कल स्वरूप है वह परम अव्यक्त है। वहाँ शक्ति निष्क्रिय रहती है, अतः उस स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी कहा नहीं जा सकता। यह कहना अनावश्यक है कि उस समय बिन्दु भी क्षोभ-रहित होने से शान्त रहता है। यह सृष्टि की पूर्वावस्था के समय का भगवत्स्वरूप है। इसके अतिरिक्त जो दूसरी अवस्था है—वह चित्शक्ति के उन्मेष की दशा है—उस समय शक्ति पूर्व अवस्था की भाँति एकबारगी मुकुलित नहीं रहती एवं पर अवस्था की भाँति पूर्ण विकसित भी नहीं रहती। इसी का नाम शक्ति का उन्मेष है। उसी तरह बिन्दु भी क्षोभरहित नहीं रहता और पूर्णरूप से क्षुब्ध भी नहीं रहता। यह बिन्दु की क्षोभोन्मुख अवस्था है। यह परम आनन्द की अवस्था है, जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं वह इसी अवस्था में प्राप्त होता है। यह कहना अनावश्यक है कि उस समय भी सृष्टि नहीं हुई रहती। माता के गर्भ में सन्तान की स्थिति के समान इस अवस्था में विश्वमाता के गर्भ में समग्र विश्व स्थित रहता है। इसके बाद की अवस्था ही प्रसवावस्था है। चित्शक्ति तब प्रवृत्तिसम्पन्न और पूर्ण वेग से क्रियाशील रहती है। बिन्दु भी उस समय क्षोभयुक्त होकर सृष्टि के उपादानरूप में परिणत होता है। यह परमेश्वर की अथवा श्रीभगवान् की सकलावस्था है। इसकी पूर्ववर्ती भोगावस्था रही सकलनिष्कल और पूर्वावस्था जो रही वह रही निष्कल। अखण्ड भगवत्स्वरूप में ये तीनों अवस्थाएँ रहती हैं। एक लय की अवस्था है—यह सृष्टि की पूर्वावस्था है। एक भोगावस्था है—यह सृष्टि की गर्भावस्था है—इसे पालनावस्था भी कहते हैं। एक सृष्टि की विकासावस्था है—इसे अधिकारावस्था भी कहते हैं। भगवान् स्वरूपतः इनमें से प्रत्येक अवस्था में रहते हैं। उनके स्वरूप में कोई विरोध नहीं है। जीव की बुद्धि क्रम का अवलम्बन कर इन्हें समझने की चेष्टा करती है।

जीव संसारावस्था कट जाने के बाद दो अलग-अलग परिस्थितियों के सम्मुख उपस्थित होता है। जो जीव चिदात्मक अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति और माया से पृथक् रूप में कैवल्यदशा में स्थित होते हैं उनका जन्म-मृत्यु के चक्र से उद्धार होता है सही, किन्तु अपने भीतर स्थित शिवत्व का अनुभव उन्हें प्राप्त नहीं होता, क्योंकि

इन जीवों में आणव मल कटता नहीं। जब तक मल का परिपाक नहीं होता तब तक उसके कटने की संभावना नहीं होती। किन्तु जो जीव पक्वमलावस्था को प्राप्त होते हैं और विवेकज्ञान से माया के पार हो जाते हैं, वे नूतन सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त करते हैं। इस विशेष अनुग्रह के प्रभाव से उनका आणव मल ध्वस्त हो जाता है एवं उनमें से जो अव्यवहित उत्तर क्षण में शिवसाम्य प्राप्त नहीं कर सकते, वे लोग अपनी वासना के कारण दो अवस्थाओं में से किसी एक को प्राप्त करते हैं। कोई-कोई ऐश्वर्य की वासना से युक्त होने के कारण ईश्वरपद पर प्रतिष्ठित होते हैं—ये परमेश्वर के स्थानापन्न पंचकृत्यकारी महापुरुष हैं। ये पूर्ण शिवत्व प्राप्त न करने पर भी अधिकारी शिवरूप गिने जाते हैं। मायिक जगत् के सृष्टि आदि व्यापार इन्हीं के हाथ में सौंपे रहते हैं। इनमें से कोई अधिकारी या कर्त्ता का रूप धारण कर गुरु और ईश्वर का कार्य करते हैं और दूसरे कोई गुरु और ईश्वर के आज्ञावर्ती होकर जीव के अनुग्रह कार्य में 'करण' का स्थान प्राप्त करते हैं। मन्त्रेश्वर और मन्त्र के नाम से तन्त्रशास्त्र में इनका उल्लेख दिखाई देता है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात हो सकता है कि मन्त्रात्मक देवता और मन्त्रप्रयोक्ता गुरु-रूपी ईश्वर, ये भी एक प्रकार के जीव ही हैं, यद्यपि ये परमेश्वर द्वारा अधिष्ठित होकर अपने कृत्य में प्रवृत्त होने में समर्थ होते हैं। इस अधिष्ठाता परमेश्वर का ही हम सकल शिव के रूप में पहले वर्णन कर चुके हैं। इन ईश्वरकल्प जीवों की संख्या के सम्बन्ध में विशेष विचार यहाँ पर अप्रासंगिक होगा।

किन्तु जो जीव अधिकार-वासना से आच्छन्न नहीं रहते वे जबर्दस्ती श्रीभगवान् द्वारा जगत् के व्यापार में प्रेरित नहीं होते। वे शुद्ध परमान्द भोगवासनाविशिष्ट रहते हैं, अतः भगवान् उनके लिए उसी तरह के परमानन्दभोग की व्यवस्था करते हैं। ये मायिक जगत् की ओर विमुख होकर आत्मविश्रान्ति ग्रहण कर अखण्ड परमानन्द का आस्वादन करते हैं। यह आनन्दरस अनन्त, अपार और असंख्य प्रकार का है। जिसकी वासना जिस प्रकार की होती है उसे स्वभावतः उसी प्रकार का आस्वादन प्राप्त होता है। किन्तु यह आस्वादन भी एक हिसाब से क्षोभमूलक है, क्योंकि चित्-शक्ति की क्रियोन्मेष अवस्था में अक्षुब्ध बिन्दु जब क्षोभ की ओर उन्मुख होता है तभी इस प्रकार का आस्वादन हो सकता है। यह भी एक प्रकार की भोगवासना है, यह माया के अतीत यहाँ तक कि अधिकार भूमि के भी अतीत है, फिर भी यह वासना ही है। यह वासना है, इसीलिए आनन्द का यहाँ तक कि स्वरूपानन्द का भी आस्वादन होता है। यही आत्मारामावस्था है। उपनिषदों में जिस आत्ममिथुन अवस्था की बात कही गई है वह यही है। किन्तु जब यह भोगवासना चरितार्थ हो जाती है तब फिर यह स्वरूपानन्द भी अच्छा नहीं लगता। आनन्द तब भी रहता है, यह ठीक है, किन्तु वासना के न रहने के कारण उसका आस्वादन नहीं होता। इस आनन्द की अवस्था में ये सब शिवकल्प मुक्त जीव श्रीभगवान् के सकल-निष्कल स्वरूप के द्वारा अधिष्ठित रहते हैं। किन्तु जब वासना पूर्णरूप से निवृत्त हो जाती है तब चित्शक्ति भी निष्क्रिय हो जाती है और महामाया या बिन्दु में भी क्षोभ नहीं उठता। यही आनन्दातीत शान्ति

की अवस्था है—लयावस्था है, पर शिव की स्थिति की अवस्था है, जिसका दूसरा नाम निष्कल दशा है। वह जीव तब वास्तव में ही शिव है, कर्तारूप से अधिकारी शिव नहीं अर्थात् ईश्वर नहीं है एवं भोक्तारूप से सदाशिव नहीं है, किन्तु पूर्ण शान्त और स्वरूपस्थित है। बिन्दु नित्य है, अतः बिन्दु के अतीत अर्थात् लयावस्था के अतीत कोई अवस्था आत्मारूपी शिव की प्राप्य नहीं है।

किन्तु अद्वैतदृष्टि में आत्मा इन तीन अवस्थाओं के ऊपर साक्षात् परम शिव-दशा को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि परमेश्वर का स्वरूप सच्चिदा-नन्द है—उनकी शक्ति सच्चिदानन्दरूपा है एवं वे नित्य निष्क्रिय रह कर भी सर्वदा पञ्चकृत्यकारी हैं एवं पञ्चकृत्य करते हुए भी वे नित्य निःस्पन्द स्वरूपस्थित हैं। जीव जब अपने शिवस्वरूप को प्राप्त होता है तब वह भी वही है। जीव को जीवरूप में अपने से बाहर करना जैसे उनका स्वभाव है, वैसे ही जीव को निजस्वरूप में मिला लेना भी उन्हीं का स्वभाव है। इस स्वभाव का अवलम्बन कर उनकी नित्य लीला निरन्तर काल के बाहर प्रवर्तित हो रही है और काल के भीतर भी कर्मसूत्र के द्वारा इसी का छायाभिनय चल रहा है। इन सम्पूर्ण लीलाभिनयों के रहते भी वे ज्यों के त्यों लीलातीत ही हैं, यह कहना निरर्थक है।

सृष्टि का उन्मेष [शाक्तमत]

विश्वसृष्टि के विषय में प्राचीन तथा नवीन साहित्य में विभिन्न प्रकार की आलोचनाएँ दिखाई देती हैं। प्रत्येक प्रस्थान में आलोचना आलोचक के दृष्टिकोण के अनुसार की गई है। इसीलिए बाह्य-दृष्टि से भिन्न-भिन्न आलोचनाओं में भेद मालूम पड़ता है। परन्तु समन्वय-दृष्टि से देखने पर उस भेद के अन्तर में अभिन्नता भी दिखाई देगी। प्रस्तुत निबन्ध में शाक्त दृष्टिकोण से दो-चार बातें लिखी जा रही हैं। इन्हें शाक्तमत की एक विशिष्ट धारा के अनुसार समझना चाहिए, क्योंकि शाक्तमत में भी सम्प्रदाय-भेद से दृष्टिकोणों में भेद है।

शाक्त आचार्यों का कथन है कि विश्वसृष्टि तथा व्यक्तिगत देह की सृष्टि के मूल में एक ही व्यापार है। योगियों की दृष्टि में श्रीचक्र का आविर्भाव उसी का एक भेदमात्र है, अर्थात् चक्र का उदय, जगत् की सृष्टि और आत्मा का देहादियुक्त होकर प्रकाशित होना एक ही बात है। शाक्तमतानुसार समग्र जगत् के मूल में जो अखण्ड सत्ता है, वह विश्व की उपादानस्वरूप है तथा निमित्तस्वरूप भी है। वह निर्विकार है, उसमें न ह्रास है और न वृद्धि तथा वह अनादि, अनन्त, स्वप्रकाश एवं चिदानन्दस्वरूप है। शाक्त दृष्टि में स्थिति का नाम है शिवशक्तिसामरस्य। यह अद्वैत अवस्था की स्थिति है, अर्थात् वह शिव रूप में निष्क्रिय है, उदासीन है तथा निरपेक्ष द्रष्टामात्र है; एवं शक्तिरूप में वही भावी विश्व का उपादान और पूर्ण स्वातन्त्र्यरूप है। शिव तथा शक्ति अभिन्न होने पर भी शिव तटस्थ हैं तथा शक्ति संकोचप्रसरणशीला है।

प्राचीन योगियों की पद्धति से परमतत्त्वव्याख्यान का मूल ही है जागतिक सत्ता का विश्लेषण। वे लोग कहते हैं—व्यवहारदृष्टि में जिसे हम शिव कहते हैं वह भी एक तरह से शक्ति का ही एक रूप है; क्योंकि वास्तव में जो शिव हैं, जिसको किसी प्रकार में शक्ति नाम नहीं दिया जा सकता, उसके विषय में कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है; क्योंकि—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

जगत् के मूल में स्थूल दृष्टि से इस शक्ति के ही दो विरुद्ध स्वरूपों के खेल विद्यमान हैं। ये दो शक्तियाँ स्थिति विशेष में समरस तथा अद्वयभाव से अविभक्तरूप में विद्यमान रहती हैं। दूसरी स्थिति में ये परस्पर विषम भाव लेकर एक दूसरे के ऊपर क्रिया करने लगती हैं। इन दो शक्तियों में एक का नाम अग्नि और दूसरी का सोम है। अग्नि तापमय है और सोम शीतल; अग्नि दुःखप्रद है, पर सोम आनन्ददायक है। अग्नि मृत्युरूप है, क्योंकि काल अग्नि का ही रूप है और सोम अमृतरूप है। अग्नि अविभक्त वस्तु को विभक्त करके प्रकाशित करती है, परन्तु सोम विभक्त या पृथक्

खण्डों को अविभक्तरूपेण अर्थात् एकभाव से संहत करता है। अग्नि प्रकाशस्वरूप से तथा सोम विसर्गरूप से प्रकाशित होता है। अग्नि तथा सोम जब साम्यावस्था में स्थित रहते हैं तब न अग्नि की क्रिया का प्रकाश होता और सोम की क्रिया का। अग्निक्रिया का नाम है संहार और सोम-क्रिया का नाम है सृष्टि। साम्यावस्था में अग्नि तथा सोम संहार तथा सृष्टि कुछ भी नहीं करते। यही नित्य स्थिति का स्वरूप है। इसका पारिभाषिक नाम है रवि या सूर्य। यह अग्नि तथा साम की नित्य समरस तथा अद्वय स्थिति है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि तथा संहार के मूल में जो अखण्ड शक्ति विद्यमान है, उसका नाम है सूर्य। अग्नि तथा सोम की विषमावस्था में जब सोम का प्राधान्य होता है तब संहार होता है। तंत्र में सूर्य कामतत्त्व कहा गया है— 'कामाख्यो रविः'। इस काम की अर्थात् साम्यरूपी सूर्य की एक कला है अग्नि और दूसरी कला है चन्द्र। यही कामकलातत्त्व के अन्तर्गत बिन्दुत्रय का विवरण है। साम्यावस्था में शुद्ध स्थिति रहती है, परन्तु विषम अवस्था में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रकाश रहता है।

अग्नि के संस्पर्श से विगलित होकर सोम का क्षरण होने लगता है। इस अवस्था में अग्नि का स्पर्श रहने पर भी प्राधान्य रहता है सोम का ही। इसी क्षरण से सृष्टि का उन्मेष होता है। तंत्रमतानुसार हार्ध-कला नाम से चित्त-कला का उदय इसी प्रकार होता है; क्योंकि वस्तुतः चित्त निष्कल है। दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि अग्नि के प्रभाव से सोम के वाष्परूप में परिणत हो जाने पर सोमकला अव्यक्त हो जाती है। यह संसार का द्योतक है। इस अवस्था में सोम के रहने पर भी अग्नि की क्रिया ही प्रधान रहती है; अर्थात् अग्नि तथा सोमके संसर्ग से सोम के प्राधान्यानुसार सृष्टि होती है तथा अग्नि के प्राधान्यानुसार संहार होता है।

दार्शनिकों के अनुसार यह विश्व कुछ मूल तत्त्वों से बना हुआ है। शाक्तगण तथा शैवगण अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि इन तत्त्वों की कुल संख्या ३६ है। इन तत्त्वों से ही समग्र विश्व की रचना हुई है। माया के भीतर और माया के बाहर परन्तु विशुद्ध माया के भीतर असंख्य भुवनावली विद्यमान है। विश्लेषण करके देखने से प्रतीत होगा कि इन सब भुवनों में ये ३६ तत्त्व ही विद्यमान हैं; परन्तु स्तरों की विभिन्नता के अनुसार सन्निवेश में तारतम्य है। किसी स्तर में एक तत्त्व का प्राधान्य है और किसी में उससे भिन्न दूसरे तत्त्व का प्राधान्य है। स्थूल दृष्टि से इन सब तत्त्वों को नित्य कहा जाता है और यह युक्तिसंगत भी है; क्योंकि व्यवहारमूलक उर्ध्व तथा अधो जगत के मूल में ये सब तत्त्व नित्य ही रहते हैं। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इन तत्त्वों में भी नित्यत्व नहीं है। सभी तत्त्व कलारूप उपादान से प्रकट हुए हैं, इसीलिए प्रत्येक तत्त्व ही कलामय है। तत्त्व-विश्लेषण करने पर अन्त में एकमात्र कला ही अवशिष्ट रह जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि कला से तत्त्वों का आविर्भाव हो सकता है यह सत्य है, परन्तु स्वयं कला का उद्भव कहाँ से होता है और इसका स्वरूप क्या है? पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है कि बिन्दु के क्षोभ से कला का उद्‌गम होता है। सृष्टि के लिए चन्द्र-

कला अपेक्षित है। यह पूर्ववर्णित सोमविन्दु का अग्निबिन्दुस्पर्शनिमित्तक क्षोभ से जो क्षरण होता है, उसका फल है। इससे यह भी पता चलता है कि पूर्वोक्त सोमविन्दु ही विश्व का मूल उपादान है। वही तत्त्वों का प्रसव करते हुए भुवनों के उद्भव का कारण बन जाता है।

परा शक्ति परम शिव के साथ नित्य और अभिन्न है। जब यह परम शिव का अथवा आत्मा का स्फुरण देखने की इच्छा करती है तब क्रमशः सृष्टि का उदय होता है। इस महाशक्ति के गर्भ में समग्र विश्व महाशक्ति के साथ अभिन्न रूपमें विद्यमान रहता है। यह महाशक्ति से पृथक् तो है नहीं, पृथक्रूपेण प्रतिभासमान भी नहीं होता। परन्तु महाशक्ति की सृष्टि-इच्छा जाग्रत् होने पर विश्व से अविभक्त रहती हुई भी वह विभक्तरूपेण प्रतीयमान हो सकती है। तान्त्रिक आचार्य इस क्रिया का उल्लेख विसर्ग क्रिया के नाम से करते हैं। शक्ति में कार्य का अविभक्तरूप में विद्यमान रहना ही बिन्दु का व्यापार है और उसका अविभक्त रहते हुए भी विभक्तरूपेण प्रतिभासमान होना विसर्ग का व्यापार है। जिसे सृष्टि कहा जाता है वह विसर्गव्यापार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। योगियों का कहना है कि इस सृष्टिव्यापार में जितने स्तरों का स्फुरण होता है उनमें पहले का नाम है बिन्दु और दूसरे का त्रिकोण, जिसमें तीन भुजा और तीन कोण हैं और सभी परस्पर समान हैं। उसके बाद है अष्टकोण। तदुपरान्त क्रमशः आभ्यन्तरिक दशकोण और बाह्य दशकोण, फिर चतुर्दशकोण, अष्टदल और षोडशदल हैं। सबके अन्त में हैं तीन वृत्त और एक चतुरस्र अथवा चतुष्कोण। यह चतुष्कोण सृष्टि के बाहर का प्राचीर है। यहीं सृष्टि का अवसान है। क्षुद्र सृष्टि तथा विराट् सृष्टि, दोनों में यही नियम है। चतुरस्र को तांत्रिक परिभाषा में 'भूपुर' कहा जाता है। बिन्दु से चतुरस्र पर्यंत या चतुरस्र से बिन्दु पर्यंत विश्व का विस्तार है। चाहे किसी प्रकार की सृष्टि क्यों न हो उसके बाहर में चतुरस्र तथा भीतर में बिन्दु रहेगा ही। ऊपर वर्णित क्रम 'श्रीचक्र' का है, परन्तु चक्रमात्र का मूल रहस्य इसी प्रकार का है।

शिव प्रकाशात्मक है और शक्ति विमर्शस्वरूपा है। शिव चिद्रूप है और शक्ति पूर्ण अहंतानिमित्तक आनन्दस्वरूप है। अतएव मूल शिवशक्ति चिदानन्दमय स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। समग्र सृष्टि का जो मध्यबिन्दु है वही उसका सर्वोच्च बिन्दु है। इसी बिन्दु से सर्वप्रथम त्रिकोण का आविर्भाव होता है, जिसके रहस्य का उद्घाटन महायोगी को छोड़ कर दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। समग्र विश्व के केन्द्र में महाशक्ति की आत्मप्रकाशभूमि के रूप में इस त्रिकोण की अभिव्यक्ति होती है। कामकला का जो साम्यभाव है अर्थात् जिसको काम या सूर्य कहा जाता है उसकी स्थिति अखंडित है। उसका साम्यभंग कथमपि नहीं होता। वह महास्थितिस्वरूप है, परन्तु काम-कला का जो वैषम्य भाग है उस तरफ निरन्तर सृष्टिसंहार का खेल चल रहा है। सृष्टि तथा संहार चक्र के भीतर तथा संहार और सृष्टिचक्र के भीतर आभासरूप में स्थित बिन्दु का पता चलता है। अतएव सृष्टि, स्थिति और संहार निरन्तर ही चल रहे हैं, यह मानना पड़ेगा। भीतर प्रवेश करने पर प्रतीत होगा कि जो सृष्टि का मूल

है और जहाँ संहार का अवसान है, वहाँ भी निरन्तर यह प्रक्रिया चल रही है; अर्थात् तिरोधान या निग्रहशक्ति का खेल तथा अनुग्रहशक्ति का खेल विश्व की पृष्ठभूमि में निरन्तर स्वाभाविक रूप से चल रहा है। एक अपने स्वातन्त्र्यबल से अपने को नानारूपों में प्रकाशित करते हैं। यही एक का तिरोभाव है, जिससे नानात्व का आविर्भाव होता है। प्राचीन वेदान्त के दृष्टिकोण से मूल अविद्या के आवरण तथा विक्षेप का केन्द्र इस स्थान में है। जीव जब अपने मूल एकत्वरूप में प्रत्यावर्तन करता है तब समझना चाहिए कि यह अनुग्रहशक्ति का खेल है। बिना अनुग्रहशक्ति की क्रिया के जो संहार होता है वह वास्तव में संहार नहीं है, क्योंकि उसमें संस्कार तथा जडत्व रह जाता है और संहार के अनन्तर अभिनव सृष्टि के आवर्तन में लौट आना पड़ता है। यह संहार वास्तव में आत्मस्वरूप में प्रत्यावर्तन नहीं है। यह केवलमात्र काल का खेल है।

सृष्टि के मूल में बिन्दु है। यही महाबिन्दु के नाम से परिचित है। प्रकाश अथवा शिवांश और विमर्श अथवा शक्त्यंश जब समभाव में अधिष्ठित रहते हैं तब 'बिन्दु' नाम से अभिहित होते हैं। किन्तु इसके भीतर एक रहस्य यह है कि स्थूल सृष्टिव्यापार के पूर्व चित् शक्ति का खेल विद्यमान रहता है। चित् शक्ति अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा को भित्ति बनाकर उसी के ऊपर विश्व की रचना करती है, अर्थात् उसमें निहित अव्यक्त विश्व को पहले परिस्फुट करती है, तदनन्तर उसे इदंरूपेण ग्रहण करती है। इस प्रकार से प्रकाश की भित्ति के ऊपर प्रकाशमान चित्ररूपी विश्व का इदंरूपेण भान होने लगता है। जो विश्व पूर्ण अहं के भीतर अहंरूप से विद्यमान था वही आभास रूप में इदं-प्रतीति का विषय बनकर चित्ररूपेण उन्मीलित होता है। स्थूल सृष्टि की इच्छा घनीभूत होने पर यह आभासरूपी विश्व स्थूलरूप में परिणत होता है। इसमें क्रिया-शक्ति पर्यंत कई शक्तियों का खेल रहता है; क्रियाशक्ति के व्यापार के बिना आभास घनीभूत साकार रूप में परिणत नहीं हो सकता।

हम बिन्दु की बात कह चुके हैं कि सृष्टि के प्रारंभ में एक ही बिन्दु त्रिधा विभाजित होकर तीन बिन्दुओं के रूप में आविर्भूत होता है अर्थात् समष्टिरूप में स्थित एक ही बिन्दु व्यष्टि में तीन बिन्दुओं के रूपमें परिणत हो जाता है। प्रकाशांश तथा तथा विमर्शांश—दोनों का मूल ही सृष्टि का मूल है। प्रकाशांश को 'अम्बिका' तथा विमर्शांश को 'शान्ता' नाम दिया जाता है। अम्बिका वामा, ज्येष्ठा और रौद्री इन तीन शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती है। वैसे ही शान्ता भी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप में अभिव्यक्त होती है। जहाँ अम्बिका तथा शान्ता साम्यभाव में स्थित रहती हैं, उसका नाम है—मूल बिन्दु अथवा समष्टिबिन्दु। तीन व्यष्टिबिन्दुओं को भी वैसे ही समझना चाहिए। इन तीन बिन्दुओं में जो पहला बिन्दु है वह वामा तथा इच्छा का साम्यरूप है, द्वितीय बिन्दु ज्येष्ठा तथा ज्ञान का साम्यरूप है, तृतीय बिन्दु रौद्री तथा क्रिया का साम्यरूप है। कहना न होगा कि ये तीन बिन्दु ही मूल त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं और जिसे मूल बिन्दु कहा गया है वही मूल त्रिकोण का मध्यबिन्दु है। अम्बिका में शान्ता का साम्य होने पर मूल बिन्दु का आविर्भाव होता है। इसी का नाम

है परावाक्। परमात्मा या सदाशिव इसी मूल बिन्दु के अवस्थाविशेष का नाम है। इसी प्रकार वामा और इच्छा में साम्य से जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है उसका नाम है पश्यन्तीवाक्, ज्येष्ठा तथा ज्ञान के साम्य से जो बिन्दु प्रकट होता है उसका नाम है मध्यमावाक् एवं रौद्री तथा क्रिया के तादात्म्य से जो बिन्दु प्रकट होता है उसका नाम है—वैखरीवाक्। इस त्रिकोण के आविर्भाव को ही आदि अथवा मूल त्रिकोण समझना चाहिए। इसमें मध्य बिन्दु ही परा मातृका है। शेष तीन दिशाओं के तीन बिन्दुओं को पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी से अभिन्न समझना चाहिये। इस त्रिकोण की वाम दिशा की वक्ररेखा पश्यन्तीवाक् का प्रसार है, ऊर्ध्व या सम्मुख की सरल रेखा मध्यमावाक् का प्रसार है और दक्षिण दिशा की प्रत्यावर्तनमुखी रेखा वैखरीवाक् है। यही योनिस्वरूप विश्वमातृका का संक्षिप्त परिचय है। शब्दब्रह्मविद्गण तथा योगी इसी की भावना करते हैं।

संसार-मण्डल और विश्वविस्तार

[१]

आगमदृष्टि के अनुसार समग्र सृष्टि ही 'संसार' कही जा सकती है। इसीलिए छत्तीस तत्त्व और उनके अन्तराल में स्थित भुवन ये सभी संसार के अन्तर्गत हैं— सम्पूर्ण विश्व ही संसार है। जब तक विश्वातीत या तत्त्वातीत स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक संसार अवश्य रहता है। संसार केवल एक ही प्रकार का नहीं है। पृथ्वी से माया तक जो संसार (अर्थात् माया जगत्) है उसका नाम 'भव' है। प्रचलित परिभाषा में यही संसार कहा जाता है। इसीलिए माया का भेद होने पर कहा जाता है कि संसार का अतिक्रम हो गया। वस्तुतः उस समय 'भव' का ही भेद हुआ और 'अभव' में प्रवेश हुआ। अभव भी वास्तव में संसार ही है, भेद केवल इतना ही है कि वह अशुद्ध संसार नहीं है, शुद्ध संसार है। शुद्ध विद्या से लेकर सदाशिवतत्त्व तक जितने भुवन हैं वे सब के सब 'अभव' नामक संसार के अन्तर्गत हैं। गुरु, मन्त्र, देवता तथा सिद्धमण्डली के पद एवं जितने अधिकार-स्थान हैं और जितने भोग-स्थान हैं वे सब अभव हैं। सब के मूल शिव और शक्ति, जो भव और अभव दोनों से अतीत हैं, 'अतिभव' नामक संसार है। छत्तीस तत्त्वों का अतिक्रम किए बिना आत्मा की कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।

शुद्ध जगत् शुद्ध विद्यामय शुद्ध अध्वा है। कोई लोग उसे महा-माया भी कहते हैं। वह माया के ऊपर स्थित है। वह परा विद्या या वागीश्वरी के नाम से प्रसिद्ध है। अशुद्ध जगत् मायिक है। कालाग्निभुवन से कलाभुवन तक उसका विस्तार है। वह भोगस्थान अर्थात् कर्मफल-भोग की भूमि है। कला-भुवन कला के ऊपर स्थित है और उसके अधिष्ठाता गहनेश हैं। उक्त संसार कला की योनियों से उद्‌भूत होने के कारण सकल कहलाता है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वयं मायास्वरूप संसार के अन्तर्गत नहीं है।

आगम में लिखा है—

"पार्थिवप्राकृताण्डाभ्यामूर्ध्वम् अण्डद्वये परे।
शुद्धाः सत्त्वादयः सन्ति बिन्दुनादकलासु च॥"

ये सब सत्त्व तत् तत् भुवनों में उत्पन्न होकर तत् तत् कार्य के उपयोगी होते हैं। परन्तु ये सभी पाश ही हैं। अघोरशिव ने कहा है—

"परकैवल्यप्रतिबन्धहेतुत्वेन तथाविधानामपि तषां पाशजालमनन्तकम्।"

इसी प्रकार शास्त्रों में अन्यत्र भी लिखा है—

"समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।"

मृगेन्द्र आगम के अध्वप्रकरण में दस बन्धन स्थानों का निर्देश है। उनमें शुद्ध विद्या से नाद की ऊर्ध्वगा कला का अधोवर्ती समग्र स्थान शुद्ध होने पर भी प्रतिबन्धकरूप

माना गया है अर्थात् शुद्ध विद्या, बिन्दु की चार कलाएँ तथा नाद की चार कलाएँ भी पाशरूप में ही परिगणित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रोचिकादि नाद के मध्यम कलादि स्थानों में यद्यपि सर्वज्ञत्व, तृप्ति, अनादि बोध, निरतिशय प्रकाश आदि सब कुछ रहता है तथापि मलांश रहने के कारण वहाँ नियोज्यता या प्रेर्यता रहती है, अतः वे स्थान भी बन्धन माने गये हैं।

सिद्ध स्वतन्त्रानन्दनाथ ने मातृका-चक्र विवेक में सिद्ध-मत का विवरण दिया है। उन्होंने कहा है कि पशु, शिव और परम शिव सभी संसारी हैं, परन्तु इनके संसारों में भेद है। विमर्श या विसर्ग प्रत्येक संसार में कार्य करता है। पशु के द्वैतात्मक संसार में विमर्श अविद्यारूप में भेदोन्मीलन करता है, शिव के अद्वैत संसार में वह विद्यारूप में अभेद भाव ग्रहण करता है एवं परम शिव का संसार भेदाभेदमिश्र है। इसीलिए उसमें विमर्श एक ही समय में विद्या तथा अविद्या दोनों रूपों में भेद और अभेद दोनों को प्रकट करता है। यही सामरस्य है। यह एक अद्‌भुत रहस्य है। सिद्धों का कहना है कि भेद और अभेद को एक रूप में देखना यह भी संसार है, इस में कलंक है। शुद्ध अन्तर्मुख भाव रूप जो विश्राम है, वह इसमें नहीं रहता। एकमात्र महाबिन्दु ही संसार से अस्पृष्ट है। वही परम अनुत्तर धाम है। वह पूर्ण विमर्शस्वभाव और महाविश्रान्तिपद है। परन्तु उससे भी एक परमावस्था है। महाबिन्दु की स-कल या तुरीय अवस्था में प्रपंच के अनुसन्धान की गन्ध एकदम निवृत्त नहीं होती, कुछ रह जाती है। परमावस्था में ही वह पूर्णतया निवृत्त होती है। परमावस्था निष्कल महाबिन्दुरूप है। उसी का नामान्तर है परम व्योम।

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि सर्वत्र ही संसार विद्यमान है। एक-मात्र शुद्ध महाबिन्दुपद में संसार नहीं है। वह अन्तर्मुख विश्राम की भूमि तथा अनुत्तर परम धाम है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि महाबिन्दु में दो स्थितियाँ हैं। उनमें पहली का स्वभाव है पूर्णविमर्श। विमर्श ही संसार का उपादान है। इसीलिए यद्यपि वह महाविश्रान्तिपद है, इसमें सन्देह नहीं तथापि उसमें संसार का आभास रहता है, वह तुरीय पद है। महाबिन्दु की दूसरी स्थिति परमव्योमस्वरूप है। वह पंच आम्नायपरिशोधित निष्कल तत्त्व है। वही तुरीयातीत परम तत्त्व है।

[२]

कर्मों से बद्ध अणुओं के भोग-सम्पादन के लिए तत्-तत् भोगों के साधन देह, करण और भुवनों की सृष्टि होती है। उनके सर्जनहार हैं अनन्तेश्वर। अशुद्ध आत्मा के मोक्ष के प्रतिबन्धक कर्मों का प्रशमन ही सृष्टि का उद्देश्य है। साधारणतः कलादि प्रकृति या योनियों से सृष्टि होती है। सृष्टि अभिव्यक्ति-मात्र है। कार्य अपने कारण में शक्तिरूप से विद्यमान रहता है उसी की अभिव्यक्ति होती है। ये सब भुवन भोग के अधिकरण हैं, क्योंकि ये सब भुवनज देहों और विषयों के जनक हैं। कालाग्निभुवन से कलाभुवन तक इन सब भुवनों का विस्तार है। कलाभुवन के विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि यह कला-मस्तक पर स्थित गहनेश नामक रुद्र का भुवन है।

ये सब भुवन कलादि से रचित हैं साक्षात् माया से नहीं। मायिक भुवन भी माया में स्थित रूप से अभिव्यक्त नहीं होते, किन्तु माया के कार्य कला के मस्तक पर अभिव्यक्त होते हैं। स्वायंभुवादि आगमों में माया अकल कही गई है। माया में अवयव-संनिवेश नहीं है। इसीलिए माया भोग्य नहीं है। अवयवसंनिवेश मानने पर उसे अनित्य कहना पड़ेगा। माया यदि पुरुष की भोग्य न हो तो पुरुष भोक्ता नहीं रहेंगे, अभोक्ता हो जायंगे, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पुरुष की भोग्य माया नहीं, किन्तु माया का कार्य पुरुष का भोग्य है, जो कि अभिव्यक्त रूप में स्थित है। माया का स्वरूप शक्तिमात्र है।

मायातत्त्व में मण्डलेश्वर, गहनेश्वर आदि रुद्र भुवनाधिवासी हैं। ये सब मायाधिकारी हैं। दीक्षा में भी तत्त्वशुद्धि और भुवनशुद्धि मायातत्त्व स्थित रूप में वर्णित हैं, यह कथन सही है; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि माया में अवयव-संनिवेश है। वस्तुतः उसमें स्थित रूप से वर्णित ये सब भुवन और उनमें रहनेवाले मण्डलेश्वर माया के कार्य कला के मस्तक पर स्थित हैं। शक्तिरूपा माया की प्रथम अभिव्यक्ति ही कला है। माया नित्य तथा व्यापक है, यह बात आगमसिद्ध है। माया के गर्भ में भुवनों के रहने पर माया को संनिवेश-विशिष्ट कहना पड़ेगा। ऐसा कहने से माया में अव्यापकत्व तथा नश्वरत्व सिद्ध होगा। भोग्य तथा मूर्त वस्तुमात्र ही नाशवान् है। मायिक भुवनों का जो सम्बन्ध है वह व्यक्तिरूप कला के साथ ही है।

महामाया या शुद्ध विद्या को भी इसी प्रकार समझना चाहिये। रौरव आगम में शुद्ध विद्या को भी माया कहा गया है—"मायोपरि महामाया" इत्यादि। शुद्ध अध्वा में भी अपने अपने अधिकार में अधिकारी महामाया के कार्य कला के मस्तक पर विद्यमान रहते हैं। विद्या दो प्रकार की है—परा तथा अपरा। परा विद्या वागीश्वरी है तथा अपरा माया है। इन सब बैन्दव भुवनों में अधिकारावस्थाविशिष्ट शिव ही तत् तत् उपाधियों के भेद से तत् तत् नामों से भुवनेश्वर के रूप में कहे जाते हैं। परन्तु सभी भुवन बिन्दु-अवस्थात्मक पारमार्थिक भेद से सम्पन्न हैं। इन सब भुवन, देह आदि की उपादान महामायारूपा कुण्डलिनी ही है।

[३]

अब भुवनों के विन्यास के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है। ब्रह्माण्ड में सबसे नीचे कालाग्निभुवन है। वह अग्निमय रुद्रों से परिवेष्टित है। जब परमेश्वर की संहार-शक्ति की प्रेरणा होती है तब कालाग्नि का तेज उद्दीप्त होता है। उस समय सब अध्वाओं के भुवनों के जीवों के हृदय में त्रास उत्पन्न होता है। ऊपर की ओर बहुत दूर तक उस अग्नि की ज्वालाएँ उठती हैं। उसके अनन्तर धूमराशि रहती है। उसके ऊपर नरक हैं। ३२ प्रधान नरकों के नाम मिलते हैं। नरक आठ श्रेणियों में विभक्त किये जाते हैं। जैसे नरक, महानरक, नरकराज, नरकराजराजेश्वर इत्यादि। चतुर्थ श्रेणी का अवीचिनरक सबसे नीचे है। किरणागम के अनुसार १४० नरक हैं, जिनमें ३२ प्रधान हैं। उनके ऊपर कुछ दूर तक शून्य स्थान है। उसके ऊपर कूष्माण्डपुर है।

कूष्माण्ड ३२ नरकों का अधिष्ठाता है और भीषण परिवारवर्ग से वेष्टित है। उसके स्थान का आधा भाग सोने का, चौथाई लोहे का तथा सब से नीचे का चौथाई भाग मिट्टी का है। उसके ऊपर सात पाताल हैं। सबसे ऊपर जो पाताल है उसी का नाम है पाताल। पातालों के ऊपर हाटकेश्वर का कांचनमय भुवन है। यह हाटकेश्वर पातालों के अधिष्ठाता हैं। इन पातालों में विभिन्न प्रकार के दैत्य, नाग तथा राक्षस रहते हैं। इनके ऊपर भूपृष्ठ है। इसके ऊपर विभिन्न द्वीप, पर्वत, नदी और समुद्रों से मण्डित भू या पृथिवी है। यही वह ब्रह्माण्ड है जो शत कोटि योजन विस्तीर्ण कहा जाता है। यह मान तिर्यक् दृष्टि से है। अधः और ऊर्ध्व में भी इसका परिमाण इतना ही है। सर्वज्ञानोत्तरतन्त्र के मत से यह ब्रह्माण्ड कुक्कुटाण्डवत् माना जाता है। ब्रह्माण्ड का वर्णन इस प्रसंग में नहीं किया गया, क्योंकि उसका विवरण पुराणादि में सर्वत्र प्रसिद्ध है। ब्रह्माण्ड की दसों दिशाओं को इन्द्र आदि दस दिक्पाल घेरे हुए हैं। ये सब लोकपाल हैं, इनके अधिष्ठाता रुद्रगण हैं। प्रत्येक दिशा में रुद्रों की संख्या १०।१० है। रुद्रों की कुल संख्या १०० है। रुद्रों के परिवार में असंख्य अनुचर, परिचरादि हैं। यह हुआ ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त परिचय।

पुराणादि सब शास्त्रों में ब्रह्माण्ड पर्यन्त ही सृष्टि का विस्तार कहा गया है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अनन्तर कारण समुद्र माना गया है। उसके अनन्तर नित्य-धाम या परमव्योम स्थित है, ऐसा कहा गया है। परन्तु आगमों से इस विषय में बहुत से नवीन और गुप्त तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है। रौरव आगम के वार्तिक में कहा गया है कि रुद्रगण असंख्य परिवारों के साथ ब्रह्माण्ड को वेष्टित किये हुए हैं। जैसे मधुचक्र का वेष्टन कर मधुकर विराजते हैं, जैसे कदम्ब पुष्प का वेष्टन कर केसर-जाल विराजमान रहता है ये रुद्रगण भी वैसे ही विराजमान हैं। ये सब श्रीकण्ठ-नाथ से अधिष्ठित होकर देवताओं के विपक्ष में ईश्वरत्व की सृष्टि करते हैं और संहार भी करते हैं अर्थात् प्रसन्न होकर देवताओं को वांछानुरूप ऐश्वर्य प्रदान करते हैं एवं अपराधवश कुपित होकर ऐश्वर्य का हरण भी करते हैं। सिद्धातन्त्र में और भी कुछ विशेष मिलता है। उसमें लिखा है—सुवर्णाण्ड के ऊपर ऊपर सैकड़ों अण्ड अर्थात् असंख्य अण्ड विद्यमान हैं। अन्तिम अण्ड गह्वर के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व पूर्व अण्डों की अपेक्षा परवर्ती अण्डों में अधिष्ठाता की आयु दुगुनी है, फिर भी महाकल्प में पितामह के साथ देवताओं का सब कुछ विनष्ट हो जाता है। सौ महाकल्पों के बाद महाण्ड (गह्वर) का भी विनाश हो जाता है।

इन सब के विनष्ट हो जाने पर जल तत्त्व का पता चलता है। आगम में लिखा है कि जलतत्त्व से लेकर शिवतत्त्व तक भुवनों को स्वयं परमेश्वर के सिवा और किसी ने नहीं देखा है। इसीलिए परम शिवज्ञान के बिना यथार्थ मोक्ष हो ही नहीं सकता—

"जलादेः शिवतत्त्वान्तं न दृष्टं केनचित् शिवात्।
ऋते, ततः शिवज्ञानं परमं मोक्षकारणम्॥"

ब्रह्माण्ड के ऊपर शत रुद्रों की बात कही गई है। उसके अनन्तर भद्रकाली का

भुवन है। जो लोग भद्रकाली के भक्त हैं वे दीक्षित होकर उस स्थान में जाते हैं और वहाँ भद्रकाली से दीक्षा प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह देवी कुमारीरूपा है। यह अचिन्त्य तथा अप्रमेया है। सब देवियों के नाम तथा रूपों में यही विराजमान है। यह प्रतिच्छन्ना योगमाया है। भद्रकाली की इतनी विपुल महिमा है कि इनके भुवन में किसी का प्रवेश होने पर उतनी ही ऊर्ध्वगति प्राप्त हो सकती है जितनी कि विद्येश्वरों के आवरणों में दीक्षा के द्वारा होती है।

भद्रकाली के स्थान के ऊपर वीरभद्र का भुवन है। महेश्वर का स्मरण करते हुए जल में या मरुभूमि में अथवा महापथ में या अग्नि में जिन लोगों की मृत्यु होती है, उन्हीं की यहाँ तक गति होती है। परन्तु मृत्युकाल में यदि महेश्वर का स्मरण न किया जा सके, तो विद्युत् में गति होती है। यह वीरभद्र रुद्र के क्रोध से उत्पन्न हुए हैं। वीरभद्र के ऊपर अलमय अण्ड या जलप्रधान भुवन है। जलीय भुवन के ऊपर और तेजतत्त्व के नीचे रुद्राण्ड स्थित है, जहाँ वीरभद्र नामक रुद्र सूक्ष्म रूप में विहार करते हैं। जलतत्त्व के प्रारम्भ में भद्रकाली का भुवन है और जलतत्त्व के अन्त में वीरभद्र के सूक्ष्म और स्थूल भुवन हैं। भद्रकाली से वीरभद्र तक इस प्रकार १३ भुवन हैं—भद्रकालीपुर, भूपुर—गन्धतन्मात्रा-धारणा से मरने के बाद उसकी प्राप्ति होती है—, अब्धिपुर—रसतन्मात्रा-धारणा से मरण के अनन्तर उसकी प्राप्ति होती है—, श्रीपुर—रुद्र क्रीड़ा करने के लिए यहाँ अवतीर्ण होते हैं यानी यह रुद्र की क्रीड़ाभूमि है, प्रयाग आदि स्थानों में मरण होने पर यहाँ गति होती है, सरस्वतीपुर, इसके नीचे गुह्याष्टक के आठ भुवन हैं (लाकुल से अमरेश तक)। ये आठ अधिकारी पुरुष अनन्तेश्वर से नियुक्त होकर भुवनेश्वर-पद में स्थित हैं। गुणतत्त्ववासी श्रीकण्ठनाथ इनके गुरु हैं।

इसके अनन्तर तेज तत्त्व है। वह शिवाग्नि का स्थान है। मृत्युकाल में आग्नेयी धारणा के प्रभाव से वहाँ गति होती है। वहाँ के आठ अधिष्ठाता हैं—वे सामूहिक रूप से गुह्याष्टक कहलाते हैं (भैरव से लेकर हरीन्दु तक)। इसके ऊपर वायु-तत्त्व है, जिसमें आठ भुवन हैं। उनके अधिपतियों के नाम हैं—गुह्याद् गुह्याष्टक (भीमेश्वर से लेकर गयपर्यन्त)। वायु-धारणा से मृत्यु होने पर यहाँ गति होती है। आकाश तत्त्व में आठ भुवन हैं। यहाँ पवित्राष्टक-स्थान है (स्थाणु से लेकर वस्त्रापद तक)। आकाश तत्त्व की धारणा करने वालों के लिए यह स्थान है। आकाश तत्त्व के ऊपर तथा अहंकार के नीचे तन्मात्रा से मन तक भुवन हैं। पाँच पंचवर्णमय तन्मात्र-मण्डल हैं, जिनके अधिष्ठाता शर्व से लेकर भीम तक पाँच अधिकारी पुरुष हैं। उनकी इच्छा से शब्दादि आकाशादि की रचना करते हैं। इसके ऊपर सूर्य, चन्द्रमा और वेद के तीन मण्डल हैं, जिनके अधिष्ठाता विभु या रुद्र, महादेव और उग्र हैं। ये आठ शिव की परा अष्टतनु हैं। शिव की अपरा अष्टतनु ब्रह्माण्ड में व्यापकरूप से स्थित हैं। परा अष्ट तनुओं से प्रत्येक कल्प में सृष्टि होती है। इसके ऊपर वागादि कर्मेन्द्रियों का मण्डल (करण-मण्डल) है, जिससे सब देहियों के कर्म-देवों की प्रवृत्ति होती है। जैसे—वाग् के प्रवर्तक अग्नि देव हैं, पाणि के इन्द्र हैं, पाद के विष्णु, पायु के मित्र और उपस्थ के ब्रह्मा हैं। इसके ऊपर प्रकाशमय ज्ञानेन्द्रियों का मण्डल है, जहाँ से पंच

ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। यहाँ श्रोत्र की प्रवर्तक दिक् है, त्वक् की विद्युत्, चक्षु का प्रवर्तक सूर्य, जिह्वा का वरुण और नासिका की प्रवर्तक पृथिवी है। इसके ऊपर है पंचार्थ-मण्डल अर्थात् मनोमण्डल। यही मन का प्रधान भुवन है। इसके अधिष्ठाता सोम हैं। इसी मण्डल से देही की पंचार्थ में प्रवृत्ति होती है। इसके ऊपर अहंकार-मण्डल है। अहंकारपुर मन के ऊपर तथा बुद्धि के नीचे है। स्थूलेश्वर से लेकर छागलाण्ड तक आठ इसके अधिष्ठाता हैं। किसी किसी ग्रन्थ में इसका नामान्तर भी मिलता है। इसके ऊपर बुद्धितत्त्व का भुवन है। जहाँ पिशाच आदि आठ देवयोनियों के भुवन हैं। पिशाच, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, चन्द्र, प्रजापति और ब्रह्मा ये आठ देवयोनियाँ हैं। ये लोग नीचे के ब्रह्माण्डादि में नाना नाम और नाना रूपों में स्थूलभाव से सृष्ट होते हैं। इसमें निमित्त हैं परमेश्वर का नियोग, माया की प्रेरणा और नियति का नियन्त्रण। ये सब बुद्धिस्थित अपने भुवनों में रह कर अपने अंशों से अवतीर्ण होते हैं। इसका उल्लेख शिवतनु नामक ग्रन्थ की बृहस्पतिपाद की व्याख्या में मिलता है। इसके अनुसार पिशाचादि देवयोनियाँ बुद्धि-तत्त्व में शक्तिरूप से तथा नीचे 'ब्रह्माण्ड में' व्यक्तिरूप से रहती हैं। नीचे इनके देह तथा भोग दोनों ही स्थूलभावापन्न हो जाते हैं।

लाकुली आदि चालीस भुवन जलतत्त्व, तेजतत्त्व, वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व तथा बुद्धितत्त्व में हैं। सर्वत्र ही उपभोग तुल्य हैं, परन्तु साधनभेद से अष्टक की संख्या पाँच हैं। ये सब भुवन योग, भक्ति, प्रसंख्यान आदि साधनों से प्राप्त होते हैं।

बुद्धि के ऊपर तथा प्रकृति के नीचे गुणतत्त्व का स्थान है। वास्तव में प्रकृति और गुण भिन्न पदार्थ नहीं हैं, बल्कि दोनों एक ही पदार्थ हैं। प्रकृति गुणों की साम्यावस्था का नाम है। तब गुणों में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं रहता। परन्तु जब गुण परस्पर अंगांगी रूप से कार्योत्पादन करने के लिए वैषम्य को प्राप्त होते हैं तब गुणों का यह कार्योन्मुख भाव ही क्षोभ कहलाता है। उसी से बुद्धि का उदय होता है। प्रकृति में गुणों की स्थिति अविशेष रूप से रहती है। परन्तु जब तक उनमें वैषम्य नहीं होता तब तक विशेष का आधान नहीं होता और कार्य भी उत्पन्न नहीं होता। प्रकृति का क्षोभ ही गुण है। शाक्तों के दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति तत्त्वाधिष्ठाता ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा से क्षुब्ध होकर गुणभाव धारण करती है और बुद्धि को उत्पन्न करती है। गुणतत्त्व प्रकृति से अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है। माया जैसे एक होने पर भी शक्ति, ग्रन्थि तथा तत्त्व रूप से विलक्षण है वैसे ही प्रकृति एक होने पर भी क्षुब्ध तथा अक्षुब्ध रूप से विलक्षण है। परन्तु बुद्धितत्त्व उक्त दोनों रूपों से विलक्षण है। गुणतत्त्व में तीन गुरुपंक्तियाँ विद्यमान हैं। तमोगुण के ऊपर पहली पंक्ति है, जिसमें ३२ रुद्रों का निवास है, रजोगुण के ऊपर दूसरी पंक्ति है, जिसमें ३० रुद्रों का स्थान है एवं सत्त्व गुण के ऊपर तीसरी पंक्ति है, जिसमें २१ रुद्रों का स्थान है।

क्षुब्ध गुणों के ऊपर अक्षुब्ध गुण या अव्यक्त का स्थान है। उसमें आठ भुवन और आठ भुवनेश्वर हैं। किसी किसी स्थल में एक नवम का स्थान भी पाया जाता है। ये आठ भुवनेश्वर क्रोधाष्टक के नाम से प्रसिद्ध हैं—जैसे क्रोधेश, चण्ड, संवर्त इत्यादि। शिवतनु आगम के अनुसार असंख्य क्षेत्रज्ञ तथा रुद्र अव्यक्त में निहित हैं।

इनमें से किन्हीं किन्हीं के करण मूढ़भावा पन्न रहते हैं अर्थात् अधिष्ठान के अभाव से वे कार्य करने में असमर्थ रहते हैं, किन्हीं किन्हीं के करण विवृत रहते हैं अर्थात् परिस्फुट रहते हैं एवं किन्हीं किन्हीं के करण विलीन रहते हैं अर्थात् महाप्रलय में भग्न हो जाने के कारण पुनः सृष्टि होने पर उत्पन्न नहीं होते। अव्यक्त में विकरण आत्मा भी हैं, जिनके करण अपनी इच्छा के अधीन हैं। श्रीकण्ठ आदि स्वतन्त्रेन्द्रिय अर्थात् विकरण हैं। इन सब क्षेत्रज्ञ तथा रुद्रों में सहज मल अर्थात् आणव मल है एवं आगन्तुक अर्थात् कार्म और मायीय मल भी हैं।

अव्यक्त के ऊपर पुरुष तत्त्व का स्थान है, जहाँ अम्बादि नौ तुष्टियाँ, तारादि आठ सिद्धियाँ और अणिमादि अष्टक स्थित हैं। उनके अलग अलग भुवन भी हैं। अणिमादि के ऊपर गुरु-शिष्यों की तीन पंक्तियाँ हैं। जिनमें से पहिली पंक्ति में सनत्कुमार से लेकर भदन्त पर्यन्त २२ गुरुओं का स्थान है, दूसरी पंक्ति में जह्नु से लेकर चारु तक २५ ऋषियों का स्थान है और तीसरी पंक्ति में हर से लेकर ध्रुव तक २० गुरुओं का स्थान है। कहा जाता है कि इनमें पहली और तीसरी पंक्तियाँ गुरुओं की हैं और मध्य पंक्ति शिष्यों की है।

इन पंक्तियों के ऊपर नाड़ीरूप आठ विद्याओं का स्थान है। इड़ा आदि देवता आठ नाड़ियों के अधिदेवता हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि पुरुष तत्त्व में इन देवताओं के अवस्थान का हेतु क्या है? इसका समाधान यह है कि परमात्मा आत्मसंकोच कर जब चिदणु भाव को प्राप्त होते हैं अर्थात् जब पुरुषभाव प्राप्त करते हैं तब उनमें नादमयी शुद्धा शक्ति स्थित हो जाती है। इस शक्ति का नाम प्रसर है। नाद का तात्पर्य है नदन अर्थात् समग्र विश्व का अपनी आत्मा के साथ अभिन्नरूप से परामर्शन करना। यही स्वातन्त्र्यरूप या परम कर्तृत्वरूप विमर्श है। बाह्यरूप में इसका प्रसरण होता है, इसीलिए इसे प्रसर कहते हैं अर्थात् यह क्रियाशक्ति पर्यन्त स्थूल रूप में स्फुरित होती है। वस्तुतः चित् शक्ति ही स्वातन्त्र्यसे अपने को संकुचित कर देहाद्यात्मता ग्रहण करने की इच्छा से पहले नाड़ी का रूप धारण करती है। नाड़ी वस्तुतः चित्--शक्ति के स्पन्दनात्मक प्राण की वृत्तियों की अन्तिम स्थूलता है। इसी रूप को लेकर चित् शक्ति देह में फैल जाती है।

स्मरण रखना चाहिये कि शाक्त दृष्टि में पुरुष भोक्ता तो है ही साथ ही वह कर्ता भी है। सांख्य मत के पुरुष की तरह अकर्ता नहीं है। इसलिए इस दृष्टिकोण के अनुसार जड़ प्रकृति आदि कारण नहीं माने जाते, किन्तु पुरुष ही कारण माना जाता है। पुरुष यदि कर्ता न भी माना जाय तथापि इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि वह विश्वसृष्टि में प्रकृति का सहकारी है, क्योंकि अकेली प्रकृति पुरुष के बिना कुछ नहीं कर सकती। वास्तव में पुरुष कर्ता ही है और तत् तद्रूप धारण भी करता है, परन्तु उसकी अपने स्वरूप से विच्युति नहीं होती। इसीलिए पुरुष की शक्ति नाड़ी, विद्या आदि रूपों का अवलम्बन कर स्थूलता को प्राप्त होती है। अर्थात् क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होती है।

इनके ऊपर है विग्रहाष्टक, जिसमें सूक्ष्म शरीर के आरंभक उपादान विद्यमान

रहते हैं। इस उपादान में तन्मात्ररूप कार्य, दस इन्द्रियरूप करण, सुख, दुःख, दस इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला ज्ञानमात्र तथा व्यापारमात्र, तीन अन्तःकरण और साधन विद्यमान हैं। इनका अर्थात् विग्रहाष्टक का स्थूल रूप पहले कहा जा चुका है और उनका परम रूप माया के अन्तर्गत समझना चाहिये। विग्रहाष्टक के ऊपर पुरुष तत्त्व के भीतर ही दस देहधर्मों के भुवन हैं। वे देहधर्म हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि। शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म देह के आरंभक पाँच विषय, सोलह विकार, आठ बुद्धि-गुण, तीन अहंकार, कामादि तीन प्रकार के पाश अर्थात् आगन्तुक पाश जैसे काम क्रोध आदि, गण-पाश एवं विद्येश्वराष्टकरूप पाश। ये सब मोक्षमार्ग के प्रतिबन्धक हैं, अतः पाश कहे जाते हैं। परम अद्वैत स्वातन्त्र्य संविन्मय परम शिव से अतिरिक्त सब कुछ पाश ही है। परम शिव परमाद्वैत संविद्रूप हैं, सही परन्तु स्वतन्त्र हैं, इसलिए आत्मस्वरूप-का आच्छादन कर तत्-तत् संकुचित रूपों से स्फुरित होते हैं, जिससे भेद-ज्ञान या मायीय मल की प्रबलता होती है। इसीलिए तनु, करण, विषय आदि सभी पाश हैं। वास्तव में पर प्रमाता से भिन्न सब कुछ बन्धकरूप ही है। अपर प्रमाता और पर प्रमाता वस्तुतः एक ही सत्ता है, फिर भी परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान न रहने पर वह भी बन्धन ही है, यह जानना चाहिए। किसी-किसी आत्मा में एक मल का आवरण रहता है, किसी-किसी में दो और किसी-किसी में तीन मलों का आवरण रहता है। सब पाशों का संशोधन केवल पुरुषतत्त्व में ही होता है।

पुरुष के ऊपर क्रमशः नियति, काल, राग, अशुद्ध विद्या तथा कला के स्थान हैं। नियतिमें वामदेव आदि दस शंकरों के स्थान हैं। काल में शुद्ध, बुद्ध आदि दस शिवों के स्थान हैं (जिनमें क्रमशः प्रत्येक का एक करोड़ परिवार है)। रागतत्त्व में पाँच गुरु तथा पन्द्रह शिष्यों के स्थान हैं, अशुद्ध विद्या में वामा से लेकर मनोन्मनी पर्यन्त नौ शक्तियों के स्थान हैं एवं कला में तीन महादेवों के भुवन हैं।

कला के ऊपर माया का स्थान है, जिसका स्वरूप ग्रन्थि, तत्त्व तथा शक्ति के भेद से तीन प्रकार का है। शिवतनु नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अनन्त कोटि भग-बिलों से माया आक्रान्त है। माया में आठ चक्र और आठ अधिष्ठाता हैं। उनके नाम हैं—महातेजा, वामदेव, भवोद्भव, एकपिंगचक्षु, ईशान, भुवनेश, पुरस्सर तथा अंगुष्ठ-मात्र। ये सब मण्डलेश्वर हैं। इन विभिन्न नामों में भेद है। कापालवृत्तिक, अपने अंगों से होम करनेवाले कष्टतापस तथा खड्गधाराव्रतावलम्बी साधकों का सायुज्य-लाभ भिन्न-भिन्न भुवनेश्वरों से होता है। इन सब के भी सृष्टिकर्ता अनन्त ही हैं एवं ये भी क्रमशः अनन्त के भुवन तक पहुँचते हैं।

इनके ऊपर अनन्त का स्थान है। अनन्त माया के भगद्वार के रक्षक हैं। वे गुहाभगद्वारपाल कहलाते हैं। अनन्त योग्य अधिकारी पुरुषों को धर्म, अणिमा आदि गुण, ज्ञान, तपस्या, सुख और भोगशक्ति मायागर्भ से खींचकर देते हैं। अनन्त केवल-मात्र क्षेत्रज्ञ पुरुषों की स्थिति का ही विधान करते हों, सो बात नहीं है रुद्रों के अधि-ष्ठाता भी वे ही हैं। ये सब अनन्त के बल से बलिष्ठ होकर प्रकाशमान होते हैं। अनन्त परमेश्वर के निर्देशानुसार अव्यक्त में अधिष्ठित होकर जगत् का सारा कार्य करते हैं,

केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छा से नहीं करते। जीवों का उद्धार करने का कार्य भी इन्हीं के ऊपर है। यह भी परमेश्वर के निर्देश से ही होता है। परमेश्वर के बल का सहारा लिए बिना वे कुछ भी नहीं कर सकते। क्योंकि मूल में शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों स्रोतों का पूर्ण अधिकार एकमात्र परमेश्वर का ही है। यह अधिकार क्या है? वस्तुतः इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि जो लोग सबसे पहले अर्थात् सृष्टि के आदि में सर्वज्ञत्व आदि शिवगुणों से युक्त हैं और शुद्ध अध्वा में प्रतिष्ठित हैं, वे मायातत्त्वाधिष्ठाता अनन्त आदि को जगत्-व्यापार में—सृष्टि, स्थिति और लय के विषय में—योग्यतानुसार अधिकार प्रदान करते हैं।

पहले मायाबिल की जो चर्चा की जा चुकी है वह ग्रन्थिमाया के विषय में समझनी चाहिए। उसके अनन्तर गुहा-रूपा जो माया है वही तत्त्वरूप है। ग्रन्थि तथा तत्त्व दोनों प्रकार की माया जगद्-योनि हैं। ग्रन्थिरूप माया के योनि-विवर परमेश्वर की शक्ति के क्षोभ का अनुसरण करते हैं। ये सब विभिन्न कामों से सम्पन्न हैं। इसी कारण इन विवरों को 'भग' कहते हैं। जब परमेश्वर इच्छानुविधायिनी देवी की कामना करते हैं तब प्रत्येक भगविवर से अव्यक्त आदि प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। प्रकृत्यण्ड असंख्य हैं। वे सब अतिसूक्ष्म तथा अनवच्छिन्न हैं। प्रत्येक प्रकृत्यण्ड प्रत्येक योनिविवर से सृष्टि के समय आविर्भूत होता है। इन योनिस्थानों में असंख्य रुद्र परमानन्द से निवास करते हैं। ये सब रुद्र यद्यपि माया के स्थूल आवरणों से मुक्त हैं तथापि माया के सूक्ष्म पटलों से आच्छन्न रहते हैं। ये आपस में एक दूसरे को देख नहीं सकते। ये सब रुद्र एक भूमि के नहीं है। उनमें से कोई कोई सायुज्य अवस्था को प्राप्त हैं तो किसी किसी को सामीप्य अवस्था प्राप्त है एवं शेष सब को सालोक्य अवस्था प्राप्त है। प्रत्येक भुवन के निवासियों का यही हाल है। योनियाँ अनन्त हैं, इसलिए स्रोतों की संख्या का भी अन्त नहीं है। निरयादि से द्वारपाल तक एक एक स्रोत का विस्तार जानना चाहिए। प्रत्येक स्रोत ऐसा ही है। स्रोतों के अनन्त होने पर भी सब में सादृश्य है। माया से जैसे अव्यक्त का आविर्भाव होता है, वैसे ही कला का भी आविर्भाव होता है। दोनों ही गुहारूपा माया के ही कार्य हैं। अव्यक्त परिणाम-क्रम से क्रमशः अपने अपने विकारों का सम्पादन करते हुए उनमें व्याप्त रहते हैं। कला भी अविद्यादि अपने विकारों का उत्पादन कर उनमें व्याप्त रहती है। इन दोनों परिणाम-धाराओं का परस्पर सम्बन्ध भी है। आगम के अनुसार माया में तीन पुट हैं। एक ऊर्ध्व पुट है, जिसमें पाँच रुद्र रहते हैं, दूसरा मध्य पुट है, जिसमें छः रुद्र रहते हैं और तीसरा अधःपुट है, जिसमें एक रुद्र रहते हैं। सब मिलाकर बारह रुद्र माया के तीन पुटों में रहते हैं। मायाधिष्ठाता जगत्पति अनन्तेश्वर भी इन्हीं के अन्तर्गत हैं। अनन्त मध्य में रहते हैं, शेष ग्यारह रुद्रों के स्थानों का परिवर्तन होता रहता है। उक्त तीन पुटों में अठारह भुवन हैं। मतंग आगम का मत किसी किसी अंश में इससे भिन्न है।

अब तत्त्वरूपा माया के विषय में कहा जाता है। यह मायातत्त्व विभु और गहन है। सूक्ष्म होने के कारण यह अरूप है। समग्र विश्व सूक्ष्मरूप से इसी तत्त्व में विलीन रहता है। इसीलिए यह विश्व का विलयपद है। तत्त्वरूपा माया में भुवनों का

विभाग नहीं है। स्थूल ग्रन्थिमाया में भुवनों का विभाग है। मायातत्त्व के अधिष्ठाता अनन्त हैं। ये समस्त अणुओं की योग्यता का विचार कर एक ही क्षण में समग्र माया को क्षुब्ध करते हैं अर्थात् प्रसवोन्मुख करते हैं। उसी समय माया अपने भगाकार अनन्त सम्पुटों से प्रसव करने लगती है। इसी कारण कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त आवरणजाल असंख्य, अनन्त और विचित्र है अर्थात् कार्यरूपा माया अनन्त है, परन्तु कारणरूपा माया एक तथा अभिन्न है।

तत्त्वरूपा माया के ऊपर शक्तिरूपा माया का स्थान है। यह माया शक्ति परमेश्वर की अनन्त अघटनघटनापटीयसी जीवमोहिनी शक्ति है। यह स्वातन्त्र्यरूपा है। इसी के प्रभाव से जीवों की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और वे तत्त्व के विषय में नाना प्रकार के विचार करने लगते हैं। जो लोग गुरु, देवता, शास्त्र आदि में भक्ति नहीं रखते उन लोगों को यह उत्पथ में ले जाती है। जो लोग शुष्क तर्करसिक हैं, शुष्क विचार में अनुराग रखते हैं, वे इस माया के प्रभाव से अन्धकार में घूमने को बाध्य होते हैं। इस शक्तिरूपा माया का अतिक्रम करना अत्यन्त कठिन है। इसके उल्लंघन का उपाय एकमात्र परमेश्वर का अनुग्रह है, जो साक्षात् ज्ञानरूप से अथवा क्रियारूप से अभिव्यक्त होकर अपना कार्य करता है। इस ज्ञान का नाम है शिवज्ञान और इस क्रिया का नाम है शिवदीक्षा।

पुरुषतत्त्व के प्रसंग में कहा जा चुका है कि विविध प्रकार के पाश तथा बन्धनों के स्थान उसी में हैं। इसी सिलसिले में यहाँ पंचप्रणव, अष्टप्रमाण, कुल तथा वागीश्वरी की चर्चा भी संक्षेप में करनी चाहिए। कुल का तात्पर्य है गुरुशिष्य-परम्परा, जिसके सम्बन्ध में पहले कुछ चर्चा की जा चुकी है तथा वागीश्वरी योनि है—विश्वकारण है। मन्त्र आदि के प्रभाव से वागीश्वरी से जन्मलाभ होने पर मायिक जगत् में फिर जन्म नहीं होता। दीक्षा के समय गुरुशक्ति के बल से इसी प्रकार के द्वितीय जन्म की प्राप्ति होती है और परम शिव से योग होता है। कला आदि निम्न अध्वाओं में जो कुछ स्थित रहता है उसका सूक्ष्मरूप भी ऊपर अनन्त के समीप में रहता है। पंचप्रणव अर्थात् पंचबिन्दु, अष्ट प्रमाण अर्थात् पंचार्थ, गुह्य आदि आठ प्रमेय। मायातत्त्वाधिकारी जितने हैं उन सब का शरीर मायामय है और सब का विभव भी अलुप्त है। ये लोग मायामय शरीर से अपने अधिकार के अनुरूप भोग्य ग्रहण करते हैं। ये लोग माया से मोहित रहते हैं और ऐश्वर्यमद से मत्त रहते हैं, इसी कारण ये समझते हैं कि हम ही जगत् की सृष्टि और संहार के कर्ता हैं। इन्हें यह ज्ञात नहीं रहता कि एकमात्र अनन्त ही अशुद्ध अध्वा के स्वामी हैं। ये लोग परतन्त्र होने पर भी स्वातन्त्र्य के अभिमान के कारण अपने को परतन्त्र नहीं समझते।

त्रिरूपा महामाया का विवरण दिया जा चुका है। अब माया के ऊपर के भुवनों के विषय में संक्षेपतः कुछ संकेत किया जायगा। माया का अतिक्रमण किये बिना इन भुवनों में अर्थात् शुद्ध जगत् में प्रवेश पाने का कोई उपाय नहीं है। माया का अतिक्रमण करने के लिए, आगम के अनुसार, दो ही उपाय हैं—शिवदीक्षा और शिवज्ञान। दीक्षा की गणना क्रियाकोटि में की जाती है। माया के ऊपर शुद्ध महा-

विद्या का स्थान है। शुद्ध महाविद्या का नामान्तर है मातृका या वागीश्वरी। वहाँ वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरिणी, बलविकारिका, मथनी, दमनी और मनोन्मनी—इन नौ शक्तियों के नौ भुवन हैं। ये सब शक्तियाँ त्रिनेत्र हैं। सात करोड़ मुख्य मन्त्रों का निवास भी विद्यातत्त्व में ही है। इन मन्त्रों की सात अधिष्ठात्री देवियाँ हैं, जो विद्याराज्ञी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम हैं—त्रिगुणी, ब्रह्मवेताली, स्थाणुमती, परा अम्बिका, रूपिणी, मर्दिनी और ज्वाला। इनमें से प्रत्येक का भुवन कमलाकार है एवं प्रत्येक के परिवार में एक अरब शक्तियाँ हैं।

शुद्ध विद्या के ऊपर ईश्वर तत्त्व का और उसके अन्तर्गत अष्ट भुवनों का संनिवेश है। इन आठ भुवनों में शिखण्डी से लेकर अनन्त तक आठ विद्येश्वर निवास करते हैं। इन भुवनों की स्थिति पूर्व दिशा से लेकर ईशान कोण तक क्रमशः एक के ऊपर दूसरा, उसके ऊपर तीसरा यों है। सब से नीचे अर्थात् पूर्व दिशा में शिखण्डी का स्थान है। उससे ऊपर अर्थात् अग्निकोण में श्रीकण्ठ का स्थान है। उससे ऊपर अर्थात् दक्षिण में त्रिमूर्ति का स्थान है। इसी क्रम से सबसे ऊपर अर्थात् ईशान कोण में अनन्त का स्थान है। अनन्त ही विद्येश्वरों में सर्वप्रधान हैं। ये माया के अधिष्ठाता हैं और समग्र मायिक जगत् के ईश्वर हैं। सात करोड़ मन्त्रों में से आधे अर्थात् साढ़े तीन करोड़ मन्त्र परमेश्वर के नियोग से ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त जगत् में अणुओं पर अनुग्रह करते हुए उन्हें शिवत्व-लाभ कराते हैं। शेष साढ़े तीन करोड़ मन्त्र स्थित रहते हैं तथा आठ विद्येश्वरों के अधीन रह कर उनके करणरूप में जीवोद्धार का कार्य करते हैं। विद्येश्वरों के नायक अनन्तदेव वामादि अष्ट शक्तियों से युक्त होकर असंख्य भगबिलों से समन्वित गुहारूपा माया के मस्तक पर स्थित शुद्ध विद्या में निवास करते हैं। उनके कार्य हैं—गहन से लेकर निरय तक समग्र जगत् की सृष्टि करना और अपने अधीन रुद्रों को सृष्टि आदि के कार्य में लगाना। ये बद्ध पुरुषों का उद्धार भी करते हैं, परन्तु यह कार्य वामादि अष्ट शक्तियों से नहीं होता। इस कार्य के लिए मनोन्मनी नाम की नवम शक्ति है। प्रत्येक शक्ति का अपना-अपना भगवन्निर्दिष्ट कार्य है। इसलिए एक शक्ति दूसरी शक्ति के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। मायिक अणुओं के ऊपर इनका पूर्ण अधिकार रहता है। परमेश्वर का नियोग समाप्त हो जाने पर करोड़ों मन्त्रों के साथ साथ अनन्त भी निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु निर्वाण यानी शिवत्व-लाभ होने पर भी उनका स्थान रिक्त नहीं रहता। उस स्थान पर अनन्त के नीचे स्थित सूक्ष्म रुद्र आकर आसीन हो जाते हैं और अनन्त का कार्य करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अनन्तादि नाम पदों के हैं, पदों के अधिष्ठाताओं के नहीं। परमेश्वर के नियमानुसार अधिकारादि तभी तक रहते हैं जब तक अधिकारी की अधिकारेच्छा का विराम नहीं होता। इच्छाहीन किसी को भी परमेश्वर बलात् नियुक्त नहीं रखते। इस प्रकार अनन्तादि आठों रुद्र जब निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं तब परमेश्वर वामादि शक्तियों को भली भाँति उद्दीप्त कर विज्ञानाकल किसी योग्य अणु पर अनुग्रह कर उसे अष्टम रुद्र अर्थात् शिखण्डी के स्थान पर स्थापित करते हैं। साधारणतः यही नियम है। मन्त्रों की व्यवस्था भी इसी नियम के अनुसार होती है। परन्तु महाप्रलय में इस नियम

का व्यभिचार होता है, क्योंकि उस समय सभी विद्येश्वर एक ही क्षण में उपराम को प्राप्त हो जाते हैं। सभी का अधिकार एक ही क्षण में समाप्त हो जाता है और उन्हें परम पद की प्राप्ति हो जाती है। ये सब शुद्ध अध्वा के अधिकारी हैं। अष्ट विद्येश्वरों का निर्वाण होते-होते उसके बीच में असंख्य जीवों का निर्वाण हो जाता है।

अशुद्ध अध्वा माया से लेकर क्रमशः नीचे जाते जाते अवीचि अर्थात् सबसे नीचे के नरक तक विस्तृत है। शुद्ध अध्वा का विस्तार अनन्त से लेकर क्रमशः ऊपर उठते उठते अनाश्रित शिव तक है। अशुद्ध अध्वा भव कहा जाता है तथा शुद्ध अध्वा को अभव कहते हैं। भव तो हेय है ही, अभव भी हेय ही है। अभव में स्थित किसी अणु का अशुद्ध अध्वा में जन्म नहीं होता यह ठीक है, परन्तु वह भी परम स्थान नहीं है। क्योंकि वहाँ भी अधीनता या नियोज्यता रहती ही है। इसीलिए सिद्ध या मुक्त पुरुष अभव अवस्था का भी त्याग कर अतिभव अवस्था में जाते हैं, जहाँ न कोई नियोक्ता है और न कोई नियोज्य है एवं जहाँ परम शिव से नियोक्तृत्व या प्रभुत्व निवृत्त हो जाता है तथा सिद्ध या मुक्त पुरुषों से नियोज्यता या किंकरता निवृत्त हो जाती है। उस स्थिति में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं रहता।

उसके ऊपर ईश्वर तत्त्व है। वहाँ पहला आवरण रूपावरण है, जहाँ धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य रहते हैं। इसके अनन्तर सूक्ष्मावरण है, जिसमें वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री के तीन भुवन हैं। जो लोग पाशुपत-व्रत का आचरण करते हुए जितेन्द्रिय होकर दिव्य भावापन्न हो जाते हैं ऐसे व्यक्ति जप, ध्यान आदि के क्रम से उक्त स्थान को प्राप्त होते हैं।

इसके अनन्तर सदाशिव तत्त्व है। जिसमें एक के बाद एक कई विभिन्न आवरणों के नाम तथा विवरण यों है—(१) शुद्धावरण, यह ज्ञान तथा क्रियारूप युगल शक्तियों का केन्द्र स्थान है। (२) विद्यावरण, यह भाव तथा अभाव का स्थान है। (३) शक्त्यावरण, यहाँ तेजेश और ध्रुवेश्वर रहते हैं। ये दो स्थान मायातत्त्वस्थ प्रमाणाष्टक के परम पद हैं। इनके अनन्तर ४ प्रमाणावरणों के स्थान हैं। तदनन्तर ५ तेजस्वी आवरण हैं। तदुपरान्त ६ मानावरण हैं। वहाँ ब्रह्मा, रुद्र, प्रतोद और अनन्त के चार स्थान हैं। उसके उपरान्त ७ सुशुद्धावरण हैं। यहाँ तीन भुवन हैं। उनके एकाक्ष, पिंगल और हंस नामक रुद्र अधिष्ठाता हैं। इनके बाद ८ शिवावरण हैं। उनमें ध्रुव से अधिष्ठत केवल एक भुवन है। उनके ऊपर ९ मोक्षावरण हैं। वहाँ ब्रह्मदेव आदि एकादश रुद्रों के स्थान हैं। तदुपरान्त हैं १० ध्रुवावरण। वहाँ भी केवल एक ही भुवन है। इस स्थान में पृथ्वी पर्यन्त समग्र विश्व और तदन्तर्गत सब पदार्थ भासित होते हैं। यदि ऐसा न होता तो तत् तत् विषयों में इच्छा का उदय ही नहीं हो सकता। ध्रुवावरणों के ऊपर ११ इच्छावरण हैं। वहाँ भी एक ही भुवन है, जिसकी अधिष्ठात्री इच्छाशक्ति है। इसके अनन्तर हैं १२ प्रबुद्धावरण। यहाँ अष्ट रुद्रों के स्थान हैं। इसके अनन्तर १३ समयावरण हैं। उनमें पाँच भुवन हैं। उनके उपरान्त हैं १४ सुशिवावरण। यहीं सदाशिव भट्टारक का मुख्य भुवन या राजधानी है। यहाँ सदाशिव भट्टारक के अगल बगल दोनों पार्श्वों में ज्ञान तथा क्रिया शक्ति विद्यमान रहती हैं

एवं गोद में (अंक में) रहती है इच्छाशक्ति। इसी इच्छाशक्ति के द्वारा वे पंचकृत्यरूप जगद्व्यापार का सम्पादन करते हैं। उनके चारों ओर पंचव्रत, षडंग, स-कलादि अष्टक, दस शिव तथा अष्टादश रुद्र उनके आसन को घेरे रहते हैं। पंचव्रत का तात्पर्य सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान से है। षडंग मान्त्रिक लोगों का अतिपरिचित तत्त्व है अर्थात् हृदय, मूर्धा, शिखा, वर्म तथा दृगस्त्र। स-कलादि अष्टक में हैं—स-कल, अकल आदि आठ। दस शिव हैं—ॐकार, शिव, दीप्त, कारणेश्वर आदि। अठारह रुद्रों के नाम हैं—विजय, निःश्वास, स्वायंभुव आदि। ये दस शिव शैवागमों के प्रवर्तक हैं और अठारह रुद्र भी ठीक उसी प्रकार अठारह रुद्रागमों के प्रवर्तक हैं। ये दोनों मिलकर अट्ठाईस आगमों के नाम से प्रसिद्ध हैं एवं दक्षिण भारत में विशेषरूप से प्रचलित हैं।

सदाशिव का आसन सात करोड़ मन्त्रों से परिवृत तथा वामा आदि रुद्र-शक्तियों से युक्त है एवं तारादि शक्तियों से सेवित है। यह आसन भी कमलाकार है, पर इसके दल असंख्य हैं। सदाशिव के परिवार तथा आसन में जो शक्तियाँ तथा रुद्र हैं उनमें से प्रत्येक के अपने अपने परिवार में मायामलविहीन, केवल अधिकारमात्र विशिष्ट, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसम्पन्न असंख्य करोड़ रुद्र विराजमान हैं।

सुशिवावरण के ऊपर है बिन्दु आवरण। यह एक प्रकार का कमल है, जिसकी प्रभा उज्ज्वल चन्द्रकिरणों के समान प्रतीत होती है। यहाँ शान्त्यतीत शिव और शान्त्यतीता शक्ति का स्थान है। उनके परिवार में निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि चार कलाएँ हैं। उसके चारों ओर असंख्य रुद्र और रुद्रशक्तियों के भुवन हैं। मतंग-पारमेश्वरागम में इस आवरण को बिन्दु कहा गया है। यह लय नाम का तत्त्व है। इसकी अव-स्थिति चार प्रकार की है—चतुर्मूर्तिमय, शुभ्र, स-कल और निष्कल। यद्यपि निवृत्ति आदि चार रूप इसी के हैं तथापि यह उनसे उत्तीर्ण होकर निर्मल है। स-कल होने पर भी परतत्त्व में लीन होने के कारण इसकी निष्कल पद के रूप में गिनती होती है। सदाशिवतत्त्व इसका भोगस्थान, शुद्धविद्यातत्त्व अधिकारस्थान, ईश्वरतत्त्व शासन-स्थान एवं शिवतत्त्व लयस्थान है।

जब यह कहा जाता है कि सदाशिव भट्टारक स-कल हैं तब यह प्रतीत होता है कि उनकी कलादि पृथिव्यन्त ३० तत्त्वों से आरब्ध देह भी है। परन्तु यदि ऐसा है तो उसका दर्शन क्यों नहीं होता? आचार्य लोग इसका यों समाधान करते हैं कि सदाशिव की देह में कलादि आरम्भक तत्त्वों की स्थिति रहने पर भी उनका दर्शन नहीं होता। इसका कारण यह है कि वहाँ महाज्ञान का तेज अत्यन्त अधिक है, अतः निवृत्त्यादि कलाओं के सूक्ष्म होने के कारण उस देह में पृथिवी आदि तत्त्वों के निदर्शन के चिह्न बाहर व्यक्त नहीं होते। जैसे सुवर्ण में तेज के परमाणुओं के अत्यन्त प्रबल होने के कारण उसमें स्थित पृथ्वी के परमाणु पृथक् रूप से भासमान नहीं होते। परन्तु पृथ्वी के परमाणु भी उसमें विद्यमान हैं। यदि न होते उसमें कठिनता न आती। उसी प्रकार शुद्ध अशुद्ध तत्-तत् भुवनेश्वरों की देह में स्थित कलादि पृथि-व्यन्त उपादान आत्मज्ञान के प्रभाव से तिरोहित होने के कारण दिखाई नहीं देते।

बिन्दु के ऊपर है अर्द्धचन्द्र। उसमें ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, रसनावती, कान्तिप्रभा और निर्मला नाम की पाँच कलाएँ हैं। अर्द्धचन्द्र के ऊपर निरोधिनी या निरोधिका है। उसमें भी पाँच कलाएँ हैं। उनके नाम हैं—रुन्धनी, रोधनी, रोद्ध्री, ज्ञानरोधा और तमोपहा। अर्द्धचन्द्र से लेकर जितने प्रमेय हैं वे सबके सब मन्त्रप्रमेय हैं। वे सब क्रम से अधिकाधिक सूक्ष्म हैं। वास्तव में बिन्दु से मात्राभेद शुरू होता है। जैसे—बिन्दु अर्धमात्रा है, अर्धचन्द्र बिन्दु की मात्रा का अर्धांश है अर्थात् १।४ है, निरोधिका की मात्रा है १।८। यह निरोधिका बिन्दु आवरण की अन्तिम भूमि है। ब्रह्मा, विष्णु आदि कारणवर्ग यहाँ तक आरूढ़ हो सकते हैं, किन्तु इससे आगे नहीं बढ़ सकते। निरोधिका ही उन लोगों की गति का निरोध कर देती है। निरोधिका का भेदन करने के अनन्तर सदाशिव का भुवन प्राप्त होता है। सुशिवावरण इसका परम रूप है। अर्धचन्द्र तथा निरोधिनी वस्तुतः बिन्दु के ही प्रसर हैं। इसके ऊपर महानाद है। वह मन्त्रमहेश्वरों से परिवेष्टित है। उसके चारों ओर चार भुवन हैं तथा मध्य में एक भुवन है। इन पाँचों भुवनों के नाम हैं—इन्धिका, दीपिका, रोधिका, मोचिका तथा ऊर्ध्वगा। मध्य में विशाल कमल है। उसपर उसके अधिष्ठाता ऊर्ध्वेश्वर और ऊर्ध्वगा शक्ति विराजमान हैं। महानाद के ऊपर सौषुम्ण भुवन है। उसके अधिष्ठाता हैं सुषुम्णेश और शक्ति है सुषुम्णा। सुषुम्णेश के एक ओर इड़ा है और दूसरी ओर पिंगला है। सुषुम्णा से अधः और ऊर्ध्व अध्वा ग्रथित हैं। अधः अध्वा नादान्त से लेकर है और ऊर्ध्व अध्वा शक्तिशिवात्मक है। नाद सुषुम्णा के भीतर से अर्थात् मध्य नाड़ी के आश्रय से अधःशक्ति द्वारा मूलाधार से ऊपर उठकर और जाग्रत् होकर प्राणात्मिका ऊर्ध्वशक्ति द्वारा निखिल जगतों का तत् तत् कारणों के उल्लंघन-पूर्वक भेदकर सुषुम्णा नाड़ी के ऊपरी रन्ध्र (छिद्र) से बाहर निकलता है। इसी प्रकार नाद ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होकर सब भूतों में नदन करता है अर्थात् आत्म-प्रकाश करता है। इसका उच्चारण करने वाला कोई नहीं है। इसका चालन अपने आप होता है। इसमें घोष आदि भिन्न-भिन्न स्वभावों का उदय कभी नहीं होता, इसीलिए यह अव्यक्त ध्वनिरूप माना जाता है। इसके अधिष्ठाता शिव और शक्ति हैं और इसका स्वरूप संविदात्मक है।

सुषुम्णा के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र नाम का आवरण है। इस स्थान के अधिष्ठाता त्रिनेत्र, पंचवदन ब्रह्मा हैं। उनके ललाट में चन्द्रकला है और अंक में ब्रह्माणी शक्ति है। मोक्षप्रदान या मोक्ष का निरोध इन्हीं के अधीन है।

ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर ऊर्ध्वकुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। उसका आकार प्रसुप्त भुजंग के तुल्य है तथा वह समस्त भुवन की आधाररूप है। यही ऊर्ध्वकुण्डलिनी शक्ति अपनी स्वरूपात्मक भित्ति पर समग्र विश्व का स्फुरण करती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इसी कुण्डलिनी शक्ति से शक्तितत्त्व का आरम्भ होता है। समग्र तत्त्व और भुवनों का आधार यही कुण्डलिनी शक्ति है। शक्तितत्त्व में पूर्वादि दिशाओं के क्रम से सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता और अमिता नाम की चार कलाएँ हैं और उनके बीच में व्यापिनी है, जिसके अधिष्ठाता का नाम है व्यापीश। आगम में लिखा है कि

अनाश्रित शिव से यह पूर्व में स्थित है। शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि व्यापिनी की स्थिति कहाँ है ? स्मरण रहे कि शक्ति तत्त्व ही अनाश्रित भुवन के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका प्रपंच पृथ्वी आदि समस्त भावराशि है। शक्ति-तत्त्व का आश्रय लेकर शिवतत्त्व की स्थिति है, क्योंकि शिवतत्त्व की व्यापिनीरूप शक्तितत्त्व में ही अवस्थिति है। अनाश्रित भुवन में चार दिशाओं में क्रमशः व्यापी, व्योमात्मक, अनन्त और अनाथ स्थित हैं। मध्य में है अनाश्रित भुवन, उसमें करोड़ों सूर्यों के तुल्य उज्ज्वल अनाश्रित देव विराजमान हैं। तन्त्र में समना का जो स्थान बतलाया गया है वह न शिवतत्त्व के ऊपर है और न भीतर। वस्तुतः वह शक्तितत्त्व में है। वास्तव में अन्त हो जाने पर शक्ति का लय व्यापिनी में हो जाता है, व्यापिनी का लय होता है अनाश्रित में और अनाश्रित का लय होता है समनापद में। यह समनापद ही साम्यपद या ब्रह्मपद है। व्यापिनी पर स्थित अनाश्रित भुवन के ऊपर पराशक्ति समना प्रतिष्ठित है। यही अखिल कारणों की कर्त्री है, यही क्रियाशक्ति है और यही शिव से अधिष्ठित होकर अपने भीतर असंख्य अण्डों को धारण करती है। छत्तीसवें तत्त्वरूपी शिव इसी समना शक्ति पर आरूढ़ होकर पंचकृत्यों का निर्वाह करते हैं। इन कृत्यों के सम्पादन में करण है समना और शिव केवल हेतुकर्ता मात्र हैं। परन्तु इससे परमेश्वर का स्वातन्त्र्य खण्डित नहीं होता, क्योंकि स्वयं परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य से पहले शून्यातिशून्यरूप में अपने को भासित करते हैं उस समय उनका नाम पड़ता है अनाश्रित। परम शिव का, निरपेक्ष होने के कारण, कर्तृत्व विशुद्ध पारमार्थिक है और अनाश्रित आदि निम्नवर्ती तत्वों का कर्तृत्व अशुद्ध है, क्योंकि वह उपचारमूलक है। अनाश्रित शिव परमशिव से अधिष्ठित होकर ही अपने से भिन्न कार्य के विषय में कर्तृत्व रखते हैं। परम शिव की इच्छा से ही अनाश्रितादि सृष्टि आदि के कारण होते हैं। परम शिव अनाश्रितादि आत्मीय वर्ग को अपना स्वातन्त्र्य प्रदान कर सृष्टि आदि कार्यों के योग्य बनाते हैं। इसीका नाम अधिष्ठान है अथवा यही उनके अधिष्ठान का रहस्य है। अनाश्रित शिव समना के द्वारा पाँचों कारणों का अधिष्ठान करते हैं। यह अधिष्ठान क्रमशः होता है। प्रत्येक स्तर में कर्ता अथवा करण का सम्बन्ध रहता है। जैसे—शिव जब कर्ता रहते हैं तब समना उनकी करण होती है, इसी प्रकार अनाश्रित जब कर्ता रहते हैं तब अनाश्रित शक्ति उनकी करण होती है। इससे अनाश्रित कर्तृत्वसम्पन्न होकर स्वशक्ति द्वारा अनन्त को व्यापारित करते हैं। अनन्त कर्ता बनकर स्वशक्ति द्वारा व्यापी को क्रियोन्मुख करते हैं। इसी क्रम से अन्त में कर्मरूप माया के ऊपर ही शक्ति का संचार होता है। इसके नीचे शक्ति कुण्डलिनी का स्थान है। माया शक्ति ही नाद-बिन्दु अनन्त विश्व के आकार में स्फुरित होती है। पहले कहा जा चुका है कि इसी शक्ति कुण्डलिनी के गर्भ में समग्र विश्व आभृत है। विश्व का जब स्फुरण होता है तब विभिन्न तत्त्व तथा भुवनादि के रूप में वे व्यक्त होते हैं। पृथ्वीतत्त्व से लेकर सदाशिवतत्त्व तक विश्व इसीलिए हेय माना जाता है।

विश्व का विस्तार यथासंभव संक्षेप में आगम की दृष्टि के अनुसार कहा गया

है। यद्यपि यह कथन स्थान विशेष के दृष्टिकोण से है तथापि इससे शाक्त दृष्टिकोण का परिचय मिल जायगा। पौराणिक साहित्य में चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का परिचय मिलता है। भूलोक से लेकर सत्य लोक तक समग्र भूलोक (पृथ्वीसहित) और नीचे के अधोभुवन पातालादि उसी के अन्तर्गत हैं। पातंजलदर्शन के विभूतिपाद में जहाँ सूर्यसंयम से भुवनों के ज्ञान के विषय में कहा गया है वहां इन्हीं सब भुवनों से शास्त्रका अभिप्राय है, यह समझना चाहिये। परन्तु आगमों से पता चलता है कि इन सब भुवनों से अतिरिक्त और भी बहुत से भुवन हैं। वास्तव में भुवनों की संख्या अनन्त है। मुख्य-मुख्य भुवनों की संख्या भी कम नहीं है। असल बात यह है कि पुराणों में केवल पृथ्वीतत्त्व के अन्तर्गत भुवनों की ही गणना है एवं उन भुवनों की समष्टि का ब्रह्माण्ड के नाम से वर्णन किया गया है। परन्तु तान्त्रिक वाङ्मय से पता चलता है कि पृथ्वी-तत्त्व से बाहर भी विश्व का विराट् विस्तार है। पूर्वप्रदर्शित भुवनविवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि पृथ्वीतत्त्व के अनन्तर अन्यान्य तत्त्वों में भी भुवन हैं एवं अण्ड भी केवल ब्रह्माण्ड तक ही सीमित नहीं हैं। ब्रह्माण्ड संख्या में अनन्त हैं, यह तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। परन्तु ब्रह्माण्ड से ऊपर ब्रह्माण्डभिन्न प्रकृत्यण्ड के नाम से प्रसिद्ध अण्ड भी विद्यमान हैं। प्रकृत्यण्ड वैसे ही असंख्य हैं जैसे कि ब्रह्माण्ड। एक-एक प्रकृत्यण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। जलतत्त्व से लेकर प्रकृतितत्त्व तक के तत्त्वों की समष्टि से प्रकृत्यण्ड बनता है। एकमात्र माया या मायाण्ड के भीतर असंख्य प्रकृत्यण्ड रहते हैं। जैसे एक ही समुद्र के अन्दर असंख्य लहरें या बुद्बुदादि की स्थिति होती है, ये भी वैसे ही हैं। अतएव माया के अन्तर्गत या मायाण्ड के भीतर नाना प्रकृत्यण्ड हैं और प्रत्येक प्रकृत्यण्ड के भीतर नाना ब्रह्माण्ड हैं। मायाण्ड पुरुष से लेकर पाँच कञ्चुक तथा उनकी कारण माया से बना है। माया से बाहर ज्योतिर्मय शुद्ध सत्त्वात्मक शाक्ताण्ड है। यह अखण्ड शुद्ध विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव—इन तत्त्वों से बना है। ब्रह्माण्ड या पार्थिवाण्ड के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता विष्णु और मायाण्ड के अधिष्ठाता रुद्र हैं। यहाँ तक माया का राज्य है। इसके उपरान्त शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता हैं ईश्वर तथा सदाशिव। परमेश्वर की उन्मेषशक्ति ही सदाशिव के नाम से प्रसिद्ध है। ईश्वर तथा सदाशिव तिरोधान तथा अनुग्रह शक्तिसम्पन्न परमेश्वर के ही कार्यानुरूप दो आधिकारिक नाम हैं। ब्रह्मा से लेकर सदाशिव पर्यन्त पाँच अधिकारी पुरुषों को पंचकारण कहते हैं। किसी किसी जगह अनाश्रित शिव को भी षष्ठ कारण या अधिकारी पुरुष माना जाता है। विश्व के समस्त व्यापारों में अपने अपने अधिकार के अनुसार इन्हीं का प्राधान्य है।

पंचकलाओं के विषय में शास्त्रों में कहा गया है कि निवृत्तिकला के भीतर पृथिवीतत्त्व को लेकर ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। इसीलिए ब्रह्माण्ड में सर्वत्र निवृत्ति-कला ओत-प्रोत है। इसी प्रकार प्रतिष्ठाकला में जल से लेकर प्रकृति पर्यन्त तत्त्व हैं। तदनुरूप विभिन्न भुवन भी उसमें सन्निविष्ट हैं जिनकी समष्टि प्रकृत्यण्ड के रूप में प्रकाशित होती है। इस अण्ड में सर्वत्र प्रतिष्ठाकला व्याप्त है। विद्याकला में पुरुष से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों का संनिवेश है। इन्हीं तत्त्वों से मायाण्ड का विकास होता है।

शान्तिकला में शुद्ध विद्या से लेकर शक्तितत्त्व पर्यन्त तत्त्व विद्यमान हैं। वहाँ के अण्ड का नाम शाक्ताण्ड है। ब्रह्माण्ड का उपादान पृथिवी तत्त्व है, अतएव भूः भुवः लोक से लेकर सत्य लोक तक सभी भुवन पृथिवी कहलाते हैं। एक एक अण्ड एक एक कला का समव्याप्तिक है। विभिन्न भुवनों में जो अपने अपने गणों में अनुवृत्त हैं और दूसरे वर्गों से व्यावृत्त हैं उनका नाम तत्त्व है। इसी प्रकार सब तत्त्वों में जो अपने वर्गों में अनुवृत्त और दूसरे वर्गों से व्यावृत्त हैं उनका नाम 'कला' है। किसी किसी का इस विषय में मतभेद है। वे कहते हैं कि तत्त्वों की सूक्ष्म शक्ति ही कला कहलाती है, जैसे कि पृथ्वी की धारिका शक्ति उसमें अनुगत है एवं बहिर्मुख भाव आत्यन्तिक होने पर जो निवर्तन करती है अर्थात् आगे बढ़ने नहीं देती वह है निवृत्तिकला। जल से लेकर पृथिवी पर्यन्त २३ तत्वों में भेदव्यवहार की स्थापना करने वाली जो कला है वह प्रतिष्ठा कहलाती है अथवा (मतान्तर से) आप्यायनी कला प्रतिष्ठा है। पुरुष से लेकर माया पर्यन्त संकुचित आत्मभाव का ज्ञापन करने वाली कला ही विद्याकला है। शुद्ध विद्या से शक्ति पर्यन्त मायीय पद का उपशम करने वाली कला ही शान्तिकला है। इससे अतीत जो कला है, वही शान्त्यतीता कला है। कला के विषय में मतभेद रहने पर भी दोनों मतों में विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि इन दोनों मतों का लक्ष्य शक्ति के ऊपर है। किसी के मत में कला-विभाग सांकेतिकमात्र है, क्योंकि दीक्षादि व्यापारों को समझने की सुविधा के लिए यह परमेश्वर से कल्पित है।

पहले यह कहा गया है कि एक अण्ड की व्याप्ति एक कला व्याप्ति के बराबर है। परन्तु यह विषय विचारणीय है कि जहाँ अण्डों की समाप्ति हो गई वहाँ भी कला-विभाग की समाप्ति नहीं होती, क्योंकि शक्ति के ऊपर अर्थात् शिवतत्त्व में भी कला है, जिसका नाम शान्त्यतीता कला है। शिवतत्त्व में कला अवश्य है, परन्तु परम शिव में कला नहीं है। वही निष्कल अर्थात् परम पद है। एक विषय और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि शाक्ताण्ड के बाद फिर अण्ड नहीं है, परन्तु भुवन हैं, क्योंकि कला है अतएव भुवन हैं। पहले उन कलाओं में संनिवेश है। भुवनविभागों की स्थिति का कारण जो आवरण है, वही अण्ड कहलाता है। यह आवरण शक्ति तक ही सीमित है, उसके बाद फिर आवरण नहीं रहता। परन्तु आवरण न रहने पर भी पृथक् पृथक् भुवन हैं। इसी लिए व्यापिनी आदि में अण्ड नहीं हैं, परन्तु भुवन हैं। कला है, इसलिए भुवन भी हैं। यहाँ संनिवेश भी रहता है, परन्तु शान्त्यतीता कला में जो भुवन हैं उनमें संनिवेश नहीं है। परम शिव में कला नहीं है, भुवन नहीं हैं और संनिवेश भी नहीं है। व्यापिनी से शिवतत्त्व पर्यन्त अप्रतिघ अर्थात् विश्वातीत है। इसका कारण है व्यापिनी से सभी शून्यरूप हैं। शून्य में प्रतिघात या आवरण नहीं रहता। इस दृष्टि से पृथिवी से शक्ति पर्यन्त विश्व है, जिसमें चार अण्ड हैं तथा व्यापिनी से शिवतत्त्व पर्यन्त विश्वातीत है। परम शिव में विश्व तथा विश्वातीत दोनों अभिन्न ही हैं।

विश्व-संहार

(१)

विश्व की सृष्टि तथा स्थिति के विषय में संक्षेपतः कुछ चर्चा की जा चुकी है। स्थिति के अनन्तर उपसंहार के विषय में भी कुछ कहना उचित प्रतीत होता है। संहार और प्रलय ये दो शब्द प्रायः समानार्थक हैं। देह आदि जन्य पदार्थों का अपने कारणों में लीन हो जाने का नाम ही संहार है। व्यष्टिदृष्टि से यदि देखा जाय तो प्रारब्ध कर्मों का परिक्षय हो जाने पर स्थूल शरीर का नाश होता है। विज्ञान, योग, संन्यास आदि के द्वारा सर्वकर्मक्षय हो जाने पर सूक्ष्म देह का भी लय हो जाता है। विश्व की स्थिति के समय भी किसी किसी के सूक्ष्म शरीर का विलय हो जाता है।

मतंग आगम के अनुसार उपभोग का क्षय होने पर देहान्तरूप प्रलय होता है, परन्तु उस समय त्रिलोकी का नाश नहीं होता, पर कालान्तर में त्रिलोकी का नाश भी हो जाता है। अशुद्ध जगत् का लय माया-शक्ति में होता है और शुद्ध जगत् का लय कुण्डलिनी में होता है। तीनों लोकों का विनाश कालाग्नि से होता है। उस समय भुवनेश्वर रुद्र अपना अपना स्थान त्याग कर सूक्ष्म शरीरसे परमेश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। अन्यान्य सब शुद्ध देह से जन लोक में चले जाते हैं और वहाँ अचेतनावस्था में स्थित रहते हैं। महर्लोकनिवासी भी उस समय जनलोक में निवास करने लगते हैं।

आगम की दृष्टि से सृष्टियाँ असंख्य हैं। जैसे सृष्टियाँ असंख्य हैं वैसे ही प्रलय भी असंख्य हैं। परन्तु साधारणतः ज्ञान के लिए चार मुख्य प्रलय माने जाते हैं। हम पहले विश्वविस्तार के प्रसंग में चार अण्डों की चर्चा कर आये हैं—पृथिव्यण्ड या ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड और शाक्ताण्ड। परन्तु तन्त्र से अतिरिक्त वाङ्मय में इन चारों में से केवल पहले का अर्थात् ब्रह्माण्ड का ही विवरण मिलता है। इस अण्ड के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा या श्रीकण्ठ हैं और संहारक कालाग्नि है। पौराणिक साहित्य में इस ब्रह्माण्ड का लय ही मुख्य या महाप्रलय माना गया है। अन्यान्य छोटे-मोटे प्रलय इस महाप्रलय के ही अन्तर्गत माने गये हैं। सहस्रों ब्रह्माण्डों का अस्तित्व सब शास्त्रों में स्वीकृत होने पर भी उन सब का एक ही साथ प्रलय होता है यह कहीं नहीं माना जाता, परन्तु महाप्रलय का महत्त्व इससे भी न्यून नहीं होता।

क्षुद्र प्रलयों के विषय में पुराण आदि में नाना प्रकार की चर्चाएँ हैं। उनमें नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत तथा आत्यन्तिक प्रलयों के नाम सर्वत्र ही प्रसिद्ध हैं। सुषुप्ति ही नित्य प्रलय है। उसमें रजोगुण सत्त्वगुण को निगल जाता है और रजोगुण को

तमोगुण निगल जाता है। साक्षी केवल अज्ञान के आश्रित रहता है। उस अज्ञान का विजृम्भण होने पर सृष्टि का पुनः प्रवर्तन होता है। इसी का नाम नित्य प्रलय है। यह जीव की रात्रिरूपा निशा है, परन्तु जब रजोगुण के अधिष्ठाता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा निद्रित होकर (तम के प्रभाव से) सत्त्वमय पुरुष में विलीनावस्था को प्राप्त होते हैं तब त्रिलोकी का नाश होता है, क्योंकि यह कर्म से साध्य है। कर्म रजोगुण से उद्भूत होता है, रज उस समय लीन रहता है। चार हजार युगों के अन्त में जब ब्रह्मा के दिन का अवसान होता है तब इस प्रकार की स्थिति आती है। इसका नाम है कल्पप्रलय, परन्तु जब प्रकृतिपर्यन्त सब कार्यों का लय होता है तब वह प्राकृत प्रलय कहा जाता है और युगपत् सब जीवों की मुक्ति को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। प्राकृत प्रलय में ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है। सब कार्य अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं, समग्र सृष्टि संकुचित होकर प्रकृति में लीन हो जाती है एवं प्रकृति परमात्मा में लीन हो जाती है। प्राकृत प्रलय का यही स्वरूप है। किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में इस प्राकृत प्रलय को ही 'महाप्रलय' संज्ञा दी गई है। यह प्राकृत प्रलय का कालिक रूप है, परन्तु अकालिक प्राकृत प्रलय भी होता है। यदि कोई पुरुष उस अवस्था में द्रष्टा बन कर रह सके तो उसकी दृष्टि के सामने परम पद का दर्शन अवश्य ही होता है। किसी-किसी ग्रंथ (पुराण संहिता अ० ४) में लिखा है इस अकालिक प्रलय में ही नित्य वृन्दावन या भगवान् के नित्य धाम का दर्शन हो सकता है।

चौदह मनुओं के राज्यशासन के अन्त में ठीक उतने ही समय का प्रलय होता है। इसका नाम है मन्वन्तर-प्रलय। नैमित्तिक प्रलय में ब्रह्मा सोये रहते हैं और नारायण भी अनन्त-शय्या में शयन करते हैं। ब्रह्मा का आयुष्य काल द्विपरार्ध नाम से प्रसिद्ध है, जिसके अन्त में प्राकृत प्रलय होता है (द्रष्टव्य भागवत स्क० १२ अ० ४)।

(२)

ब्रह्माण्डादि अण्डों के अधिष्ठाता ब्रह्मा से लेकर सदाशिव पर्यन्त पाँच अधिकारी पुरुष हैं। एक ब्रह्माण्ड का लय होने पर भी अन्य रह जाते हैं। परन्तु ऐसा भी समय आता है जब सब ब्रह्माण्डों का लय हो जाता है, यह आगम का सिद्धान्त है। अवश्य ही यह बात एक प्रकृत्यण्ड के अन्तर्गत ब्रह्माण्डों के विषय में है। प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता हैं विष्णु, उसके स्रष्टा हैं श्रीकण्ठ और संहारक भी वही हैं। यह श्रीकण्ठ कालतत्त्व के अध्यक्ष हैं। प्रकृत्यण्ड से मायाण्ड अधिक व्यापक है, क्योंकि एक मायाण्ड में असंख्य प्रकृत्यण्डों का संनिवेश रहता है। मायाण्ड के भी सृष्टि और संहार उक्त श्रीकण्ठ के द्वारा ही होते हैं।

यहाँ तक तो यह अशुद्ध जगत् के लय की बात हुई, परन्तु उसके ऊपर शुद्ध अध्वा या शाक्ताण्ड विद्यमान है, जिसमें सृष्टि तथा संहार दोनों कार्य अघोर के द्वारा सम्पन्न होते हैं। आगम-मत में शाक्तसृष्टि ही महासृष्टि है। शक्त्यण्ड तक का प्रलय हो जाना ही महत्तम प्रलय है। महासृष्टि में जगत् के असंख्य सर्ग और संहार अन्तर्भूत हैं। शक्ति-पर्यन्त सृष्टि जैसे महान् है वैसे ही शक्त्यन्त प्रलय भी महान् है।

प्रलयकाल में जब पृथिवी आदि तत्त्वों का लय होता है तब ब्रह्मादि लीन होते होते मायान्त के अध्वा में लीन हो जाते हैं। मायातत्त्व का लय हो जाने पर ये परम पद को प्राप्त होते हैं। जो लोग शुद्ध अध्वा में विद्यमान रहते हैं, उनका परम शिव में लय होता है। इसी प्रकार सब तत्त्वेश्वर लीन हो जाते हैं। नूतन सृष्टि के समय इन तत्त्वेश्वरोंके रिक्त स्थान पर नूतन अधिकारी पुरुषों की नियुक्ति होती है। जो लोग तत् तत् पदों के अभिलाषी रहते हैं अथवा जो परमेश्वर के इच्छामात्र से अनुगृहीत होते हैं उन्हीं की उन स्थानों में नियुक्तियाँ होती हैं। ये लोग पूर्ववत् ब्रह्मा, विष्णु आदि नामों से प्रसिद्ध होते हैं। ब्राह्मी शक्ति अधिकारपद प्राप्त कर जिस आत्मा में अधिष्ठित होती है वह आत्मा ब्रह्मा के नाम से प्रसिद्धिलाभ करता है तथा ब्रह्मा के अधिकार का पालन करता है। मूल में परमात्मा की इच्छा ही प्रधान है। सभी शक्तियों के विषय में यही बात है।

ब्राह्मी आदि अनन्त शक्तियाँ परमेश्वर की ही शक्तियाँ हैं जो सर्वदा उन्हीं में रहती हैं। परन्तु अनन्तशक्तियुक्त होने पर भी वे जब जिस शक्ति को (अन्य शक्तियों को दबाकर) प्रकट करते हैं, उस समय उसी का प्रकाश होता है।

ये जो अनन्त सृष्टि और प्रलयों के खेल हो रहे हैं वे वास्तव में विशाल प्राण-समुद्र के केवल एक देश में हैं। आगम में निरन्तर समझाया गया है कि संविद् ही सृष्ट्युन्मुख अवस्था में प्राणरूप में परिणत होती है और इसी प्राण के ऊपर ही समग्र विश्वचित्र का अंकन होता है। इसलिए स्मरण रखना चाहिए कि प्राण विशाल होने पर भी संवित् के ही अन्तर्गत है। यह संवित् परिमित आत्मस्वरूप और तत् तत् लीलादि आभासमय है। इसकी स्थिति निराभास चिन्मात्र में है, जिसका देवी परा परमेश्वरी के रूप में, शाक्तागम में, वर्णन किया जाता है।

कालगत सब वैचित्र्य संवित् के अधीन हैं। लय तथा उदय भी संवित् के स्वातन्त्र्य से होते हैं। ये क्रियास्वरूप हैं और इच्छामात्र में प्रतिष्ठित हैं। यह क्रिया-शक्ति बाह्य दृष्टि से कालशक्ति कही जाती है। कालशक्ति का कोई नियत रूप नहीं है। जहाँ एक क्षण की मात्रा का स्फुरण होता है वहीं एक वर्ष का भी स्फुरण होता है।

ब्रह्मा ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं, यह हम पहले कह चुके हैं। अपने परिमाण से सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु है। उसके अन्त में ब्रह्मा का देहपात हो जाता है। इसी का नाम ब्रह्माण्ड का नाश है। ब्रह्मा की पूरी आयु वास्तव में विष्णु का एक दिन-मात्र है। इसी प्रकार विष्णु का विनाश अपनी आयु के पूरे सौ वर्ष बीतने पर होता है। पूर्ववत् विष्णु की पूरी आयु रुद्र का एक दिनमात्र है। रुद्र की भी आयु अपने मान से सौ वर्ष की है। रुद्र का देहावसान हो जाने पर ब्रह्माण्ड का विनाश हो जाता है। उस समय कालाग्नि रुद्र कालतत्त्व में लीन होते हैं। इसी प्रक्रिया के अनुसार जल तत्त्व से लेकर प्रकृति या अव्यक्त तत्त्व पर्यन्त दिन-रात्रि का विभाग है। इससे यह सिद्ध होता है कि छत्तीस हजार बुद्धितत्त्वस्थित ब्रह्मा के सृष्टि-प्रलय अव्यक्त का एक दिनमात्र है। उसी प्रकार अव्यक्त का रात्रिमान भी समझना चाहिये। अव्यक्त का अर्थात् अव्यक्तवासी रुद्र का जो दिनमान है, वह कहा जा चुका है। यह ब्रह्मा

बुद्धितत्त्वस्थ हैं, सत्य लोकस्थ नहीं हैं। अतएव गुणतत्त्वगत शतरुद्रों के दिनान्त में बुद्धितत्त्वस्थ ब्रह्मा का संहार होता है। रुद्र के दिन के आरम्भ में ब्रह्मा की सृष्टि होती है। रुद्र के एक वर्ष में ३६० ब्रह्माओं के सर्ग और संहार हो जाते हैं। इसीलिए रुद्र की सौ वर्ष की आयु में छत्तीस हजार ब्रह्माओं के जन्म और लय होते हैं। यह अव्यक्त का एक दिन है जैसे पहले कहा जा चुका है। अर्थात् गुणतत्त्वस्थ रुद्रोंके सौ वर्ष अव्यक्त रुद्रोंके एक दिन के बराबर हैं। इसी प्रकार शक्तिपर्यन्त समझना चाहिये। अव्यक्त में सृष्टि और संहार साक्षात् श्रीकण्ठ करते हैं, ब्रह्मादि द्वारा नहीं कराते।

प्रकृतिगर्भस्थ सब अधिकारी पुरुष ही अर्थात् ब्रह्मादि तत् तत् भुवनेश्वररूपी रुद्र अव्यक्त या मूल प्रकृति में श्रीकण्ठ के साथ रहते हैं। प्रजा, प्रजापति, पितृगण, मनु, ब्रह्मवादी, सांख्य सिद्ध आदि सब वहीं रहते हैं। ब्रह्मा में परशक्तिपात न होने पर ब्रह्मा की अवस्थिति भी ऐसी ही है और परशक्तिपात हो जाने पर ब्रह्मा को परा-मुक्ति प्राप्त हो जाती है। बुद्धि का निम्न भूमियों में कर्म निवृत्त हो चुका रहता है, इसलिए ब्रह्मा उस समय भोगहीन रहते हैं अर्थात् भोक्तृभाव से नहीं रहते। यह अज्ञानावस्था की बात है, ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने के कारण अधिकार-निवृत्ति हो जाती है और शिवत्व-लाभ हो जाता है। जितने भुवनेश्वर हैं उन सभी के विषयमें यही बात है।

यह अवान्तर प्रलय की बात है। ब्रह्माण्ड-लय की बात पहले कह चुके हैं। प्रकृत्यण्ड लयकी बात आगे कही जायगी। अव्यक्त की जो रात्रि है, उसीका नाम अवान्तर प्रलय है। आगम का मत है कि सांख्य आदि के विज्ञान से जिन लोगों ने सिद्धि प्राप्त की है, उनका परम मोक्ष न होने के कारण, अव्यक्त का अभिनव दिन आरंभ होने के साथ ही उन्हें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। श्रीकण्ठ स्वयं ही इन लोगों की सृष्टि करते हैं। श्रीकण्ठ की अव्यक्त के शत वर्ष की आयु है, यह नियतिवासी देवताओं का एक दिन-मात्र है। बुद्धिस्थ ब्रह्मा की सृष्टि और लय ७२०००३६० बार होने पर श्रीकण्ठ की आयु पूर्ण होती है। नियतिस्थ वामदेव आदि के सौ वर्ष काल-तत्त्ववासियों का एक दिन है। कालतत्त्ववासियों के सौ वर्ष रागतत्त्व का एक दिन है। रागतत्त्व के सौ वर्ष विद्यातत्त्व का एक दिन है। विद्यातत्त्व के सौ वर्ष कलातत्त्वका एक दिन है। कलातत्त्व के सौ वर्ष मायातत्त्व का एक दिन है अर्थात् मायास्थित महादेव आदि का एक दिन है। जब माया का दिन समाप्त होता है तब विश्व माया में लीन हो जाता है। मायानिशा का अवसान होने पर गहनेश सृष्टि करते हैं। अतएव दस परार्द्धगुण अव्यक्त के वर्षों से माया का एक दिन होता है। माया की रात्रि का परि-माण भी उतना ही है। एक सौ परार्द्धकाल मायाकाल से ईश्वर का एक दिन होता है। ईश्वर प्राणात्मा या प्राणप्रमाता स्वरूप हैं, क्योंकि वह बहिरुन्मेषरूपी हैं और नाद उनका स्वभाव है। ईश्वर की रात्रि बीतने पर जो सृष्टि होती है उसके कर्ता स्वयं ईश्वर हैं। ईश्वर की रात्रि में प्राण का उपशम हो जाता है तथा अहन्ता में विश्राम होता है। ईश्वर की रात्रि का भेद हो जाने पर प्राण की प्रधानता निवृत्त हो जाती है।

यह प्राण नादरूपी है यह पहले कहा जा चुका है। इस अवस्था में नादात्मक प्राण का उपशम तो होता ही है, साथ ही साथ बिन्दु आदि संवित् भी शान्त हो जाती है। इस अवस्था में—

'प्राणगर्भस्थमप्यत्र विश्वं सौषुम्णवर्त्मना।
प्राणे ब्रह्मबिले शान्ते संविदप्यवशिष्यते॥
अंशांशिकालोप्येतस्याः सूक्ष्मसूक्ष्मतरो लयः।'

एक सौ परार्द्ध ईश्वरकाल से सदाशिव का एक दिन होता है। उनकी रात्रि का परिमाण भी उतना ही है। सदाशिव की रात्रि ही वास्तव में महाप्रलय है। उस समय शुद्ध अध्वा का भी संहार हो जाता है। सदाशिव अपने काल के अन्त में बिन्दु, अर्धचन्द्र तथा निरोधिका का अतिक्रमण करते हुए चराचरग्रहणपूर्वक नाद में लीन होते हैं। नादान्तवृत्ति द्वारा अर्थात् नादान्त भूमि प्राप्त कर अकस्मात् ब्रह्मबिल का भेदकर (सुषुम्णा मार्ग से) अपने काल के अन्त में शक्तितत्त्व में लीन हो जाते हैं। शक्तितत्त्व का एक रात्रिदिन सदाशिव की आयु का परिमाण है अर्थात् सदाशिव की जो आयु है वही शक्तितत्त्व का एक दिन है। अपने काल के अन्त में शक्ति व्यापिनी में लीन हो जाती है। शक्तिलय का काल व्यापिनी का एक रात्रिदिन है। व्यापिनी का लय अनाश्रित में होता है। एक करोड़ परार्द्ध शक्तिकाल अनाश्रित का एक दिन है। परन्तु अनाश्रित भी अपने मान से एक परार्द्ध काल तक स्थित रहते हैं। उसके पश्चात् समना में उनका लय हो जाता है।

समना का यह पद 'साम्य' नाम से प्रसिद्ध है। यह साम्यरूप काल नित्य है। यह समना शक्तिरूपी है। महाप्रलय में भी समना शक्ति का नाश नहीं होता, इसी लिए यह नित्य है। इसे साम्य कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें पृथ्वी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त ३६ (छत्तीस) तत्त्वात्मक विश्व अभिन्न रूप होकर रहता है। यहाँ भेद का स्फुरण नहीं होता तथा किसी प्रकार की कलना भी नहीं रहती। जब शक्ति पर्यन्त विश्व का संहार हो जाता है तब अणु एक साथ समना में जाकर रहने लगते हैं। यही व्यापकतम साम्य है। यही परब्रह्म भी कहा जाता है। वस्तुतः यह साम्यरूपी काल है जो जन्ममृत्युरूपी भय का नाश करता है।

समना के ऊपर काल का भान नहीं हो सकता, वह नित्योदित परम स्थिति है। साम्यकाल से ही निमेष और उन्मेष के क्रम से त्रुटि से परार्द्धपर्यन्त प्रसर या विस्तार होता है। उन्मेष होता है ईश्वर अवस्था के अधिष्ठान से और निमेष होता है सदाशिव अवस्था के अधिष्ठान से। शक्तिपर्यन्त महाप्रलय हो जाने पर भी अणुओं को शिवत्व-लाभ नहीं होता। सभी अणु उस समय समना में स्थित हो जाते हैं, इसीलिए मुक्ति नहीं होती, क्योंकि समना तक ही पाशजाल है। समना नित्य है और शिव भी नित्य हैं, फिर भी भेद में हानि नहीं होती, क्योंकि सृष्टि, प्रलय आदि व्यापार भेद के आश्रय से होते हैं।

सामरस्य या महामिलन

(१)

"सामरस्य" शब्द से साधारणतः साम्य या समभाव की प्रतीति होती है। दो या बहुत भाव जिस दृष्टि से भासते हैं, उसी दृष्टि से दो या बहुत भाव नहीं भी भास सकते हैं। एक से अधिक सद् वस्तुओं का स्वीकार करने पर ही उनमें अवस्थाभेद से वैषम्य और साम्य दोनों ही स्वीकार करने पड़ते हैं। वैषम्य पूरा हो सकता है, आंशिक भी हो सकता है और वैषम्य बिलकुल ही नहीं, ऐसा भी हो सकता है। वैषम्य जिस अवस्थामें नहीं रहता वही अवस्था साम्य के नाम से अभिहित होती है। वैषम्य के साथ-साथ तरङ्ग का उदय होता है, वैषम्य के अभाव में निस्तरङ्ग शान्त भाव से स्थिति होती है। किन्तु ये दोनों ही आवर्तनशील अवस्थाएँ हैं—वैषम्य के बाद साम्य और साम्य के बाद वैषम्य कालचक्र के आवर्तन से अपने आप उदित होते हैं। इसका हेतु यह है कि साम्य के भीतर वैषम्य का बीज निहित रहता है, इसलिए वह बीज समय पाकर अङ्कुरित होने लगता है तभी साम्य-भङ्ग हो जाता है। काल की परिणति से बीज पक्व होता है और क्रमशः स्थूलता ग्रहण करने के कारण वैषम्य का आविर्भाव होता है—सृष्टि इसी का नामान्तर है। वैसे ही वैषम्य के अन्दर साम्य-बीज भी रहता है—इसलिए किसी-न-किसी समय वह बीज पक्व होकर साम्य के उदय का कारण बनता है। इसी का नाम प्रलय या संहार है।

दोनों ही स्थलों में स्थिति का अभाव है। किन्तु स्थिति भी है। सृष्टि और प्रलय के बीच में एवं प्रलय और सृष्टि के मध्य में स्थिति बिन्दु है। निश्वास-प्रश्वास की गति के अन्त में जैसे भीतर और बाहर एक श्वासहीन निस्तब्ध भाव रहता है, जिसकी आकाश से उपमा होती है एवं जिसे पाने के लिए योगी लोग कुम्भक का आश्रय लेते हैं अथवा जो स्वतः उदित कुम्भक के रूप में अपने को प्रकट करता है (भीतर और बाहर) उसी प्रकार सृष्टि और संहार की प्रान्तभूमि में जो स्थितिबिन्दु है उसे पकड़ने के लिए साधक की सभी चेष्टाएँ प्रयुक्त होती हैं। इन दो बिन्दुओं के मध्य में एक गहरा आकर्षण का खेल है जिसके प्रभाव से एक दूसरे को निरन्तर खींच रहा है।

इस आकर्षण के रहते भी दोनों में परस्पर मिलन नहीं होता। क्योंकि आकर्षण के अनुरूप विकर्षण शक्ति भी साथ-साथ क्रिया करती है, इसलिये दोनों के मध्य का व्यवधान हटता नहीं है। उदाहरण स्वरूप क और ख नाम के दो बिन्दुओं के बीच में आकर्षण और विकर्षण का खेल ग्रहण किया जा सकता है। मानो क ख को अपनी ओर खींचता है, किन्तु ठीक उसी समय ख क का

विकर्षण करता है या उसे ठेलता है। अतः क ख को खींचकर स्वयं अपने स्थान पर नहीं रह सकता, दूर चला जाता है। वैसे ही जब ख क को अपनी ओर खींचता है तब क उसका विकर्षण करता है, इसलिए ख भी अपने स्थान से दूर हट जाता है। किन्तु अधिक दूर जा नहीं सकता, फिर क उसको खींचता है। निरन्तर यह व्यापार चलता रहता है। यही प्रकृति के राज्य में गुणों का खेल है। प्राणी के शरीर में अजपा के मध्य इसका परिचय पाया जाता है। इस खेल का विस्तार विश्वव्यापी है। इसके बाहर जाना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है।

किन्तु बाहर जाने का उपाय क्या है? उपाय है दोनों बिन्दुओं के मध्य एक साथ आकर्षण क्रिया का उन्मेष अथवा एक बिन्दु के आकर्षण के समय दूसरे बिन्दु की विकर्षणक्रिया को बन्द रखना। दोनों ही कियायें फलप्रद हैं। परन्तु दोनों में भेद है। प्रथम उपाय से मध्य बिन्दु की प्राप्ति होती है, इसलिए अव्यवहितरूपसे योग संघटित होता है। किन्तु द्वितीय उपाय से जरा व्यवधान से क्रमशः योग संघटित होता है। अर्थात् प्रथम उपाय से क और ख परस्पर आकृष्ट होकर बीच में सफलता प्राप्त करते हैं। यही योग है। इसमें किसी को भी प्रधानता नहीं रहती, इसलिए यह निरपेक्ष समता है—दोनों ही समान हैं। दूसरे प्रकार में क ख का आकर्षण करते समय यदि अपने स्थान से विचलित न हो तो क और ख का योग सिद्ध होता है तब व्यवधान हट जाता है। किन्तु यह गुण और प्रधान भाव से रहित न होने के कारण सापेक्ष समता है। पर एक बार क की प्राधान्यनिमित्तक समता के बाद दूसरी बार ख की प्राधान्यनिमित्तक समता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बार बार होते रहने पर चरम अवस्था में दोनों का प्राधान्य या अप्राधान्य समान हो जाता है, इसलिए निरपेक्ष साम्य आविर्भूत होता है, यही सामरस्य है।

इस समरस अवस्था को अद्वय अवस्था भी कहा जाता है। क्योंकि तब दो या बहुतों का वैषम्य या भेद तो रहता ही नहीं, वैषम्य का बीज भी नहीं रहता। यह चिदानन्दमयी अद्वैतनिष्ठा है, इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु इसकी भी परावस्था है। उसको किसी नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। वह बुद्धि के अतीत, विचार के अतीत, ध्यान के अतीत, अव्यक्त और स्वयंप्रकाश है। वह निर्विकल्प निरुत्थान निर्द्वन्द्व स्थिति है।

(२)

इस बात को प्रकारान्तर से और भी साफ करके कहता हूँ। पूर्ण सत्य के सम्बन्ध में मनुष्य की भाषा से कुछ कहना बनता नहीं। किन्तु यदि कहना ही हो तो उसे स्वातन्त्र्यमय अखण्ड प्रकाश के सिवा और कुछ कहना सम्भव नहीं है। वह सर्वातीत और सर्वात्मक है, उसमें कुछ भी नहीं और सब कुछ है। वस्तुतः वह कुछ नहीं और वही सब कुछ है। सब देशों में और सब कालों में महापुरुषों ने उसके सम्बन्ध में डर डर कर चर्चा की है, यहाँ तक कि उसका वर्णन करने में वेद भी चकित होते हैं—

"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।"

परब्रह्म, परशिव, पूर्ण आदि शब्दों द्वारा उसे लक्ष्य किया जाता है। सर्वत्र ही वह है, गुप्त रूप से मनुष्य के शरीर में भी है। गुप्तरूप से है इसलिए कह रहा हूँ कि जहाँ वह है वहाँ वह वही होकर है। वह कुल, गोत्र, जाति और वर्णमय होकर भी उनसे रहित है। पिण्ड में स्थित परब्रह्म का पिण्ड से अलग कर वर्णन नहीं किया जा सकता। निष्कल और सकल सभी तत्त्व उसमें हैं, सभी वही हैं। इन सब को नित्य लीला के रूप से जब वह प्रकट करते हैं तब उनमें इच्छा का आविर्भाव होता है। यह इच्छा इच्छाहीन की इच्छा होने से वास्तव में स्वातन्त्र्य का ही विलासमात्र है।

इस महाघन तत्त्वातीत तत्त्व में तब शक्ति या चित्-शक्ति प्रकट होती है। यह निरंश की नित्य अंश स्वरूप है और अंश भी उसे कहा नहीं जा सकता। यही प्रसिद्ध शिव-शक्ति का स्तर है, जहाँ निराकार मायाहीन परम तत्त्व अपने स्वरूप में विराजमान रहते हैं।

तत्त्वातीत स्थिति का वर्णन कोई कर नहीं सकता। तब अपने को स्वयं देखा-सा नहीं जाता, पहिचाना भी नहीं जाता—महाशून्य भी तब नहीं रहता, कोई भी नहीं रहता, यहाँ तक कि महा इच्छा भी नहीं-सी रहती। इसके पश्चात् इच्छा का उन्मेष होनेमात्र से आत्मा के आभ्यन्तर स्थल से चिद्‌विभूति या चित् शक्ति का विकास होता है। चित् शक्ति से क्रमशः पाँच शुद्ध तत्त्व, अष्ट तनु और अण्ड, ब्रह्माण्ड आदि कालकल्पित प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

पर शिव से चित् शक्ति का आविर्भाव किस प्रकार होता है यह बहुत लोगों के लिए एक समस्या है। योगी लोग कहते हैं, परम शिव में स्वातन्त्र्यरूप निराकार जो परा शक्ति है उसके साथ पर शिव के अभिन्न संयोग से चित् शक्ति का आविर्भाव होता है। चित् शक्ति विश्वजननी है, 'अहम्' की भी जननी है। यह 'अहम्' चिदणु, चिदंश और शिवशरण है एवं 'त्वम्' चित् शक्ति है अथवा 'अहम्' की जननी है।

सृष्टि के पहले एकाकी परम शिव शब्दहीन थे, यह शिवज्ञानयुक्त शिवशरण अपनी ज्ञानदृष्टि से देख पाता है एवं अपने को पर शिव के रूप में समझता है और जानता है। वहाँ शब्द नहीं है। उसके बाद अपने को "मैं शिव हूँ" यों समझ सकता है और देख पाता है। यह ज्ञानदृष्टि अपनी आनन्दावस्था है। इस स्थिति में शिव हुए अंशी, जो शरण या अंश को देखते हैं एवं शरण हुआ अंश जो शिव या अंशी को देखता है—मूल है ज्ञानदृष्टि जो एक और अभिन्न है।

अब भी आत्मा का शरीर हुआ नहीं—आत्मा इस समय में भी अशरीरी एवं स्वयं निर्मल शिवांश है, जिसमें देहबीज नहीं है। कारण के बिना ही देहसम्बन्ध स्वप्न की तरह हो गया। विस्मृति से शिव और उनके अंशभूत आत्मा को भूलने के कारण ऐसा हुआ—जो पहले 'शिवोऽहम्' भाव था उसकी विस्मृति हो गई एवं 'देहोऽहम्' भाव का उदय हो गया। वस्तुतः आत्मा जो शिव का अंश है, उसके भूलने के कारण ही देह आदि की उत्पत्ति हुई है। परम शिवतत्त्व बिन्दु के अतीत है, चित् भाव बिन्दु है। बिन्दु उत्पन्न होकर ही स्पन्दित होता है—ऊपर अथवा नीचे की ओर। चित् और ऊपर की ओर गमन करने वाले बिन्दु के योग से सब तत्त्व गर्भस्थ होते हैं—चित् से

प्रपञ्च का उदय होता है। सृष्टिकाल में अपने स्वाभाविक पिण्ड अथवा काया को भूल कर मिथ्या पिण्ड धारण कर एक जीव जन्मग्रहण करता है। यह जीव मिथ्या पिण्ड में, ज्ञानी हो कर भी, अपने स्वरूप को भूल जाता है। तब इस मिथ्या पिण्ड में अभिमान होता है, बाद में परब्रह्म को खोजना आरम्भ करता है। किन्तु इसे भी खण्डित ज्ञान जानना चाहिये। तब पर ब्रह्म आत्मा में व्याप्त होते हैं अथवा प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्बभाव पर ब्रह्म को निगल डालता है। इस प्रकार माया का प्रभाव बढ़ता है। जन्म जन्मान्तर इसी तरह कट जाते हैं। अन्त में वैराग्य प्रबल और विवेक उज्ज्वल होने पर सद्गुरु की कृपादृष्टि उसके ऊपर पड़ती है। जो जीव कारण से सूक्ष्म होकर स्थूल में पतित हुआ था अब उसके सामने उद्धार का मार्ग खुल गया।

मार्ग क्या है? जीव आत्मविस्मृत होने पर भी वास्तव में चित्-शक्ति का ही अंश है, इसलिए वह चिदणु है। वह मायाराज्य में जड़भाव में डूब गया है, फिर उसे उसी चित्शक्ति में लौटना होगा। एक ओर शिव और उनकी शक्ति है, दूसरी ओर जीव और उसकी शक्ति है। सद्गुरु की कृपा से जीवशक्ति जाग्रत् होकर भक्ति के रूप में परिणत होती है और ऊर्ध्वमुख होकर प्रवाहित होती है। कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर मध्यमार्ग का अवलम्बन कर स्वतः ही ऊर्ध्व की ओर संचालित होती है। ज्ञान और भक्ति का विकास वास्तव में इस ऊर्ध्वमुखी शक्ति के विकास का ही नामान्तर है। यह विकास स्तर स्तर पर संघटित होता है।

शिव और जीव का मिलन तथा दोनों शक्तियों का मिलन ऊर्ध्वमार्ग में चलते चलते प्रत्येक स्तर में होता है। जितना ही ऊपर उत्थान होता है उतना ही जीव और आत्मा का व्यवधान कट जाता है एवं दो शक्तियों के व्यवधान का भी ह्रास हो जाता है। अन्त में सामरस्य भाव का उदय होता है। तब जीव की भक्तिरूपा शक्ति शिव की चित्शक्ति के साथ समानरूप से मिल जाती है। इस भक्ति का नाम समरसा भक्ति है—श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव और आनन्द के बाद यह समरसभाव उदित होता है। जीव तब जीव रह कर भी शिव के समान होता है। यही महायोग या सामरस्य है। जीव शिव में लीन नहीं होता, भक्ति भी शक्ति में लीन नहीं होती। सभी रहते हैं। जीव शिव होता है फिर भी वह जीव ही है। भक्ति शक्ति हो गई फिर भी वह भक्ति है। इसी का नाम सामरस्य है। ईसाइयों के धर्मशास्त्र में जिस अवस्था को Communion कहते हैं, Mystic गण जिसे orison, unitive life आदि नामों से पुकारते हैं वह सामरस्य का ही आभास है ऐसा प्रतीत होता है। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता, मुक्ति भी नहीं रहती, रहती है एकमात्र सामरस्यरूपा भक्ति—स्वयंप्रकाश अद्वय रसतत्त्व। यह एक ही सत्ता का प्रकाश है, इसलिए यह ज्ञान है। पर इसमें पृथक् भाव का आस्वादन रहता है, इसलिए यह भक्ति रस है। यह अद्वैतभक्ति अवस्था है। इससे महाप्रसाद का उदय होता है—तब समग्र विश्व आत्मरूप से प्रतिभासित होता है। महात्मा लोग कहते हैं—

कर्ता कारयिता कर्म करणं कार्यमेव च।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात्॥

भोक्ता भोजयिता भोग्यो भोगोपकरणानि च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥
जीवात्मा परमात्मा च तयोर्भेदश्च भेदकः ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥

इत्यादि सामरस्य की महिमा है ।

(३)

सामरस्य की मूल बात यह है कि सब कुछ रहता है, पर एकमात्र रहता है। यह लय नहीं है; निर्वाण भी नहीं है। ईसाइयों की Trinity का साक्षात्कार वस्तुतः इस सामरस्य की आंशिक उपलब्धि के सिवा और कुछ नहीं है। सन्त Teresa को श्रीभगवान् के विशेष अनुग्रह से यह उपलब्धि प्राप्त हुई थी एवं स्वयं इसका वर्णन करने की उन्होंने चेष्टा भी की है कि पहले उनके निकट एक विराट् प्रकाश आविर्भूत हुआ (An illumination which shines like a most dazzling cloud of light)।[१] इसके बाद Trinity के तीन व्यक्ति (Person) अलग अलग प्रकाशित हुए। साथ ही साथ द्रष्टा आत्मा में अर्थात् St. Teresa के हृदय में यह बोध पैदा हुआ कि ये तीन व्यक्ति एक अखण्ड सत्ता से सत्तावान् हैं—एक शक्ति, एक बोध और एक ही भगवत्ता (All three Persons are of one Substance, Power and Knowledge and are one God)। यह दर्शन (imaginary) नहीं है।

प्रसिद्ध रहस्यवेत्ता Henry Suso (Meister Eckhart के शिष्य) ने आत्मा और परमात्मा के मिलन अथवा सामरस्य की बात कही है। परमात्मा मानो कह रहे हैं—"I will kiss them (the suffering saints) affectionately and embrace them so lovingly that I shall be they and they shall be I, and we two shall be united in one for ever." अन्यत्र लिखा है—"The essence of the soul is united with the essence of the Nothing and the powers of the soul with the activities of the Nothing."[२]

---

१. यह दर्शन और St. Faul, Moses आदि के दर्शन ठीक एक प्रकार के नहीं हैं। St. Paul आदि के दर्शन का स्वरूप (Essence) क्षणिक दर्शन है—पर स्पष्ट और अव्यवहित (intuitive) है। इस Mystery का ज्ञान अति दुर्लभ है—अत्यन्त विरल किसी किसी विशिष्ट आत्मा को भगवान् इसका प्रदान करते हैं। यह अत्यन्त उज्ज्वल आलोक है। यह किसी सृष्ट रूप में (Created Species) नहीं होता। यह सन्त टेरेसा (Teresa) के मत में intellectual है, imaginary नहीं है।

२. "The Little Book of the Truth" Ed. J. M. Clark, p. 196. यह जंगम शिवयोगी के लिङ्गाङ्गसंयोगवत् है, जिसमें अङ्ग (आत्मा) लिङ्ग (परमात्मा) के साथ और भक्ति चित् शक्ति के साथ सामरस्य को प्राप्त होती है। द्रष्टव्य मायिदेवकृत 'अनुभवसूत्र'।

(४)

सामरस्य की प्रक्रिया आगमों में वर्णित है। सांख्य और वेदान्त में विवेक-पूर्वक आत्मा की स्वरूपस्थिति की बात है। सांख्य में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अथवा प्रकृति से पुरुष का अन्यताज्ञान सिद्ध होने पर पुरुष अपने चित्स्वरूप में स्थितिलाभ करता है। वेदान्त में माया से छुटकारा प्राप्त होने के साथ साथ ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती है। सामरस्य की साधना इसमें नहीं है। किन्तु आगम में है। आगम-मत में शिव अखण्ड अविभक्त प्रकाश हैं एवं शक्ति उस प्रकाश की आत्मविश्रान्ति अर्थात् अपने को पहिचानना है। आत्मविमर्श ही शक्ति है। शक्ति से विमुक्त भाव में शिव प्रकाशमात्र होकर भी एक प्रकार से अप्रकाश हैं, क्योंकि उनकी प्रकाशमानता ही स्वप्रकाशत्व है। शक्ति अथवा वाक् के बिना वह सिद्ध नहीं होती। विश्व का वैचित्र्य ग्राह्य और ग्राहक के वैचित्र्य से है। सदाशिवतत्त्व में ग्राह्य विश्व परापर है; क्योंकि यहाँ अहन्ता अत्यन्त प्रबल है, किन्तु इदन्ता किञ्चिन्मात्र उन्मेष को प्राप्त है और अहन्ता द्वारा आच्छादित है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं, इनके अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव हैं। ईश्वरतत्त्व में ग्राह्य विश्व में इदन्ता और अधिक परिस्फुट है एवं वहाँ अहन्ता का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। इस स्थल में अहन्ता और इदन्ता का सामानाधिकरण्य ही प्रकट होता है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रेश्वर कहते हैं, इनके अधिष्ठाता ईश्वर है। यहीं तक अभेद है। इसके बाद शुद्ध विद्या-पद में ग्राह्य विश्व भी भेदप्रधान (भेदैक-सार) है और ग्राहक या प्रमाता भी वैसा ही है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्र कहते हैं। इन सब प्रमाताओं की अधिष्ठात्री शुद्ध विद्या है। भेद के प्रभाव से मन्त्रों में भी असंख्य शाखा-भेद और अवान्तर भेद विद्यमान हैं। ऊपरी जगत् में प्रमाताओं की संख्या बहुत रहने पर भी वर्गीकृत भाव रहता है, इसलिए प्रमाता बहुत होने पर भी वे एक वर्ग के अन्तर्गत रहते हैं, यहाँ वैसा नहीं है। किन्तु यहाँ भी भाषा का प्रभाव नहीं है। इसके बाहर एक राज्य है, जहाँ विज्ञानाकल जीव (अणु) अवस्थित हैं। वहाँ भी माया नहीं है। वह कैवल्यस्थिति है। वहाँ जो आत्मा रहते हैं, उनमें कर्तृत्व नहीं है—वे शुद्ध बोधस्वरूप हैं। शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्व में कर्तृत्व का उन्मेष और क्रमविकास है। शिवतत्त्व में उनकी पूर्णता है। माया में अवतीर्ण होने के पहले ही कर्तृत्व शून्य हो जाता है, शुद्ध बोधमात्र रहता है। बाद में वह भी चला जाता है। सकल और प्रलयाकल नामक पूर्ववर्ती अवस्थाओं में जो प्रमेय है यहाँ भी वही है। यहाँ प्रमाता बहुत होने पर भी प्रमेय एकाकार है। नीचे ही माया-भूमि है। वहाँ के प्रमाता प्रलयकेवली हैं, वे शून्य के प्रमाता हैं। उनका प्रमेय भी प्रलीनकल्प है। यह विदेह और विकरण (करणरहित) अवस्था है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल—दोनों ही प्रकार के जीव देह, इन्द्रिय आदि से शून्य हैं। पर प्रलयाकल में कर्मवासना रहती है, इसलिए नूतन सृष्टि में फिर ये सब अणु यथायोग्य देह और इन्द्रियाँ प्राप्त कर संसारी के रूप में विचरण करते हैं। किन्तु विज्ञानाकल अणुओं में कर्मवासना नहीं रहती, उन्होंने विवेकज्ञान के बल से वह

अवस्था प्राप्त की है। विज्ञानाकल और शुद्धाशुद्ध नाना प्रकार के निम्न स्तरों के केवली जीवों ने प्रकृति से अपना भेद-ज्ञान प्राप्त किया है, मध्यस्तर के केवलियों ने प्रकृति और माया दोनों से एवं उच्च अथवा शुद्ध स्तर के केवलियों ने महामाया से भी अपनो भेद-ज्ञान प्राप्त किया है। अचिन्मिश्रता के तारतम्य से इस प्रकार का भेद हुआ करता है। शुद्ध विज्ञानकैवल्य ही अचित् से पूर्ण मुक्ति है। किन्तु पूर्ण मुक्त होने पर भी ये किसी भी परमेश्वर के पथ के पथिक नहीं हैं। इन्हें किसी भी परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त हुआ नहीं, जिससे पशुत्व की निवृत्ति होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति हो सके। ये ही किसी-किसी जगह निरञ्जन पशु के नाम से अभिहित हुए हैं। क्षुब्ध माया से उद्भूत कलादि पृथिवी पर्यन्त ३० तत्त्वों में जो भुवन विद्यमान हैं, उनके भीतर जो जीव हैं वे सबके सब सकल—अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि से विशिष्ट हैं। ये सब जीवरूपी प्रमाता परस्पर भिन्न हैं, ये सभी परिमित हैं और आवरण से घिरे हैं। इनका प्रमेय भी वैसा ही है। यहाँ तक जो कुछ कहा गया है इस सबको लेकर ही विश्व है। अर्थात् पृथिवी से सदाशिव पर्यन्त जो तत्त्व हैं उनका आश्रयण कर नाना प्रकार के प्रमाता हैं तथा उनके अनुरूप प्रमेय भी हैं। इनकी समष्टि ही विश्व है। किन्तु विश्व के ऊपर भी आत्मा की स्थिति है, वह विश्वोत्तीर्ण शैवी स्थिति है। वहाँ सब कुछ प्रकाशात्मक है, सभी भाव प्रकाशात्मक हैं। केवल प्रकाश ही प्रकाश है। वैचित्र्यरूप विश्व दिखाई नहीं देता।

यही शिव का स्वरूप है। परमशिव इस शिव की ही परम स्थिति का नाम है। किन्तु उनमें विशेषता यह है कि वे शिव की तरह केवल विश्वातीत नहीं हैं, विश्वातीत होते हुए भी साथ ही साथ विश्व से अभिन्न हैं। वे एक साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक दोनों ही हैं। शिवात्मक प्रकाश मानो तरल है, परम शिवरूप प्रकाश मानो घनीभूत है, इसीलिए परमानन्दमय जो घनीभूत भाव है उसी के कारण प्रकाश आनन्द के रूप में भासता है। यह सामरस्य की अवस्था है। शुद्ध शिवावस्था में प्रकाशमात्र रहता है, शक्ति के साथ योग न होने के कारण यह विश्वातीत स्थिति है। विश्व शक्ति का ही विजृम्भण है। शिवप्रकाश उसके अतीत है। किन्तु परम शिवावस्था में शक्ति के साथ पूर्णयोग रहता है—दोनों ही तब समप्रधान, समरस, समात्मक हैं। शिव शक्ति से अलग नहीं हैं, शक्ति भी शिव से अलग नहीं है—दोनों में ही दोनों रहकर भी एकरस हैं। इस अवस्था में सदाशिव से पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वमय विश्व और विश्व के अतीत शिव अखिल सत्ताओं के अभेद से स्फुरित होते हैं। अर्थात् ग्राह्य अथवा ग्राहक कुछ भी उस सामरस्य में वस्तुतः अलग नहीं रहता। तब ज्ञात होता है कि एकमात्र परम शिव ही अनन्त विचित्र आकारों में स्फुरित हो रहे हैं। वे ही शिव हैं, वे ही शक्ति हैं, वे ही ऊर्ध्व हैं, वे ही अधः है, जानना भी वे ही हैं, न जानना भी वे ही हैं, अणु भी वे ही हैं, महान् भी वे ही हैं, वे ही मैं हूँ। शिव-शक्ति का सामरस्य ही पूर्ण स्थिति है। यही परम प्रसाद है, जिसके प्राप्त होने पर सब कुछ अपना हो जाता है।

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। यह मधु ही मधुविद्या का परम लक्ष्य है।

(५)

यह सामरस्य ही नित्योदित समाधि है। समाधि प्राप्त होने पर भी पहले सामरस्य नहीं आता, पर एक बार समरसता प्राप्त होने पर व्युत्थान दशा में भी समाधि रस का संस्कार रहता है, जिसके प्रभाव से सर्वदा ही मानो एक आनन्द का नशा रहता है। तब की दशा आनन्द की घूर्णि है। तब प्रतीत होता है मानो जगत् की अनन्त भावराशियाँ शरत्काल के मेघ के तुल्य चिदाकाश में लीन हैं। व्युत्थान-काल में भी पुनः पुनः अन्तर्मुख भाव आते हैं। उन्मीलन समाधि से निमीलन समाधि की क्रमधारा में चित्सत्ता के साथ ऐक्यबोध जागता है। इसके कारण तथाकथित व्युत्थान के समय भी समाधिरस में मग्नता रहती है। क्रममुद्रा का क्रम अन्तःस्वरूप है, इसलिए उसके बल से बहिर्मुख अवस्था में भी, विषयों में व्याप्ति रहते समय भी, समाविष्टता होती है अथवा परा शक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है। तब साधक परम योगावस्था को प्राप्त करते हैं। पहले बाहर से अर्थात् लीयमान विषय-राशि से भीतर में अथवा परम चिद्‌भूमि में प्रवेश होता है। बाद में आवेशवश भीतर से बाह्य स्वरूप में प्रवेश होता है अर्थात् इदन्ता विषयीभूत भाव में वमन के तुल्य प्रकाशन होता है। सृष्टि, स्थिति और संहारात्मक संवित्‌चक्रका ही क्रमरूप से वर्णन होता है। तुरीया चितिशक्ति इस क्रम को मुद्रित करती है अर्थात् स्वाधिष्ठित रूप से आत्मसात् करती है। वास्तव में यह क्रममुद्रा ही पूर्ण अहन्ता है। इसका तात्पर्य यह है कि चितिशक्तिरूप भीतर से साक्षात्कार के बाद समावेश के बल से इदंरूपी बाह्यरूप में अर्थात् विषयों में वमन के तुल्य प्रवेश होता है। इसमें विषयों में भी चित्‌रस की व्याप्ति प्रकट होती है, इसलिए भीतर बाहर दोनों ही समान हो जाते हैं। यही नित्योदित समाधि है। यह सामरस्य की ही अवस्था है। इसकी योगी जन मुद्राके रूप में व्याख्या करते हैं, इसका कारण यह है कि यह मुत् अर्थात् परमानन्द में स्थिति अथवा ह्लादप्रदान करती है और सब पाशों का द्रावण (विच्छेद) करती है (द्रा), विश्वके मध्य में तुरीय सत्ता में मुद्रण वश यह सृष्टि आदि का क्रम से आभास करती है।

(६)

शिव और शक्ति के सामरस्य के तुल्य गुरु और शिष्य का सामरस्य भी आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्य जिस प्रकार गुरुस्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है गुरु भी ठीक उसी प्रकार शिष्य-स्वरूप में विश्रान्त होते हैं। शिष्य जैसे गुरु में आत्मसमर्पण कर अपने को खो डालता है अथवा गुरु में स्थितिलाभ करता है ठीक वैसे ही गुरु भी शिष्य को आत्मसमर्पण करते हैं, तभी तो शिष्य गुरु-स्वरूपको प्राप्त हो सकता है। गुरु यदि अपने को त्यागें नहीं तो शिष्य गुरु को नहीं पा सकता और शिष्य यदि अपने को न त्यागे तो गुरु भी शिष्य को नहीं पा सकते। शिष्य के हृदय में जैसे गुरु आसीन रहते हैं वैसे ही गुरु के हृदय में भी शिष्य आसीन रहता है। यह सामरस्य अवस्था में पहुँचने की सीढ़ी है।

(७)

कामकलाविज्ञान में भी यह सामरस्यतत्त्व खूब स्पष्ट हुआ है। अग्नि और सोम परस्पर विरुद्ध हैं। अग्नि शोधन करती है, संहार करती है, किन्तु सोम आप्यायन करता है, सृष्टि करता है। अग्नि और सोम का संघर्ष स्वभावसिद्ध है। अग्नि कालरूपा संहार-शक्ति है, यह जब सोम पर आघात करती है तब सोमबिन्दु विगलित होकर चूता है। वैसे ही सोम जब अग्नि पर आघात करता है तब अग्नि इन्धन पाकर प्रज्वलित हो उठती है और रस का शोषण करती है। अग्नि का संहारकार्य अग्नि से साध्य होने पर भी सोम उसका सहायक होता है एवं सोमकी सृष्टि सोम से उत्पन्न होने पर भी अग्नि उसमें सहायक होती है। यह हुई वैषम्यमूलक संघर्ष की बात। सृष्टि में सोम की प्रधानता और अग्नि की गौणता है एवं संहार में अग्नि की प्रधानता और सोम की गौणता है। किन्तु जब अग्नि और सोम समप्रधान रहते हैं तब दोनों के ही तुल्यबल होने के कारण सृष्टि और संहार दोनों ही व्यापार स्थगित रहते हैं। यही स्थिति की अवस्था है। इसको रवि अथवा सूर्य कहते हैं। 'कामकला' का काम यह रवि है एवं कला अग्नि और सोम है। अतएव रवि को अग्नि तथा सोम को सामरस्य कहा जा सकता है। अग्नि और सोम का समसंघर्ष जहाँ है उसकी विपरीत दिशा में अर्थात् जिस दिशा में सूर्य अवस्थित है उसकी विपरीत दिशा में विषयसंघर्ष होने के कारण सृष्टि और संहार का खेल चल रहा है। इस ओर ही अर्थात् इस दिशा में ही हार्धकला का उन्मेष होता है और तत्त्वरचना का कार्य चलता है।

शास्त्र में लिखा है कि कामकला के श्वेत बिन्दु और रक्त बिन्दु दोनों में परस्पर विहार करने वाले शिव और शक्ति का निरन्तर संकोच (जगत् का सिकुड़ना) और प्रसार (जगत् की सृष्टि) रूप कर्म चल रहा है। इन दो बिन्दुओं से ही चार प्रकार की वाक् (वाणी) और ३६ प्रकार के तत्त्व रचे जाते हैं—षडध्वामय जगत् की रचना होती है। ये दो बिन्दु परस्पर अनुप्रविष्ट (अन्तर्गत) और पृथग्भूत हैं। ये दो बिन्दु ही कामकामेश्वरीरूप दिव्य मिथुन हैं। अनुत्तर या परमेश्वर स्वाङ्गभूत निखिलप्रपञ्चविलयरूप विमर्शशक्ति में अनुप्रविष्ट होकर बिन्दुत्व को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर वह विमर्शशक्ति भी स्वान्तर्गत प्रकाशमय बिन्दु में अनुप्रवेश करती है। तब बिन्दु घनीभूत होता है, फूलता है। उस बिन्दु से नाद का आविर्भाव होता है। इसके गर्भ में समस्त तत्त्व रहते हैं। वह तेजोमय, बीजरूप और केश के अग्रभाग की तरह सूक्ष्म है। नाद बाहर निकलकर त्रिकोणाकार धारण करता है। इस प्रक्रिया से प्रकाश होता है बिन्दु और विमर्श होता है नाद एवं इन दोनों का शरीर होता है 'अहम्'। इनके दो रूप हैं—विमर्श रक्त बिन्दुरूप है और प्रकाश शुक्ल बिन्दुरूप है। दोनों के मिलन से मिश्ररूप उत्पन्न होता है। यह सर्वतेजोमय परमात्मा है, यही रवि है, कमनीय होने से काम और अहङ्कारात्मक है।

यह बिन्दु अकारवाच्य प्रकाश और हकारवाच्य विमर्श इस दिव्य दम्पति या मिथुन का समरसाकार है। समरस शब्द से परस्परानुप्रवेशरूप आनुकूल्यमय की प्रतीति

होती है। यह रवि ही शुक्र और रक्त दो बिन्दुओं का समरसीभूत मिश्र बिन्दु है। यही सब का स्वात्मा है।

शुक्रः शिवो रक्तशक्त्यां पराशाम्भववेधतः ।
रक्तशाम्भवरूपेण परातत्त्वेन शक्तितः ॥
रक्तः शिवः शुक्रशक्त्यां परशम्भ्वैक्यभावतः ।
रक्तशिवः शुक्रशक्त्यां सच्चिदानन्दलक्षणः ॥

(८)

अब मैं योगसाधना के दृष्टिकोण से सामरस्य की चर्चा संक्षेप में करता हूँ। श्रीगुरु के पादुका-मन्त्र के प्रसंग में किसी किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में प्रचलित मन्त्र में जो दो द्वादशार्ण हैं उनमें एक उन्मनीभावमय है और दूसरा समनीभावमय है। प्रथम की द्योतना यह है कि परम पुरुष (ह) परमा प्रकृति (स) के साथ परब्रह्म के अभिमुख ऊर्ध्व गतिशील हैं। दूसरी उन्मनी के शिव अथवा परब्रह्म की ईक्षणशक्ति से जो परमा प्रकृति आयी है वह (स) परम पुरुष (ह) को आनन्द रस से सींच कर आगे-आगे उतरी है और ब्रह्म की ऊर्ध्व और अधः धारा को उसने एक ही चित् में मिलाया है। उन्मना और समनाभाव का मूल एक ही है। पुरुष और प्रकृति वस्तुतः एक ही ब्रह्मतत्त्व है। उन्मनाभाव ऊर्ध्वमुख त्रिकोण द्वारा सूचित होता है एवं समनाभाव की सूचना अधोमुख त्रिकोण करता है। ये दोनों ही त्रिकोण षट्कोण के रूप में परस्पर जुट कर सहस्रदल कमल के ऊपर स्थित द्वादशदल कमल के भीतर स्थित होते हैं। द्वादशदल के विकसित होने पर सहस्रदल निष्प्रभ हो जाता है। उन्मना और समना त्रिकोणोंके दो मध्य बिन्दु परस्पर युक्त और अभिन्न हैं। षट्कोण के बीच में श्रीगुरु का चौकोर आसन विराजमान है। समना त्रिकोण को अवलालय कहते हैं। इन दोनों भागों का पूर्ण सामरस्य ही ब्रह्मभाव है।

(९)

सम्प्रति मैं अन्य दृष्टिकोण से सामरस्यतत्त्व की आलोचना करता हूँ। इस सामरस्य की प्राप्ति ही दीक्षा का चरम लक्ष्य है। दीक्षा की प्रक्रिया में पाशक्षय और शिवतत्त्वयोजन नामक दो व्यापार हैं। इन दोनों के पूर्ण हुए बिना दीक्षा सम्पन्न नहीं होती एवं शिवत्व की प्राप्ति भी नहीं होती। योजनक्रिया अत्यन्त कठिन कार्य है, साधारण गुरु इसका सम्पादन नहीं कर सकते। जिनके ज्ञान और योग ये दोनों ही सुचारुरूप से अभ्यस्त हैं उनके लिए ही शिष्य की योजनाक्रिया करना सम्भव है। यह एकमात्र गुरु का ही करणीय कर्म है—इसमें शिष्य का कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यह जिनके द्वारा निष्पन्न नहीं हो सकती उनको सद्गुरु-पद का दायित्व वहन करने की चेष्टा करना उचित नहीं। इसमें १२ क्रमिक व्यापार हैं। किन्तु इस प्रसङ्ग में उनका विवरण आवश्यक नहीं है। श्वासक्रिया के संचार का परिमाण, प्राणवायु का संचार, प्राणस्थित समग्र अध्वा अथवा मार्ग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागज्ञान, हंसोच्चारण, वर्णसमूहकृत कारणों का परिहार, काल का त्याग और उसके

अनन्तर शून्यभाव की प्राप्ति—इन सब भूमियों में एक के बाद एक पर विजय पा सकने पर सब के बाद सामरस्य के प्रश्न का अवसर आता है। तन्त्र के मतानुसार सामरस्य सात प्रकार का है। जैसे—आत्मा में सामरस्य, मन्त्र में सामरस्य, नाड़ियों में सामरस्य, शक्ति में सामरस्य, व्यापिनी में सामरस्य, समना में सामरस्य और सबके बाद तत्त्व में सामरस्य। समरसभाव का ज्ञान होने पर फिर कभी भी मोह का आक्रमण नहीं हो सकता। खण्ड योगी व्युत्थान में मोहित होते हैं, इसलिए वे सामरस्यज्ञानहीन हैं। समना के बाद उन्मना शक्ति में अनुप्रवेश से सात सामरस्यों में अन्तिम या सप्तम सामरस्य की प्राप्ति होती है। यही सबसे उत्कृष्ट सामरस्य है। तब जो अवस्था प्राप्त होती है वह शास्त्रों द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्त्वेन्द्रियेषु च।
स्थावरं जंगमं चैव चेतनाचेतनस्थितम्॥
अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः।

इस सामरस्य की प्राप्ति होने पर सभी अवस्थाओं में परशिवभाव की समापत्ति अक्षुण्ण रह जाती है। यही व्युत्थानहीन समाधि है, इसका महायोगियों ने महारहस्य के रूप में वर्णन किया है। इस अवस्था में परतत्त्व निश्चल, आकांक्षाहीन और पूर्णरूप में ज्ञात होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सब अवस्थाओं में परम तत्त्व के साथ ऐक्य ही सामरस्य है।

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः॥

तब सर्वत्र एकमात्र शिवभाव ही विराजमान रहता है।

यह सामरस्य ही सर्वोत्तम गुरु पादुका है। स्वप्रकाश शिवरूप भी गुरुपादुका है, विमर्श अथवा शक्ति रूप भी गुरुपादुका है; किन्तु श्रेष्ठ गुरुपादुका वही है जहाँ शिव और शक्ति का सामरस्य रहता है। परम शिव ही गुरु हैं—शिव भी उनकी पादुका है तथा शक्ति भी वही हैं। दोनों का सामरस्य ही परा पादुका है।

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः॥

(१०)

अब नाथयोग में सामरस्य का क्या स्थान है यह देखना चाहिये। सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में पर-पिण्ड से लेकर स्व-पिण्ड पर्यन्त जान कर परम पद में सामरस्य-प्राप्ति का संकेत किया गया है। किन्तु जब तक अपनी विश्रान्ति न हो तब तक पिण्ड और पद का समरसीकरण असम्भव है। इसीलिए पहले विश्रान्ति चाहिए उसका मूल सद्गुरु है। सद्गुरु वाक्य द्वारा, दृष्टि अथवा विलोकन द्वारा एक ही क्षण में चित्तविश्रान्ति प्रदान करते हैं—

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्॥

विश्रान्ति प्राप्त होने के बाद परम पद का साक्षात्कार आवश्यक है। यह भी अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु दुर्लभ होने पर भी सरल है, क्योंकि यदि पहले चित्तविश्रान्ति प्राप्त हो चुकी हो तो मुहूर्तमात्र में यह साक्षात्कार हो सकता है। इसके बाद का व्यापार परम पद में अपने पिण्ड का समरसीकरण है। उस समय आत्यन्तिक निरुत्थान दशा का उदय होता है। परम पद स्वसंवेद्य है। वह भाषा द्वारा समझाया नहीं जा सकता। महासिद्ध योगी अपने स्वरूप का अनुसंधान करते-करते निजावेश को प्राप्त होते हैं और निरुत्थान दशा प्राप्त करते हैं। सच्चिदानन्द चमत्कार, अद्भुत आकारों का प्रकाश, प्रबोध और परमपद का प्रकाश क्रमशः होते हैं। इस अनुभव से अपना पिण्ड सिद्ध होता है। तब अपने पिण्ड और परम पद का एकीकरण होता है। इस व्यापार में चार प्रधान क्रमिक भाव हैं—

१—सहज।

यह विश्वातीत परमेश्वर की विश्वरूप में अवस्थिति अथवा आत्मा में विश्व-दर्शन है।

२—ससंयम।

देदीप्यमान सब वृत्तियों को आत्मा में संयतभाव से धारण करना।

३—सोपाय

प्रकाशमय आत्मा को स्वयं ही स्वरूपतः एक कर लौल्य-भाव से स्थिति।

४—साद्वय

अजाति सत्त्वदर्शन।

क्रमशः इन ज्ञानों के सिद्ध होने पर स्वविश्रान्ति होती है। तब आत्यन्तिक निरुत्थान-दशा की अभिव्यक्ति होती है।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहकार बलभद्र कहते हैं—जो परम्परा से प्राप्त सन्मार्ग का प्रदर्शन करने में समर्थ हैं, वे ही वास्तव में गुरुपदवाच्य हैं। आत्मविश्रान्ति प्रदान की सामर्थ्य उन्हीं में है। वह जो पथ दिखला देते हैं उसी पथ पर चलते चलते "स्वसंवेद्य का दर्शन" होता है। इसीलिए गुरु का देवरूप से चिन्तन करना चाहिये। उनकी कृपा-दृष्टि से मुनि लोग सब सिद्धियों के फलों का त्यागकर स्वात्मैकवेद्यरूप से निरुत्थान-दशा की प्राप्ति के बाद कृतार्थ होते हैं तथा अपने पिण्ड को समरस बनाने में समर्थ होते हैं। पहले निजावेश होता है, उससे स्थायी महानन्दावस्था और अमलानन्दमय प्रकाश का उदय होता है। इस अनुभव के अनन्तर भेद हट जाता है। तदुपरान्त अभिन्न अपार चैतन्यभासक परमपद का उदय होता है। उसके अनुभव के प्रभाव से सम्यक् स्वपिण्डज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद परमपद में उसे निर्वाण और ऐक्य प्राप्त होते हैं। तदनन्तर स्वरश्मिपरावृत्ति नाम का दूसरा उन्मेष उदित होता है। उसके बाद उसका त्याग होता है। समरसक्रिया इसी का फल है, यह जानना चाहिये। तब अपने किरण-पुञ्जों का अपने रूप से साक्षात्कार होता है।

यह सामरस्य ही वास्तविक अद्वय तत्त्व है। वस्तुतः यह द्वैत और अद्वैत की एकता मात्र है। अवधूतगीता में कहा है—

"अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

समरसता ही अमरत्व है—यही परब्रह्म है। अमनस्क में कहा है—

भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम् ।
सर्वसंकल्पनातीतं परब्रह्म तदुच्यते ॥

यही अमनस्क-दशा है। इसकी बात ब्रह्मोपनिषद् में कही गई है।

(११)

बौद्ध तन्त्रों में भी समरसभाव की चर्चा है। सहज अवस्था में प्रज्ञा और उपाय का भेद नहीं रहता। उस स्थिति में हीन, मध्य और उत्कृष्ट सब कुछ तत्त्वभाव से समरूप में दिखाई देता है, स्थिर और चर सभी समरूप प्रतीत होते हैं—अवश्य तत्त्वभावुक की दृष्टि से। हेवज्रतन्त्र में यह बात कही गई है। अन्यत्र और भी कहा है—

समं तुल्यमित्युक्तं तस्य चक्रे रसः स्मृतः ।
समरसं त्वेकभावत्वमेतेनात्मनि भण्यते ॥

प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही वज्रयोग है, यही "कालचक्र" नामक आदि बुद्ध का सिद्धान्त है। यह वज्रयोग चार प्रकार का है—विशुद्ध, धर्म, मन्त्र और संस्थान योग। पहला सहजकाय है, दूसरा धर्मकाय है, तीसरा संभोगकाय है और चौथा निर्माणकाय है। विमलप्रभा में कहा है कि ये चार ज्ञानवज्र, चित्तवज्र, वाग्वज्र और कायवज्र हैं। समरसभाव अद्वयभाव का द्योतक है।

(१२)

सामरस्य के सम्बन्ध में महासिद्ध स्वतन्त्रानन्दनाथ कहते हैं कि ऐसी एक स्थिति है जहाँ चित् और अचिद् एकरसस्वभाव में रहते हैं। उनके मतानुसार सुप्ति ही परस्पर विरुद्ध जड़ और अजड़ का सामरस्य है। सुप्ति शिव और जीव का विश्रान्तिपद है और सब संसार का बीजरूप है। चित् और अचित् की एकरसता कैसे होती है? गज और वृषभ के चित्र में जैसे गज और वृषभ परस्पर अविरुद्धभाव से एक पद में अनुप्रविष्ट होते हैं वैसे ही चित् और अचित् में अविरोध से परस्पर अनुप्रविष्ट दो तत्त्वों से उत्पन्न रस है—"यत्र रसे जड़स्य अजड़स्य च प्रत्येकं भागकरणं सर्वत एव स्वरूपानुप्रवेशः। यथा एकस्मिन् चित्रविशेषे गजवृषभयोः प्रत्येकमनुप्रवेशो भागकरणं विनैव साकल्येन, तद्वत्।" जड़ और अजड़ में एकरस स्वभाव है। स्वतन्त्रानन्दनाथ की उक्ति यों है—

मायाबलात् प्रथमभासि जडस्वभावं
विद्योदयादथ विकस्वरचिन्मयत्वम् ।
सुप्त्याह्वयं किमपि विश्रमणं विभाति
चित्रक्रमं चिदचिदेकरसस्वभावम् ॥

(मातृकाचक्रविवेक २, १)

महाशक्ति–श्री श्री माँ

[१]

महाशक्ति जगदम्बा का परम रूप अखण्ड और स्वयंप्रकाश चैतन्य है—इसका सिद्ध योगियों ने संवित् अथवा प्रतिभा के रूप में वर्णन किया है। किसी देश अथवा किसी काल में किसी कारण से भी इस स्वरूप का अपलाप नहीं होता—यह अपरिच्छिन्न प्रकाशात्मक है। यह विचित्र दृश्यों के आकार में भासमान होता है—ये आकार मूल में सभी क्षणिक हैं, किन्तु इस क्षणिक प्रतिभास में ही उनका स्वरूप पर्यवसित नहीं होता। यदि वह होता तो स्मरण, अनुसन्धान आदि अन्तःकरण के व्यापारों की कोई सार्थकता नहीं रहती। भगवती का जो परम स्वरूप है वही सामान्य ज्ञानात्मक परा प्रतिभा है। वही मूलरूप है एवं देश, काल, आकार, निमित्त आदि द्वारा अनवच्छिन्न है। इसको आश्रय करके ही प्रत्यक्षसिद्ध समग्र जगत् की उत्पत्ति होती है, स्थिति होती है और लय होता है। नवीन-नवीन रूपों में आभासमान होना ही उत्पत्ति है, आभास धारा की विषयता ही स्थिति है और आभास की अविषयता ही संहार है। ये सब दृश्य अथवा पदार्थ प्रमाताओं के प्रति एक के बाद एक भासमान होते हैं सही, किन्तु मूल स्वरूप से पृथक् रूप में भासमान नहीं होते। भूतल पर स्थित घट जैसे भूतल से पृथक् रूप में दृष्टिगोचर होता है, यह उस प्रकार का नहीं है वरन् दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप जैसे दर्पण से अभिन्नरूप से प्रतिभात होता है यह उसी प्रकार का है। अर्थात् यह विश्व चिदात्मामें प्रतिबिम्बित होकर चिदात्मा के साथ अभिन्न रूप से ही प्रकाशमान होता है,—जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का भान उस परम चैतन्य स्वरूप में उससे अव्यतिरिक्त रूप से होता है।

इस अखण्ड महाप्रकाश में विश्ववैचित्र्य का भान कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान करने का यदि यत्न किया जाय तो समझ में आ सकेगा कि यह उनके स्वातन्त्र्य से ही होता है। यही माया का यथार्थ स्वरूप है। मायारूप निमित्त को आश्रय कर परसंविद्रूप आधार में अनन्त वैचित्र्य फूट उठता है। इस जगदाकार देह में अज्ञानी अर्थात् जो आत्मज्ञानहीन है अथवा जिसका मन अविद्या द्वारा आवृत है वह विश्वरूप अनन्त आकारों का दर्शन करता है। किन्तु ये सब आकार जिसका आश्रय कर प्रकाशित होते हैं उसे नहीं देख पाता। अविद्या माया की ही दूसरी अवस्था है। कमला रोग से पीड़ित रोगी जैसे नेत्रों के विकार से सफेद शंख को पीला देखता है अज्ञानी का जगत् दर्शन भी कुछ अंशों में वैसा ही है। विद्या के प्रभाव से अविद्या की निवृत्ति होने पर अर्थात् योग-अवस्था प्राप्त होने पर उस संविद्रूप तत्त्व का दृश्यमान द्वैताकारवर्जित किंवा निर्विकल्पक रूप से भान होता है। अवश्य उस

अवस्था में भी भास्य और भासकरूप द्वैत रहता है, ऐसी प्रतीति हो सकती है, किन्तु वास्तव में चिद्रूप आत्मसत्ता में देहादि दृश्य और भास्य का लेशमात्र भी नहीं रहता—वह विशुद्ध अहंरूप में अर्थात् शुद्ध द्रष्टा के रूप में भासता है। आत्मतत्त्व देश और काल के द्वारा अवच्छिन्न न होने के कारण गम्भीर और निश्चल समुद्र के तुल्य निश्चल स्वरूप में अर्थात् अनन्त अद्वय रूप में योगियों को प्रकाशित होता है।

जो परमात्मतत्त्ववेत्ता भक्त हैं वे इस विशुद्ध आत्मतत्त्व का ही भजन करते हैं। इस भजन में कापट्य नहीं है एवं कृत्रिमता भी नहीं है। क्योंकि स्वभावतः आत्मा ही तो सबकी अपेक्षा प्रिय है। इसका नाम अद्वैत भक्ति है। यह अद्वितीय परमात्मा वस्तुतः सभी का अपना आत्मा है। वहाँ सेव्यसेवक भाव नहीं है। किन्तु ज्ञानी भक्त भेदभाव का आहरण कर सेव्य-सेवकभाव की रचना करते हैं। वे आत्मस्वरूप अद्वय पद की प्रत्यक्ष उपलब्धि करके भी स्वभाव अथवा चित्त की सरसतावश ऐसा करते हैं। वासना के वैचित्र्य से ही ऐसा होता है। कोई कोई ज्ञानी पूर्व-संस्कारवश जैसे राज्य शासनादि करते हैं वैसे ही कोई कोई उसी कारण से भजन भी करते हैं।

भगवती का परम रूप केवल भासकमात्र है, किन्तु भास्य नहीं है। वह भास्वरूप है, वह अन्य वस्तु के संग में संसृष्ट नहीं है इस कारण एकरसात्मक है, इसलिए पूर्ण है, अतएव वह देश और काल का भी व्यापक है। यदि भास्यरूप आकार भारूप भासक से भिन्न होता तो उसका भान ही नहीं होता। भान होना भास्य वस्तु का धर्म नहीं है, क्योंकि यदि वह भास्य का धर्म होता तो सर्वदा ही भास्य का भान होता। उसके अलावा आत्मगत रूप से भान का अनुभव भी न होता।

यह जो भान अथवा प्रकाश की बात कही गई है, यही परमचैतन्यरूपा परमेश्वरी महाशक्ति जगदम्बा हैं, यह एक और अद्वितीय हैं, यह द्वैत का लेशमात्र भी सहन नहीं करतीं। इस अखण्ड चिदेकरस स्वरूप में स्वातन्त्र्यवश वैचित्र्यमय विश्व प्रतिभासमान होता है। विश्व ही 'द्वितीय' के रूप में प्रतिभासित होता है—वस्तुतः वह एक से अभिन्न है, वही प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब चाहे रहे अथवा न रहे चैतन्य का स्वरूप सर्वदा ही निर्विकल्प है। सृष्टिकाल में प्रतिबिम्ब भासता है, किन्तु प्रलय-काल में वह नहीं भासता। इससे प्रतीत होता है कि संवित् स्वरूपतः सर्वदा निर्विकल्प एकरस रहने पर भी स्वातन्त्र्यवश अपने में स्वयं ही बाह्यभाव का स्फुरण करती है।

वह परा संवित् ही माँ का स्वरूप है। अपनी आत्मा का शुद्धस्वरूप जानने पर ही माँ को प्रायः जाना जाता है—**"ज्ञातस्वात्मस्वरूपो वै ततो ज्ञास्यसि मातरम्।"** आत्मस्वरूप दृश्य भी नहीं है और वाच्य भी नहीं है, इसलिए इसके सम्बन्ध में साक्षात् उपदेश भी नहीं हो सकता। फिर भी यह कहना बनता है कि विषयाकारहीन बुद्धि में करणव्यापार की अपेक्षा किये बिना ही स्वरूपज्ञान उत्पन्न होता है। कारण, यह स्वरूप देवताओं से लेकर तिर्यक्पर्यन्त सभी प्राणियों के आत्मरूप से भासमान होता है। फिर भी वह हम लोगों के निकट स्पष्ट रूप से जो प्रतिभात नहीं होता उसका कारण यह है कि दृश्य आकार द्वारा हम लोगों की बुद्धि आच्छादित है। तथापि मेघाच्छन्न

सूर्य के तुल्य किञ्चित् प्रकाश रहता ही है, क्योंकि उस प्रकाश के द्वारा ही सर्वदा सर्वत्र सबके निकट सब पदार्थ भासमान होते हैं। इसलिए आत्मा सर्वत्र ही भासमान होने पर भी केवल शुद्ध बुद्धि में अभिव्यक्त होते हैं। करणों के व्यापार कर्ता में प्रवृत्त नहीं होते, अतएव आत्मदर्शन में आचार्य अथवा गुरु का साक्षात् कोई उपयोग नहीं है। पराक्-दृष्टि शिष्य के निकट आत्मा अत्यन्त दूर है। गुरु केवलमात्र उसकी प्रत्यक्-दृष्टि उत्पन्न कर देते हैं। तब साथ ही साथ आत्मा नित्य संनिहित हैं, यह समझ में आ सकता है।

यह परा संवित् अथवा आत्मा ही महाशक्ति 'माँ' हैं—ये सर्वदा विकल्प-विहीन हैं। दर्पण जैसे सर्वदा ही दर्पण है, प्रतिबिम्ब चाहे भासे अथवा न भासे दर्पण जैसे दर्पण ही रहता है,—जैसे प्रपञ्च के संहारकाल में चैतन्य निर्विकल्प रहता है वैसे ही सृष्टि अथवा प्रपञ्च के प्रकाश-काल में भी वह निर्विकल्प ही रहता है। सृष्टि और संहार में चैतन्य में कोई विकार नहीं आता। चैतन्य सदा चैतन्य ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(२)

भगवती जगदम्बा का परम रूप अखण्ड एकरस चैतन्य है, यह कहा जा चुका है। किन्तु उनका अपर रूप भी तो है। उनका परम रूप निराकार है, किन्तु अपर रूप साकार है। योगी लोग कहते हैं कि उनके अनन्त साकार रूप हैं। किन्तु उन सब रूपों के ऊपर एक प्रधान रूप है जिसकी तुलना में अन्य सभी रूप अप्रधान रूप में परिगणित होते हैं। यह प्रधान रूप एक और अभिन्न है। यदि इसे सब अप्रधान अपर रूपों के शिखर में स्थित कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह अपर रूप एक होने पर भी किस प्रकार का है इसका भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि रुचिभेद से, वासनाभेद से और दृष्टिभेद से वह शिखरस्थित एक ही रूप विभिन्न भक्तों के निकट तत् तत् रूपों से प्रतिभात होता है।

मैं यहाँ एक विशिष्ट धारा का अवलम्बन कर उसी प्रधान अपर रूप के धाम और स्वरूप का वर्णन करने की चेष्टा करूँगा। किस परमधाम में यह प्रधान अपर रूप विराजमान रहता है? उसके स्वरूप का यदि पता लगाना हो तो विश्वसंस्थान की एक धारणा रहना आवश्यक है। हम लोग जिसको ब्रह्माण्ड कहते हैं उसमें चौदह भुवन विद्यमान हैं। उनमें से सात ऊपर के भुवन और सात अधोभुवन हैं। पाताल, नरक आदि अधोभुवनों के अन्तर्गत हैं। भूलोक से सत्यलोक पर्यन्त ऊपरी भुवन कहे जा सकते हैं। अन्तरिक्ष और स्वर्गादि इन्हीं के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक भुवन एक एक स्तर है। प्रत्येक स्तर का अवलम्बन कर अगणित लोक-लोकान्तर रहते हैं। इन सब को लेकर ही एक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकार के अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उनके सिवा ऊपर में अन्यान्य विभाग भी हैं। उनमें शुद्ध और अशुद्ध स्तरों का विन्यास भी दिखाई देता है। इन सब को मिलाकर समग्र विश्वराज्य है। इसके बाहर सृष्टि का कोई भी निदर्शन नहीं है,—अनन्त व्यापी ज्योति-राशि विराजमान रहती है। इस ज्योति के ऊपर अपरिच्छिन्न चिदाकाश विद्यमान है। योगी लोग कहते हैं, चिदाकाश के मध्य में

दिगन्त तक फैला हुआ एक महासमुद्र विराजमान है। उसका सुधा-सिन्धु अथवा अमृत-समुद्र के रूप में वर्णन किया जाता है। इस महासमुद्र के मध्य में केन्द्र स्थान में नवरत्न मणियों से रचित नौ-खण्डों का एक द्वीप है। उसे मणिद्वीप[1] कहते हैं। इस द्वीप के मध्य में कदम्बवन है। उसमें चिन्तामणि-गृह अथवा मन्दिर है। उस मन्दिर में पञ्च ब्रह्ममय मञ्च हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर ये मञ्च के चार पाद हैं। मञ्च के ऊपर फलक के रूप में सदाशिव हैं, यही मुख्य आसन है। इस आसन पर अनादि-मिथुन परचैतन्यमय परमेश्वर और परमेश्वरी अभिन्न रूप में विराजमान हैं। ये साधक लोगों के निकट परम पुरुष और परमा प्रकृति के रूप में परिचित हैं।

यही विश्वजननी का प्रधान अपर रूप है (अवश्य एक दृष्टि से देखने पर)। भगवती का अथवा भगवान् का जो परम स्वरूप है वह निराकार संवित्-मात्र है—सृष्टि के प्रारम्भ में वह निराकार संवित् ही नित्य युगलरूप में अपने को प्रकट करती है।[2]

---

१. मणिद्वीप का विस्तृत वर्णन देवीभागवत के द्वादश स्कन्ध में १०—१२ अध्यायों में द्रष्टव्य। ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में और शिवरहस्य में भी (अध्याय १३) इसका विवरण दिखाई देता है। चण्डी नामक हिन्दी मासिकपत्र के ग्यारहवें खण्ड में पण्डित श्रीहरिशास्त्री दाधीच लिखित 'मणिद्वीप की सैर' नामक जो अनुभवमूलक लेखमाला प्रकाशित हुई थी वह बहुत अंशों देवीभागवत के वर्णन के अनुरूप है। यह शाक्त लोगों का विवरण है। किन्तु वैष्णव लोग भी इस मणिद्वीप का वर्णन करते हैं। सुन्दरीतन्त्र के अन्तर्गत आलमन्दारसंहिता के षष्ठ अध्याय में तथा पुराणसंहिता के ३२ वें अध्याय में भगवान् के निज धाम के रूप में इस द्वीप का वर्णन है। यह सुप्रसिद्ध श्वेतद्वीप से भिन्न है। आलमन्दारसंहिता के अनुसार भगवान् की पार-मार्थिक और वास्तवी लीला इसी स्थान में होती रहती है। यह स्थान अक्षर ब्रह्म के हृदयरूप चिदा-काश में स्थित है। वास्तव में यहाँ की भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश सभी चिन्मय हैं। यहाँ सुधासिन्धु है, उसके मध्य में मणिद्वीप है—'सुधाब्धिस्तत्र विततः कोटियोजनकस्य च। तस्य मध्ये च कोट्यर्द्धयोजनं मणिद्वीपकम् ॥' इस द्वीप में नवरत्नमय नौ खण्ड हैं जिनमें नौ रसों की लीला निरन्तर चलती रहती है। इसके मध्य में मध्य खण्ड में, जो पद्मराग मणिमय है, शृंगारशाला है। यही आनन्द भूमि है। अष्टदलकमल की मानो यही कर्णिका है। इसके आठ ओर आठ खण्ड हैं। आलमन्दारसंहिता के मत में नित्य वृन्दावन की लीला प्रातिभासिक है एवं ब्रजभूमि की लीला व्यावहारिक है। पुराणसंहिता में जो वर्णन है वह भी प्रायः ऐसा ही है। उसमें लिखा है—

> अनन्तकोटिब्रह्माण्डप्रपञ्चाद् वहिरुद्गतः।
> चिदाकाशो महानास्ते लीलाधिष्ठानमद्भुतम् ॥
> यत्र दिव्यः सुधासिन्धुः कोटियोजनविस्तृतः।
> कोट्यर्द्धमानतस्तस्मिन् मणिद्वीपो मनोहरः।
> नवखण्डात्मकः श्रीमान् नवरत्नविभूषितः ॥ इत्यादि।

इसकी मध्यभूमि में "अखण्डमणिज" मूल मन्दिर प्रतिष्ठित है।

२. साधकगण महाषोढा न्यास से न्यस्ततनु होकर अनन्य चित्त से इस स्वरूप का ही ध्यान करते हैं। श्रीक्रमोत्तम नामक ग्रन्थ में लिखा है कि निम्नलिखित प्रकार से भावना करनी चाहिए—सर्वप्रथम अमृत समुद्र, उसमें सुवर्णद्वीप, उसमें कल्पवृक्षवन, उसमें नव माणिक्यमण्डप, उसमें नवरत्नमय सिंहासन रूपी कमल। इस कमल के मध्य में त्रिकोण है एवं त्रिकोण के मध्य बिन्दु में अर्धनारीश्वर मूर्ति विराजमान है। इसका लावण्य करोड़ों कन्दर्पों को लज्जित करता है। इसका

हम यहाँ मणिद्वीप की विशेष आलोचना नहीं करेंगे। किन्तु इस जगह जगदम्बा के अप्रधान अपर रूप के सम्बन्ध में दो एक बातें कहना आवश्यक प्रतीत होता है। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये अधिकारी पुरुष हैं। माँ के अनुग्रह आदि पञ्चकृत्यों का सम्पादन ये ही करते रहते हैं। ये सभी माँ के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, यह कहना व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, दिक्पाल, कुमारी, लक्ष्मी आदि शक्तियाँ एवं यक्ष, राक्षस, असुर, नाग, किंपुरुष आदि में पूज्यरूप सभी वस्तुतः माँ के ही रूप हैं। उनकी माया से मोहित होकर लोग उन्हें पहिचान नहीं पाते। उनके अतिरिक्त पूज्य अथवा फलदायक और कोई नहीं है। जो जिस भाव से उनकी भावना करता है वह उस भाव से फल प्राप्त करता है। वास्तव में वे विभिन्न रूपों में विभिन्न देशों में जीवों पर अनुग्रह करने के लिए विराजमान हैं। मूल में सब रूप उन्हीं के रूप हैं। शास्त्र के अनुसार वे काञ्ची में कामाक्षी के रूप से, केरल में कुमारी के रूप से, गुजरात में अम्बा के रूप से, मलय में भ्रामरी के रूप से, करवीर में महालक्ष्मी के रूप से, मालव में कालिका के रूप से, प्रयाग में ललिता के रूप से, विन्ध्याचल में विन्ध्य-वासिनी के रूप से, वाराणसी में विशालाक्षी रूप से, गया में मंगलावती रूप से, बंगाल में सुन्दरी के रूप से और नेपाल में गुह्येश्वरी के रूप से विराजमान हैं। ये ही उनके बारह रूप हैं। इनके अतिरिक्त उनके और भी असंख्य रूप शास्त्र से जाने जा सकते हैं।

(३)

माँ का मुख्य ऐश्वर्य अपरिच्छिन्न है। स्वरूप से अतिरिक्त किसी कारण की अपेक्षा न करके ही वे जगत् के रूप में स्फुरित हो रही हैं। इन सब आकारों को उनके स्वांश अथवा उन से भिन्न भी कहना नहीं बनता, क्योंकि वे अखण्ड चिन्मय हैं, अतः उनका कोई अंश नहीं है। वे अद्दश्य चिन्मय स्वरूप में स्थित रह कर भी अनन्त जगत् के आकार में स्फुरित हो रही हैं और अनन्त जगदाकार से स्फुरित हो कर भी अद्वैत चित्स्वरूप से स्खलित नहीं होती हैं। यही उनका ऐश्वर्य है। विचित्र जगदा-कार प्रतिबिम्बतुल्य है; अतः वे नित्य ही निर्विकार हैं।

माँ के अवान्तर ऐश्वर्य की भी गणना नहीं होती। ऐश्वर्यमात्र ही अघटित घटना की सामर्थ्य है। परम स्वातन्त्र्यरूपा स्वमाया द्वारा वे अपने को अज्ञानावृत करती हैं एवं अनादि जन्म मृत्यु-प्रवाह में पड़ती हैं अर्थात् संसारी का स्वांग रचती हैं। तद-न्तर शिष्य भाव को प्राप्त होकर पुनः गुरु के निकट आत्म-तत्त्व जान कर नित्य

मुख कमल मन्द मन्द स्मित युक्त है, तीन नेत्र हैं, ललाट में चन्द्रमा है, वस्त्र और आभूषण सभी दिव्य हैं। ये चतुर्भुज हैं—हाथों में कपालपात्र, चिन्मुद्रा, त्रिशूल और पुस्तक हैं। मुख और नेत्र सदा आनन्दमय रहते हैं। श्रीक्रमोत्तम में अर्धनारीश्वरमूर्ति के ध्यान का विवरण है। पर यह भी कहा गया है कि उस मूर्ति का केवल पुरुषरूप में अथवा मातृरूप में भी ध्यान किया जा सकता है। निष्कल ध्यान की तो कथा ही नहीं है। भावनोपनिषद्, तन्त्रराज आदि में इस मानवदेह की ही नवरत्नद्वीप के रूप में और पुरुषार्थ की ही सागर के रूप में भावना करने के लिए कहा गया है। इसका विस्तृत विवरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है।

मुक्त होकर भी फिर मुक्त होती हैं। यह अविद्या मायिक होने से सचमुच बन्धन नहीं है। इसलिए वे नित्य मुक्त हैं। उपादान के बिना अनन्तवैचित्र्यमय जगत् का निर्माण करती हैं, यही उनका ऐश्वर्य है। उनके इस प्रकार के अगणित ऐश्वर्य हैं।

(४)

माँ के अप्रधान परम धाम की बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु उनके खण्ड खण्ड धाम कितने हैं, इसका कोई निर्णय नहीं कर सकता। यहाँ पर शास्त्रानुसार विभिन्न साधक और योगियों के अनुभवमूलक कई एक धामों का वर्णन दिया जा रहा है।

१—श्रीनगर—इसका प्राचीन नाम अतस्तदीय है। प्रसिद्धि है कि मेरु में चार शिखर हैं—इसके तीन शिखरों पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की तीन पुरियाँ हैं, चतुर्थ शिखर पर महामाया की पुरी विराजमान है। इसका नाम श्रीपुर या श्रीनगर है। यह चार सौ योजन लम्बी और चार सौ योजन चौड़ी है। यह सात प्राकारों (प्राचीरों) से परिवेष्टित है। इसके चार प्रवेश द्वार हैं। प्रवेश स्थान में शाला, गोपुर आदि हैं। बाहर का प्राकार लोहे का है और भीतर का सोने का है। बीच के छह प्राकार क्रमशः पीतल, ताँबा, सीसा, दस्ता, पञ्चलोह और वज्र से निर्मित हैं। प्रत्येक प्राकार मानो एक एक दुर्ग है। सर्वत्र ही रक्षक और दुर्गपालों की व्यवस्था है। लौहदुर्ग के रक्षक महाकालगण और उनकी शक्तियाँ हैं। ये भगवती की कालचक्र में उपासना करते हैं। कालचक्र त्रिकोण, पञ्चकोण, षोडशदल और अष्टदल कमल है। अन्यान्य छह दुर्गों के रक्षक शक्तिसहित छह ऋतुएँ हैं। इन सब चक्रों में तीस शक्तियाँ कार्य करती हैं—मधुशुक्ला एक से पन्द्रह तक और मधुकृष्णा एक से पन्द्रह तक। यहाँ बहुत शालाएँ हैं जिनमें गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष और रुद्रगण वास करते हैं। ब्रह्माण्डपुराण में लगभग पचीस शालाओं का उल्लेख है। एक एक शाला मानो एक एक दुर्ग है। विभिन्न शालाएँ विभिन्न उपादानों से निर्मित हैं। अष्टधातु की एक शाला है। दो शालाओं के मध्य में वृक्षों के झुण्ड और कुञ्ज विद्यमान हैं। जैसे— सुवर्ण और रजत की शालाओं के बीच कदम्बवन-वाटिका है, जहाँ मन्त्रिणी वास करती है। ग्यारह शालाएँ महामूल्यरत्नमय हैं—पुष्पराज, पद्मराग, गोमेद, वज्र, वैदूर्य, इन्द्रनील, मुक्ता आदि से रचित हैं। मौक्तिक शाला में चक्र में (जिसमें सोलह घेरे हैं) महारुद्र निवास करते हैं। वे भी सर्वदा भगवती के ध्यान में मग्न रहते हैं। उनको चारों ओर से रुद्रगण और रुद्राणीगण घेर कर स्थित हैं। ये सब रुद्र ही दुर्ग के रक्षक हैं। उनमें कोई बैठे हैं, कोई जागते हैं, कोई सुप्त हैं, कोई दण्डवत् लेटे हैं एवं कोई दौड़ते रहते हैं।

२—और एक नगर का परिचय प्राप्त होता है जहाँ भगवती ललिता ने भण्डासुर के साथ युद्ध करने के उपरान्त विश्राम किया था। प्रसिद्धि है कि विश्वकर्मा और मय ने इस नगर की रचना की थी। योगियों के समाज में ऐसी प्रसिद्धि है कि अगस्त्य ऋषि मेरुस्थित श्रीमाता के नगर का दर्शन नहीं कर सके। वे वेदवित् और

सर्वशास्त्रविशारद होते हुए भी तन्त्रदीक्षारहित होने के कारण पराशक्ति की निगूढ़ उपासना में अनधिकारी रहे। इसलिए उक्त नगर का दर्शन उनके भाग्य में बदा नहीं। यह नियति का नियन्त्रण था। बाद में देवी का माहात्म्य सुन कर उनके प्रति वे भक्तियुक्त हुए तथा उन्होंने सपत्नीक सक्रम तान्त्रिक दीक्षा प्राप्त की। तदनन्तर लोपा-मुद्रा के साथ उपासना कर सिद्धि-लाभ किया। इसके कारण वे सस्त्रीक गुरुमण्डल में उत्तम स्थान पर अधिकार करने में समर्थ हुये। (द्रष्टव्य त्रिपुरारहस्यमाहात्म्यखण्ड अध्याय ७९)।

३—भगवती के स्थान पूर्व सागर के तट पर कामगिरि के रूप में, पश्चिम सागर के तट पर पूर्णगिरि के रूप में और मेरुशिखर पर जालन्धर के रूप में हैं। ये सब प्रसिद्ध चतुष्पीठके अन्तर्गत हैं, यह कहना अनावश्यक है।

४—भास्कर राय ने तीन श्रीपुरों की बात कही है। पहला अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के बाहर ऊपर अनन्त योजन विस्तृत और पच्चीस प्राकारों से वेष्टित है। दूसरा मेरु के ऊपर स्थित है। वह पहले की अपेक्षा कुछ कम विस्तृत है। भगवान् दुर्वासा ने ललितास्तवरत्न में इसका वर्णन किया है। यह मेरु के मध्य शिखर पर स्थित है। मेरु पर्वत पर शिव-त्रिकोण के तुल्य तीन शिखर हैं। उनमें चौथा त्रिकोण चार सौ योजन ऊँचा है। इनमें भी पचीस प्राकारों का उल्लेख है एवं अन्यान्य बहुत वैशिष्ट्यों का विवरण है। तीसरा क्षीरसागर के मध्य में विद्यमान है। श्रीविद्यारत्नसूत्र के भाष्यकार ने यह बात कही है। इसके चौबीस प्राकारों का उल्लेख मिलता है (द्रष्टव्य ललिता-सहस्रनामभाष्य पृ० ४, ३९–४०)।

रुद्रयामल में लिखा है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के बाहर ऊर्ध्व में हजार करोड़ योजन विस्तीर्ण रत्नद्वीप है। उसके पचीस प्राकार पचीस तत्त्वों द्वारा रचित हैं (ललिताभाष्य पृ० ४०, ४३)। वस्तुतः यह रत्नद्वीप हमारे पूर्ववर्णित मणिद्वीप का ही नामान्तर है।

(५)

यह माँ ही गुरुरूप में भावना करने योग्य हैं। भावनोपनिषद में श्रीगुरु सर्व-कारणभूता शक्ति कहे गये हैं। तन्त्रराज में भी कहा है—

"गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता।
नवत्वं तस्य देहस्य रन्ध्रत्वेन विभासते॥"

ये नौ रन्ध्र ही देह के प्रसिद्ध नौ द्वार हैं। इन नौ द्वारों में दो नेत्र और वाक् ये तीन दिव्यौघ हैं, दो चक्षु और उपस्थ ये तीन सिद्धौघ हैं एवं दो नासिकाएँ और पायु ये तीन मानवौघ हैं। देह के ये नौ रन्ध्र ही नव नाथों के स्वरूप हैं। शिवसूत्रवार्तिक में भी परमेश्वर की अनुग्रहात्मिका परा शक्ति को ही गुरु कहा गया है। अतः माँ और गुरु अभिन्न हैं।

(६)

अब मैं भगवती के प्रधान अपर रूप और पररूप में किस प्रकार का सम्बन्ध है इसकी किंचित् आलोचना करता हूँ। अप्रधान अपर रूप का प्रसङ्ग मैं यहाँ छेड़ूगा नहीं, क्योंकि जगत् के सभी रूप तो उन्हीं के रूप हैं। जो प्रधान अपर रूप है वही सृष्टि का आदि है और विश्व के शिखरप्रदेश पर स्थित है। यही शिव-शक्ति का युगल रूप है। इस शक्ति को हम आपाततः पञ्चदशी के रूप में ग्रहण किया करते हैं। यह युगल रूप ही अनादि दिव्य मिथुन के रूप में साधकसमाज में परिचित है। श्रीचक्र के सबकी अपेक्षा अन्तरतम चक्र का नाम बैन्दव चक्र है—मध्य त्रिकोण के भीतर नित्यामण्डल अर्थात् पञ्चदश कलाओं से वेष्टित महाबिन्दु है[1]। वस्तुतः पन्द्रह नित्याओं की साम्यावस्था का नाम ही बिन्दु है। इस बिन्दु को वेष्टित कर उसके घेरे के रूप में पन्द्रह नित्याएँ प्रतिपदादि पन्द्रह तिथियों की प्रतीक हैं। इसलिए यह नित्या-मण्डल एक प्रकार से कालचक्र का ही प्रतिनिधि है। साधन के क्रमविकास से एक नित्या अन्य नित्याओं को लीन कर प्रदक्षिण क्रम से अन्तिम नित्या के लयसाधनपूर्वक आवर्तन को समाप्त करती है। स्मरण रखना चाहिये कि एक नित्याओं में स्वयं लीन नहीं होती एवं उद्वृत्त शक्ति के द्वारा उनको भी अपने में लीन नहीं करती एवं अन्य नित्याओं के स्वरूप में पहुँचने के लिए अग्रसर होती है; इसीलिए कर्म चलता रहता है एवं सर्व समाधान के बाद भी उद्वृत्त शक्ति के द्वारा बिन्दु में प्रवेश करने में समर्थ होती है। स्वयं लीन होने पर यह संभव न होता। कालचक्र का आवर्तन ही कर्म अथवा उपासना का वास्तविक स्वरूप है। आवर्तन पूर्ण होने के साथ ही साथ बिन्दु में प्रवेश होता है। यही पञ्चदशी की प्राप्ति है। पञ्चदशी के सिद्ध होने पर फिर आवर्तन रहता नहीं। युगल को प्राप्त होने पर कुञ्जलीला का अवसान हो जाता है। वैष्णव साधना का यह लीलारहस्य इस सत्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। किन्तु पञ्चदशी युगलरूप है। इस युगलरूप से क्रमशः अद्वय स्वरूप में जाना ही गुह्य साधना का इतिहास है। किन्तु उसके पूर्व पञ्चदशी से षोडशी पर्यन्त विवर्तन आवश्यक है। यह जो युगलरूप की बात कही गई है, इसमें

१. चन्द्रमण्डल में सोलह कलाएँ हैं। इन सोलह कलाओं में पन्द्रह कलाएँ वेष्टन के आकार में चारों ओर रहती हैं। बीच की कला का नाम सादाख्य है—यही षोडशी कला है। ये पन्द्रह कलाएँ ही पन्द्रह तिथियाँ हैं। कामेश्वरी से लेकर चित्रा पर्यन्त पन्द्रह नित्याएँ ये ही हैं। सादाख्या कला = ललिता है। यह कालचक्र अथवा तिथिचक्र सदा आवर्तित हो रहा है—इसके भीतर श्री चक्र है (द्रष्टव्य भावनोपनिषत् और भास्करभाष्य ३३ सू० पृ० १३७–१३९)। इसका तात्पर्य यह है कि कालरूप प्रपञ्च के मध्य में ही श्रीचक्र विद्यमान है। देशरूप प्रपञ्च में भी श्रीचक्र रहता है। भूगोल के उत्तर भाग में मेरु है, उसके दक्षिण में जम्बू आदि सात द्वीप हैं, उनके मध्य में भूगोल के वलयाकार सात समुद्र हैं। पुष्करद्वीप का घेरा मधुर जल युक्त समुद्र है। उसके दक्षिण में परव्योम है। मेरु से व्योम पर्यन्त सोलह स्थानों में ललिता से चित्रा पर्यन्त सोलह नित्याएँ युग के प्रथम वर्ष में स्थित होती हैं, द्वितीय वर्ष में जम्बूद्वीप से मेरु पर्यन्त गमन करती हैं, तृतीय वर्ष में लवण समुद्र से जम्बूद्वीप तक गमन करती हैं। इन सोलह वर्षों में पर व्योम से मधुर समुद्र तक ललितादि सोलह नित्याएँ स्थित रहती हैं। इस तरह सोलह वर्षों में नित्याओं का एक एक आवर्तन होता है। श्रीचक्र इस देशरूप चक्र के भीतर है, बाहर नहीं है।

परमा प्रकृति परम पुरुष के अङ्कगत है एवं दोनों ही चतुर्भुज हैं। पञ्चदशी से यदि षोडशी में जाना हो तो शिव-शक्ति का सम्बन्ध क्रमशः अन्यरूप धारण करता है। शक्ति शिव में आश्रित है यही पञ्चदशी का स्वरूप है, किन्तु जब तक शक्ति शिव के आश्रय का परित्याग कर, शिव को शवरूप में अथवा सुप्तरूप में छोड़कर, शिव से ऊपर की ओर उद्गत नहीं होती तब तक पञ्चदशी से षोडशी में जाने की कोई आशा ही नहीं है। पञ्चदशी कालचक्र के अतीत है यह सत्य है, किन्तु अतीत होकर भी वह वस्तुतः अतीत नहीं है। क्योंकि पञ्चदशी में बिन्दु का आपूरण और संक्षय दोनों ही विद्यमान रहते हैं। पूर्णिमा अथवा अमावास्या कोई भी स्थायी नहीं है, क्योंकि पूर्णिमा के बाद कलाक्षय होता है एवं अमावास्या के बाद कला-वृद्धि होती है। जिसकी वृद्धि और ह्रास होते हैं वह अपूर्ण है। जो वास्तव में पूर्ण है उसकी वृद्धि भी नहीं होती और ह्रास भी नहीं होता, वही षोडशी है, वह अमृतकला है।

"पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम् ।"

यह षोडशी अमृतकला है—यही मृत्यु के अतीत, परिवर्तन के अतीत और काल के अतीत है, पञ्चदशी बिन्दुरूप में काल के आवर्तन से मुक्त होकर भी यथार्थ में मुक्त नहीं है। शिव शक्ति को अङ्क में धारण किये हैं। यह योग की एक अवस्था है। षट्-चक्रभेद होनेपर सहस्रदल कमल के बिन्दु से इस अवस्था का उदय होता है। इस जगह शक्ति पञ्चदशी अवस्था के अन्तर्गत है। किन्तु शक्ति षोडशी अवस्था को तभी प्राप्त हो सकती है जब शिव परमशिव के रूप में उसको धारण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं।

शक्ति शिव के अङ्क से अवतीर्ण होकर जब क्रमशः अधिकतर पुष्टि प्राप्त करती है तब नाभि-मार्ग खुल जाता है एवं शक्तिपुष्टि की प्रकर्षावस्था में नाभि-मार्ग से निकले ब्रह्मनाल का आश्रयण कर जो कमल शून्य पथ में विकसित हुआ है उसमें स्थिति प्राप्त करती है। इधर शिव परम शिवरूप में उन्नीत होते हैं। जिन चार मध्यवर्ती अवस्थाओं की बात कही गई है उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—प्रासाद। इस अवस्था में परम पुरुष और परमा प्रकृति तल्प पर शयन करते हैं। यह एक पार्श्व की स्थिति है।

२—महाप्रासाद। इस अवस्था में पुरुष और प्रकृति में परस्पर मिलनमुद्रा का पूर्वाभास होता है।

३—पराप्रासाद। यह सामान्य मिलनमुद्रा की अवस्था है।

४—प्रासादपरा। यह विपरीतमिलन की अवस्था है।

इसके बाद ही षोडशी है। तब शिव फिर शिव नहीं रहते। पूर्वोक्त चार आसनों के प्रभाव से शिव शववत् सुप्त अवस्था में परिणत होते हैं एवं चैतन्य या शक्ति नाभिद्वार से बाहर निकल कर प्रकाशमान होती है। शक्ति तब अकेली रहती है। तब शिव जड़ रहते हैं। वह उन्मुक्त शक्ति ही उनकी अधिष्ठात्री है।

षोडशी की परावस्था ही परा है। महाशक्ति तब द्विभुजा होती हैं और सुवर्ण पीठ पर आरूढ रहती हैं। आगे और पीछे दोनों ओर जागृति रहती है। पञ्चदशी से

षोडशी पर्यन्त शक्ति रक्त वर्ण थी, इस बार उन्होंने शुक्लवर्ण धारण किया है, रक्त वर्ण अब नहीं रहा। इसके बाद महापादुका[1] है—वही चरण है। षोडशी और महापादुका के अन्तराल में घोर नाद विद्यमान रहता है। यही पर नाद है। महापादुका के नख से परमामृत निकलकर समग्र जगत् को प्लावित करता है। महापादुका के बाद कुछ भी नहीं है—है एकमात्र वह अखण्ड महाप्रकाश। वस्तुतः उस महाप्रकाश में प्रविष्ट होने का द्वार ही यह महापादुका है।

(७)

समग्र विश्व ही चक्रस्वरूप है। यही श्रीचक्र है। बिन्दु से इसका आविर्भाव होता है, फिर बिन्दु में ही इसका लय होता है। आविर्भाव का क्रम यों है—पहले बिन्दु रेखा में परिणत होता है। वास्तव में सरल रेखा ही मूल रेखा है—वायु की वक्रगतिसे यह सरल रेखा विभिन्न प्रकार की वक्र रेखाओं में परिणत होती है। रेखाओं के संयोग से आयतन होता है—उनका भी फिर संयोग होता है। मोटे तौर पर बिन्दु के प्रसार से ही अनन्त प्रकार के चक्रों का उद्भव होता रहता है। चक्र की सृष्टि भी या विश्व अथवा देह की सृष्टि भी वही है। प्रत्येक देवता स्वरूपतः चिदात्मक हैं—केवल भाव के भेद से भेदाभास जागता है, भावभेद होने से ही चक्रभेद भी होता रहता है। जिसे श्रीचक्र कहा जाता है वह भी भाव की ही एक विशेष प्रकार की बनावट है।

बिन्दु ही चक्र का मूल है। शिव और शक्ति के सामरस्य को बिन्दु कहते हैं—इसका नाम रवि अथवा काम है। शिवांश संहारात्मक अग्नि है एवं शक्त्यंश सर्गात्मक सोम है—बिन्दु दोनों का सामरस्य अथवा रवि है। यह स्थितिरूप है।

आद्या शक्ति सर्वतत्त्वमयी प्रपञ्चरूपा है और सर्वतत्त्वों के अतीत है। वह नित्य

---

१. इस महापादुका के प्रसङ्ग में गुह्य उपासनासम्बन्धी योग-साहित्य में अत्यन्त गम्भीर तत्त्व की आलोचना की गई है। यहाँ पर उसकी अवतारणा अनावश्यक है। योगरत्नावली नामक एक हस्तलिखित पुस्तक नेपाल से मँगाई गई थी और हमारे सामने आई थी। उसमें जिस क्रम का निर्देश किया गया है तदनुसार ब्रह्मरन्ध्र में पूर्ववर्णित शिव-शक्ति युगल का स्थान दिखाई देता है। तदनन्तर ऊर्ध्व चक्र में पराप्रासाद का निर्देश किया गया है। निरोधिका में महापादुका दीख पड़ती है। इसके अनन्तर नाद और उन्मना अवस्था हैं। उसके बाद शिवावस्था है। शिवावस्था के अनन्तर निर्वाण होता है। इस निर्वाण में भी एक क्रम है—इस क्रम की परिसमाप्ति जहाँ होती है, वहीं चरम निर्वाण होता है। उसका नाम रखा गया है अखण्ड महाशून्य निर्वाण। योगरत्नावली की धारा से प्रतीत होता है कि चक्षु जीवात्मा का स्थान और इच्छा शक्ति का अधिष्ठान है। उसके बाद त्रिकुटी या आह्लाद चक्र है। वहाँ इच्छा नहीं है और जीवभाव भी नहीं है, किन्तु आनन्द है। ब्रह्मरन्ध्र में शुद्ध शक्तिभाव है—इसलिए शिवभाव स्फुरित होता है—शिव और शक्ति युगल। ब्रह्मरन्ध्र के बाद फिर शक्ति नहीं है, क्रमशः शिवभाव का ही प्रकर्ष चलता है। वह विशुद्ध शिवभाव नहीं है; क्योंकि वहाँ भी मन रहता है। मन को हटाने के मार्ग में पहले ऊर्ध्व चक्र में पराप्रासाद है। उसके उपरान्त निरोधिका में महापादुका है, तदनन्तर नाद से उन्मना पर्यन्त है। उन्मना में मन न रहने के कारण शिवभाव विशुद्ध है, इसलिए साथ ही साथ निर्वाण का उदय होता है। क्रमशः निर्वाण गम्भीर से गम्भीरतर होने लगता है, उससे शिवभाव भी शून्य हो जाता है। यही महाशून्य निर्वाण है, यही निष्कल पद है।

परमानन्दरूप तथा चराचर की बीजस्वरूप है। 'अहम्' शिव का स्वरूप है, अहमाकार ज्ञान अथवा विमर्श शक्ति का स्वरूप है। आद्या शक्ति ही शिव के स्वरूपज्ञान के प्रकाश के लिए निर्मल दर्पणरूप है। अहं ज्ञान ही शिव का स्वरूपज्ञान है—आद्या शक्ति से ही उसका प्रकाश होता है। आगमवेत्ता विद्वान् कहते हैं, जैसे एक सुन्दर राजा स्वाभिमुख स्थित स्वच्छ दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उस प्रतिबिम्ब को अहम् रूप में जानता है वैसे ही परमेश्वर अपने अधीन आत्मशक्ति का दर्शन कर अपना स्वरूप जान लेते हैं। "मैं पूर्ण हूँ" यही उस ज्ञान का स्वरूप है। दर्पण जैसे सन्निकट ब्रह्म के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर प्रतिविम्ब को अवभासित नहीं कर सकता वैसे ही परा शक्ति भी परम शिव के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर स्थित प्रपञ्च को प्रकटित नहीं कर सकतीं। इसीलिए केवल शिव या केवल शक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण कार्य नहीं हो सकता—दोनों का सहयोग चाहिये। दोनों का सम्बन्ध होने से ही सब तत्त्वों का उदय होता है। इसलिए एक प्रकार से चक्र के अवतरण के विषय में किसी का भी प्राधान्य है यह कहना नहीं बनता। इसीलिए शाङ्खायनशाखा में काम और कामेश्वरी की समप्रधानता वर्णित है। वास्तव में शिव और शक्ति एक ही तत्त्व है—"शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः।" तथापि चक्रावतारमें शक्ति का ही प्राधान्य स्वीकृत है। जब वह परा शक्ति स्वेच्छापूर्वक विश्व की सृष्टि करती हैं तब चक्र उत्पन्न होता है—जो विश्व उन्हीं के भीतर अव्यक्त भाव से निहित था वह तब फूट उठता है। परा शक्ति में सृष्टि करने की इच्छा का जागरण प्राणियों के अदृष्ट के विपाकवश होता है। परा शक्ति का विश्वरूप धारण करना ही विश्व की सृष्टि है। यही उनकी स्फुरत्ता है। इस सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ या उदासीन रहते हैं। सब तत्त्वों की समष्टि ही विश्व के नाम से अभिहित होती है। श्रीचक्र एवं अन्यान्य चक्र सब तत्त्वों के संस्थान के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये तत्त्वातीत अवस्था से प्रकटित होते हैं। तत्त्वातीत सत्ता शान्त, शिव और निष्क्रिय है। उससे तत्त्वमय चक्र कैसे आविर्भूत होते हैं? यहीं पर परा शक्ति की आवश्यकता समझ में आयेगी। परा शक्ति की इच्छा ही सृष्टि का मूल है। इसीलिए चक्रावतार में शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है।

अतएव परा शक्ति एक ओर है और उसकी स्फुरत्ता दूसरी ओर है। स्फुरत्ता ही सृष्टि का रूप है। सर्वतत्त्वमय विश्व की सृष्टि, विश्वमय परदेवता चक्र का आविर्भाव और परा शक्ति के द्वारा अपनी स्फुरत्ता का दर्शन एक ही बात है।

इस आविर्भाव में स्वरूपतः क्रम न रहने पर भी बुद्धि द्वारा एक क्रम, वह चाहे जिस किसी प्रकार का ही क्यों न हो, स्वीकार करना पड़ता है। यह क्रम हम लोगों के वर्तमान दृष्टिकोण से निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया जाता है—

१—तत्त्वातीत प्रकाश या शिव। यह निराकार और शून्यरूप (अ) है।

२—द्वितीय अवस्था है शिव-शक्ति का सामरस्य। यह काम अथवा रवि है। यह अग्नीषोमात्मक बिन्दु है। शिव = अ उ, शक्ति = ह। दोनों का सामरस्य ही यह बिन्दु है।

३—तदनन्तर बिन्दु का स्पन्दन अथवा संसरण होता है—इसी का नाम शुक्ल-बिन्दु और रक्तबिन्दु है।

४—पूर्वोक्त संसरण से जो अभिव्यक्त होता है उसका नाम संवित् है। यह चिन्मयी और अग्नीषोमात्मिका है। इसका नाम चित्कला है। अग्नि के सम्पर्क से जैसे घी पिघलकर बहता है वैसे ही प्रकाश के सम्बन्ध से परा शक्ति या विमर्श का स्राव होता है। स्राव होने पर ही लहरें अथवा तरंगें उठती हैं—वही दो बिन्दुओं के मध्य-स्थित हार्ध कला है।

५—इस हार्ध कलायुक्त प्रकाश से ही बैन्दव चक्र का प्रसार होता है। उक्त प्रकाश को ही काम-कलाक्षर कहते हैं। अतएव बिन्दु से ही बैन्दव चक्र होता है सही, किन्तु बिन्दु का स्पन्दन होना चाहिये। यह बैन्दव चक्र ही मध्य त्रिकोण अर्थात् विश्व-जननी का निज स्थान है, जिससे समग्र विश्व का आविर्भाव क्रमशः होता है।

निर्विशेष चिन्मात्र का प्रथम परिणाम ही कामकलाक्षर है—यही महाशक्ति माँ का आविर्भाव है। इसके अनन्तर उनका पट्टाभिषेक अर्थात् सकलभुवनसाम्राज्य के अधिकार के विषय में स्वातन्त्र्य-लाभ होता है (ललितासहस्रनामभाष्य)।

जिस बिन्दु से बैन्दव चक्र उत्पन्न होता है वही परमात्मा हैं—वही महाबिन्दु अथवा सदाशिव हैं। यह बिन्दु वस्तुतः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन तीन मातृकाओं की समष्टि अथवा तुरीय बिन्दु है। इसको केन्द्र बना कर मूल त्रिकोण प्रसृत होता है, इसलिए यह त्रिकोण त्रिमातृकामय और त्रिमातृकारचित कहा जाता है। महाबिन्दु में त्रिमातृका एक बिन्दु के रूप में मिलती हैं। बैन्दव चक्र में वे प्रसृत होकर परस्पर पृथक् भाव ग्रहण करती हुई तीन रेखाओं का भाव प्राप्त कर परस्पर सम्बद्ध होने के कारण त्रिकोण के रूप में परिणत होती हैं। यही विश्वयोनि है—सब तत्त्व अर्थात् छत्तीसों तत्त्व इसकी लहरी स्वरूप हैं। ये सब तत्त्व अथवा समग्र विश्व बैन्दव चक्र से ही उद्भूत हैं। बैन्दव चक्र कामकलाक्षर द्वारा गठित है। अतः सभी तत्त्व और चक्र मूल में कामकलामय हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

देह और कर्म

(क) संक्षिप्त आलोचना

(१)

श्री गुरुदेव कहते थे, "शरीरं केवलं कर्म शोकमोहादिवर्जितम् ।" कर्म से शरीर होता है यह जैसे सत्य है, उसी तरह कर्म के लिए ही शरीर है यह भी वैसे ही सत्य है। शरीर के बिना कर्म भी नहीं होता और भोग भी नहीं होता। प्रारब्ध कर्म का फल-भोग करने के लिए शरीर-ग्रहण करना पड़ता है एवं जब तक शरीर द्वारा वह भोग समाप्त नहीं होता तब तक शरीर-धारण आवश्यक होता है। भोगसमाप्ति के साथ ही साथ देहावसान हो जाता है। जाति, आयु और भोग—ये ही तीन प्रारब्ध के फल हैं। देह के साथ सम्बन्ध ही जाति या जन्म है एवं इस सम्बन्ध का विच्छेद ही मृत्यु है। दोनों का मध्यवर्ती समय उक्त सम्बन्ध का स्थितिकाल है। यही प्रचलित भाषा में आयु कहा जाता है। सुख और दुःख, जो अपने नियतविपाक प्राक्तन कर्म से आ पड़ते हैं, उनका बिना विचारे भोग किये जाना चाहिये। तभी वे कट सकते हैं। अन्यथा भोग-काल में भी नूतन कर्मबीजों के संचित होने की संभावना रहती है।

जिस देह द्वारा कर्म किया जाता है वह कर्म-देह है, जिस देह द्वारा कर्मफल सुख-दुःख का भोग किया जाता है वह भोग-देह है एवं जिस देह से एक ही साथ कर्म भी होता है और भोग भी होता है वह मिश्र देह है। साधारणतः कामधातु स्थित देवता आदि की, पशु-पक्षियों की, प्रेतयोनियों की, असुर आदि की तथा नरकवासी जीवों की देह भोगदेह है। मनुष्य-देह कर्म-देह और भोगदेह दोनों ही है। कर्म कर अर्थात् पौरुष का प्रयोग कर जीवनपथ पर अग्रसर होने की क्षमता एकमात्र मनुष्य में ही है—अन्य प्राणियों में वह सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए मनुष्य का इतना गौरव है। तत्त्व-वेत्ताओं ने इसीलिए नर-देह की इतनी अधिक महिमा गाई है। भगवान् शङ्कराचार्य ने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का आश्रय इन तीनों का जीवन की दुर्लभ सम्पदा के रूप में बखान किया है। भक्त रामप्रसाद ने भी

"मन रे तुमि कृषिकाज जान ना,—
एमन मानव जमिन रइलो पतित,
आबाद करले फलत सोना,"

(अर्थात् अरे मन, तू खेती करना नहीं जानता, ऐसी मानवदेहरूपी जमीन वैरान पड़ी रही। यदि तुम उसे आवाद किये होते तो सोना पैदा करती।) यह कह कर अपने अमर संगीत में मनुष्यदेह का ही उत्कर्ष बतलाया है। यह जो 'कृषिकाज' (खेती) की बात कही गई है इसी का नाम कर्म है—मानवदेह का अवलम्बन कर मन के

द्वारा इसे सम्पन्न करना पड़ता है, इसीलिए मानवदेह का इतना महत्त्व है। प्रकृति के नियमानुसार ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर जीव को अन्त में मनुष्यदेह प्राप्त होती है। तब वह कर्म का अधिकारी होता है और अध्यात्मयात्रा के पथ पर अग्रसर होने का सुयोग-लाभ करता है। इसीलिए हंसगीता में लिखा है—"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।" अविवेक वश भोगवासना द्वारा संचालित मानव असंयत जीवन व्यतीत कर दीर्घ काल तक किये गए कर्मों के फलभोग के लिए कर्मानुरूप भोगदेह प्राप्त करता है एवं इसी तरह निम्न, ऊर्ध्व और मध्य लोकों में भ्रमण करते करते कभी भोगकाल के अवसान में भाग्यवश विवेक का उदय होने से विशुद्ध कर्म करने में समर्थ होता है। योगरूप कर्म को ही विशुद्ध कर्म जानना चाहिए। शुक्ल, कृष्ण और मिश्र इन तीन प्रकार के कर्मों से उनके अनुरूप विभिन्न प्रकार की गतियाँ प्राप्त होती हैं। शुक्ल कर्म ही पुण्य है—जिससे देवलोक में दिव्य देह धारण कर वासनानुसार आनन्दभोग का अधिकार प्राप्त होता है। उसी तरह कृष्ण कर्म या पाप से निम्न लोकों में गति होती है। मिश्र कर्मों से मध्य लोक में मनुष्य-देह उपलब्ध होती है। किन्तु जब तक अशुक्ल और अकृष्ण कर्म अनुष्ठित नहीं होते तब तक मानव-देह की सार्थकता सम्पन्न नहीं होती। पुण्य या पाप के लिए नरदेह-ग्रहण नहीं किया जाता—पुण्यपाप के अतीत शुद्ध आत्मकर्म के लिए ही यह देह धारण की जाती है। जब तक वह नहीं होगा तब तक लोक-लोकान्तर में भ्रमण करने पर भी स्थूल मानवदेह का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

मनुष्य-देह ही कर्मानुसारिणी गति का सूत्र है। यहाँ से ऊपर भी जाया जा सकता है, नीचे भी जाया जा सकता है—विश्व के सब स्थानों में जाने का पथ इसी में पाया जाता है। फिर यदि भाग्य रहे तो यहाँ से ही कर्म के प्रभाव से ऐसा पथ प्राप्त हो जाता है जिसका अवलम्बन करने पर आत्मज्ञान का विकास होने से पूर्णत्व में स्थिति-लाभ हो जाता है।

"योनेः शरीरम्"—योनि से शरीर उद्भूत होता है। नरयोनि श्रेष्ठयोनि है—नरदेह श्रेष्ठदेह है। यह देह एक लघु ब्रह्माण्डरूप है। जो कुछ बाह्य जगत् में है वह सब मनुष्यदेह में है। अतिगम्भीर पातालराज्य के निम्नतल में स्थित गाढ़तम अन्धकार से लेकर ऊर्ध्वतम महाव्योम का अत्यन्त परिस्फुट चिदालोक तक इस देह में विराजमान हैं—किसी का अभाव नहीं है। यद्यपि पृथिवी की देह पार्थिव देह है यह सत्य है, तथापि इसमें प्रकृति के सभी तत्त्व गुप्तरूप से विद्यमान हैं। आत्मा या पुरुष के भोग और सेवा के लिए एवं कर्म के लिए जो आवश्यक है वह सभी देह में ढूँढने से पाया जाता है। देह क्षेत्र कहा जाता है, क्योंकि मन और प्राण के द्वारा इसका यथाविधि कर्षण कर सकने पर इससे कल्पवृक्ष पैदा होता है जो समय पर अमृतरूप फल उत्पन्न करता है।

चेतन और अचेतन—दोनों सत्ताओं के संघर्ष से देह उत्पन्न होती है। लिंग और योनि के परस्पर सन्निकर्ष से यह जन्म-ग्रहण करती है। लिंग अलिंग का चिह्नमात्र है। महालिंग और महायोनि मूलतः यद्यपि एक ही हैं तथापि व्यक्तरूप से लिंग और

योनि में तारतम्य है एवं इस तारतम्य के कारण क्रमिक उत्कर्षवाले ८४ लाख स्तर और उनके अनुरूप ८४ लाख देह विद्यमान हैं। विशुद्ध अहंभाव के विकास के लिए प्रकृति की विशाल विज्ञानशाला में यह विवर्तन-कार्य हो रहा है। मूल अव्यक्त सत्ता से शक्ति के स्पन्दनवश अन्नमय सत्ता का आविर्भाव होता है। अन्नमय सत्ता से प्राणमय सत्ता का विकास और प्राणमय सत्ता से मनोमय सत्ता की अभिव्यक्ति इस विवर्तन के अन्तर्गत हैं। साथ ही साथ देह का क्रमविकास भी जानना चाहिये।

मानवदेह के विकास से पूर्व तक प्राकृतिक प्रेरणा से ही अपने आप विकास कार्य सम्पन्न होता है। 'God made man after His own image' जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यदेह ही भगवत्स्वरूप का प्रतीक अथवा आभास है। मनुष्य की पूर्णता से ही पूर्ण भगवत्ता की अभिव्यक्ति होती है। नररूपी आधार के अतिरिक्त अन्य किसी आधार में अर्थात् पशु आदि के आधार में दिव्यशक्ति का आविर्भाव संभव नहीं। अवतार आदि के व्यापार दूसरे प्रकार के हैं। भक्त राम-प्रसादने जिसे कृषिकार्य कहा है वह एकमात्र इसी नरदेह में ही हो सकता है। क्योंकि इस देह में ही अहंभाव की प्रथम स्फूर्ति होती है एवं इसी देह में अहंभाव की पूर्णता सिद्ध होती है। समस्त जड़ और जीव जगत् की समष्टिसत्ता के घनीभूत होने से मानवदेह रचित होती है। मन और अहंभाव के उन्मेष के साथ-साथ वाक्शक्ति वैखरी के रूप में पहले-पहल इसी देह में प्रकट होती है। यही प्रज्ञा का बीज है, यह कहना अनावश्यक है। वर्णात्मक शब्द की क्रिया और वर्णात्मक शब्द का विलयन व्यापार दोनों इसी देह में होते हैं। नाद और ज्योति, जो बिन्दु से अभिव्यक्त होते हैं, की प्रथम सूचना मानव-देह में ही पाई जाती है। इसी देह में बन्धन का बोध होता है, इसलिए इस देह में ही मुक्ति हो सकती है। कुण्डलिनी की स्थिति इसी देह में है। सुषुम्णा नाड़ी और षट्-चक्रों का अवस्थान मानव से अन्य योनि में यथावत् नहीं पाया जाता। ब्रह्मचर्य का अभ्यास अन्य देहों में नहीं हो सकता। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये अवस्थाएँ पशु आदि में भी होती हैं, परन्तु तुरीय या तुरीयातीत अवस्था एकमात्र मानव में ही हो सकती है। इसलिए कर्म, ज्ञान और भक्तिरूप योग का अभ्यास भी केवल इस मानव-देह में ही हो सकता है।

वास्तविक दिव्यदेह मनुष्यदेह का ही विकास-मात्र है। मानवदेह ही पूर्णता प्राप्त होने पर भगवद्देह के रूप में परिणत होती है। इस परिणति के लिए जो उपाय काम में लाये जाते हैं उन्हीं का नाम कर्म है।

मानव से इतर देहों में चैतन्य और जड़ सत्ता जैसे मिलितरूप में विद्यमान रहती हैं, मानव-देह में भी ठीक वैसे ही रहती हैं। किन्तु निम्न देहों में अहंभाव के अवयवरूप किरणपुञ्ज क्रमविकास के नियमानुसार परिस्फुट नहीं होते। ये सब किरणें देह-स्थित कमल के प्रत्येक दल में अपने स्वरूप को प्रकाशित करती हैं। इन सब बिखरी हुई किरणों को पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त कर एकत्र कर सकने पर ही ज्ञान-ज्योति का विकास होता है एवं दिव्य नेत्र खुल जाता है। षट्चक्रभेद का यही तात्पर्य है। आभासरूप 'अहम्'

क्रमशः विशुद्ध अहं में पूर्णता को प्राप्त होता है। इसलिए मानव-जीवन की सफलता आत्मसाक्षात्कार-प्राप्ति है, यह जानना चाहिये।

किरणें मानवदेह में तेज और कायाग्नि के रूप में प्रकट होती हैं। इनके पूर्णरूप से जागने पर ये ही किरणें संमिलितरूप से ऋषियों द्वारा वर्णित ब्रह्मवर्चस् के रूप में उपलब्ध होती हैं। विज्ञानवेत्ता योगी उन्हें तड़ित्शक्ति या विद्युत् के नाम से अभिहित करते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि मानव-देह में सभी तत्त्व विद्यमान हैं। सरसरी तौर पर ३६ तत्त्व न लेकर यह जानना चाहिये कि प्रचलित २४, २५ या २६ तत्त्व लिये जायं। परन्तु इनमें से पार्थिव देह में पृथ्वीतत्त्व का प्राधान्य है। यह कहना अनावश्यक है कि पाँचों भूतों के स्थूल देह के उपादानरूप में विद्यमान रहने पर भी पार्थिव देह में पृथ्वी की ही प्रधानता है। पृथ्वी का अंश अन्यान्य भूत या तत्त्वों के अंशों के साथ मिला रहता है। इस मिलन या संघात के मूल में है संस्कारोपहित शक्तिरूपी चैतन्य की संहननशक्ति। चित् और अचित् के मिलन से ही सृष्टि होती है यह ध्यान में रखना चाहिये। योगी या कर्मी जब अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं तब उनके क्रियमाण कर्म के प्रभाव से यह संघात नष्ट हो जाता है। परन्तु उसका विनाश क्रमशः होता है, जिससे चैतन्यांश मुक्त होता है और जड़ अंश उससे पृथक् हो जाता है। यह पृथक्करण विवेक की क्रिया है।

दूध या दही मथने पर जैसे मक्खन ऊपर आ जाता है, जैसे गेहूं पीसने पर उनसे आटा बाहर निकलता है, तिल या सरसों घानी में पेलने पर जैसे तेल निकलता है वैसे ही कर्मरूप मन्थनक्रिया के प्रभाव से पार्थिव शरीर से शरीर-स्थित चित्-सम्बन्ध से उज्ज्वल सत्त्वांश तड़ित्शक्ति के रूप में पृथक् होता है। क्रमशः जलीय और अन्यान्य भौतिक अंशों से भी सत्त्वांश पृथक् हो जाता है। स्थूलदेह के सब सत्त्वांश जब तक पृथक् नहीं होते तब तक मन्थनक्रिया की आवश्यकता रहती है। उसके पश्चात् फिर उस क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। तिलों में जितना तेल रहता है उतना सब निकल जाय तो फिर उन्हें पेलने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि अवशिष्ट अंश तेलविहीन असार पिण्ड (खली) मात्र है। वैसे ही स्थूलदेह में जितनी चैतन्यशक्ति बद्ध थी वह सब की सब यदि मुक्त हो जाय तो स्थूलदेह की क्रिया का अवसान स्वभावतः ही हो जाता है। यही प्रकृति का नियम है। अनन्त काल तक विवेकक्रिया नहीं चलती। विवेकमूलक ज्ञान का उदय होना ही कर्म का उद्देश्य है।

वह उद्भूत तेज या शक्ति स्थूलदेह के भीतर स्थित अपञ्चीकृत भूत तथा अन्यान्य तत्त्वों के अन्दर प्रविष्ट होकर उन्हें गलाती है और स्थायी आकार में परिणत करती है। सभी सूक्ष्म तत्त्व सूक्ष्म देह के अवयव हैं, किन्तु उन सब तत्त्वों से स्थायी आकार का गठन इतने दिनों तक हुआ नहीं। इसीलिए वास्तविक सूक्ष्म देह की प्राप्ति साधक को तबतक नहीं होती जबतक कि उसकी स्थूलदेह के कर्मों का अवसान नहीं होता। वे सब तत्त्व उपादान के रूप में प्रत्येक मानव में हैं एवं अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। किन्तु स्थायी देह के रूप में कार्य नहीं करते। देहरूप में जब वे परिणत होते हैं तब स्थूल शरीर का अभिमानी पुरुष स्थूल में अभिमान रहित होकर उस सूक्ष्म

शरीर में अभिमानयुक्त होता है एवं अपने इच्छानुसार स्थूलपिण्ड का परित्याग कर बाहर निकल सकता है और लौट सकता है। योगी के सिवा दूसरा साधारण मनुष्य यह नहीं कर सकता। उसका एक-मात्र कारण यह है कि उसका सूक्ष्म शरीर स्थायी रचना के रूप में नहीं है और उसमें उसका अभिमान भी क्रियाशील नहीं है। प्रकृति के नियम और प्रेरणा से सूक्ष्म आदि अवस्थाओं में सभी के सूक्ष्म शरीर की गति और संचार दिखाई देता है, यह सत्य है। किन्तु वह वासनादि वश प्रकृति के प्रभाव से होता है, स्वेच्छा से नहीं होता। पहले जो कहा गया है उसके सम्पन्न होने पर स्वेच्छा से जैसे स्थूल जगत् में स्थूल देह लेकर व्यवहार किया जाता है वैसे ही अपनी इच्छा के अनुसार सूक्ष्म जगत् में भी सूक्ष्म देह से विचरण किया जाता है।

अनात्मा में आत्मबोध रूप अभिमान जब स्थूल देह का अवलम्बन कर कार्य करता है तब इस अभिमान से ही स्थूल देह से कर्म उत्पन्न होते हैं। किन्तु जब पूर्व लिखित नियम के अनुसार एक ओर स्थूल देह के कर्म समाप्त होंगे और दूसरी ओर स्थायी सूक्ष्म देह सूक्ष्म सत्ता के उपादान से अभिव्यक्त होगी तब वह अभिमान स्वभावतः स्थूल देह का त्याग कर सूक्ष्म देह का आश्रय लेगा। तब वह सूक्ष्म देह को ही 'मैं' समझेगा और स्थूल देह में 'मैं बोध' आभासमात्र हो जायगा। क्योंकि स्थूल देह चैतन्य के हट जाने से तब शववत् रहेगी। अभिमानशील सूक्ष्म देह तब इस शववत् स्थूल देह को अपने अधीन कर अपना आसन बना लेगी। यही वास्तविक शवासन है—पूर्ण योगी की योगक्रिया की परिपुष्टि के लिए यही आसन उपयोगी है। तब स्थूलनिरपेक्ष और शवासन बनाये गये स्थूल में अधिष्ठित सूक्ष्म देह में कर्म आरंभ होता है

यदि प्रारब्ध भोग पहले ही समाप्त हो जाय और स्थूल देह का अन्त हो जाय तो अवशिष्ट कर्म करने के लिए मृत्युके बाद फिर स्थूलदेह-ग्रहण करना पड़ता है। यहाँ पर आत्मकर्म ही कर्मशब्द का लक्ष्य है, यह कहना अनावश्यक है। यदि वह आत्मकर्म न होकर अन्यकर्म हो तो सुख-दुःख भोग के लिए पुनः पुनः जन्मान्तर की आशङ्का बनी रहेगी। पक्षान्तर में यदि किसी के स्थूल कर्मों के समाप्त होने के साथ साथ प्रारब्ध भी समाप्त हो जाय और उसके कारण स्थूल देह का त्याग हो तो ऐसी स्थिति में उसे शवासनरूप में परिणत करने और उसपर अधिष्ठित होकर सूक्ष्म देह से कर्म करने का सुयोग इस जीवन में नहीं मिलेगा।

स्थूल कर्मों के प्रभाव से जैसे स्थूल भौतिक सत्ता से चैतन्य का निर्गम होता है और उस चैतन्यशक्तिरूपी अग्नि के ताप से सूक्ष्म सत्ता विगलित होकर आकार धारण करती है और स्थायी रूप में परिणत होती है, वैसे ही सूक्ष्म देह में अभिमान का उदय होने के बाद सूक्ष्म देह से अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से सूक्ष्म सत्ता में स्थित अविविक्त चैतन्यशक्ति का विवेचन होता है और वही चैतन्यशक्ति पूर्वोक्त प्रणाली से निकल कर कारणसत्ता को विगलित करती है, जिससे कारण सत्ता वास्तविक कारणदेह के रूप में परिणत होती है। जब तक सूक्ष्म सत्ता से उसमें स्थित समग्र चैतन्य या तेज निकाल नहीं लिया जाता तब तक सूक्ष्म देह के कर्म का अवसान नहीं होता।

मृत्यु के पहले यदि सूक्ष्म देह द्वारा अनुष्ठित होने योग्य आत्मकर्म समाप्त हो जाय तो सूक्ष्मदेह भी पूर्ववत् स्थूल के तुल्य शव के रूप में परिणत हो जाती है और अभिमान सूक्ष्म का परित्याग कर कारणदेह का अवलम्बन करता है। अहंभाव तब कारणदेह का आश्रय कर स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों शवासनों के ऊपर अधिष्ठित होता है एवं कारणदेह के कर्म पूर्ण करने में प्रवृत्त होता है। सूक्ष्मदेह के कर्म एक आसन के कर्म हैं, किन्तु कारणदेह के कर्म दो आसनों के कर्म हैं।

किन्तु यदि सूक्ष्म के कर्म पूर्ण होने के पूर्व ही मृत्यु हो जाय तो ऐसी स्थिति में कारणदेह के कर्म पूर्ण हुए बिना देहावसान हो जाने पर भी उसी तरह सूक्ष्म के कर्म अनारब्ध रहते हैं। स्थूलदेहाभिमान रहते रहते स्थूलकर्म निवृत्त होने पर फिर स्थूल देह का ग्रहण करने के लिए मातृगर्भ में प्रवेश करना पड़ता है। किन्तु स्थूलाभिमान निवृत्त होने के अनन्तर या साथ ही साथ मृत्यु होने पर साधारणतः मातृगर्भ में आने की आवश्यकता नहीं होती। तब सूक्ष्मदेह शवासन में उपविष्ट हो चुकी रहती है। इसीलिए वह मृत्यु वास्तविक मृत्यु नहीं है। सूक्ष्माभिमानी शवीभूत स्थूलरूपी आसन पर उपविष्ट योगी तथाकथित मृत्यु के अनन्तर भी आसन का त्याग नहीं करते—सूक्ष्मशरीर में रह कर वह कार्य करते ही रहते हैं। उनके कार्य में बाधा नहीं आती। पर जीवितावस्था में रह कर यदि कर्म किया जा सके तो कर्म अल्प काल में समाप्त हो जाता है—क्योंकि वह कर्म काल का कर्म है। वह त्वरित गति से आगे बढ़ता है। किन्तु स्थूल कर्म समाप्त किये बिना मृत्यु होने पर शवासन की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए दूसरी बार मातृगर्भ में आकर जन्मग्रहण करने को बाध्य होना पड़ता है। उससे छुटकारा पाने का दूसरा उपाय नहीं है। कम से कम एक शवासन प्राप्त कर सकने पर भी योगी आसन पर बैठ सकता है, अतएव उसे गर्भयन्त्रणा और कालराज्य में प्रवेश के उपद्रवों से छुटकारा मिल सकता है। मृत्यु के भीतर से ही अमरत्व का मार्ग है, यह जानना होगा। पशु को मृत्यु से अमरत्व प्राप्त नहीं होता—पशु के लिए **"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति"** पुनः पुनः मातृगर्भ की यन्त्रणा अनिवार्य होती है। किन्तु स्थूलदेह के आवश्यक कर्म यदि पूर्ण किये जा चुके हों और स्थूलदेह को शवरूप से आसन बनाकर स्वयं उस पर अधिष्ठित हुआ जा सके तो वह जन्ममृत्युरहित हो जाता है। किन्तु कर्म की पूर्णता नहीं होती, इसलिए कर्म रहित नहीं होता, महाज्ञान भी उसे प्राप्त नहीं होता। आपेक्षिक खण्ड ज्ञान अवश्य होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि योगी तब कहाँ और किस रूप में रहकर कर्म का क्रमिक विकास करते हैं? इस प्रश्न की विस्तृत आलोचना दूसरे अवसर पर करने की इच्छा है। पर इस जगह इतना ही कह रखता हूँ कि आत्मकर्म का गति-रोध नहीं होता और एक बार शवासन-लाभ होने पर जन्म-मरण से परे कालराज्य की अतीत निर्मल भूमि में योगी आत्मकर्म करते रहते हैं। परन्तु उस कर्म को पूर्ण करने में अधिक समय लगता है। कालराज्य में विकास जितनी द्रुत गति से होता है, अमर देह में उतनी द्रुतगति से नहीं हो सकता।

अस्तु, हम लोगों का लक्ष्य वर्तमान जीवन में कर्म समाप्त करना और नवीन अनन्त कर्मों की धारा में प्रवेश पाना है। प्रकृति से पुरुष को पृथक् कर प्रकृति-जन्य कारणदेह पर्यन्त यदि स्वायत्त न किया जा सके तो इस महालक्ष्य में पहुँचने की आशा नहीं रहती। अभिमान कारणदेह का अवलम्बन कर कारणदेह में कर्म की सूचना करता है। सूक्ष्मदेह के कर्म शेष रहने के बाद और सूक्ष्मदेह के शवासन होकर कारणदेह द्वारा अधिष्ठित होने के बाद योगी कारणदेह को ही आश्रय करके अहं अभिमान का अनुभव करता है। आत्मकर्म चलते ही रहते हैं एवं कारण सत्ता या मूल प्रकृति में निहित गुप्त चैतन्य विविक्त (पृथक्) होने लगता है। जब प्रकृतिरूप कारणसत्ता से चित् शक्ति विविक्त होती है तब योगी को एक अनिर्वचनीय स्थिति के सम्मुख होना पड़ता है। इसी अवस्था में जीवात्मा या पुरुष का स्वरूपज्ञान जाग उठता है। तब योगी अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि पुरुष २४ तत्त्वमय प्रकृति से विविक्त है। उस समय यदि परमेश्वर की महाकृपा का लाभ न हो तो योगी इस स्वरूपज्ञान से प्रकाशमान निज सत्ता में स्थित होता है और कैवल्य-लाभ करता है। माया में भी प्रायः इसी प्रकार की अवस्था का उदय होता है। दो आसनों की क्रियाओंसे यहाँ तक की सिद्धि होती है।

किन्तु इसे मैं महासिद्धि नहीं कहता—यद्यपि यह भी कोई कम नहीं है। प्रकृति से पृथक् होने से ही तो काम चलेगा नहीं—प्रकृति को भी, ठीक प्रकृति नहीं किन्तु कारण देह को भी, आसन बनाना होगा। यदि वह न किया जा सके तो प्रकृति से मुक्त पुरुष को कैवल्य की ही प्राप्ति होगी।

कारणदेह को यदि आसन बनाना हो तो अभिमान का त्याग न कर उसे जाग्रत् रखना होगा। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो अभिमान की पूर्णाहुति का समय आ चुका है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों देह रचित हो चुकी हैं, तीनों देहों में अभिमान समान भाव से कार्य कर चुका है, जिससे तीनों देहों के कर्म समाप्त हो गये हैं। इसीलिए प्रकृति के कर्म समाप्त हो चुके हैं एवं चौबीस तत्त्वों के साथ सम्मिलित भाव से अवस्थित बद्ध चित्सत्ता मुक्त होकर पुरुषरूप में प्रकट हो चुकी है—अतएव कर्म से ज्ञान या आत्मज्ञान उदित हो चुका है। अब कैवल्य स्वतः प्राप्त है, उसमें अभिमान के लिए स्थान नहीं है, प्रयोजन भी नहीं है। क्योंकि करणीय कर्म भी अब अवशिष्ट नहीं रहे। इसलिए यही अभिमान की पूर्णाहुति का समय है।

किन्तु महायोगी इस समय भी समाप्ति नहीं देखते। अभिमान की पूर्णाहुति होती है सही, परन्तु अग्नि बुतती नहीं—अग्नि का निर्वाण होता नहीं। अथवा जैसे निर्वाण में भी अनिर्वाण अग्नि जगाई रखनी पड़ती है उसी तरह अभिमान समाप्त होने पर भी एक विशुद्ध अभिमान के रूप में उसे रखना पड़ता है। क्योंकि महाकर्म तो अभी शेष ही है।

अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वरूपी निर्मल सत्ता से उस अभिमान का योग होता है। पुरुष इस समय परमपुरुष अथवा महापुरुष पद में अभिषिक्त हो गया है, यह कहना अनावश्यक है। प्रकृति के कर्म समाप्त कर तीनों शवासनों पर आसीन होकर योगी

विशुद्ध सत्त्वमय आधार में स्थित हो चुका है। तब वह आधार महाकारणदेहरूपी जानना होगा। यह योगी का विशुद्ध अभिमान या अहन्त्व है। इस आसन पर आसीन होकर ही योगी विश्वकर्म के महाक्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं।

तब उनका व्यक्तिगत प्रयोजन नहीं रहता—सम्पूर्ण जीव-जगत् का प्रयोजन ही तब उनका प्रयोजन होता है। भगवान् व्यासदेव ने योगसूत्र के भाष्य में ईश्वर के सम्बन्ध में कहा है—"**तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।**" उनका एकमात्र प्रयोजन भूतों पर अनुग्रह करना है—जीवों का कल्याणसाधन है, इसके सिवा और कोई प्रयोजन उनका नहीं है। योगी भी तब विशुद्ध सत्त्वमय आधार पर स्थित होकर भूतानुग्रह अथवा जीवसेवा में निरत होते हैं। यही परार्थ कर्म है। गीता में भगवान् ने कहा है—"**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।**"—यह उसी प्रकार का कर्म है।

यहाँ एक गम्भीर रहस्य की बात कहना आवश्यक है। मनुष्य जीवित अवस्था में यदि इस भूमि तक उठ सके अर्थात् तीन आसनों का काम सम्पन्न कर सके अथवा प्रकृति के चौबीस तत्त्वों से चैतन्यसत्ता को पृथक् कर प्रकृति और माया को स्वायत्त कर शुद्ध अभिमान की सहायता से महामाया के मुक्त क्षेत्र में आधिकारिक पुरुष के रूप में अपने को प्रकट करने में समर्थ हो सके तो सारा संसार उसके प्रभाव का अनुभव कर धन्य होता है। उसकी प्राकृत और अप्राकृत देह एक होती है—वही महासिद्ध देह के नाम से परिचित है।

प्रकृति की विज्ञानशाला में इस विराट् अनुष्ठान का आयोजन चल रहा है। बाह्य जगत् को उसका पता नहीं चलता, चल भी नहीं सकता है।

हम लोग जिसे मृत्यु कहते हैं वह बहुत नीचे का व्यापार है। किन्तु नीचे का होने पर भी वह अपरिहार्य है। देह से मानव की सूक्ष्मसत्ता पृथक् होने पर ही हम उसे मृत्यु का नाम देते हैं। किन्तु यदि स्थूल का कर्म अर्थात् स्थूल का योग्य आत्मकर्म समाप्त होने के पहले यह घटना घट जाय तो जीव को अवशिष्ट आत्मकर्म करने के लिए फिर स्थूल देह ग्रहण करनी पड़ती है अर्थात् जन्म लेना पड़ता है। जब तक आत्मकर्म पूरा नहीं होगा तब तक इसी प्रकार चलता रहेगा। क्योंकि स्थूल मनुष्यदेह धारण किये बिना आत्मकर्म करने का उपाय नहीं है। अज्ञानज कर्म से यदि शुद्ध या मलिन भोगदेह की प्राप्ति हो तो उसे कालक्षेप समझना चाहिये। मानवदेह से एक बार च्युत होना भी अत्यन्त दुर्भाग्य है। क्योंकि उससे क्रम-विकास के पथ पर महा विघ्न होता है। मानवदेह से केवल प्रारब्ध भोग न होकर यदि अज्ञानवश नवीन कर्म उद्भूत होते हैं तो वे भी संचित कर्म के भण्डार में संचित हो जाते हैं एवं नियतविपाक होने पर एवं भावी प्रारब्ध की रचना में अंगीभूत होने पर विपाकावस्था को प्राप्त होकर अनुरूप सुख-दुःख रूपी भोग देने के लिए प्रस्तुत होते हैं। यह कर्म-जगत् का प्रतिदिन का व्यापार है। इसकी आलोचना इस जगह अप्रासंगिक है।

यदि स्थूल का आत्मकर्म पूर्ण हो जाय, किन्तु उसी समय प्रारब्धभोग के भी पूर्ण होने से मृत्यु हो जाय एवं उस अवस्था में स्थूल देहको शवासन बनाने का अवसर

न मिले तो ऐसी स्थिति में स्थूल के आत्मकर्म द्वारा शुद्ध सूक्ष्मशरीर के रचित होने के कारण मानव भौतिक सत्ता के ऊपर कैवल्य-लाभ करता है। उसे फिर भौतिक जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता। किन्तु तब यह असुविधा रहती है कि आसनप्राप्ति के अभाव में परलोक में निरालम्ब अवस्था होने से निष्क्रिय भाव रहता है—सूक्ष्म देहोपयोगी आत्मकर्म का सूत्रपात नहीं होता। कैवल्य होने पर भी यह यथार्थ कैवल्य नहीं है, कारण लिंग या सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है—केवल कर्म नहीं कर सकता। वह स्थूल जगत् में आता नहीं, इसीलिए वह एक प्रकार से मृत्युरहित है। किन्तु उसकी भी भावी मृत्यु है। क्योंकि सूक्ष्मदेह जब है तब कभी न कभी उसका कर्म भी करना ही पड़ेगा एवं बाद में उसका भी त्याग होगा (यदि द्वितीय शवासन न बनाया जा सके)। यह सूक्ष्मदेह की मृत्यु मृत्यु ही तो है।

पहले ही कहा जा चुका है कि स्थूल के आत्मकर्म के समाप्त होने और प्रारब्ध-भोग के समाप्त होने के बाद यदि अभिमान को सूक्ष्म में योजित कर स्थूल को शवरूपी आसन में परिणत किया जा सके तो वह पूर्वोक्त निरालम्ब अवस्था का निष्क्रियत्व नहीं होता। क्योंकि तब आसनप्राप्ति हुई रहती है और कर्म आरब्ध हुआ रहता है। इसीलिए अमरभूमि का द्वार खुल जाता है—वहाँ कर्म की क्रम से उन्नति होती है। पर वह दीर्घकाल का व्यापार है। क्योंकि कालके प्रभावके बाहर अमर जगत् में कर्म द्रुत गति से अग्रसर नहीं होता।

स्थूल शरीर साधारणतः प्रारब्ध द्वारा नियन्त्रित होता है। प्रारब्ध अत्यन्त जटिल तत्त्व है। कर्म, अनुग्रह, संस्कार (प्राक्तन) आदि बहुत सी विभिन्न शक्तियों के एकत्र संघटन से प्रारब्ध रचित होता है एवं इच्छा की उत्कटता से उसकी सृष्टि होती है। इसलिए एक दृष्टि से आयु नियत होने के कारण अकाल मृत्यु नहीं होती, यह बात सत्य है। फिर आयु के वृद्धि और ह्रास दोनों ही हो सकते हैं—यह भी सत्य है। यह वृद्धि-ह्रास शक्ति के संयम और अपचय से हो सकते हैं—अथवा बाहर से शक्ति के अनुप्रवेश आदि कारणों से भी हो सकते हैं।

जिस किसी कारण से क्यों न हों इस देह के जीवित रहते-रहते ही योगी अपने समस्त आत्मकर्म समाप्त करने की इच्छा करते हैं। इस देह के रहते ही यदि भौतिक देह को शव बना कर अपने सूक्ष्म शरीर में—चाहे वह आभासमय भावदेह अथवा ज्ञानदेह ही क्यों न हो—अभिमान कर सूक्ष्म का आत्मकर्म किया जाय तो ऐसी स्थिति में इस देह में रह कर भी अमरभूमि में स्थिति की जा सकती है। पर निम्न स्तर में।

(२)

हम पहले ही कह आये हैं कि माता के गर्भ से उत्पन्न स्थूलदेह ही कर्मदेह है। मनुष्य जब तक इस देह को धारण करता है तभी तक वह कर्म करने में समर्थ होता है। इस देह के न रहने पर कर्म नहीं किया जा सकता। केवल कर्मफल का भोग भोगदेह से होता है। कर्म क्या है एवं उसका फल किस प्रकार का है, इसका

विवेचन आंशिक रूप से हम पहले कर चुके हैं। अनात्मकर्म की इस प्रसङ्ग में कर्मरूप से गणना नहीं की जाती। अनात्मकर्म अज्ञान अवस्था में होता है एवं उसके संस्कार से जो सुख-दुःख रूप फल उत्पन्न होता है उसका भोग करने के लिए ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में अथवा मनुष्यलोक में किसी स्थान में तदनुरूप देह ग्रहण करनी पड़ती है। भोगदेह स्वर्गीय हो सकती है, नारकीय हो सकती है एवं पशुपक्षी आदि अवचेतन जीवों की भी भोगदेह हो सकती है। उनके सिवा मनुष्य की कर्मदेह में भी भोगानुभूति होती है, इसलिए आंशिक रूप से मनुष्यदेह भी भोगदेह हो सकती है। किन्तु कर्मदेह मनुष्यदेह के सिवा दूसरी कोई देह नहीं हो सकती। यह हुई अनात्मकर्म की बात। उसी तरह आत्मकर्म की उपयोगी देह भी एकमात्र मनुष्यदेह ही है, इसमें सन्देह नहीं है।

आत्मकर्म के द्वारा आत्मिक स्थिति का उत्कर्ष होता है। तीव्रता के अनुसार कर्म तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। आत्मकर्म तब तक सम्पन्न नहीं हो सकते जब तक देह में चैतन्यशक्ति का उन्मेष नहीं होता। प्रत्येक मनुष्यदेह में यह शक्ति कुलकुण्डलिनी के नाम से निहित रहती है। जब तक इस शक्ति का उन्मेष होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक मनुष्य मनुष्याकार सम्पन्न होकर भी प्रकृतितः पशु के सिवा और कुछ नहीं है। पशुत्व-निवृत्ति का एकमात्र उपाय कुण्डलिनी का जागरण और शिवत्व का विकास है। किन्तु यह कुण्डलिनी का जागरण सबका एक ही मात्रा में नहीं होता। अनेकों का यह कुण्डलिनी-जागरण होता ही नहीं—उनके सम्बन्ध में इस निबन्ध में आलोचना नहीं की जायगी। किन्तु जिनकी कुण्डलिनी उद्बुद्ध होती है उन सब की भी जागरणमात्रा तुल्य नहीं होती, इसलिए सबको एक श्रेणी में रखना नहीं बनता। यदि सद्गुरु साक्षात् भगवत्-शक्ति सम्पन्न हों तो भी शिष्य के आधार की बलवत्ता के ऊपर उनके द्वारा संचारित शक्ति का फल प्रकट होना निर्भर करता है। जिस आधार में जितनी शक्ति धारण हो सकती है सद्गुरु उस आधार में उससे अधिक शक्ति का संचार नहीं करते तथा उससे कम शक्ति का भी संचार नहीं करते।

आधार यदि दुर्बल हो तो कुण्डलिनी का उन्मेष किञ्चित् मात्रा में ही होता है। उसके अनुसार साधक स्वयं अपने कर्म द्वारा उस उन्मेष को और आगे बढ़ाता है। इस प्रकार साधक के अन्तर में एवं बाहर उद्बुद्ध चैतन्यशक्ति का धीरे-धीरे विकास होता है। चैतन्यशक्ति के विकास से अनात्मा में आत्मभाव तो हट ही जाता है, विशेषरूप से आत्मा में आत्माभिमान की पूर्ण अभिव्यक्ति का द्वार भी खुल जाता है। प्रकृति और माया से आत्मस्वरूप का विवेकज्ञान उदित होने पर ही कर्म संस्कार कट जाते हैं एवं जन्ममृत्यु के ऊपर नित्य स्थिति प्राप्त हो जाती है। किन्तु पशुत्व की निवृत्ति हुए बिना भगवत्स्वरूप में स्थिति कदापि नहीं हो सकती। साधक की आत्मा परमात्मासे अभिन्न अथवा परमात्मा की सनातन अंशभूत एवं स्वरूपतः नित्य दिव्यभावापन्न है, वह पशु अवस्था के निम्नस्तर में इन सब प्राकृतिक सूक्ष्म संस्कारों के आवेष्टन से आच्छन्न होकर बद्ध के तुल्य वर्तमान रहती है। दिव्य ज्ञान का

उदय और क्रमशः विकास होने पर उन सब संस्कारों की निवृत्ति तो होती ही है साथ ही साथ मौलिक पशुबीज भी कट जाता है।

साधक कर्म द्वारा गुरु से प्राप्त ज्ञानाग्नि की चिनगारी को अपनी सत्ता में पूणरूप से विस्तृत करता है एवं इस विस्तार की मात्रा के अनुसार अज्ञानज कर्म-संस्कार नष्ट होते हैं। देह कर्मसंभूत है, इसलिए देह रहते समय तक अज्ञान और कर्म-संस्कार पूर्णतया निवृत्त नहीं होते। क्योंकि पूर्णतया निवृत्ति के साथ ही साथ साधारणतः देहावसान अवश्य हो जाता है। इसलिए साधक की पूर्ण सिद्धि देह में रहते समय नहीं हो सकती—लेशमात्र अविद्या अथवा अज्ञान देहावस्था में अवश्य ही रहता है। पूर्ण निर्विकल्पक स्थिति होने के साथ साथ देह-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है एवं आत्मा सर्वसंस्काररहित होकर चिदाकाशमें स्वस्वरूप में विराजमान होता है। इसका किन्ही किन्ही ने कैवल्य अथवा विदेहकैवल्य के नाम से वर्णन किया है। जो साधक इस देह में रहकर देह के सम्पूर्ण कर्म शेष नहीं कर सकते, उनकी गति पूर्वोक्त विवरण के अनुसार समझ लेनी चाहिये।

यह जो साधना का क्रम कहा गया है यह इष्टसाधना का ही क्रम है। क्योंकि साधक का इष्ट देवता कुण्डलिनी शक्ति के सिवा दूसरा कोई नहीं है। साधक चाहे जिस नाम अथवा रूप को ही ग्रहण क्यों न करे एकमात्र कुण्डलिनी ही उसका इष्टदेव है। सिद्धावस्था में साध्य और साधक में कोई भेद नहीं रहता, साधक की आत्मा तब इष्ट रूप में प्रतिष्ठित होती है एवं माया के आभास और संस्कार की केंचुल से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। यह सही है कि अपना व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता परन्तु व्यक्तित्व का उपयोग नहीं होता, क्योंकि व्यापक महासत्ता में अपनी व्यक्तिगत सत्ता तब मग्न हो जाती है। यह निराकार निष्क्रिय चिदात्मस्वरूप में अवस्थान है।

किन्तु जो आधार अपेक्षाकृत सबल रहता है गुरुप्रदत्त अनुग्रहशक्ति के संचार के कारण उसकी अग्रगति भिन्न प्रकार से होती है। इस प्रसंग में हम इस प्रकार के आधारविशिष्ट उपासक का योगी के नाम से उल्लेख करेंगे। योगी का आधार साधक के आधार की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है, इसीलिए उसकी देह में कुंडलिनी शक्ति का विकास प्रारम्भ से ही अधिक मात्रा में हो जाता है।

साधक की साधना जहाँ समाप्त होती है योगी की साधना वस्तुतः वहीं से आरम्भ होती है। इसलिए साधक के कर्म और योगी के कर्म पहले से ही पृथक् रहते हैं। केवल यही नहीं, उन कर्मोंका फल भी पृथक् होता है। साधक के कर्मों से विकल्प-समुदाय अर्थात् वासना, कामनादि संस्कार और उनके मूल बीज निर्मल होकर चिदा-लोक में परिणत हो जाते हैं। उनका विरुद्धभाव मिट जाता है एवं उनकी सत्ता चित्सत्ता के साथ मिल जाती है। अतएव सिद्धावस्था में देह, मन आदि की सम्बन्ध-शून्य निर्विकल्पक चिन्मय आत्मस्वरूप में स्थिति हो सकती है। किन्तु योगी के कर्मों का फल दूसरे प्रकार का है। केवल विरुद्ध शक्ति की विरुद्धता का परिहार ही योगी को वाञ्छनीय नहीं है, किन्तु विरुद्ध शक्ति जिससे विरोध का परिहार कर अर्थात् निर्मल होकर आत्मा की स्वरूपशक्ति में परिणत होती है, वही योगी के कर्म का

लक्ष्य है। शत्रु के शत्रुभाव त्याग कर उदासीन अथवा तटस्थ होने पर ही साधक की आत्मा अपने को मुक्त समझती है। किन्तु योगी इच्छा करते हैं कि शत्रु शत्रुभाव त्याग कर तटस्थ ही न रहे, किन्तु उनके मित्ररूप में परिणत हो जाय। शक्ति का परिहार करना और शक्तिहीन अवस्था में स्थिति ग्रहण करना योगी का उद्देश्य नहीं है। प्राकृत गुण नहीं रहेंगे यह सत्य है, किन्तु अप्राकृत गुणों का विकास होना चाहिये, यह भी योगी का उद्देश्य है। योगी प्रबल शक्तिशाली है, इसलिए उसकी क्रिया से बहिरङ्ग शक्ति बहिरङ्ग तो रहती ही नहीं वरन् अंतरंग शक्ति का रूप धारण कर योगी की आत्मा को बलशाली बनाती है। साधक का आदर्श विदेहकैवल्य है—उस अवस्था में किसी प्रकार के विकल्प नहीं रहते, क्योंकि देह और मन के संयोग के बिना विकल्पों का उदय नहीं हो सकता। किन्तु योगी का आदर्श साकार पिण्ड-सिद्धि है। योगी विकल्प को शुद्ध कर शुद्ध विकल्प के रूप में उसके स्थायित्व की आकांक्षा करता है। यह शुद्ध विकल्प पूर्वोक्त निर्विकल्प स्थिति के अविरुद्ध है। साधक का लक्ष्य है सिद्धावस्था में काम का परित्याग कर निष्काम चित्स्वरूप में स्थिति प्राप्त करना, किन्तु योगी का लक्ष्य है मलिन काम को शोधित कर विशुद्ध कामरूप में अर्थात् भगवत्प्रेमरूप में परिणत करना। यह भगवत्प्रेम मनुष्य-जीवन का मुख्य आदर्श है। इसीलिए योगी मुक्त अवस्था में भी आकाररहित नहीं होते अर्थात् योगी की काया कभी भी परित्यक्त नहीं होती, इस नित्य काया को प्राप्त कर योगी अखण्ड कर्म के पथ पर धीरे धीरे अग्रसर होते रहते हैं।

कोई-कोई यह प्रश्न कर सकते हैं कि 'योगी की नित्य काया प्राप्ति' से क्या समझना चाहिये? वह क्या मृत्युञ्जय अवस्था की प्राप्ति है अथवा कोई दिव्यावस्था विशेष है? इस प्रश्न का समाधान करने के पूर्व मैं कर्म के प्रभाव से काया के निर्माण के रहस्य का संक्षेप में विवेचन करना चाहता हूँ। मैं पूर्व में किसी एक विशिष्ट दृष्टि से इस काया के सम्बन्ध में थोड़ाबहुत विवेचन कर चुका हूँ। इस प्रबन्ध में और भी विस्तृत रूप में इसका विवेचन कर रहा हूँ।

मनुष्य माता के गर्भ से बाहर आकर कालरात्रि के राज्य में अग्रसर होता रहता है। काल के राज्य में जीवन की गति मृत्यु की ओर है, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है। जीवन के आरंभ से लेकर जीवन का अवसान होने तक जो धारा है उसी में काल की खण्ड शक्तियाँ क्रमशः आविर्भूत होती रहती हैं। जैसे एक-एक आना संचित होकर क्रमशः सोलह आने एक रुपये के रूप में परिणत होते हैं वैसे ही काल की एक-एक शक्ति का क्रमशः उपचय होने से सब शक्तियों का उपचय होने पर देहावसान हो जाता है। वस्तुतः वायु जैसे मूलतः सात प्रकार का होने पर भी सप्तीकरण प्रक्रिया के कारण उनचास पृथक्-पृथक् रूपों को धारण करता है वैसे ही एक परिच्छिन्न कालशक्ति पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुरूप प्रणाली से उनचास अणुशक्तियों के रूप में परिणत होती है। मातृकाचक्र के रहस्य की आलोचना करने पर समझ में आ सकता है कि ये उनचास शक्तियाँ ही विषमसंयोग से मातृका-शक्ति के रूप से जीव के हृदय में विकल्पों की रचना करती हैं। ये उनचास शक्तियाँ शुद्ध जीवात्मा को अशुद्धवत् प्रतीत कराकर

अनन्त प्रकार के विक्षेपों के आश्रय के रूप में प्रदर्शित करती हैं। वस्तुतः इन विकल्पों का शोधन हुए बिना आत्मा की स्वरूपस्थिति होना संभव नहीं, योगी का महालक्ष्य तो दूर की बात है, साधक के जीवन का आदर्श भी आत्मा को इन सब मातृकाओं के आक्रमण से बचाना और उनको अपने निज स्वरूप में प्रतिष्ठित करना है। आत्म-कर्म का वास्तविक उद्देश्य यही है। वर्तमान जगत् या समाज में साधारणतः जो कर्म प्रचलित हैं, उनसे इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वे कर्म मूलतः कर्तृत्वाभि-मानमूलक हैं, अतएव पुण्य और पापरूप से जीव को ऊर्ध्वगति अथवा अधोगति में प्रेरित करते हैं—उसे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने में सहायता नहीं देते। उन कर्मों से सुख-दुखभोग होता है, आत्मज्ञान का उदय नहीं होता। यदि कुण्डलिनी-शक्ति तनिक मात्रा में भी जाग न उठे तो अति-निम्न स्तर का आत्म-कर्म भी नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त उनचास मातृका-शक्तियों के योग और वियोग से नाना-प्रकार के भावों का उदय होता है। इन शक्तियों के अप्रबुद्ध अथवा मलिन रहने पर भाव भी मलिन होता है। इस मलिन भाव के शोधन के बिना भावातीत आत्मस्वरूप का बोध किस प्रकार होगा? साधारण मनुष्य आत्मकर्म नहीं कर सकते, इसलिए उनकी ये शक्तियाँ अपरिमार्जित ही रह जाती हैं। अतएव देहावस्था में तो दूर की बात है, देहावसान होने पर भी उनके स्वरूपस्थिति के पथ पर जाने की संभावना नहीं रहती। उन लोगों का परिणाम अत्यन्त भयावह होता है। किन्तु जो लोग साधकरूप में अपने कर्मों के प्रभाव से इन मातृका-शक्तियों का अर्थात् सब अणुओं का संस्कार करने में समर्थ होते हैं वे पूर्ण शोधन के बाद शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति-लाभ कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु सभी शक्तियों का शोधन आवश्यक है। शक्तियों के तनिक भी अशोधित रहने पर स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। यह भी सत्य है कि ये शक्तियाँ भले ही अशुद्ध हों पर इनके सहयोग के बिना आत्मा की देह में स्थिति कदापि संभव नहीं। निष्कर्ष यह कि देहावस्था में रहते शक्तियों का पूर्ण शोधन असंभव है। पक्षान्तर में शक्तियों की पूर्ण शुद्धि होने पर विदेह कैवल्य अवश्यम्भावी है। साधक को सिद्धावस्था में अणुहीन, विकल्पहीन, मातृकासंस्पर्शविहीन, देहहीन और मनहीन सिद्धि प्राप्त होती है। किन्तु योगी अपने प्रबलतर कर्म के प्रभाव से इन सब मातृका-शक्तियों को अन्तरङ्ग स्वरूपशक्ति के रूप में, मातृरूप में परिणत करते हैं। जब यह स्वरूपशक्तिरूप में परिणाम पूर्ण होता है तभी योगी को सिद्ध अवस्था प्राप्त हुई, यह जानना होगा। किन्तु यह विदेह अवस्था नहीं है। शक्ति शोधित होकर निर्मलरूप से योगी के स्वरूप को पुष्टिप्रदान करती है। साधक का काम है अशुद्ध सत्ता को अपने से वियुक्त करना अर्थात् अलग करना, किन्तु योगी का काम है अशुद्ध सत्ता को अशुद्धि से हटाकर निर्मल निज-शक्ति के रूप में परिणत करना और अपने साथ युक्त करना। जो योगी जितनी अधिक मात्रा में इस योजनाकार्य में अग्रसर होते हैं वे उतने ही श्रेष्ठ योगी गिने जाते हैं। वास्तविक सिद्ध योगी वे ही हैं जो उनचास मातृका-शक्तियों में से सभी को आत्मशक्तिरूप में परिणत करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार के सिद्ध योगी नित्य काय-सम्पदालाभ करते हैं। इसी-लिए अपने को विशुद्ध अहं के रूप में जानने की योग्यता का उपार्जन करते हैं। यही

योगी की आत्मस्वरूप में स्थितिरूप सिद्धि है। किन्तु यह साधक की विदेह कैवल्यरूप अवस्था के अनुरूप अवस्था नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में देह रहती है एवं वह देह कालविजयी नित्य देह है।

नित्यदेह-लाभ करके भी भौतिक देह की ओर से इस प्रकार के सिद्ध योगी को भी मृत्यु के मध्य से अतिक्रमण करना पड़ता है। इसलिए योगसाधना के क्रमोत्कर्ष की ओर विचार करने पर ज्ञात हो सकता है कि इसकी एक परावस्था है, अर्थात् ऐसी एक अवस्था है जिस अवस्था में योगी केवल पूर्वोक्त आत्मरूप और नित्यदेह प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं रहता है, किन्तु इस जरा और व्याधि के आधार विकारमय भौतिक देह को भी कालग्रास होने से बचाने में समर्थ होता है।

(३)

पहले जिस शवासन रूप कर्म की बात हम कह आये हैं वह योगी का ही कर्म है, साधक का कर्म नहीं है। साधक अणुओं अथवा विकल्पों को शुद्ध कर विकल्पहीन चिदाकाश में स्थिति प्राप्त करता है, उसका कायानिर्माण नहीं होता। लौकिक काया का परित्याग हो जाता है पर अलौकिक काया का उदय नहीं होता एवं होने की संभावना भी नहीं रहती। किन्तु योगी सम्पूर्ण स्वकाया का निर्माण करने में समर्थ होने पर ही सिद्धिलाभ करते हैं। यद्यपि यह स्वकाया भौतिक काया का रूपान्तर नहीं है तथापि यह भौतिक काया के तुल्य ही सुस्पष्ट स्वरूप है एवं इसका अवलम्बन कर योगी के आत्मज्ञान का विकास होता है, एवं शुद्धअहन्त्वबोध उत्पन्न होकर स्थायी होता है। लौकिक काया के साथ विछोह उसके लिए भी अवश्यंभावी है, क्योंकि लौकिक काया की दूसरी अवस्था होने तक उसे गुप्तरूप से ही रहना पड़ता है। किन्तु स्वकाया की प्राप्ति होने पर ही लौकिक काया से काल के प्रभाव से च्युत होना पड़ता है। शक्तिशाली होने पर भी, यहाँ तक कि सब ज्ञान और सब शक्तियों के प्राप्त होने पर भी इसे अन्यथा करना सम्भव नहीं है। किन्तु योग में उत्कर्ष प्राप्त करने पर इस लौकिक देह का भी रूपान्तर कर इसे आत्माका चिरसाथी बना लिया जाता है। यह अत्यन्त कठिन काम है एवं साधारण साधन-विज्ञान का अगोचर है, किन्तु असम्भव नहीं है। क्योंकि जगत् में ऐसे अनेक योगी आविर्भूत हुए हैं जिन्होंने अपनी अपनी काया को सिद्ध कर कालस्पर्श के अतीत बना डाला है। भारतीय चौरासी सिद्धों की कथा इस प्रसंग में याद आती है। यह सिद्धि पूर्वोक्त अलौकिक देहप्राप्ति की तुलना में उच्चतर सिद्धि है। क्योंकि अलौकिक देहलाभ करने पर शुद्ध अहंज्ञान का कदापि लोप न होने से एक प्रकार से मृत्यु फिर नहीं होती, किन्तु भौतिक देह से विछोह रूप जो मृत्यु है उससे छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु चौरासी सिद्धों को जो कायसम्पत्ति-प्राप्ति की बात कही गई है उसमें लौकिक देह का भी अस्तित्व लुप्त नहीं होता एवं इसीलिए उक्त देहाश्रित आत्मबोध जाग्रत् रहता है। भौतिक देह जड़ होने से हेय है, किन्तु यह देह जब चैतन्य के संयोग से उज्ज्वल चिदाकार को प्राप्त करती है तब यह स्थायी हो जाती है।

इस समय जिस अवस्था की बात कही गई है, उसका उदय होने पर जड़ देह-सत्ता चिन्मय आत्मसत्ता के साथ युक्त हो जाती है एवं आत्मसत्ता से इसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता अथवा इस सत्ता से आत्मसत्ता का भी पार्थक्य नहीं रहता। बहुत कम योगियों को यह गौरवमय स्थिति प्राप्त होती है। किन्तु इसमें भी कमी रहती ही है। आत्मा, मन, देह आदि के विगलित होने से एक अखण्ड चिदानन्दमय सत्ता की प्रतिष्ठा होती है। यह सत्ता स्थूल देह का आश्रय कर बाह्य जगत् में अपने को प्रकट करती है। वस्तुतः इस अवस्था में स्थूल देह, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा अपने अपने पृथक् अस्तित्व का त्याग कर एक अविभक्त महासत्ता के रूप में प्रकाशित होते हैं, उसका अवलम्बन कर आत्मबोध का उदय होता है। किन्तु इस अवस्था में भी वास्तविक पूर्णता का उदय नहीं होता।

साधक और योगी की गति एक-सी नहीं है, क्योंकि दोनों के कर्म समान नहीं हैं। दोनों के लक्ष्य और सामर्थ्य भी भिन्न हैं। साधक कैवल्य चाहता है और योगी चाहता है पूर्ण रूपान्तर। जब तक वास्तविक रूपान्तर पूर्ण रूप से सिद्ध न हो सम्यक् ज्ञान का उदय नहीं होता एवं यथार्थ स्वरूपप्रतिष्ठा भी नहीं होती, यह ध्यान में रखना चाहिये।

जीवन की वर्तमान परिस्थिति में प्रधानतः तीन पर्याय हैं—प्रथम है आत्मा, जिसका आश्रय लेकर परिच्छिन्न अहंभाव सांसारिक जीवन का केन्द्र स्वरूप रहता है, द्वितीय है करणवर्ग, जिसमें अन्तःकरण और बाह्य इन्द्रियसमूह अन्तर्गत है एवं तृतीय है स्थूल देह। जाग्रत् अवस्था में हम लोगों का अभिमान इस स्थूल देह को आश्रय कर कार्य करता है। स्वप्न में वह करणवर्ग को आश्रय करता है, संस्कारों की समष्टि और प्राणमय कोष इसी स्तर में निहित हैं। सुषुप्ति में वह अभिमान लीन-सा होकर केन्द्र में विद्यमान रहता है। साधक साधन के बल से अपने बोध का क्रम से स्थूल से सूक्ष्म में और सूक्ष्म से कारण में उपसंहार करता है। उसके अनन्तर कारण से भी वह बोधशक्ति निष्क्रान्त होती है, तब वह प्रकृति से मुक्त होकर अपने स्वरूप में अर्थात् चित्स्वरूप में स्थित होती है। विवेक होता है पहले कारणभावापन्न अचित् से एवं प्रतिष्ठा होती है अन्त में अपने स्वरूपभूत चित्सत्ता में। यही कैवल्य है। यही साधक का साधन है। प्रचलित बहुत से योगमार्गों का भी यही लक्ष्य है। किन्तु यहाँ (इस निबन्ध में) जिसे 'योग' संज्ञा दी गई है उसका उद्देश्य केवल अचित् से मुक्ति पाना मात्र नहीं है। वह अत्यन्त गम्भीर है। पूर्ण दृष्टि में एक अखण्ड सत्ता ही स्वयंप्रकाशरूप में अपने आलोक से आलोकित होकर भासती है, वही चैतन्यमय आनन्दमय आत्मसत्ता है। उस महासत्ता में वस्तुतः अचेतन का कोई स्थान नहीं है। पहले अर्थात् अप्रबुद्ध अवस्था में जो अचित् प्रतीत होता था वह वास्तव में अचित् नहीं था, ज्ञान की उज्ज्वलता की वृद्धि के साथ ही साथ यह समझ में आ सकता है। अचित् तब चिन्मय होकर आत्मप्रकाश करती है। इसी का नाम रूपान्तर है। केवल ज्ञान के द्वारा यह नहीं होता—विशिष्ट ज्ञान अथवा विज्ञान द्वारा इस प्रकार का रूपान्तर सिद्ध होता है।

विवेक और आत्मप्रतिष्ठा होने के बाद चित् स्वरूपशक्ति के रूप में साधक के अन्तर्गत आत्मिक-स्तर, करणस्तर और भौतिकस्तर को स्पर्श कर क्रमशः उन्हें अपने बल से चिन्मय रूप में परिणत करती है।

विवेक या वियोग के बाद योग की क्रिया का इसी तरह आरंभ होता है। भगवद्-अनुग्रह के पूर्ण प्रकाश व्यापार में पहले जड़त्व मिटता है, पाशों का क्षय होता है एवं अचित्सत्ता से निर्गम होता है। यह व्यतिरेक का मार्ग है। तदुपरान्त पूर्ण भगवत्सत्ता के साथ योग होता है, यह अन्वय का मार्ग है। पहले वियोग होता है, तदनन्तर योग होता है। योग-प्रक्रिया में प्राक्तन (पहले की) जड़सत्ता जड़त्व का परित्याग कर चिन्मय-रूप धारण करती है। तब केवल जीव ही विशुद्ध चित्स्वरूप में स्थिति-ग्रहण करता हो सो बात नहीं है करणसमष्टि भी लुप्त न होकर चिन्मरीचिपुञ्ज के रूप में अथवा चिन्मय रश्मिमाला के रूप में परिणत होती है और भौतिक उपादानों से उत्पन्न देह भी शुद्ध होकर चिदालोक से आलोकित होती है और चिन्मय आकार धारण करती है। तब सर्वत्र चित् की अव्याहत व्याप्ति होती है। इसी का नाम भागवती सत्ता में जागरण अथवा पूर्ण योग-प्रतिष्ठा है।

कर्म द्वारा अर्थात् कर्म से उत्पन्न ज्ञान के प्रभाव से कर्म कटते हैं। केवल वही नहीं, ज्ञान होने के बाद अलौकिक कर्म से अर्थात् योगरूप कर्म के द्वारा अथवा विज्ञान के द्वारा नवीन सृष्टि का उद्गम होता है, नवीन रचना रचित होती है। यही चिन्मय सृष्टि है। प्राकृत शुद्ध मन आदि की चिन्मयता का सम्पादन और अप्राकृत भाव की प्राप्ति इसी का नामान्तर है। केवल मायिक कर्मों के कटने पर जो कैवल्य होता है वह अशुद्ध विज्ञानकैवल्य है। उससे पशुत्व निवृत्त नहीं होता—परन्तु जन्म-मृत्यु का आवर्तन (चक्र) रुक जाता है। उसके बाद आधिकारिक कर्म अथवा ऐश्वरिक कर्म भी जब कट जाते हैं तब महामाया के विराट्-चक्र का भी भेद हो जाता है। अचित्सम्बन्ध नहीं रहता, पशुत्व भी नहीं रहता। इसीलिए माया और कर्मपाश काटकर महामाया का पाश भी छिन्न-भिन्न करना पड़ता है—जीवभाव और शक्ति का भाव—दोनों से ही समानरूप से निस्तार पाना पड़ता है। अशुद्ध और शुद्ध दोनों प्रकार के कारणों से अपना उद्धार करना पड़ता है। तब जिस परमदशा का उदय होता है उसका नाम विशुद्ध विज्ञानकैवल्य है। यह निर्मल आत्मस्वरूप है। किन्तु आत्मा की स्वरूपशक्ति का विकास न होने से यह भी वास्तविक भगवत्सत्ता नहीं है। इस स्थिति में भी परमेश्वर के साथ ऐक्य-लाभ नहीं होता।

तन्त्रमतानुसार यह महाशव की अवस्था है। महाशक्ति का उद्बोधन होने पर अर्थात् परिपूर्ण अभिषेक होने पर यह महाशव शिवरूप में जाग उठता है। भगवत्ता का पूर्ण अभ्युदय तभी संभव होता है।

किन्तु महाशव की अवस्था में न जा सकने पर पूर्ण आत्मप्रकाश की आशा नहीं की जा सकती। आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति और शिवव्याप्तिरूप महाव्याप्ति तदनन्तर अपने आप ही हो जाती है। महाशव की अवस्थाप्राप्ति उत्कट योग-क्रिया के बिना सिद्ध नहीं होती। इस क्रिया में गुरुशक्ति का ही प्राधान्य रहता है।

(ख) ज्ञानगञ्ज-रहस्य

(१)

देह और कर्म के सम्बन्ध में पहले संक्षेप में जो कुछ आलोचना की गई है उसके सम्बन्ध में और भी बहुत बातों की आलोचना करना आवश्यक है। किन्तु उसके पहले मैं ज्ञानगञ्ज[१] के तत्त्व के सम्बन्ध में अपने ज्ञान के अनुसार कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा, क्योंकि देह और कर्म तत्त्व के साथ ज्ञानगञ्ज का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञानगञ्ज के रहस्य का उद्‌घाटन किये बिना इस विषय का वास्तविक सिद्धान्त ज्ञात होना संभव नहीं है।

सिद्धभूमियाँ अनेक हैं—शास्त्रानुशीलन से उनका परिचय प्राप्त हो जाता है एवं किसी किसी शक्तिशाली महात्मा को अपने जीवन में उनके सम्बन्ध में कुछ कुछ प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त होता है। कहा जाता है कि ज्ञानगञ्ज हम लोगों की इस सुपरिचित पृथिवी में एक गुप्त स्थान है, किन्तु वह ऐसा गुप्त है कि विशिष्टशक्ति का विकास हुए बिना एवं उस स्थान के अधिष्ठाता की अनुज्ञा प्राप्त किये बिना इस मर्त्यजीव के दृष्टिगोचर नहीं होता। सभी सिद्धभूमियों की यही विशिष्टता है। सिद्धभूमि स्वयंप्रकाश होने पर भी जिन जीवों को उस स्थान से किसी प्रकार की शक्ति का आनुकूल्य प्राप्त न हो, उनके लिए उसके दुर्भेद्य रहस्य का भेद करना यदि असम्भव कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। विभिन्न सिद्धभूमियों के स्वरूप, परिस्थिति और क्रियाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। भिन्न भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए विभिन्न

---

१. यह एक सिद्ध योगाश्रम है। इस आश्रम का संक्षेप में कुछ विवरण "भारतीय संस्कृति और साधना" के प्रथम खण्ड में "सूर्यविज्ञान" नामक लेख में दिया गया है। यह स्थान जागतिक परिभाषा के अनुसार हिमालय की उत्तर भूमि तिब्बत में माना जाता है। परन्तु यह स्थान सिद्धपीठ होने के कारण साधारण लौकिक दृष्टि का गोचर नहीं है। इसीलिए भौगोलिक दृष्टि से इस स्थान के विषय में गवेषणा या अनुसन्धान करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। क्योंकि उस प्रकार का परिश्रम करने से किसी प्रकार के तथ्य का निर्णय नहीं होगा। यह सिद्धस्थान है। सिद्धदेह जैसे स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों देहों के धर्म से विशिष्ट होती हैं वैसे ही सिद्धस्थान भी हुआ करते हैं अर्थात् ये स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म के अनुरूप तथा सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल के सदृश प्रतीत होते हैं। इस भूमि के जिस समय जो अधिष्ठाता रहते हैं, उनकी इच्छा के बिना न वह स्थान दृष्टिगोचर ही हो सकता है और न उसमें प्रवेश ही हो सकता है। इसका आन्तरिक विवरण देना अनुचित तथा अप्रासंगिक है। वस्तुतः यह सर्वथा गुप्त योगाश्रम है। परन्तु इतना बतला देना अनुचित न होगा कि अलौकिक होने पर भी यह कर्मभूमि ही है। स्वर्गादि के सदृश केवलमात्र भोगभूमि नहीं है। इस प्रकार के बहुत स्थान भारतवर्ष के किसी किसी स्थान में विद्यमान हैं तथा भारतवर्ष के बाहर भी कहीं कहीं होंगे। इस लेख के लेखक के गुरुदेव महायोगी श्री विशुद्धानन्द जी इस आश्रम से संसृष्ट किन्हीं महापुरुष की कृपा से किशोर वय में ही अलौकिक उपाय से वहाँ पहुँचे थे एवं वहाँ सद्‌गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर तथा सुदीर्घकाल तक उस आश्रम में रहकर योग और विज्ञान का अभ्यास कर लोकालय में लौटे थे। मर्त्यलोक में इस आश्रम से संसृष्ट जिन योगियों का कर्म पूर्ण नहीं हो पाता उनको देहावसान के बाद यहाँ अपने अपूर्ण कर्म पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है।

भूमियाँ प्रतिष्ठित हुई हैं। इस सिलसिले में सिद्धभूमि, दिव्यभूमि आदि सब जीवों के अलौकिक निवास स्थान एक वर्ग के अन्तर्गत माने गये हैं। किन्तु वास्तव में उनका परस्पर भेद और प्रत्येक का अपना अपना पृथक् वैशिष्ट्य विद्यमान है। गोलोकधाम, नित्य वृन्दावन, कैलास, नित्य साकेत आदि स्थानों का महत्त्व भिन्न भिन्न प्रकार का है। इस प्रकार के विशिष्ट स्थान मायिक जगत् में भिन्न-भिन्न स्तरों में बहुत हैं, माया के ऊर्ध्व में भी हैं। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है केदारेश्वर, जल्पेश्वर, महाकाल तथा श्रीशैल—ये भुवन तेजतत्त्व में विद्यमान हैं। उन्हीं के अंश का अवलम्बन कर योगी जनों ने पृथिवी पर अर्थात् भारतवर्ष में ये सब नाम देकर तीर्थों की स्थापना की है। उसी तरह अट्टहास, कनखल, कुरुक्षेत्र और गया ये वायुतत्त्व के भुवन हैं। अविमुक्त, गोकर्ण और स्थाणु—आकाशतत्त्व के भुवन हैं। इसी तरह सर्वत्र समझना चाहिये। मलिन माया के ऊपर विशुद्ध माया राज्य में भी अनेक भुवन हैं, जिनके प्रतिरूपक पृथिवी में स्थापित हुए हैं। बौद्ध शास्त्र के अनुसार अनास्रव धातु में भी विभिन्न बुद्ध-क्षेत्र और दिव्यधाम वर्तमान हैं। पृथिवी में ऊर्ध्वलोक के प्रायः सभी स्थान आंशिक रूप से अवतीर्ण होकर प्रकट हुए हैं। इन सब अंशों का अवलम्बन कर अल्प आयास से ही मूल स्थान प्रकाशित किया जाता है। इसलिए हमारे इस सुपरिचित वृन्दावन से भी नित्य वृन्दावन का पता लग सकता है एवं इस जागतिक दृष्टिगोचर काशी से भी सुवर्णमय शंकर के त्रिशूल पर प्रतिष्ठित नित्य काशी के दर्शन प्राप्त किये जाते हैं। सर्वत्र ही अविच्छिन्न योगसूत्र रहता है।

ज्ञानगञ्ज की आलोचना के समय यह स्मरण रखना चाहिये कि यह स्थान साधारण भौगोलिक स्थान के तुल्य नहीं है। यह यद्यपि गुप्तरूप से पृथिवी पर विद्यमान है तथापि इसका वास्तविक स्वरूप बहुत दूर है। वास्तविक योगियों के सिवा इस स्थान का पता कोई दूसरा नहीं पा सकता, इसमें प्रवेश पाना तो दूर की बात है। पर आधिकारिक लोगों की कृपा होने पर इस जगत् के साधारण मनुष्य भी वहाँ जाने में समर्थ होते हैं। भौम (भूमिस्थ) ज्ञानगञ्ज कैलास से आगे और ऊर्ध्व में स्थित है। किन्तु ऐसा होने पर भी वह साधारण पर्यटकों की गतिविधि के परे है। ज्ञानगञ्ज, राजराजेश्वरी मठ एवं उस स्थान के अधिष्ठाता महायोगी का मन्दिर ये स्तरविन्यास के दृष्टिकोण से विभिन्न स्तरों में स्थित हैं। ज्ञानगञ्ज ही सबसे नीचे का स्तर है, राज-राजेश्वरीमठ मध्यस्तर है एवं महातपा महायोगी का स्थान सबसे ऊपर है। यह स्थान योगियों द्वारा निर्मित है। यह सृष्टि के आदि में लोकस्रष्टा (ब्रह्मा) की सृष्टि के रूप में प्रकट नहीं हुआ। ध्रुवलोक जैसे किसी साधक की तपस्या से किसी समय प्रकट हुआ, गोलोक जैसे श्रीकृष्ण के भूमि पर अवतरण के साथ सम्बद्ध उच्चतम नित्यधाम है, सुखावती जैसे अनास्रव धातु में अमिताभ बुद्ध की विशुद्ध शक्ति के प्रभाव से प्रतिष्ठित है, ज्ञानगञ्ज भी वैसे ही किसी योगी की तीव्रतम योगसाधना के प्रभाव से विश्व के कल्याण का महालक्ष्य पूर्ण करने के उद्देश्य से रचित हुआ है। वस्तुतः नित्य होने पर भी वह निमित्त योग से प्रकट हुआ है।

ब्रह्मा की सृष्टि के साथ उसका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध क्या है

उसकी आलोचना ही देह और कर्म तत्त्व की आलोचना है। इस जगह उसी बात को संक्षेप में कहने की इच्छा है।

(२)

कर्म के असंख्य प्रकार के भेद हैं, वे यहाँ हमारी विवेचना के विषय नहीं हैं। हम यहाँ केवल साधक और योगी के कर्मों के सम्बन्ध में आलोचना करेंगे। जो साधक नहीं और योगी भी नहीं, उनके कर्मों की आलोचना करना प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। जन्ममृत्यु के अतीत होना साधक का एकमात्र लक्ष्य है। प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय में साधकों का जो स्थान है हमारी आलोचना के क्षेत्र में साधकों का स्थान भी कई अंशों में उसी के अनुरूप है। साधक को ज्ञान प्राप्त होता है एवं उस ज्ञानाग्नि से अशुद्ध वासना को जलाकर मायिक उत्पत्ति के मूल बीज को जलाने में वह समर्थ होता है। फलतः उसे जन्ममृत्यु के अतीत कैवल्य स्थिति के तुल्य स्थिति प्राप्त होती है। यह अवस्था प्राप्त होने पर उसका पतन नहीं होता यह ठीक है, किन्तु वह फिर ऊपर भी चढ़ नहीं सकता एवं पूर्ण भगवत्ता के पथ पर अग्रसर भी नहीं हो सकता। साधक का लक्ष्य भी जैसा लघु है उसका आधार भी वैसा ही लघु है। वह गुरु की तीव्र शक्ति धारण नहीं कर सकता, इसलिए गुरु उसकी सामर्थ्य के अनुरूप ज्ञान ही प्रदान करते हैं।

यह जो ज्ञानप्रदान की बात कही गई है, इसके साथ कुण्डलिनी शक्ति के प्रबोधन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सद्गुरु साधक में शक्तिपात के समय ठीक उतनी मात्रा में शक्ति का संचार करते हैं, जिससे उसकी कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्व गति का अवलम्बन करती हुई अग्रसर होने में समर्थ हो। जो अशुद्ध वासनाएँ साधक के अन्दर निहित ज्ञानशक्ति को आच्छन्न कर रखती हैं वे गुरुकृपा से कुण्डलिनी के जागरण के साथ-साथ जल जाती हैं। इससे साधक की अन्तरात्मा शुद्ध होकर गुरुदत्त चिन्मय शक्ति-स्वरूप इष्ट का आकार धारण करती है। यह क्रम से होता है। इससे साधक की दीक्षा के उपरान्त उसके यथाविधि किये गये निज कर्मों के प्रभाव से प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति बढ़ कर क्रमशः चैतन्य रूप में अपना विस्तार करती है एवं धीरे-धीरे समस्त देह, इन्द्रिय, मन आदि को चिन्मयत्व प्रदान करती है। अशुद्ध वासनाओं को हटाना ही चित्-शक्ति का काम है। इस कार्य के सम्पन्न होते-होते अपने साथ अभिन्न रूप से इष्ट-स्वरूप क्रमशः अभिव्यक्त होता रहता है। किन्तु वह साधक के दृष्टिगोचर नहीं होता। क्योंकि अशुद्ध वासना का कुछ भी अवशेष विद्यमान रहने तक शुद्ध वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि अशुद्ध सत्ता यदि किञ्चित् मात्रा में न रहे तो देह, इन्द्रिय आदि को अपने रूप में सुरक्षित रखना असंभव है। इस शोधन कार्य के पूर्ण होने पर मलिन वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। तदुपरान्त वह एकदम नहीं रहतीं। तभी निर्विकल्प ज्ञान का उदय होता है एवं साथ ही साथ देहपात हो जाता है। निर्विकल्प ज्ञानके उदय का तात्पर्य यह है कि साधक तब वासनानिर्मुक्त

होकर अपने को इष्ट के साथ अभिन्न रूप में देखता है। यही एक प्रकार से उसका इष्ट-दर्शन है एवं अन्य पहलू से देखा जाय तो यही उसका आत्मदर्शन है।

गुरुकृपा को सहायक बनाकर साधक अपनी शक्ति के प्रभाव से सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है एवं सिद्धावस्था में उसे चिदाकाश में स्थिति प्राप्त होती है। तब वह वासनामुक्त चैतन्यमय आत्ममात्र है। उसमें किसी शक्ति का विकास नहीं रहता एवं उसका कुछ प्रयोजन भी नहीं रहता। किन्तु जो साधक इस प्रकार देहावस्था में रहते-रहते साधन कर्म पूर्ण नहीं कर पाते उनकी इस प्रकार मरणानन्तर चिदाकाश में स्थिति नहीं होती। वे साधक अपने अपूर्ण कर्म को पूर्ण करनेका अवसर फिर नहीं पाते, क्योंकि साधक का तो आसन है नहीं। वर्तमान देह के त्याग के बाद आसनप्राप्ति के अभाव से साधक निष्क्रिय हो पड़ता है। उसकी आगे गति एकदम रुक जाती है। इस देह के रहते-रहते जिसका जितना विकास हुआ था वह वहीं निश्चयरूप से स्थित रहता है। प्रकृति का स्रोत उसे अर्थात् उसके तत्त्व को चिदाकाश की ओर खींच ले जाता है यह सत्य है, किन्तु साधक स्वयं उसे जान नहीं पाता।

योगी की आध्यात्मिक गति ठीक इस प्रकार की नहीं है। जन्मकाल से ही योगी का आधार अधिकतर शुद्ध रहता है। इसलिए सद्गुरु उसे योगदीक्षा प्रदान करते हैं। उसमें संचारित शक्ति की मात्रा तीव्र होती है एवं आगे बढ़ने की पद्धति भी भिन्न होती है। आधार परिपक्व हुए बिना तीव्र शक्ति धारण नहीं की जाती एवं तीव्र शक्ति की क्रिया के बिना पूर्ण अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठाप्राप्ति भी नहीं होती। योगी को प्राप्त शक्ति केवल परिमाण में तीव्र होती हो यह बात नहीं है, उसकी प्रकृति भी भिन्न होती है। इस शक्ति के प्रभाव से केवल मलिन वासनादि संस्कार दग्ध होते हों सो बात नहीं है, वह शोधित होकर योगी के सहायक रूप से उसके नित्य के साथी हो जाते हैं। साधक के क्षेत्र में भगवदनुग्रह से प्रतिकूल शक्ति प्रतिकूलता का त्याग कर तटस्थ रूप धारण करती है, किन्तु योगी के क्षेत्र में केवल शक्ति की प्रतिकूलता ही निवृत्त होती हो सो बात नहीं है, वरन् वह अनुकूल शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। यह अनुकूल शक्ति तब योगी की आत्मशक्ति के रूप में प्रकट होती है। साधक को साधना की समाप्ति में निराकार चित्स्वरूप में स्थिति प्राप्त होती है, किन्तु योगी योग-क्रिया की महिमा से विशुद्ध साकार रूप में विराजमान होते हैं। योगी कदापि निराकार अथवा कायाहीन नहीं रहते। साधक के कुण्डलिनीजागरण से योगी का कुण्डलिनी-जागरण अनेक अंशों में पृथक् है। साधक गुरुदत्त शक्ति को मूलधन के रूप में ग्रहण कर उसे अपने कर्म द्वारा संवर्द्धित करता है—उसके कारण उक्त शक्तिरूपी चिदग्नि द्वारा उसके मलिन वासनादि क्रमशः दग्ध हो जाते हैं एवं चरम अवस्था में वासनादि की पूर्ण निवृत्ति के साथ ही साथ साधन-कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा साधक इष्ट के रूप में अपने को प्राप्त होता है। यही उसकी सिद्धि है—यह विदेह अवस्था है। वासना निवृत्ति का आनुषङ्गिक फल देहावसान है। पक्षान्तर में योगी को कर्म द्वारा चित्शक्ति से चिन्मय आकार का गठन करना नहीं पड़ता। योगी उच्च अधिकार सम्पन्न है,

इसलिए उसे दीक्षाकाल में ही गुरुदत्त चिदाकार प्राप्त होता है। योगी का कर्तव्य चित्शक्ति द्वारा आकार की रचना करना नहीं है, किन्तु कर्म के बल से गुरुदत्त चिदाकार के साथ संघर्ष कर मलिन वासना को शोधित कर उसे अनुकूल शक्ति के रूप में परिणत करना है। सर्वशक्तिसम्पन्न इस चिन्मय आकार का योगी को अपने साथ अभिन्न रूप से बोध होता है, किन्तु योगी उसका भी अतिक्रम कर उत्थित होता है। अर्थात् योगी इस चिन्मय आकार को प्राप्त होकर उद्वृत्तरूपसे इसका साक्षी और नियामक होता है। यह आकार वस्तुतः महाशक्ति विश्वजननी का ही एक आकार है। योगी अपने स्वरूप से इस आकार को प्राप्त होकर क्रमशः इसके पूर्णत्व-साधन में तत्पर रहता है। इस पूर्णता की प्राप्ति की मात्रा के ऊपर ही उसके विश्व-कल्याण साधन की मात्रा निर्भर है।

साधक संकुचित है, किन्तु योगी उदार है। अपनी व्यक्तिगत दुःखनिवृत्ति ही साधक का लक्ष्य है, किन्तु योगी का लक्ष्य केवल अपने दुःख की निवृत्ति नहीं है। क्योंकि योगी परार्थसेवक होने से अपनी दुःखनिवृत्ति के साथ-साथ दूसरों की दुःख-निवृत्ति के उपाय का भी अवलम्बन करते हैं। इसीलिए योगी के सिवा और कोई यथार्थ गुरु नहीं हो सकते।

(३)

साधक और योगी के स्वरूप और क्रिया भेद संक्षेप में ऊपर कहे गये हैं। किन्तु सभी योगी एक ही प्रकार के नहीं होते। योगी का सामान्य लक्षण प्रत्येक योगी में ही रहता है, यह सत्य है, किन्तु लक्ष्य का तारतम्य भी अवश्य रहता है। इस दृष्टि-कोण के अनुसार योगियों का खण्ड और अखण्ड दो भागों में विभाग किया जाता है एवं खण्ड योगियों का भी खण्ड और महाखण्ड इन दो भागों में विभाग किया जा सकता है। इस विभाग के कारण खण्ड, महाखण्ड और अखण्ड ये ही तीन प्रकार के योगी हमारी आलोचना के विषय हैं। खण्ड योगी ऐसे एक उच्च आदर्श को लक्ष्य में रख कर योगमार्ग में अग्रसर होते हैं जो चिदाकाश के ऊपर प्रतिष्ठित है। जो चिदा काश साधक की कर्मसमाप्ति का स्थान होने से परम लक्ष्य है। उसका भेद यदि न किया जा सके तो वह योगी के लक्ष्य स्थान में नहीं पहुँच पाता। यह अति उच्च अवस्था है एवं जागतिक दृष्टि के अनुसार परमेश्वरत्व इसी भूमि में प्रतिष्ठित है। कर्मों के प्रभाव से इस भूमि को प्राप्त करना ही खण्ड योग का लक्ष्य है। हम महाखण्ड और अखण्ड योग की चर्चा बाद में करेंगे। संक्षेप में खण्ड योग के रहस्य के सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहते हैं।

खण्ड योग का लक्ष्य जो योगभूमि है, वह योग-दीक्षा प्राप्त किये बिना प्राप्त नहीं की जा सकती। क्योंकि दीक्षा के बाद कर्म की अभिव्यक्ति आवश्यक है। दीक्षा द्वारा उस भूमि के प्राप्त होने का अधिकार-बीज हृदय में निहित होता है, किन्तु उस बीज को अङ्कुरित कर, वृक्ष के रूप में परिणत कर पुष्प और फल के रूप में प्रकाशित करना योग-कर्म के अधीन है। योगी यदि कर्महीन अथवा कर्म में उदासीन रहे तो

गुरु-प्रदर्शित लक्ष्य उसे प्राप्त नहीं हो सकता। दीक्षा-काल में गुरु कृपा अथवा अनुग्रह-शक्ति का संचार करते हैं। उस शक्ति को पूर्ण करना पड़ता है अपने पुरुषार्थ अथवा कर्म द्वारा। यह कर्म कृपा द्वारा परिचालित होता है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु कर्म कर्म ही है और कृपा कृपा ही है। कर्म का प्रयोजन कृपा द्वारा सिद्ध नहीं होता। यदि कोई खण्ड योगी गुरु अर्थात् सद्गुरु द्वारा दीक्षित होकर उनकी कृपाशक्ति प्राप्त करने पर भी स्वयं अनुरूप कर्म न करें तो ऐसी स्थिति में उनका अत्यन्त ही दुर्भाग्य कहना पड़ेगा। क्योंकि गुरु ने जो महा लक्ष्य उनके सामने रख दिया उसे आयत्त करने का पूर्ण अधिकार गुरु से पा कर भी वह कर्म में आलस्य करने से लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके। जीवन का काल परिमित है। इस परिमित काल में कर्म पूर्ण करना आवश्यक है। क्योंकि देहत्याग के बाद विदेह अवस्था में कर्मदेह के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण कर्म करने का अवसर नहीं मिलेगा एवं योग-पथ में अग्र गति भी रुक जायगी। इस रक्त-मांस की देह के रहते रहते कर्म समाप्त होना आवश्यक है। अन्यथा लक्ष्य-प्राप्ति की आशा एक प्रकार से बहुत दूर चली जायगी। मरणशील देह में कर्म कर सकने पर अत्यन्त स्वल्प समय में ही कर्म समाप्त हो जाता है। कर्म समाप्त किये बिना प्रवाह में बह कर लक्ष्य भूमि में पहुँचने पर भी उस पहुँचने का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि तब कमल के विन्दु में स्थान प्राप्त नहीं होता, दल में अपनी योग्यता के अनुसार स्थानप्राप्ति होती है। किन्तु साधारणतः दल में भी स्थान पाने का अधिकार होना कठिन है, दल के बाहर ज्योति में डूब कर रहना पड़ता है।

किन्तु योगी गुरु शिष्य को योग दीक्षा देने के बाद उसे आश्रयस्वरूप आसनदान किये रहते हैं। यह आसनदान एक रहस्यमय व्यापार है। आसन देने पर ही समझना होगा कि उसे निरन्तर कर्मका अवसर दिया गया। किन्तु आसन बिछाना पड़ता है भूमि के ऊपर। इसलिए गुरु को आसनदान के साथ साथ आसन बिछाने के लिए भूमि भी देनी पड़ती है। किन्तु यह भूमि है कहाँ ? योगी शिष्य को जब आसन प्राप्त हुआ तब समझना चाहिये कि देहपात के अनन्तर भी उसकी आत्मिक सत्ता निरालम्ब अवस्था में उड़ती हुई विद्यमान नहीं रहेगी। उसे भूमि पर बैठने का अवसर प्राप्त होगा। इस भूमि पर अपने अपने आसन पर बैठ कर उन्हें कर्म करना होगा। यह कर्म अति दीर्घ काल साध्य है, क्योंकि यह मरणशील देह का कर्म नहीं है। किन्तु मरणशील देह न होने पर भी यह भी कर्मदेह है यद्यपि इस कर्मदेह में तीव्र वेग से कर्म सिद्ध नहीं होता। योगी शिष्य को मृत्यु के बाद अवशिष्ट कर्म करने के लिए जो विशुद्ध व्यापक भूखण्ड प्राप्त होता है, उसको गुरु-धाम कहा जाता है। उस स्थान पर प्रत्येक योगी अपने अपने आसनों पर आसीन होकर कर्म में निरत रहते हैं। सुदीर्घ काल में उस कर्म के प्रभाव से योगी का योग-चक्षु उन्मीलित होता है। वास्तव में तभी योगी का यथार्थ योगपथ खुल जाता है। उस पथ पर चलने के समय गुरुधाम की काया भी फिर नहीं रहती। तब दृष्टिमय दिव्य स्वरूप में मध्य रेखा को पकड़ कर क्रमशः चलते चलते चिदाकाश का भेदकर लक्ष्यस्थान में पहुँचना पड़ता है। लक्ष्य स्थान से यहाँ कमल का कोई न कोई एक दल

(पांखुड़ी) समझना होगा—कर्णिका नहीं। कमल की कर्णिका में जाने का अधिकार एकमात्र उन्हीं को है जो मरणशील देह में रहकर संपूर्ण कर्म समाप्त करने में समर्थ होते हैं। सर्वत्र ही मरणशील देह के कर्म का पूर्ण प्रभाव न रहने पर कमल की कर्णिका में बैठने की योग्यता प्राप्त नहीं होती। कर्णिका में बैठने के माने ही अङ्गी-रूप में अथवा अङ्गरूप में चक्र का अधिष्ठाता बनना अर्थात् समग्र राज्य का अधि-कारी होना या राजा के तुल्य सिंहासन पर बैठना है। दल में बैठने का तात्पर्य है साधारण प्रजा के तुल्य बिन्दु की अधीनता स्वीकार कर प्रजा के रूप में अपना स्थान प्राप्त करना। दोनों में बड़ा अन्तर है।

अतएव पूर्वोक्त विवरण से समझ में आ सकेगा कि वास्तविक योगदीक्षा प्राप्त होने पर मृत्यु के बाद गुरुस्थान में गमन होता है एवं वहाँ पूर्वनिर्दिष्ट स्वस्थान प्राप्त होता है। सिद्धभूमि अधिकांश स्थलों में इसी गुरुस्थान के अन्तर्गत है। अवश्य इसके बाहर भी सिद्धभूमि न हो, सो बात नहीं है। गुरुधाम से जो गति प्राप्त होती है, जो खण्ड योगी को लक्ष्य तक चला ले जाती है, उसमें देहभेद सिद्ध नहीं होता एवं यथार्थ मध्य रेखा भी प्राप्त नहीं होती। यह बात अत्यन्त कठिन है, इसे समझे बिना हमारे वक्तव्य का अभिप्राय परिस्फुट न होगा। स्वयं विश्वजननी कोई न कोई रूप धारण कर जिस योगी का योगचक्षु खुल गया हो उसके निकट अपने को प्रकट करती हैं। उनका वास्तविक रूप साधक को तो प्राप्त होता ही नहीं, खण्ड योगी भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते। खण्ड योगी को उसके आभासमात्र की प्राप्ति होती है। इस आभास का भी तारतम्य है। योग-चक्षु खुलने के बाद ही विश्वजननी का जो रूप या राज्य प्रकाश में आता है वह सब निम्न स्तर का है। उस राज्य में साधक भी आ सकते हैं एवं आते भी हैं, किन्तु वह माँ के स्वरूप का दर्शन नहीं पाते। दुर्बल खण्ड योगी स्वरूपदर्शन पाते हैं सही, किन्तु वहीं विश्राम-लाभ करते हैं। उनकी उन्नति वहीं से रुक जाती है। उसके आगे जो राज्य है वह भी विश्वजननी का ही राज्य है। वहाँ भी कमल के दल में विश्व-जननी का ही आसन है, किन्तु यह मध्यम खण्ड योगी का आदर्श है। वे उसका दर्शन पाते हैं एवं वहीं रह जाते हैं। साधक का वही चरम लक्ष्य है, किन्तु साधक की स्थिति और योगी की स्थिति एक ही स्थान में भिन्न-भिन्न रहती है। खण्ड योगियों में जो उत्तम हैं अर्थात् जो उत्तम खण्ड योगी हैं उनका आदर्श चिदाकाश का ऊर्ध्व है, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। मरणशील देह के कर्म की समाप्ति हुए बिना केन्द्र में जाकर माता के अङ्क में बैठा नहीं जा सकता।

विश्व-जननी के जिन तीन रूपों की बात हमने कही है ये तीनों उनके स्वरूप की छाया, अनुछाया और प्रतिच्छाया हैं। कोई भी वास्तविक स्वरुप नहीं है, किन्तु जो खण्ड योगी होते हुए भी पूर्ण कर्मी हैं वह छाया को प्राप्त होते हैं। प्राप्त तभी होंगे जब कि उनके मरणशील देह के कर्म समाप्त हुए रहेंगे। क्योंकि रक्तहीन देह में कर्म का उतनी मात्रा में संवेग उत्पन्न नहीं होता जिससे मध्य बिन्दु में प्रवेश पाना संभव हो। योगी का इस योगभूमि में ऐश्वर्य अतुलनीय रूप से ही प्रकाशित होता है, किन्तु

महाज्ञान प्राप्त नहीं होता। क्योंकि खण्ड योग की चरम उत्कर्षावस्था में भी महाज्ञान उदित नहीं होता।

महाज्ञान उसी पथ पर प्रकाशित होता है जो अपनी काया का भेद करने के अनन्तर खुली हुई शुद्ध दृष्टि के सामने प्रकट होता है। इस पथ का यात्री अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि जो यात्री खण्ड योग के पथ पर चलते हैं वे इस पथको ठीक तरह पहचानते ही नहीं एवं इस पथ का जब तक ठीक-ठीक पता न लगे तब तक विश्वजननी के स्वरूप के दर्शनों की आशा झूठी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। प्रत्येक पथ पर आदि बिन्दु से लेकर अन्तिम बिन्दु तक दृष्टि में भासित हो उठता है। खण्ड योगी की दृष्टि के सामने अन्तिम बिन्दु के रूप में चिदाकाश के ऊपर स्थित महाभूमि दिखाई देती है, उसके आगे अथवा बाहर और जो कुछ है अथवा रह सकता है वह उनकी धारणा में नहीं आता। किन्तु महाखण्ड योगी की दृष्टि में जो पथ भासित होता है वह पूर्वोक्त पथ से भिन्न है। क्योंकि इस पथ के अन्तिम छोर पर विश्वजननी का वास्तविक स्वरूप दिखाई देता है। यह दृश्य खण्ड योगी के परम आदर्श के भी ऊपर की वस्तु है और उसकी दृष्टि के अगम्य है। उसका लक्ष्य यद्यपि विश्वजननी का स्वरूप ही है तथापि वह इस महास्वरूप की ही प्रथम छायामात्र है। इसकी जो छाया या अनुछाया है वही साधक की सिद्ध अवस्था का लक्ष्य है। द्वितीय छाया की जो प्रतिच्छाया है वह निम्न कोटि के खण्ड योगी का लक्ष्य है। उससे जो रश्मियाँ निकली हैं वही अखण्डरूप से फैलकर सम्पूर्ण साधकों के ध्येय रूप से आत्मप्रकाश करती हैं।

अध्यात्ममार्ग में कृपा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध विशेषरूप से अनुसरण करने योग्य है। साधक के जीवन में कृपा का स्थान प्रधान है एवं कर्म का स्थान गौण है। वास्तव में साधक का यथार्थ कर्म एक प्रकार से है ही नहीं ऐसा यदि कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। जो कर्म के रूप में प्रतीत होता है वह कर्म का आभासमात्र है। पक्षान्तर में योगी के योगपथ में कर्म ही प्रधान है—अवश्य कृपा सर्वत्र ही अपेक्षित है, किन्तु कृपा की अपेक्षा कर्म की महिमा अधिक है। इसमें भी खण्ड और महाखण्ड योगों में कर्म का प्राधान्य और उत्कर्ष रहने पर भी अपेक्षित दृष्टि से कृपा ही प्रधान है। किन्तु अखण्ड योग में कृपा गौण है, यहाँ तक कि स्थूल मान से वह लुप्तप्राय है, किन्तु कर्म ही अपनी प्रधानता लेकर खण्ड कृपा को दबाकर आत्म-प्रकाश करता है। कर्म के इस तरह स्वप्रतिष्ठित होने पर पूर्ण पुरुषार्थ प्रकटित होता है एवं महाकृपा अपने को प्रकट करती है। महाकृपा और परम पुरुषार्थ अभिन्न रूप से एक क्षण में अभिव्यक्त हो उठते हैं।

खण्ड योगी को जिस प्रकार दीक्षाकाल में आसन प्राप्त होता है वैसे ही महा-खण्ड योगी को भी आसन की प्राप्ति होती है। पर यह उच्चतर आसन है। खण्ड योगी अपना कर्म अपूर्ण रखकर यदि देहत्याग करे तो उसे देहान्त होने पर एक भुवन प्राप्त होता है जहाँ स्थित होकर अपने अपने आसन पर कर्म करने का अधिकार पैदा होता है एवं कर्म की समाप्ति के बाद नेत्र खुलने पर दिव्य दृष्टि खुल जाती है और उसका

अवलम्बन कर चिदाकाश के ऊपर की भूमि तक आगे बढ़ना सम्भव होता है। महाखण्ड योगी उच्चतर लोक से समागत हैं। उन्हें उच्चतर भूमि का पता चलता है एवं उसका अनुसरण कर चलते चलते समय पर वे उक्त भूमि में स्थिति-लाभ करते हैं। खण्ड योगी के लक्ष्य से महाखण्ड योगी का लक्ष्य विशाल है। खण्ड योगी के चरम लक्ष्य के बाद से महाखण्ड योगी के चरम लक्ष्य तक जो मार्ग दिखाई देता है वह एक प्रकार से अभिनव आविष्कार है। सरसरी दृष्टि से इसे विश्व का केन्द्र मान लिया जा सकता है। अखण्ड योग में इस विश्व के साथ विश्वातीत महासत्ता का सम्बन्ध प्रतिष्ठित होता है। किन्तु उस प्रसङ्ग को यहाँ उठाना ठीक नहीं।

महाखण्ड योग-दीक्षा के बाद परम प्रकृति की स्नेहमय गोद में बैठने का अधिकार मिलता है। अवश्य यह कर्म की अपेक्षा रखता है, किन्तु जो योगी मरणशील देह में कर्म समाप्त करने के पूर्व ही देह त्याग करते हैं वह खण्ड योगी की तरह एक आसन प्राप्त करते हैं जिसके सहारे वे प्रकृति के ऊपरी देश में एक सिद्ध स्थान प्राप्त करते हैं, जहाँ अपना आसन बिछा कर अवशिष्ट कर्म पूर्ण करने में समर्थ होते हैं। यही स्थान तिब्बतीय गुप्त योगियों की परिभाषा में ज्ञानगञ्ज के नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञानगञ्ज सिद्धभूमि है एवं पूर्वोक्त गुरुधाम भी सिद्धभूमि है, किन्तु दोनों में अन्तर है। गुरु-धाम में अपूर्ण खण्ड योगी को कर्म पूर्ण करने के लिए स्थान प्राप्त होता है—यही स्थान उनका गुरुदत्त आसन है। वैसे ही ज्ञानगञ्ज में अपूर्ण महाखण्ड योगी को प्रारब्ध कर्म पूर्ण करने के लिए स्थान प्राप्त होता है—यही उनकी आसनप्राप्ति है। वास्तव में दीक्षा-काल में ही यह आसन अथवा बैठने का स्थान प्राप्त हो जाता है यद्यपि यह दीक्षा-काल में दीक्षार्थी अथवा दीक्षित के नेत्रगोचर नहीं होता।

पहले ही कहा जा चुका है कि योगी के साधन-जीवन में कर्म ही प्रधान है, फलतः इस जीवन में गुरु से जो कृपा प्राप्त हो जाती है उसे पूर्ण रूप से चुका देना चाहिए। कृपा से अपनी शक्ति का विकास रुक जाता है, पर साधन की प्रारम्भिक अवस्था में कृपा के बिना एक कदम भी आगे बढ़ा नहीं जाता। इसलिए योगी के लिए नियम यह है कि गुरु से पहले कृपा ग्रहण कर बाद में उसे स्वकर्म द्वारा गुरु को चुका दे। गुरुदत्त कृपा को ऋण के रूप में ग्रहण कर स्वोपार्जित कर्म द्वारा उसे मिटा डालना चाहिए। तब भविष्य का कर्मपथ सुप्रशस्त होता है उसके पहले नहीं। गुरु का प्रधान काम है काल के राज्य से शिष्य का उद्धार करना। यह साधनमार्ग से होता है, योग-मार्ग से भी होता है। किन्तु साधनमार्ग में केवल काल की उत्ताल तरङ्गों से शिष्य का उद्धार करके ही गुरु की करुणा निवृत्त हो जाती है, वह उसे कालातीत किसी उच्च पद पर अभिषिक्त नहीं कर सकती। योग-मार्ग में कर्म की प्रधानता रहने से कालातीत राज्य में योगी को विशिष्ट अधिकारसम्पन्न स्थान प्राप्त होता है। खण्ड योगी के अधिकार से महाखण्ड योगी का अधिकार श्रेष्ठ है एवं सर्वश्रेष्ठ अधिकार अखण्ड योगी का है—जो अभी तक जगत् में प्रकाशित नहीं हुआ। अखण्ड योगी का महान् अधिकार ही समग्र विश्वको सब प्रकार के अभावों से मुक्त कर पूर्ण आनन्द और ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है।

साधक के कर्म की समाप्ति होती है, किन्तु योगी के कर्म की समाप्ति नहीं होती। योगी पूर्णत्व-लाभ करके भी निष्क्रिय होकर नहीं बैठता। उसका स्वभावसिद्ध कर्म सदा ही चलता रहता है। वह कभी निवृत्त नहीं होता एवं हो भी नहीं सकता। इसीलिए पूर्णताप्राप्ति के अनन्तर भी पूर्ण को पूर्णतर, पूर्णतम आदि के क्रम से अनन्त अवस्थाओं द्वारा उत्कृष्ट करना यही योगी के कर्म की स्वाभाविक परिणति है। श्री अरविन्द ने अपनी समस्या (The Reddle of the world) नामक ग्रन्थ में इंगित किया है कि सरसरी दृष्टिसे अज्ञान के भली भाँति निवृत्त न होने तक कर्म की धारा अथवा क्रमविकास अवश्यम्भावी है, किन्तु वास्तवमें भगवत्स्वरूप में प्रविष्ट होकर भी अनन्त अग्रगति की सम्भावना रहती है। उनका यह वाक्य अत्यन्त सत्य है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि यह अनन्त अग्रगति अखण्ड स्थिति में ही होती है। स्थिति-लाभ न करने पर अनन्त कर्म का कोई अर्थ ही नहीं है—तब स्थिति ही कर्म की लक्ष्य होती है। किन्तु स्थिति के अनन्तर यदि कर्म चालू रखा जा सके तो वही होता है दिव्य कर्म, जिसका अन्त कदापि नहीं हो सकता।

ज्ञानगञ्ज की योगदृष्टि के अनुसार तीन योग क्षेत्रों का पता लगा है। प्रथम क्षेत्र में महाभाव तक लक्ष्य रूप में पाया जाता है। इस क्षेत्र की भूमि है गुरुधाम। खण्ड योगी कर्म पूर्ण कर सकने पर इसी लक्ष्य को प्राप्त होते हैं, किन्तु कर्म पूर्ण न कर सकने पर जिस अवस्था में स्थूल देह का त्याग होता उस अवस्था में अनुरूप स्थिति को प्राप्त होकर उनके क्रमशः लक्ष्य की ओर बढ़ने की संभावना रहती है। स्थूल देह के त्याग के अनन्तर शीघ्र गति से कर्म चलता नहीं, मन्द मन्द रूप से चलता है। द्वितीय योगक्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक है, उसका लक्ष्य स्थान महाभाव के अतीत है, यहाँ तक कि वह सूर्यमण्डल के भी ऊपर स्थित है। यह परम प्रकृति का स्वरूपप्रकाश है। इसी की भूमि ज्ञानगञ्ज है। महाखण्ड योगक्रिया के अन्त में यह लक्ष्य खुल जाता है। पहले क्षेत्र की तरह इस जगह भी स्थूल देह में कर्म समाप्त कर सकने पर लक्ष्य के सन्निहित होना सहजसाध्य होता है, किन्तु कर्म अपूर्ण रख कर यदि देह त्याग किया जाय तो ज्ञानगञ्ज से कर्म की गति चलती रहती है। पहले के तुल्य यह गति भी अपेक्षाकृत धीमी होती है, स्थूल देह के कर्म के तुल्य तेज नहीं होती।

तृतीय योगक्षेत्र अभी तक अङ्कन में ही परिसमाप्त है। इसकी भूमि और लक्ष्य हैं विश्वगुरु। कालराज्य बाहर न होने से वहाँ भूमि और लक्ष्य की प्राप्ति में काल का कोई व्यवधान नहीं है। इसका क्षेत्र अखण्ड विश्व है। इस स्थल में भी स्थूल देह में कर्म पूर्णतर हुए बिना भूमि और लक्ष्य की प्राप्ति असंभव है।

तीनों क्षेत्र कर्म-स्थान हैं। प्रथम की परिधि अति विशाल है। काल का राज्य इस परिधि से बाहर है। द्वितीय की परिधि प्रथम की अपेक्षा भी बहुत अधिक विशाल है। इस कारण काल का राज्य बहुत कुछ संकुचित हो जाता है। तृतीय क्षेत्र की परिधि सम्पूर्ण विश्व या सृष्ट जगत् है। इस स्थल में काल का राज्य शून्यरूपमें परिणत हो जाता है। इससे समझा जा सकेगा कि तीनों योगक्षेत्रों में कर्म की तीव्रता क्रमशः

ही अधिक है। सूर्यमण्डलभेद किये बिना तृतीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित नहीं हुआ जाता। साथ ही साथ यह भी प्रतीत होगा कि गुरु की करुणा शक्ति की मात्रा प्रथम क्षेत्र से द्वितीय क्षेत्र में प्रबल है एवं द्वितीय क्षेत्र से तृतीय क्षेत्र में और भी अधिक प्रबल है। वस्तुतः इसीका नामान्तर महाकरुणा है। केवल यही नहीं, कृपा का क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होते-होते तृतीय भूमि में विश्वव्यापी हो जाता है।

(४)

कृपा और कर्म दोनों ही मूलतः एक ही शक्ति हैं। एक ही अखण्ड सत्ता ने अविभक्त होकर भी अपने को लीला के व्याज से दो भागों विभक्त किया है। इस तरह एक ओर अणु तथा दूसरी ओर महान्, एक ओर बृहत् तथा दूसरी ओर लघु, इस प्रकार के दो परस्पर विरुद्ध भावों का उदय हुआ है। यदि अणु को महान् की ओर जाना हो तो कर्म का अवलम्बन करना पड़ता है। अणु में जो शक्ति निहित है वही कर्मरूप में अभिव्यक्त होकर अणु की अग्रगति में सहायता पहुँचाती है। किन्तु केवल कर्म शक्ति के द्वारा अणु के लिए महान् को प्राप्त करना संभव नहीं है। महान् की कृपा शक्ति को भी अणु की सहकारिणी होना आवश्यक है। अतएव महान् की कृपाशक्ति सहकृत अणु की कर्मशक्ति एक प्रधान उपाय है। यही प्रकार कृपाशक्ति के प्राधान्य स्थल में भी जानना चाहिए। महान् की कृपा के उद्रेक को प्राप्त होने पर ही अणु महान् को प्राप्त होगा अथवा महान् अणु को प्राप्त होगा यह कहा नहीं जाता। कृपा के सहकारी रूप में अणु की कर्मशक्ति का अभिव्यक्त और प्रयुक्त होना आवश्यक है। इस प्रकार दोनों शक्तियों के परस्पर संमिश्रण से अणु और महान् का योग सिद्ध होता है। साधारण दृष्टि से यदि देखा जाय तो कर्मसापेक्ष कृपा और कृपासापेक्ष कर्म दोनों ही आवश्यक हैं। अणु के प्रकृतिभेद में सापेक्षता का तारतम्य है। ध्यान में रखना होगा कि निरपेक्ष शक्ति की क्रिया भी स्थानविशेष में हो सकती है। उस जगह वह पूर्ण शक्ति की ही द्योतक होती है। क्योंकि अपूर्ण शक्ति निरपेक्ष नहीं हो सकती। यह पूर्ण शक्ति यदि कृपा के रूप में प्रकट हो तो उस कृपा के धारण में उपयोगी अणुनिष्ठ कर्मशक्ति भी उसी से प्रकट होगी। पक्षान्तर में यह पूर्ण शक्ति यदि अणु की कर्म शक्ति के रूप में प्रकट हो तो उस कर्मशक्ति की सहकारिणीरूप महाशक्तिको वह स्वयं ही महाकृपा के रूप में अभिव्यक्त कर डालती है। फलतः स्वरूप में स्थिति और आत्मैश्वर्य का विकास यथावत् हो जाता है। किन्तु इसके मध्य में एक गंभीर समस्या विचारणीय है। कृपा की प्रधानता में मिलन और अद्वैत स्थिति ऐश्वरिक शक्ति का आश्रय कर होती है अर्थात् जैसे जैसे ऐश्वरिक कृपा बढ़ती है वैसे वैसे आत्मा को कर्मानुरूप ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है और गति के अन्त में परमात्मा के स्वरूप में एकत्वप्राप्ति होती है। यदि कर्म की प्रधानता मानी जाय तो उस कर्म के प्रभाव से अनुरूप अनुग्रहशक्ति का विकास होने पर ईश्वरसत्ता क्रमशः संनिहित होती रहती है एवं अन्तिम अवस्था में ईश्वरभूत योगी के स्वरूप में आत्मसमर्पण करती है। ये दोनों ही अद्वैत स्थितियाँ हैं। किन्तु दोनों में अन्तर है। प्रथम अवस्था में, 'मैं' (अहम्) 'तुम' (त्वम्) के रूप में परिणत होकर अद्वैत भाव ग्रहण करता है। तब अवश्य 'तुम' और 'मैं' एक ही हो जाते हैं।

द्वितीय परिस्थिति में 'तुम' 'मैं' में परिणत होता है, उसके अनन्तर अवश्य उसी मूल स्थिति में प्रवेश होता है। किन्तु और भी एक स्थिति है तब 'अहम्' (मैं) को 'तुम' के निकट जाना नहीं पड़ता एवं 'तुम' को भी 'मैं' के निकट आना नहीं पड़ता। तब 'मैं' अपने में ही 'तुम' को ढूँढ पाता है, उसको खोजने के लिए बाहर जाना नहीं पड़ता। वैसे ही 'तुम' भी अपने में ही 'अहम्' (मैं) को ढूँढ लेता है 'अहम्' के लिए 'तुम' को भी बाहर आना नहीं पड़ता। दोनों में ही आश्रयतत्त्व और विषयतत्त्व विद्यमान रहते हैं। जो आश्रय है वही विषय है एवं जो विषय है वही आश्रय है। इसलिए एक का अभाव दूसरे का अभाव है एवं एक की प्राप्ति दूसरे की प्राप्ति है— दोनों में कोई भेद नहीं है। इन्हीं दो का समीकरण होने पर परम परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा होती है। तब आश्रय और विषय का साम्य अभिव्यक्त होता है।

(५)

तीनों योगक्षेत्र काल के अतीत हैं। परन्तु प्रथम और द्वितीय क्षेत्र के बाहर काल का राज्य विद्यमान रहता है। तृतीय क्षेत्र के अभिव्यक्त होने पर काल का राज्य फिर पृथक् रूप में विद्यमान नहीं रहेगा। प्रथम और द्वितीय क्षेत्र के काल के राज्य के समसूत्र में रहने पर भी उन दोनों राज्यों के भीतर काल का प्रभुत्व नहीं रहता। किन्तु प्रभुत्व न होने पर भी कुछ प्रभाव विद्यमान रहता ही है। प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न स्तर हैं। निम्नवर्ती स्तरों में काल का किंचित्प्रभाव दिखाई देने पर भी ऊपरी स्तरों में वह अत्यन्त क्षीण हो जाता है। अवश्य अत्यन्त सूक्ष्मरूप में वह रहता है, इसमें सन्देह नहीं है। तृतीय क्षेत्र में बाहर काल का राज्य न रहने पर भी अन्तःप्रविष्ट रूप में उस क्षेत्र में काल की शक्ति क्रिया करती है। परिपूर्ण अवस्था प्राप्ति के लिए वह आवश्यक है। यह बात क्रमशः स्पष्ट होगी।

काल के धर्म जरा और मृत्यु हैं। देह का क्रमिक विकार, जिसके कारण सद्यः उत्पन्न शिशु शरीर वृद्ध शरीर में परिणत होता है, ही जरा है। काल के प्रभाव से ही यह होता। काल के जगत् में जरा से कोई मुक्त नहीं रह सकता। काल का दूसरा धर्म है मृत्यु। काल के जगत् में यह भी सर्वत्र दीख पड़ती है। इसलिए काल का जगत् मरलोक अथवा मृत्युलोक के नाम से पुकारा जाता है, इसलिए काल के राज्य के ऊपर यदि कोई राज्य स्थापित हो जाय तो उसमें काल के ये दोनों धर्म स्वभावतः ही न रहेंगे। इसके अतिरिक्त क्षुधा और पिपासा भी कालराज्य के आनुषङ्गिक धर्म हैं। इसीलिए क्रमशः शुद्ध जगत् में ये दोनों धर्म तिरोहित हो जाते हैं। काल के राज्य का और एक आनुषङ्गिक धर्म है—कामवृत्ति का प्रभुत्व एवं उसके आश्रित और तन्मूलक अन्यान्य मानसिक वृत्तियों की क्रिया। शुद्ध राज्य में इस सम्बन्ध में भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है।

मर्त्यलोक के ऊपर नाना प्रकार के स्वर्गीय भुवन और तदनुरूप भोगप्रधान दिव्य स्थान हैं। इसलिए उन सब स्थानों में काम का प्रभाव नहीं है एवं भोग की निवृत्ति भी नहीं होती। पर वहाँ काल का वेग भूलोक की अपेक्षा अन्य प्रकार का

है, इसलिए जरा का अनुभव नहीं होता एवं समय पर देहपतन होता है। वे सब स्थान कर्मभूमि नहीं है! वे भोगभूमियाँ है एवं योगी के लिए सर्वथा हेय हैं। पूर्व में जिन योगक्षेत्रों का वर्णन किया गया है वे अत्यन्त विशुद्ध एवं कर्मभूमियाँ हैं, इसलिए उन सब स्थानों में भोग का आधिपत्य नहीं है, किन्तु काल का प्रभाव अनुभूत होता है। पर ऊपरी स्तरों में वह नहीं रहता। परन्तु काल का किञ्चित् प्रभाव रहने से निम्नस्तर मृत्युरहित होने पर भी जरावर्जित नहीं हैं। स्वर्गादि स्थान जैसे जरावर्जित होने पर भी आपेक्षिक मृत्युवर्जित नहीं हैं, ये ठीक उनके विपरीत हैं—मृत्युवर्जित होने पर भी जरावर्जित नहीं हैं। ऊपर के स्तरों में मृत्यु तो नहीं ही है, जरा भी नहीं है। निम्नस्तर में जरा रहती है, इसीलिए वहाँ के योगी ऋषिगण हजारों वर्ष तक तपस्या कर वृद्धत्व को प्राप्त होते हैं एवं जराजीर्ण देह से कर्म पूर्ण करने में निरन्तर उद्यत रहते हैं। इस कर्म से ही वे निम्न स्तरों में पहुँचते हैं। उस समय उनकी स्थविर जीर्ण देह किशोर अथवा तरुण दिव्य लावण्य श्रीविग्रह के रूप में परिणत होती है। गुरुधाम तथा ज्ञानगञ्ज दोनों ही स्थानों में यह वैशिष्ट्य दिखाई देता है।

(६)

ज्ञानगञ्ज के सम्बन्ध में कुछ आलोचना की जा चुकी है। उसी से ज्ञानगञ्ज के तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ आभास प्राप्त हो गया होगा। ज्ञानगञ्ज एक प्रकार का नूतन आविष्कार कहा जा सकता है अथ च अनादि काल से ही यह विद्यमान रहा है—पहले अव्यक्त रूप में था, उसके पश्चात् अभिव्यक्त और पुष्ट रूप में हुआ। हम ऊपर क्रम से उत्कृष्ट तीन योगभूमियों की चर्चा कर चुके हैं—ये सब योगियों के ज्ञानगोचर तथा प्राप्य, मायातीत और कालातीत राज्य हैं। इन तीनों में प्रथम को हमने गुरुधाम अथवा गुरुराज्य नाम दिया है, द्वितीय को ज्ञानगञ्ज कहा है एवं तृतीय का कोई नामनिर्देश नहीं किया, क्योंकि वह अभी अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में प्रस्फुटित नहीं हुआ है। प्रथम योगभूमिरूप गुरुराज्य आगमशास्त्र में विशुद्ध अध्वा के नाम से सांकेतिक रूप में वर्णित है। साधारणतः प्रचलित साधनप्रणाली में उसका स्पष्टरूप से पता नहीं चलता यह सही है, किन्तु गुह्यसाधनसम्बद्ध आगमसाहित्य में उसका अत्यन्त स्पष्ट रूप में निर्देश है।

हमने शुष्क ज्ञान और दिव्य ज्ञान के विवेचन के सिलसिले में इन दोनों ज्ञानों में भेद दिखलाया है। शुष्क ज्ञान का पता सर्वत्र ही प्राप्त होता है; किन्तु उसके द्वारा पूर्ववर्णित गुरुराज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता। ज्ञानगञ्ज आदि में प्रवेश तो बहुत दूर की बात है। दिव्य ज्ञान के आश्रय के बिना गुरुराज्य का दरवाजा खुलता ही नहीं। प्राचीन गुह्य शास्त्रों में इतना ही स्पष्टरूप से निर्देश किया गया था। यह गुरुराज्य सृष्टि के आरम्भ में दिखाई नहीं देता। क्योंकि आत्मा अणुरूप में संकुचित होकर ही साक्षात् रूप से ईश्वर प्रेरणा द्वारा मायागर्भ में पड़ता है एवं कर्मजाल में फँस जाता है। तदनन्तर उसका भोगप्रधान संसार-जीवन आरम्भ होता है। गुरुराज्य

का अस्तित्व अवतरणशील चिदणु के दृष्टिगोचर नहीं होता। पक्षान्तर में लौटते समय उच्च अधिकार सम्पन्न होने पर गुरुराज्य में प्रवेश होता है एवं भाग्य रहने पर उसका भेद भी होता है। जिन आत्माओं में कुण्डलिनी शक्ति कम जाग्रत् होती है वे भी गुरुकृपा के भागीदार होते हैं, यह सत्य है, किन्तु यह गुरुकृपा प्रत्यगात्मा के कृपात्मक पुरुषकार के रूप से आत्मप्रकाश करती है। इससे विवेक ज्ञान का उदय होता है, जिसके प्रभाव से अनात्मा में आत्मदृष्टिरूप भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है और आत्मस्वरूप अनात्मभाव से मुक्त होकर चिद्रूप में प्रकाशित होता है। इस ज्ञानाग्नि से कर्मबीज जल जाता है, इसलिए आत्मस्बरूप में स्थिति से च्युत होने की सम्भावना नहीं रहती एवं फिर जन्ममृत्यु के चक्र में आवर्तित होने की आशंका भी प्रायः नहीं रहती। यही प्रचलित केवलीभाव या कैवल्य है।

किन्तु जिन आत्माओं को गुरु की तीव्रतर कृपा प्राप्त हो जाती है वे और भी उच्चतर पद के अधिकारी होते हैं—उनकी कुण्डलिनी-जागरण के बाद क्रमशः ऊर्ध्वगति होती है। पूर्वोक्त आत्मा के कुण्डलिनी-जागरण से द्वितीय प्रकार के आत्मा का कुण्डलिनी-जागरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इस स्थान में ऊर्ध्वगति की सूचना होती है एवं चरम अवस्था में ऊर्ध्वतम शिखर तक पहुँचा जाता है। बोध ही आत्मा का स्वरूप है, यह प्रथम क्षेत्र में भी अभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए यह स्थिति भी चित्स्वरूप में स्थिति है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु चित् शक्ति का विकास इसमें नहीं होता। द्वितीय जागरण में चित्शक्ति का उन्मेष होता है। अवश्य, यह आभास है—इसी का नाम शुद्ध विद्या का उदय अथवा गुरुराज्य में प्रवेश है। शुद्ध विद्या की पूर्णता होते ही भविष्यत्में शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। शुद्ध विद्या गुरुराज्यकी वस्तु है, यही दिव्यज्ञान है। इसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों ही रहती हैं। कैवल्यरूप स्थिति में चित्स्वरूप में स्थिति होती है सही, किन्तु चित्शक्ति का आभासात्मक उन्मेष भी नहीं रहता। किन्तु गुरुराज्य में चित्शक्ति का ही क्रमशः अधिकतर विकास होता है—पहले मिश्रितरूप में अर्थात् रिपुओं के साथ मिलितरूप में, बाद में शुद्धरूप में होता है। गुरुराज्य का द्वार खुलने के साथ ही साथ ज्ञानशक्ति का पूर्ण उन्मेष हो जाता है एवं समग्र विश्व केन्द्रस्थित एक अहंभाव के ऊपर स्पष्टरूप से भासमान दिखाई देता है। तब अहंभाव ही होता है आत्मस्वरूपका परिचायक—यही आत्मा में आत्मबुद्धि के उदय का प्रतीक है, इसी का नाम बल का विकास है। शक्तिका ज्ञानांश पूर्णरूप से अनावृत रहता है। किन्तु क्रियांश धीरे धीरे अपने को प्रकाश में लाता है। क्रियाशक्ति की क्रमिक अभिव्यक्ति के कारण आत्मनिष्ठ अहंभाव क्रमशः परिस्फुट हो उठता है—पूर्ण गुरुतत्त्व में जाकर अखण्ड बोध के ऊपर पूर्ण अहंभाव फूट उठता है। पहले जो 'अहम्' के ऊपर इदंभाव का आभास था बाद में वह फिर नहीं रहता। यह प्रकाशात्मक शिवभाव ही गुरुराज्य का केन्द्र है। यहाँ ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति मिलित होकर इच्छाशक्ति अथवा स्वातन्त्र्यरूप में दिखाई देती हैं। इनका भी क्रमिक विवर्तन होता है—इच्छा का जो पूर्णतम विकास है वही ज्ञान, क्रिया और इच्छा की पूर्ण एकता की सिद्धि है। वस्तुतः

शिव और शक्ति का एकत्व भी वहीं है। प्राचीन गुह्य साधना में यहीं परमशिव की स्थिति है एवं यही पूर्णत्व का निदर्शन है। जिसे दिव्य ज्ञान कहा गया था उसके प्राथमिक स्तर की परिसमाप्ति भी यहीं है।

इस प्रकार देखा जाता है कि चिदणु को माया में उतरते समय गुरुराज्य का पता नहीं चलता यह सही है, किन्तु लौटती बार उच्च अधिकार सम्पन्न होने पर उसे पता चलता रहता है। अनभिज्ञ पथिक को साधारणतः यह पता नहीं चलता कि इसके आगे और भी कुछ रह सकता है। ज्ञानगञ्ज की सत्ता वास्तविकरूप में गुरुराज्य के भी परे है। यथार्थरूप से यदि देखा जाय तो यह ज्ञानगञ्ज ही उच्चतर गुरुराज्य की भूमिरूप है, अर्थात् ज्ञानगञ्ज से ज्ञानगञ्ज के लक्ष्यस्थान परमा प्रकृति तक जो विशाल राज्य है, वह पहले ज्योतिमात्र था, राज्यरूप में परिणत नहीं था। किन्तु उसने महाखण्ड योगी के कालदेह से अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से राज्य का रूप धारण किया है। ज्ञानगञ्ज एवं पूर्वोक्त गुरुराज्य स्तर की दृष्टि से भिन्न होने पर भी प्रकार में भिन्न नहीं हैं। यह कहना अनावश्यक है कि यह विशाल योगभूमि भी अर्थात् महाखण्ड योगी का अधिकारक्षेत्र भी वास्तविक गुरुराज्य नहीं है। पर वर्तमान समय तक गुरुराज्य का श्रेष्ठतम आदर्श इसी को कहा जा सकता है। वास्तविक चरम आदर्श अखण्ड गुरुराज्य अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हुआ एवं उसके प्रतिष्ठापन के लिए कर्मी योगिमण्डल में आन्दोलन चल रहा है। प्रथम गुरुराज्य से द्वितीय गुरुराज्य अधिकतर व्यापक एवं उच्चतर है, किन्तु अखण्ड गुरुराज्य प्रतिष्ठित होनेपर यह उच्च-निम्नभाव नहीं रहेगा एवं व्यापकत्व सम्पूर्ण सृष्टि का आश्रय करेगा, इसलिए पहले का गुरुराज्य एवं मध्यवर्ती ज्ञानगञ्ज काल की सृष्टि के सहित उसी के अन्तर्गत हो जायंगे।

काल के राज्य में काल की देह धारण कर कर्म की समाप्ति अनादि-काल से अब तक नहीं हुई। अवश्य ही मैं योगी के ही कर्म की बात कह रहा हूँ, साधक की बात नहीं। कर्म की आपेक्षिक समाप्ति अवश्य हुई है, यहाँ तक कि काल के राज्य में ही किसी किसी ने इसका सम्पादन किया है यह भी सत्य है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो पूर्वोक्त ज्ञानगञ्ज और गुरुराज्य प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकते। कर्म की यथार्थ समाप्ति न होने से ही पूर्वोक्त किसी भी राज्य में मध्यबिन्दु ठीक-ठीक स्थापित हुआ नहीं—इन सब स्थानों में मध्यबिन्दु रूप जो गुरु का आसन है उसपर माँ अधिष्ठित हैं, गुरु नहीं। अवश्य उस स्थान में माँ ही गुरु हैं। प्रथम राज्य में अर्थात् पूर्वोक्त गुरुराज्य में माँ ही शिवरूप में प्रकट हैं। ज्ञानगञ्जरूप दूसरे क्षेत्र में विशाल त्रिशक्तिमय त्रिकोणराज्य स्थापित है, तीन कोणों में तीन शक्तियों का राज्य है—एक से दूसरा अधिकतर व्यापक है। त्रिकोण के मध्यबिन्दु में परमा प्रकृति की स्थिति है। यही तुरीय बिन्दु एवं विश्वसृष्टि का अन्तरतम और ऊर्ध्वतम स्थिति केन्द्र है। ज्ञानगञ्ज का कर्म काल की देह से समाप्त होने पर इस परमा प्रकृति के राज्य में प्रवेश कर मध्यबिन्दु में स्थिति प्राप्त की जाती है। पहले से यह श्रेष्ठतर गुरुराज्य है यह सत्य है, किन्तु पहले ही हम कह चुके हैं कि यह भी वास्तविक गुरुराज्य नहीं है। इस जगह भी माँ ही गुरुरूप में प्रकट रहती हैं। यह भी वास्तविक गुरु का स्वकीय स्थान नहीं है। इस

राज्य का भेद करने के अनन्तर अखण्ड गुरुराज्य का प्रारम्भ कहा जा सकता है। किन्तु यह अभी तक अव्यक्त है। इस अखण्ड गुरुराज्य की आलोचना बाद में की जायगी। पर यह ध्यान में रखना होगा कि प्रकृति का अथवा माँ का राज्य ही आनन्द का राज्य है, परमा प्रकृति के भेद के अनन्तर चैतन्यराज्य का सूत्रपात होता है, उससे पहले नहीं।

किन्तु यहाँ एक बात स्मरण में रखनी होगी। वह यह कि प्रथम गुरुराज्य का जो चरम लक्ष्य है, वहीं से वास्तविक अखण्ड गुरुराज्य में जाने का मार्ग है। वह मार्ग सूर्यमण्डल के भीतर से गया है एवं योग्य अधिकारी के सिवा सब लोग उस मार्ग में चल नहीं सकते। सूर्यमण्डल-भेद करने में महाज्ञान आवश्यक होता है। इस महाज्ञान की प्राप्ति प्रथम गुरुराज्य के केन्द्र में स्थित हो सकने पर ऊपर से आपेक्षिक महाकृपा के संचार से अपने आप ही हो जाती है। इस आंशिक महाकृपा के बिना प्रथम गुरुराज्य का भेद नहीं किया जा सकता। इससे अखण्ड गुरुराज्य के अनुसन्धान के लिए आवश्यक सहायता अवश्य प्राप्त होती है। किन्तु ज्ञानगञ्ज का लक्ष्यभूत परमा प्रकृति का भेद किये बिना प्रथम कृपा कारगर नहीं होती एवं अखण्ड गुरुराज्य की प्रतिष्ठा की संभावना भी नहीं रहती। परमा प्रकृति का भेद करने में भी पूर्वोक्त महाज्ञान ही आवश्यक होता है। यदि पहले सूर्यमण्डल-भेद हुआ रहे एवं तदुपरान्त प्रकृतिराज्य का भेद किया जाय तो वास्तविक गुरु अथवा भगवत्सत्ता की प्राप्ति होती है। पहले गुरुराज्य में केन्द्र की स्थापना नहीं होती उसके बाहर काल का घेरा विद्यमान रहता है। दूसरा गुरुराज्य और भी ऊपर स्थित है। इसकी भूमि पूर्ववर्णित ज्ञानराज्य है एवं शिखर वही बिन्दु है जो लोकोत्तर कर्म के प्रभाव से प्राप्त होता है। अभी तक सूर्यमण्डल-भेदन का कोई प्रश्न नहीं उठता। किन्तु सूर्यमण्डल-भेद हुए बिना वास्तविक गुरुराज्य के प्रवेश की संभावना नहीं है। प्रथम और द्वितीय महाकृपा इसके लिए पर्याप्त नहीं हैं, इसके लिए तृतीय महाकृपा आवश्यक होती है। इस महाकृपा से वास्तविक अर्थात् अखण्ड गुरुराज्य का दरवाजा खुल जाता है। तब ऐसा एक घोर विप्लव उपस्थित होता है जिससे जगत् के सम्पूर्ण प्राचीर ढह जाते हैं। पूर्वोक्त राज्य भग्न हो जाता है। चिदाकाश में चिन्मय राज्य भी भग्न हो जाता है एवं माया से पृथ्वी तक सभी स्तरों के निवासियों के लिए लक्ष्य खुल जाता है। इस नवीन राज्य में सभी स्तरों के जीवोंको प्रवेश का समान अधिकार है। यह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता, इसमें किसी के भी वञ्चित होने की संभावना नहीं रहती। इसमें प्रवेश करने का तथा इसमें रहने का अधिकार सभी को है। इस नवीन राज्य का फाटक खुलने पर इसके भीतर सम्पूर्ण विश्व के स्थान प्राप्त होते रहते हैं। इस स्थान-प्राप्ति में योग्यता का विचार अवश्य है, किन्तु प्रवेश के सम्बन्ध में योग्यता का कोई प्रश्न ही नहीं है। चाहे योग्य हो अथवा अयोग्य हो यहाँ प्रवेशका सभी को समान अधिकार है। इस परम गुरुराज्य में केन्द्र प्रतिष्ठित होता है एवं इस केन्द्ररूपी आसन पर कर्मठ संतान श्रेष्ठतम अधिकार प्राप्त कर बैठ पाते हैं। तब विश्व-कमल खिल जाता है, जिसके अनन्त दल (पांखुरियाँ) हैं। पूर्ववर्ती विभिन्न राज्यों की समस्त प्रजा

उन सब राज्यों के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् इस अखण्ड राज्य में स्थान प्राप्त करती है। पृथिवीनिवासी सभी मनुष्य तब उस महाकमल की पांखुरी में स्थित होते हैं, यही उनका आसन होता है। इस आसन को पाने के लिए इस अखण्ड राज्य के केन्द्र में स्थित अधिष्ठाता की आज्ञा आवश्यक होती है, क्योंकि उनकी अनुमति अथवा अनुग्रह के बिना उनके राज्य में प्रजा रह नहीं सकती। अन्य प्रकार से यों कहना चाहिए कि केन्द्रस्थित अधिष्ठाता द्वारा संचारित शक्ति और अनुग्रह प्राप्त करके ही उस राज्य में स्थिति-लाभ होता है।

किन्तु यहीं समाप्ति नहीं होती। प्रथम गुरुराज्य में गुरु के अनुग्रह के सहारे प्रवेश होता है। अनुग्रह तथा कर्मप्राप्ति काल की देह में अर्थात् मरणशील देह में होती है। मरणशील देह में ही कर्म सम्पूर्ण होने पर राज्य के केन्द्र में बैठा जा सकता है, अन्यथा चारों पार्श्वों में स्थान प्राप्त होता है। कर्म का अनुष्ठान क्रमशः पूर्ण होते-होते यहाँ से केन्द्र तक जाने का अधिकार पैदा होता है। यही शिवत्व है। द्वितीय राज्य में केन्द्र के अधिष्ठाता गुरु का अनुग्रह प्राप्त कर कर्म में अधिकार होता है। यह मरणशील देह की बात है। उस देह में कर्म पूर्ण होने पर पूर्ववत् केन्द्र में बैठने का अधिकार होता है। यह उच्चतर केन्द्र है। काल की देह में कर्म पूर्ण न होनेपर ज्ञानगञ्ज में जाकर वहीं से कर्म पूर्ण करने पड़ते हैं, वह सुदूर भविष्य की बात है। इन दोनों जगहों में मरणशील देह में कर्म पूर्ण होने की जैसी संभावना है वैसी असम्पूर्ण रहने की भी संभावना है। अखण्ड गुरुराज्य के सम्बन्ध में भी वही एक नियम है। वहाँ भी कर्म-प्राप्ति मरणशील देह में ही होती है। मरणशील देह में कर्म पूर्ण होने पर उस राज्य के मध्य बिन्दु में आसन प्राप्त होता है। तब काल की पूर्णरूप से पराजय होती है अर्थात् काल फिर नहीं रहता, मृत्यु की मृत्यु हो जाती है। प्रथम और द्वितीय राज्य में केन्द्र से बाहर कर्म का दान किया नहीं जा सकता। केन्द्र से काल के राज्य में कर्म का दान किया जाता है। उसके बाद उस कर्म को पूर्ण करने का भार रहता है आश्रित के ऊपर। काल के जगत् में यदि उसे पूर्ण किया जा सके तो कोई बात ही नहीं अन्यथा कुछ कालस्पर्शयुक्त अमर गुरुराज्य में जाकर सुदीर्घ काल में उसे पूरा करना पड़ता है। उसे पूरा किये बिना गुरु का ऋण चुकाया नहीं जाता, गुरु का अनुग्रह निरर्थक हो जाता है। द्वितीय राज्य में भी वैसा ही है। किन्तु तृतीय राज्य में ठीक वैसा नहीं होता, क्योंकि वह राज्य सूर्यमण्डल के उस पार में है। इसीलिए महाज्ञान द्वारा सूर्यमण्डल-भेद होने पर एवं इधर परमा प्रकृति का भेद होने पर महाकृपा के अन्तिम उन्मेष में अन्तिम द्वार अपने आप ही खुल जाता है। तब इस पार और उस पार का व्यवधान करने वाली और उन्हें जोड़ने वाली भेदरेखा मिट जाती है। इह काल और पर काल एवं लोक और लोकोत्तर एक ही अखण्ड प्रकाश में प्रकाशित होते हैं। इस महा प्रकाश में उदय अस्त नहीं हैं, ह्रास और वृद्धि भी नहीं हैं, यही तृतीय गुरुराज्य के बिन्दु का परिचय है। अखण्ड गुरुराज्य के केन्द्र से कर्म आने पर कर्म का पूर्ण होना अवश्यंभावी है। वर्तमान देह में कर्म पूर्ण न होने पर अलौकिक देह में कर्म पूर्ण होगा यह नियम यहाँ पर कार्यकर नहीं है, क्योंकि यहाँ लौकिक देह ही लोकोत्तर के रूप में परिणत होती है।

इसलिए इस तृतीय राज्य की प्रतिष्ठा होने पर अर्थात् अन्ततः एक व्यक्ति भी यदि इस पूर्ण अवस्था को कर्म की पूर्णता के साथ साथ मरणशील देह में प्राप्त होता है तो फिर उसका कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता—सम्पूर्ण जगत् का अणु परिमाणु उसके साथ युक्त होता है एवं उसकी प्रेरणा प्राप्त कर शीघ्र ही उसे अपने कर्म की पूर्णता प्राप्त होती है एवं मध्य बिन्दु के साथ तादात्म्य प्राप्त होता है।

(७)

यहाँ पर और भी एक रहस्य की बात बतलाने का मैं प्रयत्न करता हूँ। गुरु-राज्य के केन्द्र में हमने जिन्हें पाया है वह अखण्ड प्रकाशरूप हैं, वे ही शिवतत्त्व हैं। अवश्य यह शिव देह में स्थित समस्त चक्रों का भेद करने के बाद सहस्रार में अथवा सहस्रार के ऊपर अनन्त प्रकाश के रूप में प्रकाशमान होते हैं। ज्ञानगञ्ज से जिस राज्य की सूचना होती है उसका लक्ष्य परमा प्रकृति है, ऐसा हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। यह लक्ष्य यदि प्राप्त करना हो तो शिवभाव को परमशिवभाव में परिणत करना आवश्यक होता है, क्योंकि यह परमा प्रकृति परम शिव के ही नाभिकुण्ड से निकले कमलासन में विराजमान रहती है। शिवावस्था में इसका आविर्भाव होना संभव नहीं है। गुरु-राज्य के लक्ष्य जो शिव हैं उनके साथ भक्ति का योग सम्पन्न होने पर वह शिव परम शिव के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं। शक्ति का पूर्ण विकास होने पर नाभि-मार्ग खुल जाता है एवं तब उस नाभिमण्डल से ब्रह्मनाल उद्गत होता है। यह षट्चक्र का भेदन करनेवाले ब्रह्मनाल से उत्कृष्ट है, क्योंकि यह शिव की नाभि से निकला है एवं इसी के ऊपर कमल की कर्णिका में महाशक्ति विराजमान रहती हैं। शिव अर्थात् परम शिव तब निद्रितवत् रहते हैं। प्रथम राज्य के शिव शवरूप में स्थित रहते हैं, किन्तु द्वितीय राज्य के शिव अर्थात् परम शिव शव न होने पर भी सुप्त रहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस द्वितीय राज्य में भी पूर्णत्व नहीं हो सकता। तन्त्रशास्त्र में षट्त्रिंशत् तत्त्वों के उपदेश से शिवभाव का आदर्श प्रदर्शित होने पर भी इंगित से तत्त्वातीत परमशिव की ओर अंगुलिनिर्देश किया गया है। किन्तु शिवतत्त्व से तत्त्वातीत परम शिव में किस प्रकार पहुँचा जाता है इसका मार्गनिर्देश नहीं किया गया है। प्रकारान्तर से बतलाया गया है कि शिवभाव में शक्ति की पूर्णसत्ता अभिन्न रूप से विद्यमान रहती है। इसीलिए शिवभाव प्रकाशात्मक होने से विश्वातीत होनेपर भी पूर्णत्व की मूलभित्ति है, किन्तु शक्ति के जागरण के बिना ऊर्ध्वगति नहीं हो सकती। शक्ति के किंचित् जागरण से शिव होते हैं शव; किन्तु शक्ति के और अधिक जागरण से शिव होते हैं सुप्त। शक्ति के पूर्णतम जागरण से शिव भी पूर्ण जाग्रत् होते हैं। काली आद्याशक्ति है, यह शिवमयी शक्ति के जागरण की प्रथम सीढ़ी है। शिव तब शव हैं। तारा जागरण का सन्धि-स्थान है, तब भी शिव का शवत्व हटता नहीं। ललिता या राजराजेश्वरी तृतीय शक्ति है, इनके पूर्ण जागरण से शिव निद्रित होते हैं। इस बार शवत्व तो हट जाता है, किन्तु निद्राभाव तब भी रहता है। ज्ञानगञ्ज की परम अवधि यहीं तक है। तब भी पूर्णत्व शेष रहता है। ज्ञानगञ्ज की

साधना में शास्त्र का जो अस्पष्ट इंगित है वह निखर उठता है। क्योंकि शिवभाव के बाद परम शिव भाव यहाँ प्रतिष्ठित होता है।

हम जानते हैं कि श्री श्री गुरुदेव ज्ञानगञ्ज की साधनापूर्ण करते समय नाभिधौती क्रिया प्राप्त करने के लिए कितने अधिक उत्कण्ठित हुए थे एवं किस प्रकार गुरु की कृपा से उसे उन्होंने प्राप्त किया था। इस नाभिधौती के कारण ही वे शिवभाव से परमशिव भाव तक पहुँचे थे एवं साथ ही साथ महाशक्ति राजराजेश्वरी को अपनी ही नाभि से निकले हुए कमल में आसन देने में समर्थ हुए थे। खिले हुए नाभिकमल के साथ नवोदित ज्ञानसूर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सूर्य के उदित होने पर ही नाभिकमल खिल उठता है यह जैसे सत्य है वैसे ही नाभिकमल के खिले बिना इस सूर्य का पता नहीं चलता यह भी वैसे ही सत्य है। यह ज्ञानसूर्य महाज्ञान का द्योतक है। गुरुराज्य के केन्द्र में जो शिवभाव की स्थापना हुई है उसके अनन्तर इस महाज्ञान की सम्भावना होती है। सूर्यमण्डल का भेदन करना आवश्यक है, अन्यथा सूर्यमण्डल के परले पार में स्थित अखण्ड गुरु ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार-लाभ अत्यन्त कठिन है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि परमा प्रकृति अथवा राजराजेश्वरी का भी भेद करना होगा। जो अखण्ड गुरुराज्य या तृतीय राज्य की बात कही गई है उसकी स्थापना के लिए ये दोनों ही आवश्यक हैं। शिव का शवत्व हटा है यह सत्य है, किन्तु परमशिव की सुप्ति का भंग (पलकत्याग) अभी नहीं हुआ। परमशिव का जागरण होने पर ही जागरण हुआ कहना बनता है। तब फिर शिव-शक्ति यों पृथक् कुछ नहीं रहेगा, एक अखण्ड चैतन्य ही रहेगा। पर इसमें भी क्रम है, क्योंकि पहले आनन्द की प्रतिष्ठा होती है उसके बाद होती है विज्ञान की प्रतिष्ठा एवं उसके पश्चात् सत्य की प्रतिष्ठा होती है।

एक बात यहाँ पर ध्यान देने योग्य है। योगी कर्म के प्रभाव से अग्रसर होते हैं, यह ठीक है, किन्तु इस कर्म के साथ कृपा अथवा अनुग्रह का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि चरम अवस्था में इन दोनों का भेद नहीं किया जा सकता। दृष्टान्त के रूप में यह कहा जा सकता है कि गुरुराज्य में गुरुप्रदत्त प्राथमिक अनुग्रह कर्म के आकार में शिष्य के जीवन में प्रकाश पाता है, क्योंकि वैसा न होने पर दीक्षाप्राप्ति के तुरन्त बाद मृत्यु होने पर भी शिष्य किसके बल से गुरुराज्य में स्थान पाता है? आसन तत्त्व एक ओर कृपा और दूसरी ओर कर्म को अभिन्नरूप से धारण करता है। गुरुदत्त आसन यही बतलाता है कि एक ओर जैसे यह गुरु की कृपा है वैसे ही दूसरे पक्ष में यह शिष्य के भावी कर्म की संभावनीयता है। बाद में कर्म करना पड़ता है, यह बात सही है, किन्तु उसकी संभावना आसन के बिना हो नहीं सकती। यद्यपि यह कृपा एक तरह से ऋणरूप है, क्योंकि बाद में शिष्य को उसे चुकाना पड़ता है, तथापि यह काल-राज्य से उद्धार करने का अमोघ उपाय है। दूसरे राज्य में यह कृपा जैसे और भी गहरी होती है वैसे ही इससे सम्बद्ध कर्म का प्रभाव और प्रसार भी और अधिक होता है। परन्तु यह दूसरे राज्य में ही सब समाप्त नहीं होती, क्योंकि यहाँ भी कर्म बाकी रह जाता है और कृपा भी शेष रहती है। कृपा और कर्म का मिलन इस समय भी नहीं

होता। इस समय भी गुरु की कृपा और शिष्य का कर्म कुछ न कुछ अंश में पृथक् पृथक् विद्यमान रहते हैं। यद्यपि दोनों में कई अंशों में मिलन हो चुका है। परमा प्रकृति के राज्य की अन्तिम सीमा तक कृपा रहती है। वहाँ तक जो कर्म है वह कृपा के अधीन अर्थात् स्पष्ट कृपा के अधीन रहता है। किन्तु परमा प्रकृति के राज्य का भेदन करना, अखण्ड गुरुराज्य में प्रवेश करना एवं सबसे पहले शिवावस्था से ऊपर उत्थित होना ये सब महाकृपा से ही होते हैं, किन्तु यह कृपा गुप्त है। यह अनजाने रूप में घटित होती है, किन्तु कृपा का कार्य सिद्ध हो जाता है। कृपा के रूप में कृपा का परिचय भले ही प्राप्त न हो, किन्तु कृपा अपना फल प्रदान करती है। परमा प्रकृति के राज्यभेदन के अनन्तर अखण्ड गुरुधाम के दरवाजे तक का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। इस मार्ग में कृपा का अर्थात् प्रकट कृपा का पता नहीं चलता। प्यासा पथिक प्यास से दुःखी होकर रोने लगता है। प्यास मिटानेवाला जल देने के लिए कोई उसके निकट हाथ बढ़ाकर देता नहीं। किन्तु जल न देने पर भी अज्ञात रूप से, अचिन्त्य ढंग से उसकी प्यास की उत्कण्ठा घट जाती है एवं कष्ट भी हल्का हो जाता है।

(८)

साधक की कुण्डलिनी जागने की पूर्ण परिणति है चिदाकाश में इष्ट अथवा माँ के साथ तादात्म्य। उद्वृत्त शक्ति के अभाव वश साधक योगी नहीं हो सकता। खण्ड योगी की कुण्डलिनी के जागरण का चरम फल शुद्ध विद्या का उन्मेष और उसके विकास से शिवत्व-लाभ है। यहीं पर जीव को जीव भाव हटने से शिवभाव की प्राप्ति होती है। साधक शिव नहीं हो सकता, किन्तु केवली होता है अर्थात् विदेह केवली होता है। यह निरञ्जन पशु की ही एक अवस्था है। योगी खण्ड होने पर भी कर्म की पूर्णता से शिव होता है, जीवभाव फिर उसमें रहता नहीं, वह विदेह भी नहीं होता—वह सिद्ध खण्ड योगी होता है तथा उसकी काया शाक्त होती है। गुरुराज्य में सर्वत्र बैन्दव काया है, किन्तु ज्ञानगञ्ज के नीचे की ओर बैन्दव काया है एवं ऊपर की ओर शाक्त काया है। बैन्दव काया अमर है, शाक्त काया भी अमर है, किन्तु बैन्दव काया में पहले काल-सम्बन्ध संस्कार रूप से रहने तक जरा रहने पर भी मृत्यु नहीं रहती, परन्तु शाक्त काया में जरा भी नहीं रहती। वह अजर और अमर है, वही श्रेष्ठ दिव्य काया है। दिव्य ज्ञान के बिना दिव्य काया का उद्भव नहीं होता। शुष्क ज्ञान से मायिक काया की निवृत्ति हो जाती है सही एवं कर्मबीज नष्ट हो जाते हैं यह भी सत्य है, किन्तु शुद्ध विद्या के बिना अमायिक काया की प्राप्ति होती नहीं। ज्ञानगञ्ज के ऊपर की ओर सभी स्वरूपतः किशोर और किशोरियाँ हैं—सभी की स्थिति शिवत्व-रूप महा प्रकाश में है। भैरवी अवस्था में जरा रहती है, किन्तु देवी अवस्था में जरा नहीं रहती।

गुरुराज्य की साधना जीव की साधना है वह शिव होने के लिए है, किन्तु ज्ञानगञ्ज की साधना शिव की साधना है वह परम शिव होने के लिए है अर्थात् अपने आधार में परा शक्ति के पूर्णतम विकास के लिए है। गुरुराज्य की साधना में जो षट-

चक्र का भेद होता है वह जीवदेह का षट्चक्र है। किन्तु ज्ञानगञ्ज की साधना में उक्त षट्चक्र का भेद करना नहीं पड़ता एवं शिवत्व-लाभ के साथ ही साथ उसकी आवश्यकता भी फिर नहीं रहती। किन्तु शिवत्व-लाभ होने पर ही तो सब होता नहीं। क्योंकि शिवत्व में यदि शक्ति अन्तर्लीन रहे तो शक्ति की कोई क्रिया होती नहीं, इसलिए शिव भी अव्यक्त से हो जाते हैं। ये शिव विश्वातीत महा प्रकाश से अभिन्न हैं। शिव के साथ उनकी निज शक्ति का पूर्ण संयोग होने पर सामरस्य भाव का उदय होता है। पहले हुआ था शिव का जागरण, इस बार हुआ शिव के पूर्ण शिवत्व-लाभ के साथ साथ शक्ति का जागरण। इसके बाद ऐसी एक अवस्था का उदय होगा जहाँ जाग्रत् शिव और जाग्रत् शक्ति अभिन्न हो कर प्रकाशमान होंगे। तब शिव की महानिद्रा टूटेगी एवं परम शिव पृथक् सत्ता ले कर रहेंगे नहीं—पूर्ण अद्वैत सत्ता का उदय होगा। किन्तु सूर्यमण्डल का भेद न होने तक इस प्रकार की स्थिति होना संभव नहीं है। सूर्यमण्डल-भेद कर सकने पर मध्यवर्ती सब पर्दे कट जाते हैं, तभी अखण्ड गुरुराज्य का प्रकाश हो सकता है। ज्ञानगञ्ज की साधना और सिद्धि इस अखण्ड भूमि की ही प्राप्ति में सहायक हैं।

(९)

ज्ञानगञ्ज अथवा गुरुराज्य की आलोचना के प्रसङ्ग में एक प्रश्न स्वभावतः ही जिज्ञासु के मन में उदित होता है। प्रश्न यह है—कोई शुष्क ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति से विवेक प्रतिष्ठित होने से कैवल्य-लाभ करते हैं और कोई दिव्य ज्ञान के क्रमिक उत्कर्ष से गुरुराज्य अथवा ज्ञानगञ्ज आदि भूमि में प्रवेश प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। सद्गुरु के अनुग्रह के मूल में इस प्रकार का पार्थक्य क्यों दिखाई देता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सद्गुरु एक प्रकार से अखण्ड विश्वगुरु हैं, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु जिस आधार में उनकी शक्ति संचारित होती है उसकी धारणसामर्थ्य की कमीबेशी के अनुसार संचारित शक्ति में कमीबेशी होती है। इसलिए अनुग्रह के प्रकाश में पार्थक्य का अनुभव होता है। वस्तुतः उनका कोई पक्षपात नहीं है। आधार की सामर्थ्य के तारतम्य का कारण यह है कि सृष्टि के समय जिनका अवतरण होता है उनका एक ही स्थान से अवतरण नहीं होता। जैसे किसी का ज्योति से ही माया में विसर्ग होता है—अवश्य अणुरूप से ज्योति में पहले ही उसने स्थिति प्राप्त की थी, कोई ज्योति के अतीत चिन्मय राज्य से अवतीर्ण हुए हैं। इन चिन्मय राज्यों में भी परस्पर तारतम्य है, मूल में सब उस अखण्ड चैतन्य के ही शक्तिस्पन्दन से उद्भूत हैं, यह सत्य है। इसीलिए लौटती बार जो जिस जगह से अवतीर्ण हुआ था उसे उसी स्थान में खींच लिया जाता है। जो ज्योति से सुप्त अवस्था टूटने पर माया गर्भ में पड़े हैं—अवश्य कर्म समष्टियों के भीतर से संसार में प्रविष्ट होने के बाद उनके लिए शुष्क ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति के बाहर शुद्ध बोध स्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है, इससे अधिक आकांक्षा वह कर ही नहीं सकते। सरसरी तौर पर वह उनका प्राप्य भी नहीं है। अनात्मा में आत्मबोध निवृत्त होने पर कर्मबीज स्वभावतः ही विनष्ट हो जाते हैं। तब जन्म-मृत्यु

का कारण कट जाता है एवं कैवल्यपद में स्थिति होती है। इन सब आत्माओं के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्ति की संभावना कहाँ है ? किन्तु जो आत्माएँ चिन्मय भूमि से उतर कर आई हैं उन सब के लिए यदि लौट कर जाना हो तो ज्योति का भेद कर चिन्मय राज्य में जाना आवश्यक है। इस अवस्था में केवल अनात्मा में आत्मबोध की निवृत्ति यथेष्ट नहीं है, आत्मा में आत्मबोध का उदय भी आवश्यक होता है। यह आत्मबोध जैसे जैसे विकास को प्राप्त होता है वैसे वैसे आत्मा में अनात्मबोध भी हट जाता है अर्थात् शुद्ध अहंभाव बढ़ता है एवं इदंभाव कटता है। चरमावस्था में शुद्ध आत्मा में पूर्ण अहंभाव विराजमान हो जाता है। यही शिवत्व है। इस तरह गुरुराज्य की ऊपरी सीमा तक गति की प्रणाली तान्त्रिक साहित्य में प्रकाशित की गई है, भले ही वह गुह्यरूप से है। किन्तु गुरुराज्य से ज्ञानगञ्ज में चढ़ने की प्रणाली कहीं भी वर्णित नहीं है, क्योंकि वह और अधिक गुह्य है। ज्ञानगञ्ज में वे ही आत्माएँ लौटती हैं जो वहीं से प्रपञ्च में अवतीर्ण हुई हैं। महा खण्ड गुरु चुन चुन कर उनको खींच लेते हैं। कारण, उन लोगों की ज्ञानगञ्ज में लौटने की नैसर्गिक उन्मुखता रहती है। यहीं तक हमारी आलोचना की वर्तमान सीमा है। किन्तु इस नीति का अनुसरण करने पर ही ज्ञात हो सकेगा कि अखण्ड गुरुराज्य में भी अधिकार के अनुसार गति होती है।

प्रत्येक राज्य में दो विभाग होते हैं। एक केन्द्र और दूसरा बाह्य। केन्द्र का बल कम होने पर उसका अधिकारक्षेत्ररूप गोलक छोटा होता है। केन्द्र का बल अधिक होने पर वह क्षेत्र और भी बड़ा होता है। केन्द्र का बल असीम होने पर वह क्षेत्र विश्वव्यापी हो जाता है, यहाँ तक कि अनन्त हो जाता है। केन्द्र की शक्ति प्रबल होने पर केन्द्र में प्रवेश करने वाले अधिकारियों की संख्या बहुत कम हो जाती है, किन्तु केन्द्र के प्रबल होने से कृपाविस्तार का क्षेत्र असीम विस्तृत हो जाता है। जितना ही नीचे उतर आया जाता है उतना ही केन्द्र दुर्बल होता है, इसलिए कृपाविस्तार के साथ साथ कुछ कुछ नियन्त्रण आदि का बन्धन रह जाता है। केन्द्र के और अधिक दुर्बल होने पर अनुग्रह का क्षेत्र संकुचित हो जाता है, इसलिए नियम और विधान अपेक्षाकृत कठिन हो जाते हैं। क्योंकि वैसा न होने पर केवल दुर्बल केन्द्र द्वारा फल-सम्पादन नहीं हो सकता।

इसलिए अखण्ड गुरु की दृष्टि से उनके अनुग्रह के अयोग्य अथवा अविषय कोई भी रह नहीं सकते।

(१०)

ज्ञानगञ्ज के सम्बन्ध में मोटे तौर से कुछ तत्त्व पर प्रकाश डाला गया। किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञानगञ्ज तथा तदनुरूप अन्य स्थान (जैसे वृन्दावन), इन दोनों में भेद क्या है ? ज्ञानगञ्ज कहने से हम तिब्बत के अन्तर्गत किसी निगूढ़ स्थान को लक्ष्य नहीं करते, यद्यपि यह सत्य है कि वह स्थान भी प्रस्तुत ज्ञानगञ्ज के साथ सम्बद्ध है, क्योंकि तत्त्वमय ज्ञानगञ्ज का ही यह अर्थमय प्रकाश है। वैसे ही वृन्दावन कहने से

भी हम उत्तरपश्चिम प्रदेश के अन्तर्गत मथुरा के समीपवर्ती किसी स्थान विशेष को लक्ष्य नहीं करते, यद्यपि इस जगह भी यह सत्य है कि इस भूमिस्थ वृन्दावन के साथ भी वास्तविक वृन्दावन का संसर्ग है, यहाँ तक कि तादात्म्य भी है।

वृन्दावन माधुर्यमयी भक्तिसाधना का श्रेष्ठ स्थान है। ज्ञानगञ्ज कर्मभूमि है, पृथ्वी पर पार्थिव देह से आरब्ध कर्म यहाँ पूर्ण हो सकते हैं। देह आदि का गठन उसके अनुकूल रूप में ही वहाँ प्राप्त हो जाता है एवं उस कर्म के पूर्ण होने पर जो लक्ष्य प्राप्त होना चाहिए वह भी वहीं से आभासरूप में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु वृन्दावन ऐसा कर्मस्थान नहीं है, लेकिन भावस्थान है। भावसाधना मर्त्यदेह में आरब्ध होकर यदि अपूर्ण रह जाय तो वृन्दावन में उसके अनुरूप देह की प्राप्ति होती है एवं इस साधना का क्रमविकास चलने लगता है, कारण वहाँ भी स्तरों का विभाग है। ज्ञानगञ्ज में जैसे नूतन देह आदि की प्राप्ति होती है, जिसका चरम लक्ष्य जरा और मृत्यु से छुटकारा पाना है, वृन्दावन में भी वैसे ही भगवान् की बहिरङ्ग अथवा अन्तरङ्ग साधना के उपयोगी भावदेह की प्राप्ति होती है एवं उस भावदेह के क्रमविकास से कभी न कभी पूर्ण रस की अभिव्यक्ति होती है एवं चरम सिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञानगञ्ज में दिन रात का विभाग नहीं है, वृन्दावन में भी वही बात है। ज्ञानगञ्ज की भूमि मृत्तिकारूप नहीं है वैसे ही वृन्दावन की भूमि भी मृत्तिकारूप नहीं है, दोनों चिन्मय हैं। यह होने पर भी दोनों में भेद है। ज्ञानगञ्ज का लक्ष्य माँ हैं, जिनको पाने के लिए शिव को नाभि-धौती सिद्ध कर परम-शिवरूप धारण करना पड़ता है। वृन्दावन का लक्ष्य माँ नहीं है। वृन्दावन में माँ का कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञानगञ्ज की परम लक्ष्यभूत जो राज-राजेश्वरी या ललिता हैं, वे वृन्दावन में मातृरूप त्याग कर रासलीला की प्रधान सखी के रूप में परिगणित होती हैं। इसका अत्यन्त गुह्य तात्पर्य है। पूर्वोक्त ज्ञानगञ्जनामक पीठ की धारा मातृभाव का आलम्बनरूप में ग्रहण कर अनन्त की ओर अग्रसर हुई है। ज्ञानगञ्ज के सदृश ऐसा भी एक पीठ है जिसकी धारा में मातृभाव का स्थान नहीं है। वह धारा कान्तभाव का ग्रहण कर युगल उपासना में पर्यवसित हुई है।

आलमन्दारसंहिता में लिखा है कि भगवान् की लीला तीन प्रकार की है—एक वास्तविक या पारमार्थिक, एक प्रातिभासिक एवं एक व्यावहारिक। वेदान्त में जिस प्रकार सत्ता को पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक इन तीन विभागों में विभक्त किया गया है, विज्ञानवादी बौद्धों के शास्त्र में स्वभाव को परिनिष्पन्न, परिकल्पित और परतन्त्र इन तीन भागों में विभक्त किया गया है, उसी प्रकार वैष्णवों ने भी लीला को तीन भागों में विभक्त किया है। इस त्रिविध लीला का स्थान भी तीन प्रकार का है—वास्तविक या पारमार्थिक लीला अक्षर ब्रह्म के हृदय में देखी जाती है, प्रातिभासिक लीला नित्य वृन्दावन में होती है एवं व्यावहारिक लीला निर्दिष्ट समय में व्रजभूमि में होती है। स्मरण रखना चाहिए कि अक्षर ब्रह्म का हृदय वृन्दावन है, प्रातिभासिक लीला की जो भूमि है वह भी वृन्दावन है एवं व्रजभूमि भी वृन्दावन का ही नामान्तर है। किन्तु तीनों वृन्दावन होने पर भी इनमें परस्पर भेद है। अनुरूप

युक्ति और परिभाषा का अवलम्बन कर कहा जा सकता है कि ज्ञानगञ्ज में भी इस प्रकार का भेद है। जो वास्तविक ज्ञानगञ्ज है वह उस अक्षर ब्रह्म के हृदयस्थित वृन्दावन के तुल्य ही चिन्मय प्रदेश है। वह वृन्दावन जैसे—

"तत्स्थानं कोटिब्रह्माण्डमहाशून्याद् विलक्षणम्।
मानं तस्यापि किमपि विद्यते नैव शाम्भवि॥
तत्र भूमिं स्वप्रकाशामाकाशं च तथाविधम्।
जलं तथाविधं विद्धि तेजश्चैव तथाविधम्॥"

इत्यादि रूप है वैसे ही वास्तविक ज्ञानगञ्ज के भूमि, आकाश, जल, तेज—सब के सब स्वप्रकाश हैं, अर्थात् वहाँ मिट्टी की भूमि नहीं है आकाश आदि भी नहीं हैं, एकमात्र चैतन्य ही भूमि आदि के रूप में प्रकाश पाता है। जो व्यावहारिक ज्ञानगञ्ज है, वह सिद्ध पुरुष आदि का सुपरिचित है, किन्तु जो पारमार्थिक ज्ञानगञ्ज है वह योग के सब से ऊँचे शिखर पर आरूढ़ हुए बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा जाता है कि तिब्बत के किसी एक विशेष स्थान पर ज्ञानगञ्ज अवस्थित है, जहाँ अधिष्ठाताओं की सहानुभूति रहे बिना प्रवेश नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि उस स्थान का पता भी पाया नहीं जाता।

कर्म की सार्थकता एवं भक्ति की सार्थकता साधकों के जीवन में पृथक्-पृथक् हैं। कर्म द्वारा अधिकारसम्पत्ति प्रबल होने पर उक्त स्थान का पता सबको लग सकता है। इस अधिकारसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए स्थूल देह से गुरु द्वारा निर्दिष्ट कर्म-राशि को पूर्ण करना पड़ता है, ऐसा पूर्ण कि जिससे आभास भी शेष न रहे। कर्म समाप्त हुए बिना आधार में बल का आधान नहीं होता, फलतः स्वरूप के महान् प्रकाश को धारण करने की क्षमता प्राप्त नहीं होती। यदि कृपा धारण करनी हो तो उसे धारण करने की योग्यता (क्षमता) आवश्यक है। महाकृपा ही यथार्थ कृपा है, उस समय की योग्यता ही श्रेष्ठ योग्यता है। ज्ञानगञ्ज में, केवल ज्ञान-गञ्ज में ही क्यों प्रत्येक योगभूमि में ही, इस योग्यता को बढ़ाने का उपाय रहता है। उससे कर्म क्रमशः पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिए गुरुराज्य, ज्ञानगञ्ज तथा अखण्ड गुरु का क्षेत्र, जो भावी प्रकाश के अन्तर्गत है, सभी भूमिरूप हैं। पारमार्थिक ज्ञानगञ्ज का पता सभी के लिए जानना संभव नहीं है। पर किसी-किसी को ज्ञानगञ्ज का पता लगा है, ऐसा जो सुनाई पड़ता है, उसका व्यावहारिक ज्ञानगञ्ज से ही सम्बन्ध जानना चाहिए[1]।

---

१. ज्ञानगञ्ज का विवरण "श्री श्री योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंस" नामक वंग-भाषा में लिखित ग्रन्थ के विभिन्न पृष्ठों में देखना चाहिए।

"ब्रह्माण्ड नो भेद" नामक १९२६ ई० में प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ में तिब्बत में स्थित "सत्यज्ञानाश्रम" या "ज्ञानमठ" नामक जिस गुप्त मठ की चर्चा की गई है वह ज्ञानगञ्ज से ही सम्बद्ध है, ऐसा प्रतीत होता है। यह मठ हिमालय के ऊपर, तिब्बत प्रान्त में अवस्थित है। इसके पाँच मील तक सदा बर्फ से ढका प्रदेश है। इस मठ में जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसकी तुलना पृथ्वी में अन्यत्र कहीं नहीं है। प्रसिद्धि है कि राजा विक्रमादित्य के राज्यकाल में सिद्धपुरी,

आत्मपुरी और ज्ञानपुरी नाम के तीन पर्यटकों ने भ्रमण करते-करते कुछ दिन ब्रह्मप्रदेश में रहने के बाद इस गुप्त स्थान में आकर स्थायी रूप से निवास करना आरंभ किया था। वहाँ योग, अमृतसिद्धि तथा अन्यान्य विज्ञान-विषयक तत्त्वों के सम्बन्ध में आलोचना होती थी। स्थान इतना गुप्त है कि सुदीर्घ काल में भी चीन, वर्मा और आसाम के बारह आदमियों के सिवा और किसी को इस स्थान का पता नहीं था। कुछ दिनों के बाद दो महात्माओं ने उस स्थान का त्याग किया (वही पृष्ठ ७७)। रोम देश के एक पथिक ने भी इस स्थान की चर्चा 'ज्ञानमठ' के नाम से अभिव्यक्त की थी। यहाँ के तीन महापुरुषों की अलौकिक दिव्य-शक्ति की कथा उसमें वर्णित है। इस मठ में अनुमति के बिना किसी के भी प्रवेश करने का उपाय नहीं था (वही पृष्ठ ७८)। और एक ग्रीक पर्यटक ने भी इस स्थान का वर्णन किया है। उन्होंने बतलाया है कि तिब्बत के इस मठ के तुल्य अद्भुत स्थान उन्होंने पृथ्वी में अन्यत्र कहीं देखा ही नहीं। उनके मत में यही यथार्थ "Heaven of Earth" (भू-स्वर्ग) है (वही पृ० ७८)। चीन देश के ऐतिहासिक विद्वान् Fengliyan ने कहा है कि दुर्गम पर्वत के मध्य में इस गुप्त मठ में योगक्रिया की जो आलोचना होती है उसे कोई नहीं जानता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय पृथ्वी की यथार्थ उन्नति इन सब योगियों द्वारा ही सिद्ध होगी। ये सब योगी जो चाहते हैं वही कर सकते हैं। और एक दूसरे ऐतिहासिक ने कहा है कि वायुमण्डल में एक अदृश्य दुर्ग की रचना कर ज्ञानमठ की रक्षा करने की व्यवस्था की गई (वही पृ० ७९)।

"देवदर्शन" प्रथम खण्ड में लिखा है कि अनन्त योगी नाम के एक महाराष्ट्र योगी भगवान् दत्तात्रेय के आदेश से योगशिक्षा के लिए ज्ञानगञ्ज गये थे और उन्होंने वहाँ कई वर्ष निवास किया था। सूर्यविज्ञान नाम का हमारा एक विवरणात्मक प्रबन्ध "भारतीय संस्कृति और साधना" नामक हमारे ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में प्रकाशित हुआ है जिसमें प्रसंगतः ज्ञानगञ्ज का विवरण दिया गया है। यह प्रबन्ध पहले कल्याण के योगाङ्क से प्रकाशित हुआ था। यह बतलाना आवश्यक है कि वह व्यावहारिक ज्ञानगञ्ज का विवरण है।

इच्छाशक्ति

जो लोग योगशास्त्र के ज्ञाता नहीं एवं अध्यात्मविज्ञान से सुपरिचित नहीं उन लोगों में इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा बद्धमूल दीख पड़ती है। साधारणतः पाश्चात्य साहित्य में will power (विल पावर) के नाम से जिस शक्ति का विवरण दिखाई पड़ता है, उसी को बहुत से लोग इच्छाशक्ति मान बैठते हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। योगी लोग जिसे इच्छाशक्ति का नाम देते हैं वह साधारण शक्ति नहीं है—वह सृष्टि की मूल शक्ति है, क्योंकि उसी शक्ति के प्रभाव से सृष्टि का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ और इस समय भी हो रहा है। साधारण मनुष्य में इच्छाशक्ति तो दूर रही किसी भी शक्ति का विकास नहीं। उसमें इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सभी सोई हैं। इसलिए सुप्त महाशक्ति का जब तक उद्बोधन न हो तब तक किसी भी शक्ति के स्फुरण का अनुभव नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत प्रबन्ध में आगमसिद्धान्त के अनुसार दो चार बातें कहने की हमारी इच्छा है। उससे योग का वास्तविक रहस्य क्या है एवं उसका माहात्म्य कितना है यह समझ में आ सकेगा। शास्त्र में लिखा है—

> **चिदात्मा हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।**
> **योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥**

इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के पहले परमेश्वर ने इच्छाशक्ति के द्वारा अपने स्वरूप में स्थित पदार्थसमूह को उपादान के बिना ही बाह्य रूप में प्रकट किया। योगी जैसे इच्छाशक्ति के प्रभाव से बाहरी उपादानों का अवलम्बन किये बिना ही केवल इच्छामात्र से वस्तुसृष्टि करते हैं यह भी वैसा ही है। चैतन्यरूपी परमात्मा ही विश्वके मूलकारण हैं। वे अखण्ड, एक और अद्वितीय हैं। वहाँ निमित्त और उपादान में कोई भेद नहीं। लौकिक जगत् में यदि किसी वस्तु की सृष्टि करनी होती है तो एक ओर जैसे उस वस्तु के उपादान की आवश्यकता पड़ती है दूसरी ओर वैसे ही सृष्टि कर्ता की इच्छा आदि भी आवश्यक होते हैं। इनमें एक उपादान और दूसरा निमित्त कहलाता है। सर्वत्र ही ऐसा देखा जाता है। किन्तु आदि सृष्टि में निमित्त और उपादान का विभाग न रहने से सृष्टिकर्ता के आत्मस्वरूप से ही केवल उनकी इच्छा के प्रभाव से जिस किसी पदार्थ की सृष्टि हो सकती है। वस्तुतः इस स्थल में उपादान और निमित्त अभिन्न हैं।

विश्व के मूल में, अद्वैतदृष्टि से, एकमात्र अद्वैत परमसत्ता ही है, द्वितीय कुछ नहीं है। यह परमसत्ता वाणी और मन की अगोचर एवं बुद्धि की पहुँच से परे

है। हम सचराचर जिस ब्रह्म वस्तु को सच्चिदानन्द कहते हैं वह इस परमसत्ता से अभिन्न है। वस्तुतः इस अखण्डसत्ता में भी एक हिसाब से स्तर-विन्यास दिखाई देता है। यह परम या पूर्णसत्ता ही वस्तुतः सत् के नाम से वर्णनीय है। यह अखण्ड, एक, समरस और निष्कल है। यह निरञ्जन और अलख तत्त्व है। वास्तव में यह तत्त्व नहीं है, तत्त्वातीत है। यह केवल तत्त्वों से ही परे नहीं है, कला के भी अतीत है। कौलों ने इस परमशान्त स्थिति का ही 'कुल' नाम से वर्णन किया है। सम्पूर्ण विश्व उसी से उद्भूत होता है, उसी में स्थित रहता है एवं कालक्रम से अन्त में उसी में लीन हो जाता है। केवल विश्व ही नहीं, विश्वपिता और विश्वमाता जिन्हें कहा जाता है उनका भी इस अव्यक्त कुल से ही प्रकाश होता है। जो विश्वपिता शिव हैं वे अकुल हैं एवं जो विश्वमाता शक्ति हैं वह कौलकी हैं। दोनों चित्स्वरूप हैं। शिव प्रकाशरूपी चित् हैं और शक्ति उस प्रकाश की आत्मविमर्शरूपी चित् हैं। दोनों ही मूलतः एक हैं, अतः अभिव्यक्त अवस्था में भी दोनों के मध्य ऐसा सम्बन्ध रहता है कि एक के बिना दूसरे का स्फुरण ही नहीं होता अर्थात् शिव के बिना शक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं होती एवं शक्ति के बिना शिव शवमात्र हैं। यद्यपि दोनों चिद्रूप ही हैं फिर भी दोनों की स्थिति में थोड़ी विलक्षणता है। एक स्थिति शास्त्र के अनुसार 'एकवीर' नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थिति में शिव और शक्ति में परस्पर किसी अंश में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य नहीं रहता। दूसरी स्थिति में दोनों में परस्पर कुछ वैलक्षण्य उपलब्ध होता है। उसके अनुसार एक चित् बिम्बस्थानीय है और दूसरी भी उसके आत्मप्रकाश के रूप में प्रतिष्ठित है। इस अवस्था में दोनों चितों का परस्पर आभिमुख्य दिखाई देता है। जैसे एक आदमी समीपवर्ती दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता है यह भी कई अंशों में वैसा ही है। इन दोनों चितों के मूल में एक ही चित् है यह कहना अनावश्यक है। किन्तु एक होने पर भी स्फुरण के अनुसार उन्हें दो के रूप में ग्रहण करना होगा। इस आभिमुख्य के कारण दोनों में तीव्र आकर्षण की क्रिया अनुभूत होती है। उसके प्रभाव से एक मन्थन की क्रिया प्रकट होती है जिससे आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। इस तरह समझ में आ सकेगा कि परमसत्ता की यामल अवस्था में एक चित् तथा दूसरी आनन्द के रूप में आविर्भूत होती है, किन्तु दोनों ही कला हैं—चित्कला और आनन्दकला—दोनों ही निष्कल परमसत्ता को पृष्ठ भूमि में रखकर उदित होती हैं। यह निष्कल परमसत्ता यदि सत् है तो ये दोनों ही कलाएँ उसकी अन्तरङ्ग कला चित् और आनन्द के रूप में गृहीत होने योग्य हैं। इन तीनों को मिलितरूप में सच्चिदानन्द ब्रह्म कहते हैं। स्मरण रखना होगा कि चित्कला के अभाव में सद्वस्तु सत् होकर भी असत् है। चित् और आनन्द सत् की अन्तरंग कलाएँ हैं। उसकी बहिरङ्ग कला भी है। वही इच्छा, ज्ञान और क्रिया के नाम से अभिहित होती है।

चित् और आनन्द एक होने पर भी सर्वथा एक नहीं हैं, क्योंकि आनन्द चित् होकर भी केवल चित् नहीं है, उसमें भविष्य में जिस विश्व की सृष्टि होगी, उसका आभास विद्यमान रहता है। आनन्द भावी विश्व को गर्भ में धारण कर

सृष्टि की उन्मुख अवस्था के लिए प्रतीक्षा करता है। गर्भवती नारी जैसे गर्भस्थित सन्तान के प्रसव की प्रतीक्षा करती है यह भी अधिकांशतः वैसा ही है। किन्तु चित् अवस्था वैसी नहीं है। चित् और आनन्द दोनों चैतन्यस्वरूप होने पर भी एक निराभास है और दूसरा साभास है। किन्तु यह आभास अन्तःस्थित आभासमात्र है। इसीलिए वह चिदात्मक है। जब तक वह बाहर प्रकट नहीं होता तब तक उसे परमस्वरूप के ही अन्तर्गत जानना होगा। किन्तु यह चिदवस्था नहीं है, आनन्द अवस्था है। उपनिषद् ने कहा है—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। अर्थात् चित् की आनन्दात्मक अवस्था से ही विश्व की उत्पत्ति होती है, आनन्द के मध्य में विश्व-स्थित रहता है और आनन्द में लीन होकर विद्यमान रहता है। इस आनन्दात्मक आत्मा के अन्दर स्थित विश्व को बाहर ले आना ही विसर्ग कहलाता है। इसके लिए परमात्मा में इच्छाशक्ति की क्रिया आवश्यक होती है, क्योंकि इच्छाशक्ति के बिना आत्मा के भीतर स्थित सत्ता अर्थात् पदार्थ बाहर नहीं लाया जा सकता।

जब परमेश्वर की इच्छाशक्ति का उन्मेष होता है तब विश्व इदं रूप में अर्थात् बाह्य रूप में प्रकट होता है। 'बाह्य' शब्द का अर्थ है आत्मस्वरूप के बाहर। आत्मा यदि अद्वैत है, यदि उससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकता है तो आत्मा से बाहर यह कथन कैसे ? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि मूल में बाहर नाम का कुछ न रहने पर भी भगवान् के आत्मसंकोच के कारण इदंरूप में बाह्यभाव का स्फुरण होता है। यह कहना अनावश्यक है कि यह पूर्ण अहंभाव के खण्डित होने से होता है। इसी का नाम महाशून्य की सृष्टि है। विश्व आविर्भूत होकर इस महाशून्य का आश्रय कर इच्छाशक्ति से प्रकट होता है। विश्व इच्छा का विषयीभूत है, कारण इच्छा शक्ति के स्फुरण से यह आविर्भूत हुआ है। किन्तु इच्छा का विषयीभूत होने पर भी यह प्रथम अवस्था में इच्छा के साथ अभिन्न रूपमें विद्यमान रहता है। यही विश्व की अव्यक्त अवस्था है। इसके पश्चात् सृष्टि के बहिर्मुख प्रभाव से इच्छाशक्ति के अनन्तर ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होने पर विश्व अव्यक्त अवस्था का त्याग कर अभिव्यक्त अवस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था में विश्व ज्ञानरूप में योगियों की अन्तर्दृष्टि के सामने भासमान होता है। जो विश्व पहले आनन्द अवस्था में संविद से अभिन्न था, इच्छाशक्ति के प्रभाव से जो इच्छा में अव्यक्त रूप से विद्यमान था, ज्ञानशक्ति के विकास से वह अभिव्यक्त होकर ज्ञान स्वरूप में स्थित होता है। इसके बाद ज्ञान की तरंगित अवस्था में वह ज्ञान में स्थित होकर ज्ञेय रूप से पृथक् आकार में अपने को प्रकट करता है। यह आकार ज्ञान का ही आकार है इसमें सन्देह नहीं है। इसके पश्चात् क्रिया शक्ति का उन्मेष होने पर वह आकार ज्ञान से च्युत होकर कार्य का आकार धारण करता है। यही हम लोगों का परिचित स्थूल आकार है। यह मायिक या प्राकृत रूप है। अवश्य इसमें भी स्थूल और सूक्ष्म का विभाग है।

समष्टिरूप से सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति भी वैसी ही है। मौटे तौर पर यदि

कहा जाय तो आत्मरूप या भगवत्स्वरूप से विश्व को बाहर कर जानने का एकमात्र उपाय इच्छाशक्ति की क्रिया है। इच्छाशक्ति का भेद हो जाने पर विश्वभेद हो जाता है, तब विश्व आत्मस्वरूप में अभिन्न रूप से प्रतिविम्ब के तुल्य दिखाई देता है। यह आनन्द की अवस्था है। अभिन्नसर्वज्ञत्व इस स्थिति का लक्षण है। योगी की जागतिक स्थिति में इच्छाशक्ति प्रधान रहती है, किन्तु पारमार्थिक स्थिति में आनन्द का भेद कर चित्शक्ति प्रधान होती है—किन्तु मूल में सब एक महाशक्ति का ही खेल है।

अमरत्व साधन पर शाक्तदृष्टि

(१)

देह के अमरत्व साधन के विषय में संक्षेप में अन्यत्र कहीं कहीं प्रसङ्गतः कुछ आलोचना हमने की है। परन्तु यह विषय अत्यन्त गहन और साधारण जनता में सर्वथा अपरिज्ञात है, इसलिए इस विषय में कुछ अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत होती है। पृथिवी में प्राचीन काल तथा मध्ययुग में विभिन्न देशों में दीर्घ जीवन लाभ करने के सिलसिलेमें विभिन्न उपायों से देहसिद्धि करने के प्रयत्न होते आये हैं। न केवल भारतवर्ष में अपितु चीन, अरब, मध्य जर्मनी प्रभृति विभिन्न देशों में भी इस विषय में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक धाराओं से चर्चा होती रही है। यह विज्ञान सिद्ध महात्माओं के निकट गुप्तरूप से संरक्षित रहने के कारण बाह्य जगत् में प्रकाशित नहीं होने पाया। मध्ययुग में यूरोप में विशेषतः जर्मनी, फ्रांस तथा इटली में रसायन आदि विभिन्न गुप्त विद्याओं के विकास के साथ इस देहविज्ञान का भी पर्याप्त विकास हुआ था। क्रिश्चियन, क्रिश्चियन के पूर्ववर्ती यहूदी सम्प्रदाय तथा किसी किसी सूफी सम्प्रदाय में भी इस विद्या का ज्ञान था। देहसिद्धि सापेक्ष और निरपेक्ष भेद से दो प्रकार की है। उसमें सापेक्ष दैहिक अमरत्व एक प्रकार से दीर्घजीवन मात्र है। परन्तु निरपेक्ष अमरत्व वस्तुतः अमरत्व नहीं किन्तु मृत्युञ्जयत्व है।

तान्त्रिक तथा कौल इन दोनों सम्प्रदायों ने इस विषय पर कुछ अभिनव प्रकाश डाला है। उसीका विवरण इसमें दिया जायगा। परन्तु उसके पूर्व कायसिद्धि पर विभिन्न प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायों में किस प्रकार का ज्ञान रहा, इसका संक्षेपतः परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि उसको समझे बिना आगमिक साधन विज्ञान तथा सिद्धान्त का स्वरूपज्ञान सम्यक् रूप से नहीं हो सकेगा।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (उत्पन्न की मृत्यु अवश्यम्भावी है), **"मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्"** (मरण देहधारियों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है) इत्यादि सैकड़ों बचनों से पञ्चभूतों द्वारा रचित संसरणशील भोगायतनरूप से प्रसिद्ध छह कोषों से युक्त देह का मरण अवश्यम्भावी है यह अनादि काल से सब लोगों का अनुभव है। महाभारत में बकरूपधारी धर्म द्वारा पूछे गये **"किमाश्चर्यम्"** (आश्चर्य क्या है ?) इस प्रश्न का धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिया उसमें भी यही तथ्य भासित होता है कि प्रतिदिन प्राणियों का काल की गाल में समाना देखकर भी शेष लोग हम स्थायी रहें यही अभिलाषा करते हैं यह आश्चर्य है। किन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि योग-शास्त्र में उक्त **"मा न भूवम् न भूयासम्"** (मैं सदा रहूँ, मेरा कभी अभाव न हो) सब जीवों का अनुभवसिद्ध अपने लिए यह आशीर्वाद ही अपनी स्थायित्वाकांक्षा का प्रयोजक है।

यहाँ देह शब्द से शुक्र और शोणित का संघातरूप योनिज देह ही, जो पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों के फल-भोग के लिए गृहीत होती है, विवक्षित है। वही चेष्टा, इंद्रिय और शब्दादि विषयों का आश्रय है, इसलिए उसी में देह पद का प्रयोग मुख्य है, किन्तु उससे अन्य में गौण है। न्यायवैशेषिक मत में भी उसी में देहपद का व्यवहार किया जाता है। सांख्यमत में लिङ्गदेह का भी "**सप्तदशैकं लिङ्गम्**" इस सूत्र द्वारा देहपद से अंगीकार दिखाई देता है। किन्तु वेदान्त में उन दोनों से भिन्न मूला-विद्या भी कारण शरीर के रूप से कोष विशेष के रूप में स्वीकृत है। यहीं तक गुणों की व्याप्ति है। इसलिए यहाँ कार्यकारण भेद से प्राकृत शरीर दो प्रकार का है, किन्तु कार्यदेह सूक्ष्म और स्थूल भेद से भी दो प्रकार का है। आजकल प्रचलित दर्शन प्रस्थानों तथा पुराण, उपपुराण आदि में इन्हीं तीन देहों का तत् तत् स्थलों में विचार दृष्टिगोचर होता है।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक साधना प्रणालियों में दो मुख्य प्रकार दिखाई देते हैं—जीवोंकी विभिन्न रुचियों अथवा आशय के भेद से कोई एक प्रकार का अवलम्बन करते हैं और कोई दूसरे प्रकार का। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से दो मार्ग उपलब्ध होते हैं—एक विवेक-मार्ग और दूसरा योग-मार्ग। चित् और अचित् की संमिश्रणावस्था में अविवेक के बद्धमूल रहने पर संमिश्रण की निवृत्ति द्वारा चित्तत्त्व को निर्मल बनाने के लिए विवेक मार्ग ही प्रशस्त है। इस मार्ग में जड़ से चेतन का और अनात्मा से स्वात्मा का विवेचन होता है। वही आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठापन में पूर्वाङ्ग है। इस मार्ग में पहले सत्त्व और पुरुष में परस्पर भेद प्रतिष्ठित रहता है। तदुपरान्त द्रष्टा पुरुष की स्वरूप में अवस्थिति होती है। किन्तु योग-मार्ग में मलिन जीवसत्त्व ईश्वर उपाधिरूप प्रकृष्टसत्त्व के सम्पर्क से शोधित होता है—रज और तम से रहित होता है—अन्त में ईश्वरोपाधिरूप शुद्ध सत्त्व के तुल्य हो जाता है। उस समय पहले की भाँति सत्त्व और पुरुष की संकीर्णता नहीं रहती, किन्तु शुद्धि की समता से विवेक ख्याति के अनन्तर होनेवाले कैवल्य में भी सहभाव ही रहता है। यह सहभाव ही चिन्मात्र पुरुष से शुद्ध सत्त्व सम्पन्न चित्स्वरूप पुरुषोत्तम के उत्कर्ष में हेतु है।

इसी तरह अन्यान्य प्रस्थानों में हीनयान से महायान का पार्थक्य समझना चाहिये। हीनयान में, जिसका नामान्तर श्रावकयान भी है, क्लिष्ट वासना समुदाय रूप अविद्या पुद्गल नामक अहंकार ग्रन्थि की हेतु है, जिससे सब दुःखों का उदय होता है। शील और समाधि से प्राप्त प्रज्ञालेश से उक्त ग्रन्थि का टूटना ही अविद्या की निवृत्ति है और उसका फल है अपने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति, जिसे निरोध कहा जाता है। इन्हीं चार सत्त्वों का जब योग से साक्षात्कार होता है तब साक्षात्कृत ये पृथग्जनत्व (अनार्यत्व) का विनाश करते हैं और आर्यत्व को स्थापित करते हैं। यही निर्वाणधारा की प्राप्ति है, जिसका फल है स्कन्धों के रहते भी क्रमशः दस योजनों के नाश से निर्वाण-लाभ। अर्हन् नाम की जीवन्मुक्ति अवस्था भी यही है। परन्तु इससे बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता, बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग भी इससे बहुत दूर है। श्रवण, चिन्तन और भावना से उत्पन्न प्रज्ञा से ऊपर उठकर भूमि प्रविष्ट प्रज्ञा में

जब तक प्रवेश न हो तबतक पूर्ण प्रज्ञा का उदय न होने से बुद्धत्व-प्रापक महाबोधि का उदय कैसे हो सकता है ? श्रावकयान में क्लेशाख्या अविद्या का नाश होने पर भी अक्लिष्ट अविद्या का अस्तित्व रहता ही है, अतः किसी प्रकार पुद्गलशून्यता की सिद्धि होने पर भी धर्मशून्यता न होने से विज्ञप्तिमात्रतारूप अद्वय भूमि में प्रवेश नहीं हो सकता। अपने दुःखको भूलकर परकीय दुःख को ही अपना दुःख मान रहे पुरुष का उसका उद्धार करने की आकांक्षा से जो सत्त्वप्रणिधान है वही बोधिसत्त्व जीवन का आरम्भ है। तदुपरान्त बोधिसत्त्व प्रस्थान अवस्था में क्रमशः भूमियों का भेद करते हुए वीर्यादि पारमिताओं के परिशीलन के पश्चात् प्रज्ञापारमिता का लाभ होने पर बोधिसत्त्व जीवन के अवसानकाल में बुद्धत्व-प्राप्ति होती है।

पाशुपत मत में भी इसी तरह के दो मार्ग हैं। एक मार्ग से दुःखान्त की प्राप्ति होती है। परन्तु पशुत्व नहीं हटता और महेश्वरत्व भी प्राप्त नहीं होता। यद्यपि दुःखके अन्त में अवश्य ही पशु की, कार्यकरण और कलारूप अञ्जना न रहने के कारण, निरञ्जनता हो जाती है तथा भवचक्र से उद्धार भी हो जाता है तथापि पशु पशु ही है दूसरा नहीं, पशुपति उससे विलक्षण ही है। सिद्धावस्था पशुदशा से भिन्न होने पर भी महेश्वरावस्था के अन्तर्गत नहीं है, किन्तु दोनों की मध्यवर्तिनी है।

द्वैताद्वैत शैवमत में भी इसी प्रकार दो मार्ग हैं। एक मार्ग से कर्म और माया के परित्यागपूर्वक विज्ञानाकलता की सिद्धि होती है। उसमें स्वात्मा का प्रकृति से, माया से तथा महामाया से भी विवेक होने पर हीन, मध्यम और उत्तम कैवल्य होता है, यों तीन प्रकार का क्रम है। परन्तु शुद्धतम विज्ञानकैवल्य में भी शिवता दुर्लभ है। परमशिव के अनुग्रह से जब तक शुद्ध विद्या का उदय हृदय में नहीं होता तब तक शुद्ध अहन्ता का उदय नहीं होता अतएव पूर्णाहन्ता के आविर्भाव का सम्भव न होने से शिवता का उन्मेष नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। इसलिए इस पहले मार्ग को शुद्धात्मभावरूप कैवल्य का प्रापक समझना चाहिए और दूसरा मार्ग है शिवत्व या परमशिवत्व का प्रापक।

वैष्णवागमों का अनुसरण करनेवाले भक्त-समाज में भी पूर्ववत् ही अपने अपने अधिकार के अनुसार दो मार्गों का अनुसरण किया जाता है। उनमें से एक से प्रकृति या माया का अतिक्रमण कर देह, करण (इन्द्रिय) आदि से विहीन केवलात्मभाव प्राप्त किया जाता है तथा दूसरे से उसके ऊपर भगवद्धाम में प्रवेश होने पर अप्राकृत दिव्य आकार की प्राप्ति तथा तत्तत् रूप से लीला विग्रहधारी भगवान् के साथ योग-लाभ होता है। वैष्णवों के दृष्टिकोण से मोक्ष में जीवों के आणवभाव (अणुत्व) के न हटने पर भी नित्यसिद्ध कैङ्कर्यमयी चिदानन्दमयतावाप्ति रहती है, यह दूसरी बात है।

(२)

भौतिक शरीर यद्यपि विकारी है फिर भी मन्त्र, ओषधि और तपस्या के प्रभाव से या उपासना, योग, ज्ञान आदि के प्रभाव से अथवा किसी दूसरी प्रक्रिया के बल से उसमें ऐसी विमलता सम्पत्ति प्राप्त की जा सकती है जिससे नश्वर भी यह (शरीर)

अविनाशी बन जाता है और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। यह कपोलकल्पित गप नहीं है, किन्तु शास्त्र और अनुभव आदि से सिद्ध[1] है।

स्थूल[2] आदि पाँच रूपों से युक्त भूतोंपर संयम द्वारा विजय पाने से योगी को अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और काय-सम्पत्ति की अभिव्यक्ति भी होती है। यह ज्ञातव्य है कि रूप, लावण्य, बल आदि के साथ वज्राङ्गता ही मुख्य कायसम्पत्ति है।

सिद्ध देह का प्रधान लक्षण है भूत-धर्मों से अभिभूत न होना। उसीसे व्याधि, जरा आदि विकारों की निवृत्ति और मृत्युञ्जयत्व की प्राप्ति भी होती है। कभी अजरत्व और अमरत्व दोनों एक साथ दिखाई देते हैं और कभी पृथक्-पृथक्। अजरत्व और अमरत्व दोनों के एक साथ रहने पर जरा और मरण रहित होने से सिद्ध देह ही दिव्य तनु है ऐसी प्रसिद्धि है। दोनों के साथ न रहने पर कदाचित् जरा न रहने पर भी उस देह का सुदीर्घ काल के बाद काल का ग्रास होना देखा जाता है, परन्तु उसमें भी गौण देवत्व-व्यवहार रहता ही है। कभी मरण न होने पर भी उस देह से जरा नहीं हटती जब तक कि सोम-कला से उसकी पूर्ति नहीं हो जाती। अन्त में जीर्ण भी वह शरीर जीर्ण-वस्त्र की तरह जरा का त्याग कर औपपादुक (शुद्ध, निर्मल और अयोनिज) देह के तुल्य बाल, पौगण्ड और किशोर के समान नूतन हो जाता है अथवा छलछलाते यौवन के समान तरुण हो जाता है।

जातिनाम का देह-सम्बन्ध आयु के सदृश अथवा भोगों के तुल्य प्रारब्ध कर्म से

---

१. कालदहनतन्त्र में और मृत्युञ्जयतन्त्र में कायसिद्धि का विवरण देखना चाहिये। चिदम्बरनिवासी रामलिङ्गशास्त्री लगभग सौ वर्ष पहले कायसिद्धि प्राप्त कर समागत बहुत लोगों के सामने दिन के स्पष्ट प्रकाश में अपनी देह के साथ ही तिरोहित हुए थे, यह प्रामाणिक तथ्य है।

२. भूतों के पाँच रूप हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व।

उनमें स्थूल रूप है—द्रव्यात्मक आकारादिसहित पार्थिव आदि, शब्द आदि जिसके विशेष हैं।

दूसरा रूप स्वसामान्य है, जिसके विशेषात्मक रूप हैं पूर्वोक्त शब्दादि। जैसे पृथ्वी का सामान्य रूप मूर्ति है, गन्ध आदि उसके विशेष हैं। जल का सामान्य रूप स्नेह है, रस आदि उसके विशेष हैं। अग्नि का सामान्य रूप उष्णता है, रूपादि उसके विशेष हैं। वायु का सामान्य रूप प्रवाहित्व है, स्पर्श आदि उसके विशेष हैं। आकाश का सामान्य रूप विभुत्व (सर्वतो गति) है, शब्द उसका विशेष है।

तीसरा रूप सूक्ष्म यानी तन्मात्र है, जिसका एक अवयव परमाणु है।

चौथा रूप अन्वय नामक है, ख्याति (प्रकाशन), प्रवृत्ति और स्थितिशील तीन गुण कार्य के स्वभावके अनुयायी होते हैं अर्थात् जैसा कार्य का स्वभाव होता है वैसा ही उनका भी स्वभाव होता है।

पाँचवा रूप है अर्थवत्ता भोगार्थता और अपवर्गार्थता अर्थात् जिसकी पुरुष के भोगसाधन में उपयोगिता अथवा पुरुष के अपवर्ग साधन में उपयोगिता होती है। यह जो स्वरूप (अर्थवत्त्व) है यह तीनों गुणों में अन्वित (अनुवृत्त) रहता है। गुणरूपी स्वरूप गुणकार्य तन्मात्र, तन्मात्रकार्य भूत और भूतकार्य भौतिकों में अन्वित (अनुवृत्त) रहता है। पञ्चरूपात्मक प्रत्येक भूत में संयम द्वारा उस-उस स्वरूप का दर्शन और जय होता है। भूतों के जय से भूतप्रकृतियाँ वैसे ही योगी के संकल्प का अनुसरण करती हैं जैसे कि गौएँ बछड़ों का अनुसरण करती हैं।

होता है। भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर वह सम्बन्ध कट जाता है और देह गिर पड़ती है। लौकिक भाषा में इसी को मरण कहा जाता है। योग-प्रक्रिया द्वारा कायसम्पत्ति का लाभ होने पर केवल भूतधर्मों से देह का अभिघात ही नहीं होता, किन्तु देहपात का रुक जाना भी संभव है।

बौद्धमत में बोधिसत्त्व की दशभूमि रूप हेतु अवस्था में ही चार प्रकार की सम्पत् का आविर्भाव होता है। रूप कायसम्पत् भी इसीके अन्तर्गत है[1]। वह वज्रसार स्थिर-कायसम्पद्रूपा है। श्रुतियों में इस प्रकार के योगाग्निमय शरीर में रोग, जरा और मृत्यु का अभाव सुना जाता है। जैसे—**"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।"** (श्वे० उ० २।१२)

देह-सिद्धि की विविध प्रक्रियाएँ विविध स्थलों में दृष्टिगोचर होती हैं। कहीं पर देह की वज्राङ्गता होने पर भी आयु की ऐसी वृद्धि, जो लोकसीमा का अतिक्रमण कर गई हो, होने पर भी पृथ्वी आदि भूतों के गुणों से अनभिभवरूप निर्विकारता की सिद्धि होने पर भी युग के अन्त में, महायुग के अन्त में, मन्वन्तर के अन्त में, कल्प के अन्त में अथवा महाकल्प के अन्त में अवश्यमेव देहपात होने के कारण यह देहसिद्धि सापेक्ष ही कही जायगी, निरपेक्ष या पूर्ण देहसिद्धि नहीं कही जायगी। इसमें देह के उपादानों की शुद्धि ठीक-ठीक न होने से प्रदीप्त कालाग्नि के प्रभाव से कभी न कभी उसका दाह होता ही है। दीर्घ आयु से सम्पन्न ये सिद्ध चिरंजीवी या कल्पान्तर के स्मर्ता हो सकते हैं। **"अपाम सोमममृता अभूम"** (हमने सोम पीया, हम अमर हुए) इस श्रुति में श्रुत सोम-पान से अमरत्व की सिद्धि जैसे महाप्रलय पर्यन्त स्थायिनी होती है वैसे ही इस प्रकार की देहसम्पत्ति काल से अवच्छिन्न यानी सावधिक होने से वास्तवी नहीं है। वस्तुतः देह के शुद्धसत्त्वमय अथवा चिन्मय होने पर पारमार्थिक निरपेक्षसिद्धि अभिव्यक्त होती है, जिसमें मरण की शङ्का ही नहीं रहती। षोडश कलावाले पुरुष की षोडशी के नाम से प्रसिद्ध जो अमृताकला है वही पूर्णा सोमकला है, उसके द्वारा देह के आपूरण से संवर्तक नामक कालाग्नि का देह में प्रवेश ही नहीं हो सकता; उसके द्वारा कला का शोषण तो दूर की बात रही। तभी देह की आत्मा के साथ अभेदसिद्धि होने पर यथार्थ मृत्युञ्जयता की प्राप्ति होती है। जो देह भली-भाँति सिद्ध नहीं है, उसका आयुक्षय होने पर स्वेच्छा से अथवा काल के प्रभाव से पतन होता है। भलीभाँति सिद्ध चिन्मयता को प्राप्त शक्त्यात्मक स्वरूपभूत द्वितीय देह का पतन कदापि नहीं हो सकता, स्वातन्त्र्यवश केवल तिरोधानमात्र होता है। पूर्ण समरसता दशा में तो देह और आत्मा के—शिव और शक्ति के—सर्वथा समरस होने से अद्वयत्व और नित्य स्वप्रकाश होने से तिरोभाव भी नहीं होता।

(३)

सिद्ध गोष्ठियों में एक किंवदन्ती प्रचलित है, जिससे सम्यक् कायसिद्धि और

---

१. यह काया महापुरुष की ही होती है इसलिए महापुरुष के बत्तीस लक्षण और अस्सी चिह्न (अनुव्यञ्जन) इसी में उपलब्ध होते हैं, लौकिक पुरुष देह धारण करते हुए भी कायसम्पत्प्राप्ति होनेपर महापुरुष पदवी को प्राप्त होता है, ऐसा जानना चाहिये।

असम्यक् कायसिद्धि का भेद स्पष्ट हो जाता है। ऐसा सुनने में आता है कि किसी समय नाथसिद्ध गोरखनाथ ने अल्लाम प्रभुदेव नामक किसी महासिद्ध के निकट आविर्भूत होकर उन्हें अपनी भूतजयाख्या सिद्धि वज्राङ्गता दिखाई थी। प्रभुदेव के मत में केवल वज्राङ्गता ही सम्यक्-सिद्धि नहीं है। देह की स्थिरता की सिद्धि होने पर भी जब तक माया पर विजय प्राप्त नहीं होती तब तक परामुक्ति की संभावना ही नहीं होती। उनके मत में क्षर (भूत-समुदाय) और अक्षर (कूटस्थ) के अध्यक्ष जो महेश्वर हैं उनकी भक्ति ही परामुक्तिप्रदायिका है। उसके बिना जो देहसिद्धि है वह सम्यक् देहसिद्धि नहीं है।

गोरखनाथ ने कहा मेरे शरीर पर तीखी तलवार का वार करने पर भी वह तनिक भी नहीं कट सकता। उन्होंने कहा है—

"मदीयकाये यदि रोममात्रं त्रुट्येत चेत्तर्हि न कायसिद्धिः।
अहं च लोके न भवामि सिद्धः सत्यं ब्रुवे प्रत्ययमाशु पश्य॥"

—अर्थात् मेरे शरीर में यदि एक रोआं भी टूट जाय तो मुझमें कायसिद्धि नहीं और मैं लोक में सिद्ध न कहाऊँ। मैं सच कहता हूँ आप मेरे कथन की सत्यता शीघ्र देखें।

प्रभुदेव के मत में छेदन भेदन आदि द्वारा कायसिद्धि की परीक्षा आसुर परीक्षा है। उन्होंने कहा—

"प्रलयं विजित्य कायस्य सिद्धिरिति या सा मृषा भवति।"

—अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त कर जो कायसिद्धि हुई ऐसा मान लेना है वह मिथ्या है।

तदनन्तर गोरक्ष के शरीर पर तलवार से वार किया गया, परन्तु वह उससे तनिक भी कटा नहीं और तो और उसका एक रोवाँ भी कटा नहीं। देह ने वज्र से आहत शैल के समान टंकार शब्द किया। प्रभुदेवने तब कहा—

यत् कायसिद्धिपदशब्दितमस्ति वस्तु
तत् तद् ब्रवीमि शृणु वेदशिखारहस्यम्॥
वातातपाग्न्यशनिवृष्टिहिमैरपीड्यो।
यो रुग्जरामरणवर्जितदिव्यदेहः॥
सम्बन्धवर्जनधियात्मन ईश्वरस्य।
पूर्णं समाधिमधिरुह्य स एव योगी॥
भूतानि तद्गतगुणांश्च विजित्य बाह्य-
स्पर्शेष्वसक्तहृदयः समहेमलोष्टः।
दृष्टोऽपि दैहिकगुणैर्हृदि तैरजुष्टो
यः कायसिद्धिभरितोऽस्ति स एव योगी॥

—अर्थात् जो वस्तु कायसिद्धि पद से अभिहित होती है, उसे मैं कहता हूँ तुम उस वेदान्तरहस्य को सुनो। वायु, धूप, अग्नि, वज्र, वर्षा और बर्फ से पीड़ित न होने वाला तथा रोग, जरा और मरण से रहित दिव्य देहवान् जो पुरुष अपनी और ईश्वर

की ऐक्यबुद्धि (अभेदबुद्धि) से पूर्ण समाधि में अधिरोहण कर शोभित होता है वही योगी है। भूत और भूतों के रूपादि गुणों पर विजय प्राप्त कर बाह्य विषयों में अनासक्तहृदय, सुवर्ण और ठेकरी को तुल्य मानने वाला, बाहरी दैहिक गुणों से युक्त दिखाई देता हुआ भी भीतर दैहिक गुणों से सर्वथा रहित ऐसा जो पुरुष कायसिद्धि से परिपूर्ण है वही योगी है।

गोरखनाथ यह सब सुन कर भी परीक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुए। उन्होंने तलवार लेकर उससे प्रभुदेव के शरीर को विदीर्ण किया। किन्तु वह शरीर आकाश की भाँति आघातविहीन और निर्विकार रहा।

उत्प्लुत्य मूर्धनि निपत्य पदद्वयेऽपि
पार्श्वस्थितो भुजकटीयुगलेक्षणापि (?)।
सर्वत्र चित्रगतिरात्तविधूतखड्गो
रोम्णां च सन्धिषु चकार करप्रसारम् ॥
पक्षीव निश्चलतया गगनप्रदेशे
स्थातुं पुराबहुलकम्पितपक्षयुग्मः।
उत्प्लुत्य खे पुनरपि प्रणिपद्य भूय-
श्चोत्प्लुत्य पार्श्वचलितः स्थिरतां प्रपेदे ॥

—अर्थात् उछल कर मस्तक पर प्रहार किया, नीचे उतर कर दोनों चरणों में प्रहार किया, पार्श्व में रह कर प्रहार किया तथा भुजो, कटि और दोनों नयनों में देख कर प्रहार किया, सर्वत्र विचित्र गति हो चपल तलवार ग्रहण कर रोम रोम की सन्धियों में हाथ फैलाकर देखा (कोई रोवाँ तो नहीं कटा)। आकाश में निश्चल रूप से स्थिर रहने के लिए पहले अधिक कँपाये हैं दोनों पक्ष जिसने ऐसे पक्षी की तरह पहले आकाश में उछल कर फिर नीचे उतर कर पुनः ऊपर उछल कर पार्श्वभाग कम्पित कर स्थिरता को प्राप्त हुए।

गोरखनाथ इस असाधारण सिद्धि को देख कर आश्चर्य चकित हुए। उन्होंने कहा—

"इदं वेदान्तप्रथितपरमाद्वैतफलितं महत्त्वम्।
मम देहेऽसिना खण्डिते निर्घोषणमभूत्,
त्वदङ्गमम्बरवद् विभाति निःशब्दं च"

अर्थात् यह वेदान्त प्रसिद्ध परम अद्वैत का फलस्वरूप महत्त्व है। मेरी देह को खड्ग द्वारा काटने पर शब्द हुआ, किन्तु आपका शरीर आकाश के समान प्रतीत होता है और शब्द विहीन है। इसके उत्तर में प्रभुदेव ने कहा—**"काये घनीभवति सापि घनैव माया।"**—अर्थात् शरीर के घनीभूत होने पर वह माया भी घनीभूत ही होती है[1]।

---

१. द्रष्टव्य भविष्यपुराण में प्रभुलिङ्गलीला (सोलापुर)।

(४)

रससम्प्रदाय में प्राचीनकाल से ही जीवन्मुक्ति साधन के लिए कायसिद्धि का उपयोग ज्ञात था। रसतत्त्वज्ञाताओंके मत में इसी शरीर में परमात्मज्ञान आवश्यक है। शरीरत्याग के अनन्तर ज्ञानेच्छा वन्ध्याके पुत्रमुख देखने की इच्छा के तुल्य कदापि फलवती नहीं हो सकती। परन्तु विविध व्याधि, जरा और मरण जन्य क्लेशों से दुःखित इस क्षणभंगुर शरीर से सूक्ष्म, मन का भी अगोचर, दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवित योगाभ्यास से ज्ञेय ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

गलितानल्पविकल्पः सर्वार्थविवर्जितश्चिदानन्दः।
स्फुरितोऽप्यस्फुरिततनोः करोति किं जन्तुवर्गस्य॥

अर्थात् सकल विकल्पों से विहीन सर्वार्थविवर्जित चिदानन्द स्फुरित होकर भी अस्फुरितशरीर (जिन्हें कायसिद्धि प्राप्त नहीं हुई) प्राणियों का क्या उपकार करे। यह रसवेत्ताओं का सिद्धान्त है।

इसलिए महाज्ञानसम्पादन के पूर्व ही अणिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त स्थिर शरीर के लाभ के लिए प्रयत्न करना चाहिये। दिव्य देह के निर्माण में शिववीर्यरूप पारद (पारे) का तथा शक्तिबीजरूप अभ्रक का महान् उपयोग रसशास्त्रों से ज्ञात होता है। इसीलिए इस शरीर की हर-गौरीसृष्टिरूपता संगत होती है। पारद शिवजी के अङ्ग से उत्पन्न है, इसीलिए उनकी देह का रस होने से 'रस' नाम से उसकी प्रसिद्धि है।

अठारह संस्कारों[1] से संस्कृत रस की लोहवेध तथा देहवेध में सामर्थ्य पैदा होती है। जैसे रस द्वारा लोहवेध होने से लोहा सुवर्ण हो जाता है वैसे ही उसके द्वारा वेध से नरदेह की भी सिद्धि होती है। वेधक्रिया से देह के सम्यक् शोधन से ही आकाशगमन आदि हो सकते हैं। रसायन-विद्या का महत्त्व लोहे को सुवर्ण में परिणत करने में नहीं है, किन्तु देह को अमर बनाने में है। लोह-वेध संस्कार ठीक-ठीक हुआ या नहीं इसकी परीक्षा के लिए ही है, ऐसा जानना चाहिये। **"संसारस्य पारं ददाति"** अर्थात् संसार का पार देता है, संसार के पार लगाता है इस व्युत्पत्ति से रस की 'पारद' नाम से प्रसिद्धि है।

"एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते।"

—अर्थात् अकेला यह रसराज ही शरीर को अजर और अमर बनाता है, ऐसी स्मृति है। देह को स्थिर बनाने की शक्ति पारद में ही है। जैसे सब सत्त्वों का लय परमात्मा में होता है वैसे ही सब सत्त्वों का लय पारद में है। सब काष्ठौषधियों का लय नाग में है, नाग का बंग में है, बंग का तांबे में है, तांबे का चाँदी में है, चाँदी का सोने में है और सोने का पारद में लय है। उसी में जरा-मृत्यु नाशक शक्ति है।

शिव और शक्ति के दो बीजों के संमर्द से मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेवाली

---

१. ये संस्कार ही रसकर्म कहलाते हैं। स्वेदन, मर्दन आदि छह कर्म, नियमन, दीपन आदि छह कर्म; बाह्यद्रुति, जीवन आदि छह कर्म सब मिलाकर अठारह कर्म रस-संस्कार हैं।

रस-देह अभिव्यक्त होती है, यही इसके हर-गौरीसृष्टि के रूप से निर्देश में कारण है, यह हम पहले ही कह आये हैं। रहस्य यह है कि जैसे अनित्य भौतिक देह रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होती है वैसे ही रस-देह की भी शिव और शक्ति की सामर्थ्य से उत्पत्ति होती है। जिसका लय होता है और जिसमें होता है उन दोनों में समता रहती है। अभ्रक-ग्रासी पारद में सुवर्ण आदि के लय से अमृतसत्ता प्रकट होती है जिसके प्रभाव से देह में स्थिरता होती है।

प्रसिद्धि है कि इस देहसाधन से सब मन्त्रवर्ग तथा शुद्धाध्वा (शुद्धमायाराज्य) के सब देवता रससिद्ध पुरुष के किंकर हो जाते हैं। अनादि काल से बहुत उपासक इस शरीर को प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं। देवताओं में महेश्वर, गुरु दत्तात्रेय, श्रीशुक्राचार्य, बाणासुर, बलि; मुनियों में बालखिल्य आदि; राजाओं में सोमेश्वर आदि सिद्ध देह सम्पन्न थे। उसी प्रकार मन्थान भैरव, काकचण्डीश्वर, सिद्धबुद्ध, नागार्जुन, नित्यनाथ, बिन्दुनाथ, सुरानन्द, घोड़ाचोली, कपाली, कनेरी, चर्पटी, कन्थरी, वैली, टिट्टिणी, करंटक, नागदेव, भालुकी, कन्दलायन, खण्ड कापालिक, गोविन्दनायक, गोविन्द-भिक्षु आदि[1] के नाम भी सिद्धदेह संपन्नों में सुने जाते हैं। ये लोग अमरशरीर होकर काल दण्ड पर विजय प्राप्त कर त्रिलोकी में विचरण करते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। इन में से सभी को रसक्रिया द्वारा कायसिद्धि प्राप्त हुई थी या हठयोग प्राणायामादि क्रियान्तर से अथवा तदतिरिक्त किसी अन्य उपाय से प्राप्त हुई थी इसका विवेचन-पूर्वक निर्णय नहीं किया जा सकता।

चतुष्पाद ब्रह्म का केवल एक पाद मृत्यु से व्याप्त है, परन्तु तीन पाद "अमृतं दिवि" इस वचन के अनुसार मृत्यु रहित और दिव्य हैं। ये तीन पाद अपनी महिमा में विराजमान हैं। सम्पूर्ण प्राकृत जगत् पादमात्र में स्थित होने से नश्वर और चञ्चल है, इसलिए हेय है। त्रिपाद विभूति ही उपादेय है। ब्रह्मतत्त्व मन का अगोचर होने पर भी योगगम्य है। यहाँ योग शब्द से वह योग लेना चाहिये जो प्रकृति और पुरुष की समान शुद्धि से जनित है। मानवदेह प्राकृत होने से स्वभावतः मलिन है, इस कारण योग-सम्पादन से पहले ही उसकी सम्यक् शुद्धि आवश्यक है। योग से आत्म-ज्ञान होता है और सकल जगत् को भासित करनेवाली चिद्ज्योति का लाभ भी योग से ही होता है। जबतक देह के कालकवलित होने की आशंका निवृत्त नहीं होती तब तक देह और आत्मा का इस प्रकार का योग नहीं हो सकता तथा पूर्वोक्त महा-ज्योति की स्फूर्ति भी नहीं होती। यह ज्योति सब क्लेशों से विरहित, विकल्पविहीन, शान्त और स्वसंवेद्य है, जिसमें मन का योग होने से विश्व चिद्रूप से भासित होता है, सब कर्म कट जाते हैं, बहिर्मुख वृत्तियों का प्रत्याहार अपने आप हो जाता है एवं राग

---

१. रस-हृदय ग्रन्थ के निर्माता गोविन्दभिक्षु गोविन्दभगवत्पाद के नाम से प्रसिद्ध श्री शङ्कराचार्य के गुरु से अभिन्न थे ऐसा कुछ लोगों का मत है। अभिन्न हों अथवा न हों परन्तु वह बौद्ध भिक्षु नहीं थे यह उनका ग्रन्थ देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है। इन गोविन्द को चन्द्रवंशान्तर्गत हैहय-कुल में उत्पन्न किरातदेशाधिपति राजा श्रीमदन से (कामदेव से) बहुत संमान प्राप्त हुआ था।

और द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। मनुष्य जीवन की पूर्ण सफलता इसी में है। उस समय देह तेजरूप होकर स्वात्मा की शक्ति के रूप में भासित होती है।

असिद्ध देह का कभी न कभी कालकवलित होना अवश्यम्भावी है, इसलिए उससे योगलाभ होना अत्यन्त कठिन ही नहीं असम्भव है। चिदानन्द का सदा सर्वत्र निर्विकल्प रूप से भान होता है, यह सत्य है, किन्तु अपने शरीर में उस प्रकार का भान न होने पर मुमुक्षु जीव को क्या लाभ?

यद्यपि रसायन की इस प्रकार की लोकोत्तर सामर्थ्य को मीमांसा-भाष्यकार शबर स्वामी नहीं मानते फिर भी योगभाष्यकार व्यासदेव ने उसे स्वीकार किया है; परन्तु कैवल्य चाहनेवाले योगी को इस प्रकार के जरा-मृत्यु नाशक रसायन की भी आकांक्षा नहीं होती, इसलिए योगी को उस पर भी आसक्ति नहीं करनी चाहिये, ऐसा उन्होंने उपदेश दिया है।

अरब देश के रसायनवेत्ताओं के मत में प्रत्येक पदार्थ में दो भाग होते हैं। उनमें एक भाग स्थूल, जड़ और पार्थिव है तथा दूसरा भाग सूक्ष्म, चेतन, हल्का और ज्योतिर्मय है। एक भाग देह है और दूसरा भाग उसकी आत्मा है। इस मत में सूक्ष्म आत्मा स्थूल से अधिक बलवत्तर है। यह स्थूल में प्रवेश कर स्थूल को भी किसी न किसी प्रकार सूक्ष्म के रूप में परिवर्त्तित कर देता है।

रसायनवेत्ताओंका पहला काम है स्थूल और सूक्ष्म को परस्पर पृथक् करना। यह दोनों के शोधन के लिए है। उसके उपरान्त स्थूल में उसके अनुरूप सूक्ष्म सत्ता का संचार करना चाहिये। इसीका नाम है योग्य का योग्य से योजन। इस विद्या में निष्णात कर्मकुशल बुद्धिमान् स्थूल से निकले हुए सूक्ष्म को खींच कर फिर स्थूल में प्रवेश कराने में समर्थ होते हैं। सूक्ष्म की इस प्रकार की शुद्धि होनी चाहिये जैसे कि वह वेग से अपने अनुरूप स्थूल में प्रविष्ट हो जाय उसी प्रकार उसमें ऐसी दृढ़ता होनी चाहिये जिससे वह तेजरूपता को धारण कर बाहरी तेज (अग्नि) को दबाने में समर्थ हो। इस पर्यालोचन से रसतत्त्वज्ञों का यह आशय प्रतीत होता है कि उनको प्राकृत सत्त्व की अप्राकृत सत्त्व में परिणति ही अभीष्ट है। अप्राकृत सत्त्व रज और तम से अस्पृष्ट और घनीभूत है, इसलिए अखण्ड होने से वह संयोग के समय चैतन्य का संघर्ष सहन कर सकता है।

चैतन्य अग्निस्वरूप है, शुद्ध सत्त्व भी उसके सदृश ही है। यह अग्निमय देह ही श्रुति में प्रसिद्ध योगाग्निमय शरीर है जिसे कालाग्नि जला नहीं सकती। पूर्वोक्त स्थूल और सूक्ष्म के शोधन को वास्तव में भूत और चित्त के शोधनानुकूल एक प्रकार का व्यापार समझना चाहिये।

(५)

यद्यपि नाथयोगियों का सम्प्रदाय वास्तव में आदिनाथ द्वारा चलाया गया था फिर भी लोक प्रसिद्धि है कि वह मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा चलाया गया है। तदनन्तर गोरक्षनाथ, जलन्धर, चौरंगी, भर्तृहरि आदि द्वारा वह सेवित हुआ, यह बहुत से

तिहास-ग्रंथों में प्रसिद्ध है। प्राचीनकाल में कपिल, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य आदि भी हठयोग के उपदेष्टा थे, ऐसा कहीं कहीं सुनने में आता है। नाथयोगियों में देहसिद्धि के लिए कोई रस-प्रयोग, कोई वायु-प्रक्रिया और कोई बिन्दु-शुद्धि आदि अन्यान्य उपायों का अवलम्बन करते हैं। इन सभी उपायों की योग में गणना होती है। ये नाथयोगी प्रायः लोकोत्तर योगसम्पद् से सम्पन्न थे। महाज्ञान के बिना काय की जरा और मृत्यु का नाशक दूसरा उपाय नहीं है, यह इनका मुख्य सिद्धान्त है।

परपिण्ड से लेकर स्वपिण्ड पर्यन्त सब पिण्डों का ज्ञान सम्पादित कर परमपद में समरसता प्राप्त की जाती है। परन्तु स्वात्मविश्रान्ति प्राप्त किये विना पिण्ड और परमपद समरस नहीं किये जा सकते। इसलिए सबसे पहले विश्रान्ति आवश्यक है, जिसके मूल सद्गुरु स्वयं ही हैं। सद्गुरु वाक्य से, अथवा दृष्टि से एक ही क्षण में स्वाश्रित शिष्य की चित्तविश्रान्ति सम्पादित कर देते हैं। कहा भी है—

"किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन वा।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥

—अर्थात् इस विषय में बहुत कहने से अथवा करोड़ों शास्त्रवचनों को उद्धृत करने से क्या लाभ गुरु की परम कृपा के बिना चित्तविश्रान्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती।

चित्तविश्रान्ति के अनन्तर परमपद-साक्षात्कार की अपेक्षा होती है। यह साक्षात्कार यद्यपि अत्यन्त दुःसाध्य है तथापि जिसका चित्त विश्रान्त हो चुका हो उसके लिए यथाकथंचित् सुसाध्य होता है। परमपद का साक्षात्कार कर उसमें अपने पिण्ड का समरसीकरण करना चाहिये। उसी समय आत्यन्तिक निरुत्थान दशा का उदय होता है। परमपद स्वसंवेद्य है, वहाँ तक न वाणी की पहुँच है और न मन की। योगी महती सिद्धि प्राप्त कर अपने स्वरूप का अनुसन्धानेच्छु होकर निजावेश का सेवन करता है और निरुत्थान अवस्था को प्राप्त करता है। सच्चिदानन्द-चमत्कार, अद्भुत-अद्भुत आकारों का प्रकाश, प्रबोध और परमपद में प्रवेश क्रमशः धीरे-धीरे होने लगते हैं। इस अनुभव के बल से अपने पिण्ड की सिद्धि होती है। तब सिद्ध हुए निज पिण्ड के साथ पर पिण्ड का एकीकरण होता है।

इस मार्ग में क्रमिक चार ज्ञानों की बात कहीं-कहीं वर्णित दिखाई देती हैं। वे ज्ञान सहज, ससंयम, सोपाय और साद्वय नाम से वर्णित किये जाते हैं। इनके आविर्भाव से अत्यन्त उत्कृष्ट उत्थानावस्था की पूर्वाङ्गभूत स्वात्मविश्रान्ति प्राप्त होती है।

आचार्य बलभद्र के मत में परम्परा से प्राप्त सन्मार्ग दरशानेवाले ही वास्तव में गुरुपदवाच्य हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है। उन्हीं में आत्मविश्रान्ति-प्रदान करने की क्षमता है। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग के पथिक संवेद्य तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। परमात्मरूप सद्गुरु की कृपादृष्टि ही सकल कल्याणों की खान है। योगी-जन सब सिद्धियों का परित्याग कर एकमात्र स्वात्मवेद्य निरुत्थान दशा को प्राप्त करते हैं और स्वपिण्ड को समरस बनाने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

उसमें पहले निजावेश होता है। उसके अनन्तर स्थायिनी महानन्दावस्था अभिव्यक्त होती है, उसके साथ निर्मल प्रकाश का आविर्भाव होता है। इतने से सारे भेदों के गल जाने पर अभेदमय चैतन्यभासक परमपद का उन्मेष होता है, जिसके अनुभव के प्रभाव से निज पिण्ड का सम्यक् ज्ञान होने पर परमपद में उस पिण्ड का निर्वाण अथवा ऐक्य होता है। तदुपरान्त निज रश्मियों की परावृत्ति होती है। वही दूसरा उन्मेष है। उसका प्रत्याहार होने पर सामरस्य होता है। निज किरणपुञ्ज का निजरूप से साक्षात्कार होता है। यह सामरस्य ही अद्वय तत्त्व है। अवधूत गीता में कहा गया 'सम' तत्त्व यही है। अमनस्क नामक ग्रन्थ में वर्णित भाव और अभाव से विनिर्मुक्त, नाश और उत्पत्ति से रहित तथा सकल संकल्पों से विहीन परब्रह्म दशा भी यही है।

महाज्ञान द्वारा परमशून्य से योग-लाभ होता है। आदिनाथ श्रीशंकर से जैसे मत्स्येन्द्रनाथ को उस ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, वैसे ही गोरखनाथ को भी उस ज्ञान की आदिनाथ शंकर से प्राप्ति हुई। सिद्ध नाथयोगियों की नामावली में भी ऐसे बहुत से नाम पाये जाते हैं जो रसादि-सम्प्रदाय ग्रन्थों में भी दिखाई देते हैं। इस सम्प्रदाय में ८४ सिद्धों के नाम भी कहीं पर पाये जाते हैं। उनमें कौन रसमार्ग से सिद्ध हुए, कौन हठ योग से, कौन तान्त्रिक प्रक्रिया, बिन्दुसाधन अथवा अन्य प्रकार से सिद्ध हुए यह विवेक (निर्णय) करना बहुत कठिन है, यह हम पहले कह आये हैं।

प्रायः सभी मार्गों में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वास्तव में एक ही मुख्य मार्ग दृष्टिगोचर होता है, वह है ब्रह्ममार्ग। वही 'शून्यपदवी' के नाम से प्रसिद्ध सुषुम्णा नामक मध्यम मार्ग है। कहा भी है—**भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम्।"** यह प्राचीन आचार्योंका वचन है।

अर्वाचीन काल में वज्रयानादि मार्गोंका अवलम्बन करनेवाले साधकों के भावों से प्रभावित वाउल, सहजियादि साधकों के भावों से प्रभावित होकर नाथमार्ग कुछ वैशिष्ट्य को प्राप्त हुआ। उस समय कायसिद्धि के लिए अत्यन्त गुह्य चतुश्चन्द्र-साधन की कहीं कहीं प्रधानता रही। इसमें भी सापेक्ष और निरपेक्ष भेद से अमरत्व दो प्रकार का वर्णित है। किन्तु निरपेक्ष अमरत्व वस्तुतः नाथनिरञ्जनपद-लाभ ही है।

वही पूर्णत्व है। सापेक्ष अमरत्व सिद्धिपद-प्राप्ति है। अमृतधारा का स्रावण और उसके द्वारा देहसंजीवन उसमें उपाय है। अधोमुख सहस्रदल कमल को ऊर्ध्वमुख कर उसमें स्थित अमृत से मन का अभिषेक करना चाहिये। उसमें प्रणवध्यान आवश्यक होता है। ब्रह्मरन्ध्र नामक दशम द्वार तथा त्रिवेणीद्वार का रोध करना चाहिये। इस उपाय से सुधाधारा का अधःपात रोका जाता है। योगियों के मत में यह क्रिया आकाशचन्द्रभेद के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि देहरस अमृत के आकार में परिणत होकर ऊर्ध्वगामी वायु से ऊपर पहुँचाया जाता है और सहस्रार में संचित होता है। इस मत में चार चन्द्र ये हैं—

(क) आदिचन्द्र। यह सहस्रार कमल की जड़ में स्थित योनिनिष्ठ चन्द्र है। इसमें स्थिति करनी चाहिये।

(ख) निजचन्द्र। यह रस या कुण्डलिनी है।

(ग) उन्मत्त चन्द्र। यह मन अथवा वायु है। इसको बाँधना चाहिये।

(घ) गरलचन्द्र। यह अमृत है। पूर्वोक्त तीन चन्द्रों को रोक कर इसके पान का उपदेश किया जाता है।

रसात्मक निजचन्द्र को ऊपर खींच कर आकाशस्थित चन्द्र के साथ उसको मिलाना चाहिये। ऊर्ध्वगति से रस अमृत के रूप में परिणत हो जाता है। आकाशस्थित चन्द्र का तथा सहस्रार से सम्बद्ध गरलचन्द्र का योगी पान करे। वायु के साथ मन का बन्धन करना चाहिये। मन, वायु और अमृत की दशम द्वार से ऊपर स्थापना करनी चाहिये। निरन्तर ध्यान करना चाहिये। अमृतप्रवाह की अधोगति रोकने के लिए त्रिवेणीद्वार पर ध्यान रखना आवश्यक है। उसके अनन्तर गरलचन्द्र का पान और प्रणव का ध्यान करना चाहिये। गरलचन्द्र से देह और मन का शोधन तथा संजीवन होने पर सिद्ध देह की प्राप्ति होती है और अन्त में जीवन्मुक्ति होती है।

इस मत में सिद्धदेह द्वारा चन्द्रभेदपूर्वक चन्द्रामृतपान जीवन्मुक्ति का साधन है। किन्तु परममुक्ति का साधन है प्रणवध्यान और शून्य तत्त्व में प्रतिष्ठा। पहली प्रक्रिया से कायसिद्धि प्राप्त होती है और काय की चिन्मयता निष्पन्न होती है। दूसरी प्रक्रिया से शून्यता की प्राप्ति होती है।

(६)

महायान के बौद्धों ने भी अपने अभीष्ट मार्ग से कायसिद्धि का उपदेश दिया है। श्रावकयानों की अभिमत अधिक उत्कृष्ट प्रज्ञा से प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व भूमि में प्रवेश कर तत्-तत् भूमियों का क्रमशः भेद करना चाहिये। अन्त में प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति होती है, वही बुद्धत्वसम्पादक महाज्ञान है। अक्लिष्ट अज्ञान के क्षयके बिना पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती और सम्यक्संबुद्धत्व भी नहीं हो सकता। बोधिसत्त्व की कायसम्पत् हेतु अवस्था में ही होती है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

तान्त्रिक बौद्ध मत में देहरसरूप बिन्दु ही 'बोधिचित्त' कहा जाता है। चतुर्दल कमल से उसे उठा कर ऊपर उष्णीष कमल में स्थापित करना ही योगसाधना का फल है। षट्चक्रभेदन के समान यह उत्थापन क्रिया भी बड़ी कठिन है। उसमें सबसे पहले देहरसरूप बिन्दु की मेरुमार्ग में सबसे निचले चक्र में स्थिति होना आवश्यक है, तदनन्तर निर्माणचक्र से लेकर महासुखचक्र पर्यन्त उसे चढ़ाना चाहिये। बोधिचित्त के उद्भव, निरोध और ऊर्ध्वगमन निर्माणचक्र में ही कर लेने चाहिये। यही कर्ममुद्रा का स्थान है, जिसमें बोधिचित्त का उद्भव होता है। उद्भव क्षोभरूप है, यह जानना चाहिये। तदनन्तर मध्यमार्ग में अवधूतिका में उसका ऊपर संचार कहा गया है। क्षुब्ध हुए बिन्दु के ऊपर गमन-मार्ग में भिन्न भिन्न प्रकार के आनन्दों का आस्वाद होता है। बिन्दु के अधोगमन में भी आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है है यह बात सत्य है, परन्तु वह अस्थायी और मलिन होने से हेय है। बिन्दु के अधोगमन से जैसे कामदेह की उत्पत्ति होती है वैसे ही उसकी ऊर्ध्व गति से दिव्य देह की अभिव्यक्ति होती है।

कायसाधन में यह ध्यान रखना चाहिये कि बिन्दु की अधोगति (अधःस्खलन) न हो। बिन्दु का अधःस्खलन होने पर मृत्यु अवश्य होगी, ऐसी योगियों की घोषणा है—"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।" बिन्दु की ऊर्ध्वगति करने के कौशल से ही कायसिद्धि हो सकती है। बिन्दु में स्थित मल ही बिन्दु के अधःपात का कारण है। इस प्रकार के अशुद्ध बिन्दु का बौद्ध शास्त्रों में 'संवृति बोधिचित्त' पारिभाषिक नाम है। अशुद्ध बिन्दु की भूमिप्रवेश में सामर्थ्य नहीं है। उसके द्वारा भूमिभेद अथवा आरोहण कैसे हो सकता है? भूमिप्रवेश हुए बिना प्रज्ञाशुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए बुद्धत्वप्राप्ति की आशा भी नहीं है। अतएव पहले शोधनशक्ति और निरोधशक्ति से बिन्दु की अधोगति रोकनी चाहिये। तदनन्तर कर्ममुद्रा से ऊर्ध्व स्रोत के खुलने पर अमरत्व का मार्ग प्रशस्त होता है। यहीं पर बुद्धत्वकाय की उत्पत्ति होती है। निर्माण-चक्र में बिन्दु के गमन और स्थिति से जिस काय की अभिव्यक्ति होती है वह निर्माण-काय है। बिन्दु के ऊर्ध्वगमन में क्रमशः आनन्द के अनुभव में भी तारतम्य होता है। जब बोधिचित्त अवधूति मार्ग का अवलम्बन कर धर्मचक्रपर्यन्त ऊपर उठता है तब पूर्वोक्त आनन्द की परमानन्द के रूप में परिणति होती है। निर्माणचक्र में जो कर्म-मुद्रा है, वही धर्मचक्र में धर्ममुद्रा के रूप में आविर्भूत होती है। इस दशा में बोधिचित्त योगी के मस्तक पर रहता है। इससे अधिक उत्कर्ष प्राप्त होने पर संभोगचक्र में विरमानन्द का अनुभव होता है, वहाँ की मुद्रा महामुद्रा के नाम से प्रसिद्ध है। परमानन्द और विरमानन्द की क्रमशः भवरूपता और निर्वाणरूपता योगियों के समाज में प्रसिद्ध है। यहाँ समयमुद्रा काम करती है। परन्तु यहाँ पर भी पूर्णता की सम्यक्प्राप्ति नहीं होती। यहाँ क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति हो जाती है, इसलिए भव और निर्वाण एकाकार हो जाते हैं। इससे भी ऊपर—भव और निर्वाण के ऊपर महासुखचक्र में सहजानन्द की उपलब्धि होती है। उस समय अहंबोध सर्वथा विलुप्त हो जाता है। चार आनन्द (आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द) स्वरू-पतः एक होने पर भी क्षणभेद से भिन्न होते हैं। अर्थात् विचित्र क्षण में आनन्द की उपलब्धि होती है। परम, विरम और सहज आनन्दों की उपलब्धियाँ विपाक, विमर्द और विलक्षण क्षणों में होती हैं, यह रहस्य उद्घाटनयोग्य नहीं है। सहजानन्द ही आनन्द की पराकाष्ठा है।

जब बिन्दु निर्माणचक्र के बाहर रहता है तब वह पाँच भूतों से आच्छन्न रहता है। ऊपर गमन से क्रमशः पृथिवी आदि के परमाणु हट जाते हैं। उष्णीष कमलमें वह बिन्दु शुद्ध होकर स्वयंप्रकाश ज्योतिःस्वरूप में भासता है। जैसे निर्माणचक्र में बुद्ध का निर्माण-काय आविर्भूत होता है वैसे ही धर्मचक्र में धर्मकाय, संभोगचक्र में संभोगकाय और महासुखचक्र में महासुखकाय का आविर्भाव होता है। यही दिव्य देह का प्राकट्य है। यहाँ दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र आदि का तथा सर्वज्ञत्व, विभुत्व आदि अन्य महागुणों का आविर्भाव होता है, सब के अन्त में सम्यक्संबुद्धत्व स्वरूप से बोधिचित्त की स्फूर्ति होती है।

आनन्द ही अमृत है, उसका चन्द्रकला से उद्गम होता है। षोडशकला-

त्मक चन्द्रमा की आदि पाँच कलाओं से धर्मचक्र में परमानन्द का आविर्भाव होता है। इसी तरह बिचली पाँच कलाओं (छठी से १० वीं तक बीच की पाँच कलाओं) से तथा अन्तिम पाँच कलाओं से क्रमशः दो चक्रों में (धर्मचक्र और संभोगचक्र में) दो आनन्दों की अभिव्यक्ति होती है। ये चन्द्रमा की पन्द्रह कलाएँ अवधूतिका मार्ग के तत् तत् आनन्दों के रूप में स्फुरित होती हैं। अमृता नाम की सोलहवीं कला महासुख-चक्र में सहजानन्द के रूप से अनुभूत होती है। इस अमृतकला से मनुष्यदेह अमर हो जाती है। यही महासुख अर्वाचीन युग में रसिक साधकों में 'रस' नाम से प्रख्यात हुआ।

वैष्णव सहजीय भक्त रागानुगा मार्ग से प्रकारान्तर से इसी महासुख की आराधना करते हैं।

(७)

सहज साधक वैष्णव भी वास्तव में स्थल स्थल पर बौद्धतान्त्रिक साधकों के तुल्य प्रतीत होते हैं। उनके मत में भी कायसिद्धि आवश्यक है।
कहा है—

"चारि सरोवर आछे देहेर भीतरे।
आपणार देह यदि पार साधिवारे॥"

अर्थात् यदि अपनी देहसाधना कर सको तो पता चलेगा इसमें चार सरोवर हैं।

कायसिद्धि से ही ये चार सरोवर प्रकट होते हैं। इन सरोवरों में दो सरोवर वाम अङ्ग में हैं और दो दक्षिण अङ्ग में, ऐसा उन्होंने कहा है। किन्तु यह पुरुष और स्त्री के भेद को ध्यान में रखते हुए जानना चाहिए। काम नामक सरोवर और मानससरोवर वाम अङ्ग में हैं एवं प्रेमसरोवर और अक्षयसरोवर दक्षिण अङ्ग में हैं। काम सरोवर और प्रेमसरोवर परस्पर मिले-जुले हैं, अन्य दो भी वैसे ही आपस में मिले-जुले हैं। सन्तवाणियों में दिखाई देता है कि मानससरोवर में स्नान कर व्यापक मनोमय राज्य को लाँघकर महाशून्य का भेद करना चाहिये। अन्यथा चिदानन्दमय भगवद्-धाम में प्रवेश नहीं हो सकता। अक्षयसरोवर और भगवद्धाम दोनों एकार्थक हैं ऐसा समझना चाहिए। महाप्रलय में समग्र जगत् का विनाश होने पर एक-मात्र अक्षयसर ही अवशिष्ट रहता है। यहीं पर परमात्मा का स्थान है, क्योंकि यहीं वे प्रकाशमान होते हैं।

मानव शरीरमें यह स्थान मस्तकस्थित सहस्रदल कमल में है, ऐसा जानना चाहिये। सदानन्दपुर, गुप्तचन्द्रपुर और सहजपुर इसी के नामान्तर हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के भेदन से पहले उसके स्वरूपका भान नहीं होता। न यहाँ कालका प्रभाव है, न जरा है और न मृत्यु है, ऐसा रसिकों का अनुभव है।

ये रसिक वैष्णव थे, किन्तु रसायनवेत्ता रसिक शैव थे; इस प्रकार दो सम्प्रदायों का भेद है।

इनकी कायसिद्धि में प्रवृत्त, साधक और सिद्ध के भेद से तीन भूमियाँ (स्तर) प्रसिद्ध हैं। प्रथम भूमि में नाम-साधन होता है, उसके पश्चात् गुरुप्राप्ति के अनन्तर

मन्त्र की प्राप्ति और मन्त्र-साधन होता है। जब तक मन्त्रसिद्धि न हो तब तक प्रवृत्त अवस्था के पार नहीं हो सकते, यह समझना चाहिये। प्रवृत्त अवस्था प्राचीन आर्य-संस्कृति की ब्रह्मचर्यावस्थाके तुल्य है। साधक की द्वितीय भूमि में भावसाधन और प्रेमसाधन मुख्य हैं। भावदेह की प्राप्ति के अनन्तर उस देह से साधना की जाती है। सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर तृतीय भूमि में रसमय देह मिलती है और श्रीभगवान् के नित्य लीलामण्डल में प्रवेश होता है। जब तक देह सिद्ध न हो तब तक वहाँ प्रवेश किसी प्रकार नहीं हो सकता, ऐसा सिद्ध वैष्णवों का सिद्धान्त है।

(८)

मृत्यु के समय नूतन शरीर ग्रहण कर जीव जीर्ण शरीर का त्याग करता है, यह वस्तुस्थिति है। इस देहान्तर की प्राप्ति-प्रक्रिया से देह की शुद्धि होती है, परन्तु आत्यन्तिक शुद्धि कदापि नहीं होती। जैसे प्राकृतसत्त्व, अत्यधिक शुद्धि होने से अप्राकृतसत्त्व नहीं होता, क्योंकि प्राकृतसत्त्व में रजोगुण और तमोगुण का सम्बन्ध अनिवार्य है, वैसे ही देह से देहान्तर की प्राप्ति होने पर भी देह का अशुद्धमायिकत्व नष्ट नहीं होता तथा शुद्धमाया का सम्बन्ध भी नहीं होता। सिद्ध-सम्प्रदाय के मत में माया तीन प्रकार की है—१ अशुद्धमाया, २ शुद्धमाया तथा ३ महामाया[1]। यहाँ शुद्धमाया से शैवागमसिद्ध बिन्दुतत्त्व लिया जाता है। महामाया यहाँ प्रायः शुद्ध चित्‌शक्तिरूप ही है। अशुद्धसत्त्व विकारी है और शुद्धसत्त्व अविकारी है। अतः देहशुद्धि की सम्यक्ता सिद्धि के लिए अशुद्धमाया से उत्पन्न देह को शुद्धमाया कोटि में लाना आवश्यक है। ऐसी शुद्धि होने पर अशुद्धमाया से जनित विकार हट जाते हैं। परन्तु शुद्ध मार्गीय मुक्त पुरुष के अनुग्रह के बिना शुद्ध देह का उदय ही नहीं हो सकता। जब तक यह अशुद्ध प्राकृत शरीर शुद्धमायाजनित देह के रूप में परिणत नहीं हो जाता तब तक मरण या आवागमन की निवृत्ति नहीं होती। कर्म न रहने पर भी अशुद्ध देहबीज रहने से आवागमन होता ही है। यह आवागमन अपनी इच्छा के अधीन है। यह कर्म की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कर्म भी उसमें अति सूक्ष्म रूप से रहता ही है। शुद्ध मार्गीय मुक्त पुरुष की कृपा प्राप्त होने पर शुद्ध देह-बीज की प्राप्ति होने से अशुद्ध देह-बीज की शुद्धि और परिवर्तन हो जाता है। तभी मृत्यु पर विजय प्राप्त हो सकती है। मुक्त पुरुष के अनुग्रह से अशुद्धमाया की शुद्धमाया में परिणति होने पर स्वयं ही देह की अविनश्वरता हो जाती है।

यह शुद्ध शरीर अमृतकलामय प्रणव-शरीर है। प्रणव-शरीर की प्राप्ति ही जीवन्मुक्ति है। यह जीवन्मुक्त पुरुष जीव होता हुआ भी ईश्वरतुल्य है। यह शुद्ध और अशुद्ध जगत् की सन्धि में स्थित है। उसका अशुद्ध जगत् से सम्बन्ध कुछ ही काल तक रहता है, उसकी परा मुक्ति अति संनिकट रहती है। परा मुक्ति प्राप्त होने पर चिन्मय ज्योतिःस्वरूप में ज्योतिःस्वरूप देह में उसकी स्थिति होती है। तब माया का

१. The Doctrinal culture and Tradition of Siddhas by V. V. Raman Shastri in the Cultural Heritage of India, vol II, pp. 303—319.

सम्बन्ध हट जाता है, शुद्धमाया का सम्बन्ध भी नहीं रहता। जीवन्मुक्त का शरीर शुद्ध-मायामय है, परम मुक्त का शरीर महामायामय है। परम मुक्त का शरीर ही विशुद्ध ज्ञानमय देह है, जिसमें देह और आत्मा का भेद निवृत्त हो जाता है। प्रणवशरीर वाला जीवन्मुक्त मुक्ति चाहने वाले मायाग्रस्त जीवों का मायागर्भ से उद्धार करने के लिए स्थित रहता है। किन्तु शुद्ध वासना की निवृत्ति होने पर अपने अधिकार आदि के समाप्त होने के कारण शुद्धमाया-राज्य का भी त्याग कर देता है। उसका शरीर दिन के स्पष्ट प्रकाश में ही अकस्मात् तिरोहित हो जाता है। सिद्ध लोग कहते हैं—इस देह के रहते रहते ही जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये, न कि मरने के उपरान्त। सिद्धमत में मनुष्य का एक ही कार्य है—देह की शुद्धि और चित्त की शुद्धि। दोनों के संमेलन से एक ही परम सत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। रससिद्ध और नाथसिद्धों का भी यही अभिमत है, यह पहले ही कहा गया है।

(९)

प्राचीनकाल में पाश्चात्य देशों में भी देहसाधन विद्या का परिज्ञान था, यह तत् तत् देशों की गुह्य संस्कृति के प्राचीन इतिहास का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है। उनमें से एक प्रामाणिक ईसाई मत विशेषरूप से उल्लेखयोग्य प्रतीत होता है।

दिव्यदेहप्राप्ति के लिए ही उक्त विद्या का परिशीलन हुआ, ऐसा ज्ञात होता है। नवविधान (New Testament) के चौथे खण्ड में अप्राकृत जन्म (Birth from Above) के नाम से दिव्यदेहप्राप्ति[1] का ही निर्देश किया गया है।

ज्ञान से ज्ञेय के भेद का अपलाप कर ज्ञान की ही ज्ञेयाकारता प्राप्त करने में सामर्थ्य उत्पन्न करना महाज्ञान का लक्षण है। मनुष्यदेह में असंख्य शक्तियाँ अनादि-काल से ही सुप्त पड़ी हुई हैं, जिनके जागे बिना ज्ञान की महाज्ञान में परिणति नहीं हो सकती, आत्मविकास नहीं हो सकता, उसके बिना स्वरूप में प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। अन्तर्दृष्टि का खुलना ही शक्ति-जागरण का कारण है। शक्तियों के जागने पर मनुष्य-जीवन सार्थक होता है। जरा, मरण आदि विकारों से रहित तथा मल, पाप आदि के स्पर्श से विहीन दिव्य देह का उदय होता है। यही द्विजत्वसम्पादक दूसरा जन्म (Regeneration अथवा Birth from Above) है।

इस देश में उपनयन के प्रभाव से अथवा दीक्षा के प्रभाव से जैसे शुद्ध देह का उद्भव माना जाता है वैसे ही ईसाई मत में भी दीक्षा के प्रभाव से ही (Baptism से ही) शुद्धदेह-लाभ की प्रक्रिया शास्त्रों में वर्णित दिखाई देती है।

---

१. इस गुप्त विद्या का संकेत सेन्ट जोन St. John ने नवविधान (New Testament) के चौथे खण्ड में किया था। किन्तु दुरूह होने के कारण चिरकाल तक किसी ने उसे जानने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु उन्हीं महात्मा द्वारा विरचित Apocalypse नामक ग्रन्थ के अनुशीलन से नवविधान में उक्त रहस्य का किसी प्रकार स्पष्टीकरण होता है। विशेष जिज्ञासुओं को James M. Pryse द्वारा आङ्ग्लभाषा में अनूदित The Apocalypse unsealed नामक ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये, जिसमें महात्मा जोन के दीक्षारहस्य Initiation of Joannes की भली-भाँति व्याख्या की गई है।

यदि कोई यह पूछे कि अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन कैसे होता है ? तो उसका उत्तर यह है—इन योगियों के मत में पूर्ण सत्य अखण्ड एकरस महासाम्यरूप है। वास्तव में मन, इन्द्रियादि सम्पूर्ण करणों का अगोचर होने से निर्विकल्पक वह वस्तु न द्वैत है और न अद्वैत है। उनके मत में एक अचिन्त्य बाह्य सत्ता मानी जाती है, जो विश्वसृष्टि की मूलभूत आदि द्रव्य भी कही जा सकती है। यह सत्ता सृष्टिकाल में क्षोभ को प्राप्त हो विभक्त होकर सूक्ष्म और स्थूल असंख्य जड़ांश रूपों में परिणत होती है। पूर्ण सत्ता के बाहर क्रमशः नित्य और अनित्य मण्डल उत्पन्न होते हैं। उनमें नित्य मण्डल सत्य है और अनित्य मण्डल, जो असंख्य हैं, मिथ्या हैं, परन्तु पूर्णत्व दोनों से अतीत है। नित्य मण्डल निर्विकार है, किन्तु अनित्य मण्डल विकारमय है। नित्य मण्डल के एक रूप से प्रतिभासमान होने पर भी बहुत मण्डलों का समष्टिरूप होने से उसमें वास्तविक एकता नहीं मिलती, किन्तु समष्टिगत वैकल्पिकी एकता तो है ही। सांख्यसम्मत प्रकृति यद्यपि त्रिगुणात्मिका है तथापि स्वरूपावस्था में साम्यभूत होने के कारण वह एकरूप से वर्णित होती है। नित्य मण्डल की एकता भी वैसी ही है। परन्तु पूर्ण की एकता साम्यरूप नहीं है, इसलिए उससे विलक्षण है।

यह नित्य मण्डल श्रीभगवान्का भावरूप या आदि कल्पनारूप है। वही सृष्टि कालमें भौतिकरूप से आविर्भूत होता है। जिस समय सृष्टि का आविर्भाव नहीं होता उस समय दोनों मण्डल अव्यक्त रहते हैं। नित्यमण्डल चिद्रूप से (Logos) अधिष्ठित रहता है। इसके साथ सृष्टि-प्रकृति (Archeus) का कौन सम्बन्ध है। ईसाई योगियोंके मतमे में दोनों ही चिद् और अचिद्रूप समकालीन और समभावापन्न हैं। उनमें चिद् मूलद्रव्य में आच्छन्न रूपसे अन्तर्निहित रहती है एवं मूलद्रव्यरूप प्रकृति भी चित्स्वरूपकी प्राणशक्ति है। सांख्यके सत्त्व और पुरुषके कल्पित सम्बन्धकी तरह यहां भी कल्पित सम्बन्ध जानना चाहिये। चिद् ज्योति रूप में भासित होती है। द्वैत शैवागम में जैसे बिन्दु के क्षुब्ध होने से चित्शक्ति की अभिव्यक्ति ही ज्योति है प्रायः वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिये। सम्पूर्ण सृष्टि, सब देह (सूक्ष्म और स्थूल) इस ज्योति से ही आविर्भूत होते हैं। ईसाई योगियों की परिभाषा में यह ज्योति 'Pneuma' के नाम से अभिहित होती है।

यह ज्योतिःस्वरूप मूलशक्ति जड़वस्तु में सर्वत्र निहित है। उसके प्रभाव से तत् तत् उपादान तत् तत् कार्यों का रूप धारण करते हैं। नवविधान में उल्लिखित 'Paraclete' नाम की जीवात्मशक्ति इस मूल शक्ति का ही नामान्तर है। महाज्ञान के सम्पादन में इस शक्ति की प्रचुर क्षमता दिखाई देती है। इसके बिना कुछ भी निर्माण कार्य नहीं हो सकता। भारतीय योगिसमाज की तरह ईसाई विद्वानों के समाज में भी पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता मानी जाती है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में भी दिखाई देता है एवं पिण्ड में स्थित सब कुछ ब्रह्माण्ड में भी है। बाहरी प्रपञ्च में कारण, सूक्ष्म और स्थूल ये तीन भूमियाँ विभक्त हैं। उनमें पूर्वोक्त अन्तर्मण्डल ही (Logos) कारणभूमि ज्योतिर्मयी है। मध्यभूमि मनोमयी (Psychic) सूक्ष्मा है, सबके अन्त में भौतिकी स्थूल भूमि है, जो सब इन्द्रियों

से ग्रहणयोग्य है। स्थूल और सूक्ष्म के मध्य में भी कोई भूमि है, जिसका किन्हीं के मत में स्थूल में अन्तर्भाव है और किन्हीं के मत में सूक्ष्म में। वह भूमि कल्पनामयी है। इसी प्रकार मनुष्य की अन्तःसत्ता में भी तीन प्रकार की भूमियाँ हैं—कारणरूप, सूक्ष्मरूप और स्थूलरूप। उनकी कारण आदि तीन देहों के नाम से प्रसिद्धि है।

यह कारण शरीर (Pneumatic body) ज्योतिर्मय है, कहीं कहीं इसका आत्मदेह (Spiritual body) के नाम से भी व्यपदेश किया जाता है। अन्तर्दृष्टि से यदि इसका निरीक्षण किया जाय तो यह अण्डाकार प्रभा-मण्डल के रूप में भासता है, जिसमें पूर्ववर्णित ज्योति (Paraclete Logos) सुप्त की तरह निहित है। इसके उद्दीपन से ही मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन निर्मल किया जा सकता है। प्रबोध-काल में यह ज्योति तीव्र प्राणशक्ति के रूप में बिजली की कान्ति के तुल्य सर्पाकार गति से सरकती है। यह अपरिमित शक्ति है।

भारतीय योगवाङ्मय में कुण्डलिनी के नाम से इसी का विवरण उपलब्ध होता है। ग्रीक के प्राचीन वाङ्मय में यह शक्ति कुण्डलाकार सर्पवत् होने के कारण (Speirema) नाम से वर्णित दिखाई देती है। कुण्डल टूटने पर यह विद्युत्-शक्ति कारण देह के भीतर स्थित सत्त्व को लेकर ज्योतिर्मय देह का निर्माण करती है। यह देह-निर्माण की कला ही दीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। यह चित् से उज्ज्वल देह गुह्यसमाज में Augoeides नाम से अभिहित होती है। यह अजर और अमर देह कभी सौर देह भी कही जाती है। इस देह में कुछ अचिन्तनीय वैशिष्ट्य है। इसका आकार पूर्वोक्त विद्युत् ज्योति में निहित रहता है। योगसाधना के बल से भगवान् के परम अनुग्रह वश यह अमर दिव्य देह अपने मूल आकार के अनुसार क्रमशः अभिव्यक्त होती है। स्वयंप्रकाश यह देह सुवर्णमय ज्योतिर्मण्डल के तुल्य प्रतीत होती है। यह देह उपनिषद् में वर्णित हिरण्मयज्योति का घनीभूत रूप है। यह अवयवसंघातजन्य नहीं है, इसलिए अखण्ड है। अवयवों से इसका विभाग न हो सकने के कारण इसका अविनाशित्व, अपरिणामित्व, अजरत्व और अमरत्व स्वभावसिद्ध ही है। स्वयंप्रकाश होने के कारण इसके प्रकाशनार्थ किसी भी बाहरी प्रकाश का उपयोग हो ही नहीं सकता एवं अन्तःकरण-क्रिया की आवश्यकता भी इसे नहीं है और न कारणशक्ति की ही इसे अपेक्षा है। यह अपने प्रकाश से ही स्वयं प्रकाशमान दिखाई देती है।

सूक्ष्म मनोमय देह भी चान्द्रदेह के नाम से प्रसिद्ध है। मन की चन्द्ररूपता इस देश (ग्रीक) में भी प्रसिद्ध है। यद्यपि सौरदेह और चान्द्रदेह दोनों की ज्योतिर्मयता एक सी है तथापि सौरदेह निरवयव और अखण्ड है, परन्तु चान्द्रदेह सावयव है और सावयव होने से विनाशी है। सौरदेह अविनाशी है।

स्थूल देह भौतिक है यह सब पर विदित है, इसलिए इसके विवरण की आवश्यकता नहीं है। सूक्ष्मदेह की छाया रूप एक प्रकार की और देह भी है, जिसको मरने के पश्चात् कोई कोई जीव ग्रहण करते हैं एवं कोई मरने के पूर्व भी उसको ग्रहण करते हैं। यह देह मनुष्यों के लिए प्रायः हानिकारक है। इसलिए इस प्रकार की

छायामय देह से सभी लोगों को अपनी रक्षा करनी चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो धर्मजीवन में प्रगति होना कठिन हो जाता है।

योगशास्त्र में विविध स्थलों में ज्ञाननेत्र ही तृतीय नेत्र के नाम से कहा जाता है। पूर्वोक्त प्रबुद्ध हुई संजीवनी शक्ति के प्रभावसे इस नेत्र की विविध सूक्ष्ममय क्रियाओं का उन्मेष होता है। अपनी इच्छाशक्ति से ही कुण्डलिनी का जागरण हो सकता है। यह कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर नाड़ियों के सैकड़ों आवरणों को हटा देती है और देह को निर्मल कर देती है। यही स्वात्मशुद्धि का साधन है। शुद्धिका क्रमशः उत्कर्ष होने पर शक्ति के केन्द्ररूप सब चक्र स्वायत्त हो जाते हैं। आत्मबल के विकास का यही क्रम है।

दिव्य देह पाकर दिव्य जीवन प्राप्ति के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। उसके साथ ही साथ विचार-शुद्धि और बोधशक्ति का भी उपार्जन करना चाहिये। पवित्र जीवन, निश्चिन्तभाव और एकाग्रता दिव्यभाव के सहायक हैं। एकाग्रता प्राप्त होने पर चित्त अन्तर्मुख होकर सूक्ष्मतत्त्व के ध्यान में तत्पर होता है। सूक्ष्मतत्त्व के ध्यान में उन्मुख होने से चित्-शक्ति का विकास होता है, जिससे योगी की स्वेच्छा के अनुसार समाधि लग जाती है। यह समाधि प्रचलित जड़ समाधि से विलक्षण है। इस समाधि में चेतना लुप्त नहीं होती और अपनी नियन्त्रण शक्ति भी बनी रहती है। प्राचीन ईसाई योगियों के मत में यह समाधि 'mantea' के नाम से विख्यात है। यह आन्तरिक योगमार्ग शुद्ध मन की भावना के बल से खुलता है। परन्तु कुण्डलिनी के जागरण और प्राण केन्द्रों पर विजय पाये बिना ऐसी भावना सफल नहीं हो सकती। विशुद्ध तत्त्वज्ञान तथा गुह्यशक्तियों की प्राप्ति के लिए यही एकमात्र उपाय है, इससे अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है।

(१०)

इस निबन्ध में तत् तत् प्रस्थानों के अनुसार कायसिद्धि के स्वरूप, फल आदि का विवरण संक्षेप में दिया गया है। प्रसङ्गतः भारत के बाहर अन्य देशों में भी अन्य प्रक्रियाओं से कायसिद्धि का प्रचार था, यह भी उदाहरण द्वारा दरशाया गया है। अब कौलिक आदि आगमवित् योगियों में यह (कायसाधन) प्रक्रिया कैसी थी, इसका दिग्दर्शन कराया जाता है। परन्तु इस प्रक्रिया के विज्ञान के लिए देह का विज्ञान आवश्यक है, इसलिए मानव-शरीर का महत्त्व-प्रदर्शन-करने के लिए उससे सम्बन्ध रखनेवाले योगियों के लिए ज्ञातव्य पदार्थों का उल्लेख भी यहाँ पर उचित प्रतीत होता है। जिज्ञासुओं के लिए स्थान स्थान पर उनका थोड़ा विवरण भी दिया जायगा। इन पदार्थों का भली भाँति ज्ञान हुए बिना दिव्यदेह बनानेवाली कौलिकी आदि योगक्रिया का आरम्भ भी नहीं किया जा सकता।

वे पदार्थ कौन हैं, जिनका ज्ञान कुलमत में कायसाधकों के लिए आवश्यक है? नेत्रागम में महेश्वर ने इस विषय में पदार्थों का नाम-निर्देश किया है। वह इस प्रकार है—

ऋतु (६) चक्रं स्वराधारं (१६) त्रिलक्ष्यं (३) व्योमपञ्चकम् (५)।
ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं (१२) नाडीत्रय (३) समन्वितम् ॥
धामत्रयपथाऽऽक्रान्तं (३) नाडीत्रयसमन्वितम् (३)।
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडीपथाऽऽवृतम् (१०) ॥
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु (७२०००) सार्धकोटित्रयेण (३५००००००) च।
नाडीवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ॥
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु।
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ॥
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः।

अर्थात् चन्द्र छह, आधार सोलह; लक्ष्य तीन, आकाश पाँच, ग्रन्थियाँ बारह, शक्तियाँ तीन, धाम के मार्ग तीन, नाड़ियाँ तीन, नाड़ीपथ दस, ७२००० तथा ३५०००००० नाड़ियों का समूह—इतने पदार्थ मनुष्यदेह में योगियों को ज्ञातव्य हैं। इन सब पदार्थों से युक्त, मलिन और विविध व्याधियों से परिवृत देह को जानकर महेश्वरप्रोक्त सूक्ष्म ध्यानरूपी अमृत द्वारा जो योगी अपने और पराये शरीर को आप्यायित करता है उसका शरीर दिव्य हो जाता है, उसमें किसी प्रकार की व्याधि नहीं रहती।

(१) कौलमत में षट् चक्र यों हैं[1]—

(क) नाड़ीचक्र जन्मस्थान में स्थित, जिसके सहारे विशाल नाड़ीजाल फैला हुआ है।
(ख) मायाचक, इसका स्थान नाभि है, जहाँ से निकल कर माया चारों ओर फैलती है।
(ग) मायाचक्र, इसका स्थान हृदय है। यह योगप्रसार का आश्रय-स्थान है।
(घ) भेदनचक्र, इसका स्थान तालुमूल है।
(ङ) दीप्तिचक्र, इसका स्थान भ्रूमध्य है, जहाँ बिन्दु की अभिव्यक्ति होती है।
(च) शान्तचक्र, इसकी अवस्थिति नादस्थान में है।

(२) सोलह आधार

ये जीवन के शाधार होने से 'आधार' कहे जाते हैं। पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक में स्थित द्वादशान्त कमल पर्यन्त इनका विस्तार है। ये इस प्रकार हैं—अँगूठा, गुल्फ (टखना), जानु (घुटना), मूत्रद्वार, मलद्वार, कन्द, नाड़ी, उदर, हृदयकमल, कूर्मनाड़ी, कण्ठकूप में कण्ठाधार, तालुप्रदेश, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त। ये सब आधार हैं।

(३) लक्ष्य तीन हैं।

(क) अन्तर्लक्ष्य—

बिजली की प्रभा के समान अतिसूक्ष्म कुण्डलिनीस्थ आकाश का दर्शन अथवा सिर के ऊपर बारह अंगुल पर्यन्त ज्योति का दर्शन, यह आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियों

---

१. किन्तु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में ब्रह्मचक्र (आधार में), स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र (पाँच फेरों में कुण्डलाकार सर्प की तरह), अष्टदलकमल (हृदय में), कण्ठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, निर्वाणचक्र तथा आकाशचक्र (षोडशदलकमल) यों नौ चक्र वर्णित दिखाई देते हैं।

का अगोचर है। इस विषय में कुछ मतभेद हैं—योगियों का अन्तर्लक्ष्य सहस्रार में देदीप्यमान ज्योति है, वैष्णवों का अन्तर्लक्ष्य बुद्धिरूप गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष-रूप है, शैवों का अन्तर्लक्ष्य शीर्ष स्थित मण्डल में उमामहेश्वररूप है एवं दहरोपासकों का अन्तर्लक्ष्य अंगुष्ठमात्र पुरुषाकार है।

(ख) मध्यलक्ष्य—

वह चित्र आदि वर्णवाले सूर्य, चन्द्र और अग्नि ज्वालावली के तुल्य है अथवा सूर्य-चन्द्रविहीन अन्तरिक्ष के तुल्य है।

(ग) बहिर्लक्ष्य—

अपनी नासिका के अग्रभाग में अपने अभ्यास के अनुसार कुछ दूर तक का आकाश।

(४) पाँच आकाश यों हैं—

इनकी जन्मस्थान, नाभिप्रदेश, हृदयप्रदेश, बिन्दु और नाद में भावना करनी चाहिये। इनमें पहला आकाश अनन्त विश्व का आश्रय अनन्त शून्य है। ये शून्य सौषुप्त आवेशकारक होने से हेय हैं। किन्तु पाँच आकाशों के नाम अन्य स्थानों में दूसरे प्रकार के दिखाई देते हैं—गुणरहित आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

(५) बारह ग्रन्थियाँ यों हैं—

माया से लेकर शक्ति पर्यन्त बारह ग्रन्थियों के स्थान जानने चाहिये। उनमें मायाग्रन्थि देह की उत्पत्ति में हेतु है। पाशवग्रन्थि पशुओं की संकुचित दृष्टि की हेतु है और कन्द उसका स्थान है। हृदय से लेकर ललाट पर्यन्त पाँच कारणग्रन्थियाँ हैं। ये पशुओं के सृष्टि आदि करने में कारण और निरोध करने योग्य हैं। निरोध करने योग्य होने के कारण ही ये ग्रन्थि नाम से अभिहित होती है। उनमें से ब्रह्मग्रन्थि हृदय में है, विष्णुग्रन्थि कण्ठ में है, रुद्रग्रन्थि तालुमूल में है, ईश्वरग्रन्थि भ्रूमध्य में है एवं सदाशिवग्रन्थि ललाट में है। इनके ऊपर भी कुछ ग्रन्थियाँ हैं, वे सब नादशक्ति-रूप हैं और निरोधिका के ऊपर स्थित हैं। उनके नाम हैं—इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति। वे भी परचित्-प्रकाश को ढँकनेवाली हैं। उनमें इन्धिका निरोधिका से स्पृष्ट वाम और दक्षिण दोनों प्रवाहों के निश्शेष प्रशमन की कारण है, एकमात्र ऊर्ध्व मार्ग में आरोहण करानेवाली होने से श्रेयोरूप है। दीपिका दीप्ति है। बैन्दव में प्रकाश की अधिकता रहती है। नाद महाग्रन्थि है, उसके अन्दर मोचिका और नादान्ता हैं। शक्ति शक्तिस्थान में स्थित चरम ग्रन्थिरूप है।

(६) तीन धाम यों है—

चन्द्र, सूर्य और अग्नि ये तीन धाम वाम, दक्षिण और मध्य स्थानों को आक्रान्त कर स्थित हैं। मानवदेह के अधिष्ठाता तीन वायुओं से तीन धाम सम्बद्ध हैं। इडा आदि मुख्य तीन नाड़ियाँ भी तीन वायुओं से नियन्त्रित हैं। वास्तव में नाड़ियाँ असंख्य हैं। वे सभी वायुओं से अधिष्ठित हैं।

जब से परा चित्शक्ति का अमृतरूप से क्षरण होता है तभी से शाक्त काय, जिसका दूसरा नाम दिव्य देह है, के निर्माण का उपक्रम सूचित होता है। यह शक्ति कौन है? यह आत्मा का धर्म है, भगवान्की स्वरूपमहिमा है और शिवकी प्राणभूत सामर्थ्य है ऐसा माना गया है। परन्तु शक्तिरूप से व्यवहृत होती हुई भी यह स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है। क्योंकि यह केवल स्वरूप में आश्रित नहीं है, किन्तु स्वरूप से अभिन्न और स्वरूप के साथ एकरस भी है। परमेश्वर की चितिरूप स्वातन्त्र्यशक्ति का अवलम्बन कर योगी जन परमपद की ओर प्रयाण करते हैं। यह विश्व की मध्यभूता है, विश्व की हृदयरूपा गुहा में अत्यन्त गुह्यातिगुह्यरूप में अवस्थित है। मनुष्य सदा श्वास-उच्छ्वास आदि द्वन्द्वों के आघात से पीड़ित रहते हैं, इस कारण वे मध्यम मार्ग से संचार करनेवाली सर्वमध्यभूत इसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। जीवदेह के जितने कार्य हैं तथा जितने चिन्तनीय विषय हैं उन सब में परस्पर विरुद्ध प्राण और अपान की वृत्तियों का संघट्ट व्याप्त है, इसलिए किसी भी उपाय से उनकी वृत्तियों को रोकना आवश्यक है। विरुद्ध शक्तियों का विरोध शान्त होने पर तुरन्त सुषुम्णा में स्थित मध्यम प्राण में पराशक्ति के संचार की भावना करनी चाहिये। यह मध्यम प्राण ही उदान नाम का प्राणरूपी ब्रह्म है, ऐसी कौलिकों की प्रसिद्धि है। यह भावना तभी सफल होगी जब उससे पहले ही देह आदि में विराजमान अहंभाव का त्याग होगा और पूर्ण अहन्ता में समावेश सम्पन्न हो जायगा। अहंभाव के विमर्शन द्वारा क्रमशः यह करना चाहिये। योगी के पूर्णाहन्तामय मूलमन्त्र के साथ पराशक्ति के सामरस्य की भावना करनी चाहिये। इस भावना के प्रभाव से प्राणादि के स्पर्श से शून्य स्पन्दन अपने आप उदित होता है। इस स्पन्दन से यथोक्त सामरस्य भी सुलभ होता है।

भावना-मार्ग जब इतनी दूर तक सिद्ध हो जाता है तब मन्त्रवीर्य का सार उदित होता है। इसीका नाम अभिमान का उदय है, यह रहस्य है। इसके पश्चात् देह, प्राण आदि परिच्छिन्न प्रमाताओं में विद्यमान अभिमान को छोड़ कर इस नवोदित अभिमान को आनन्दचक्र से उठाकर मूलाधार में अथवा कन्दस्थान में स्थापित करना चाहिये।

यहाँ तक प्रारम्भिक प्रक्रिया है। इसके बाद वेधक्रिया का अवसर आता है। उसमें पहले आधार नाम के पूर्वोक्त सोलह केन्द्रों का एक एक करके वेध करना चाहिये। सूची से जिस प्रकार किसी वस्तु का वेधन किया जाता है, उसी प्रकार इस प्रक्रिया में नाद से ही वेधन किया जाता है। इस नाद का आविर्भाव दो प्रकार से हो सकता है एक तो मन्त्रात्मक प्राणरूप से अथवा स्फुरत्ता के उन्मेषरूप से। इसमें सूक्ष्मयोग और प्रयोग दोनों अपेक्षित हैं।

यह सूक्ष्मयोग का व्यापार और कुछ नहीं है, यह स्फुरत्ता के उन्मेष की जो बात कही गई है उसका तीव्र उत्तेजनमात्र है। प्रयोग भी जब प्राणात्मक मन्त्र पूर्वोक्त उत्तेजनवश अपना स्थान छोड़कर किञ्चिद् ऊर्ध्व में सुषुम्णा मार्ग का अवलम्बन कर आरोहण करता है, उसीका नामान्तर है। इस आरोहण व्यापार में कुलशास्त्रानुसार सब आधारों तथा ग्रन्थियों का क्रमशः भेदन किया जाता है। सबके अन्त में द्वादशान्त

नामक ध्रुवस्थान का भी वेध और भेदन करना चाहिये। वेधक्रिया समावेशरूपा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। द्वादशान्त में प्रवेश से ही महामाया पर्यन्त सब बन्धनों का परिहार हो जाता है और तदुपरान्त ध्रुव पद पर स्थिति होती है। इस अन्तिम वेध के सुसम्पन्न होने पर महाव्याप्ति का आविर्भाव होता है। वह (महाव्याप्ति) नित्य उदित पराशक्ति का सामरस्य है। यहाँ तक के योग के सिद्ध होनेपर पराशक्ति के साथ अभेद स्फुरित हो जाता है। उसी का नाम परमशिव-तादात्म्य है।

कौल-प्रक्रिया का प्रथम प्रपञ्च इतना ही है। परमशिव के साथ अभेद उसका फल है। इसके बाद दूसरा प्रपञ्च है। द्वादशान्त में प्रसरणस्वभाववाली जो शक्तिधारा है, उसके द्वारा मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने से हृदय के आपूरित होने पर परमानन्द का प्राकट्य होता है। यही आनन्द परामृत का प्रवाह है, ऐसा जानना चाहिये।

यह आश्चर्य है कि परानन्द हृदय में प्रविष्ट होते ही रसायन का कार्य करता है। जब तक इसकी हृदय में विश्रान्ति रहती है तब तक भावना के बल से इसे स्व-संवेद्य करना आवश्यक है। हृदय से छलके हुए परमानन्द को प्रवाह के द्वारा चारों ओर फैलाना चाहिये, ताकि उस प्रवाह का अगणित नाड़ीतन्तुओं में संचार हो। तदुपरान्त अनुरूप ध्यान करना चाहिये।

इसके पश्चात् उस अमृत से बाहर और भीतर स्वदेह को पूरित करना चाहिये। इस प्रकार अपनी देह का अमरत्व सिद्ध हो जाने पर तीव्र वेग से इस प्रवाह को देह के रोमकूपों से बाहरी विषयों में निरन्तर फेंकना चाहिये। तदनन्तर इस शाक्तानन्द-ज्ञान से सारा जगत् आप्यायित हो गया, ऐसा ध्यान करना चाहिये। उस ध्यान से अजर-अमरभाव और आत्मसिद्धि होती है। कौलिक वाङ्मय में यह प्रक्रिया मृत्यु पर विजय पाने के लिए उपदिष्ट दिखाई देती है।

तान्त्रिक वाङ्मय में भी कहीं कहीं पर ऐसी ही एक दूसरी प्रक्रिया दिखाई देती है। उसमें मत्तगन्ध स्थान के संकोच और विस्तार रूप मुद्रा विशेष से अपनी सूक्ष्म प्राणशक्ति का उद्बोधन करना चाहिये, ऐसा पहले उपदेश दिया जाता है। तदनन्तर इस शक्ति में अधिष्ठित होकर उसके आगे की क्रियाएँ करनी चाहिये। यह स्पन्द से आविष्ट मध्यमा कला के नाम से विख्यात शक्ति कन्द नामक जन्मस्थान में सोई रहती है।

कौल प्रक्रिया में जन्मस्थान रूप से आनन्देन्द्रिय गृहीत होती है, किन्तु तान्त्रिक प्रक्रिया में वह स्थान कन्द ही है, यों दोनों मतों में भेद है।

योगी को, जब तक इसमें आवेश न हो जाय तब तक, सावधान मन से निरन्तर इस शक्ति की देखभाल करनी चाहिये। तदनन्तर भावना के बल से पैर के अँगूठे में स्थित आधार का, जो कालाग्नि का आश्रय है, अवलम्बन कर इसे ऊपर चढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह पहला पर्व है। इसके समाप्त होने पर कन्दस्थान में प्राप्त हुए शक्ति-स्पन्दरूप वीर्य का उसमें निक्षेप कर प्रस्फुट भावना के द्वारा उसका स्फुटीकरण करना चाहिये। अन्त में प्राणस्पन्दरूप क्रियाशक्ति उक्त वीर्य से आपूरित होती है।

इसका अत्यन्त उद्गम होने पर देह की मध्यभूता नाभि की प्राप्ति होती है। इसमें तीन प्रकार हैं—

एक इच्छारूप है, जिसमें संकोचक्रम से उत्पन्न ऊर्ध्वारोहण-प्रयत्न मुख्य है, किन्तु दूसरा भावना नाम का विज्ञान है और तीसरा क्रियात्मक है, जिसमें ऊर्ध्व ग्रन्थियों का भेद अथवा वेध होता है। ये ग्रन्थियाँ गुल्फ (टखना), जानु (घुटना), मेढ़ू तथा कन्द रूप जाननी चाहिये।

मूल स्पन्द के आश्रय मत्तगन्ध स्थान का बार बार संकोच विकास करने का तात्पर्य है निरोध। इसे स्वच्छन्दतन्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण समझना चाहिये।

पार्श्व में स्थित इडा और पिङ्गला नाम की दो नाड़ियों का परित्याग कर पूर्वोक्त इच्छा और ज्ञानरूप अवष्टम्भयोग से मध्य मार्ग द्वारा प्रवाहित होने वाली मध्य प्राणरूप ब्रह्मशक्ति से सुषुम्णा का आश्रयण करना चाहिये। सुषुम्णा में प्रवेश कर सब इन्द्रियार्थों (रूप, रस आदि) से विरत होना चाहिए। उस समय मायारहित विज्ञान से (चिदानन्दात्मक ज्ञानशक्ति से) क्रमशः हृदयादि स्थानों में स्थित ब्रह्मादि कारणवर्ग का अर्थात् अधिकारी पुरुषों का एक एक करके त्याग करना चाहिए। जानना चाहिए कि प्राणादि का प्राधान्य न होने से इस विज्ञान में अविद्या-लेश नहीं है। सृष्टि आदि संवेदन ही इन ब्रह्मादि अधिकारी पुरुषों का एकमात्र स्वभाव है। उसके बाद मायादि ग्रन्थियों का भेद कर हृदय आदि में स्थित पाँच आकाशों का त्याग करना चाहिए। तदुपरान्त ब्रह्मा से लेकर शिव पर्यन्त कारणवर्ग के ऊपर विराजमान समना नाम से परिचित कुण्डलशक्ति को प्राप्त करना चाहिये। उसी के गर्भ में शून्यातिशून्यपर्यन्त सम्पूर्ण विश्व कुण्डल के सदृश अवस्थित रहता है। समना शक्ति की प्राप्ति के अनन्तर विज्ञान द्वारा ऊपर की ओर विरति करनी चाहिए। यहीं पर उन्मना की प्राप्ति होती है। इसी का नाम परम सामरस्यरूप परमशिवदशा है और परमव्योमस्थिति भी यही है। पूर्णताप्राप्ति का यह साधन शास्त्रों में दिखाई देता है। कौलिक प्रक्रिया और तान्त्रिक प्रक्रिया में जो परस्पर भेद है, उसे स्वयं ही समझ लेना चाहिए। यहाँ पर उसका उल्लेख कर निबन्ध का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं है। स्वच्छन्दसंग्रह में परमव्योम स्थान द्वादशान्त के ऊपर बतलाया गया है। द्वादशान्त स्थान ललाट के ऊपर कपाल के ऊर्ध्व स्थान पर्यन्त है, किन्तु परमव्योम सिर से दो अंगुल ऊपर तक है, ऐसा गुरुपरम्परा-प्राप्त रहस्य है।

शुष्कज्ञान और दिव्यज्ञान

(प्रश्नोत्तररूप में)

जिज्ञासु—आज एक जटिल प्रश्न लेकर आपके निकट उपस्थित हुआ हूँ—प्रश्न का विषय ज्ञानतत्त्व है। आशा है, इस विषय में आप कुछ आलोचना करेंगे, जिससे इस तत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा उत्पन्न हो। शुष्कज्ञान और दिव्यज्ञान का क्या भेद है ? यही मेरी मूल जिज्ञासा है।

वक्ता—विशिष्ट योगी लोग जैसे उन्मादिनी भक्ति से दिव्यभक्ति का पृथक् निर्देश करते हैं वैसे ही वे शुष्कज्ञान से दिव्यज्ञान का भी भेद स्वीकार करते हैं। वे जो कहते हैं शास्त्र में भी वही वर्णित है। सब देशों के महात्माओं का अनुभव भी उसका साक्षी है। किन्तु गम्भीर अनुभूति एवं व्यापक दृष्टि यदि न रहे तो यह भेद समझना कठिन है। मैंने अपनी अनुभूति से इस सम्बन्ध में जो निर्णय किया है उसी का अवलम्बन कर आलोचना में प्रवृत्त होता हूँ।

जिज्ञासु—हम लोग साधारणतः जिस ज्ञान की चर्चा सुनते हैं, वह क्या शुष्क-ज्ञान है या दिव्यज्ञान ?

वक्ता—उसको शुष्कज्ञान कहना ही संगत प्रतीत होता है। वह ज्ञान विवेक से उत्पन्न होता है। आत्मा चित्स्वरूप होने पर भी अनादि अज्ञान के प्रभाव से अचित् अथवा जड़ के मुँह का कौर होकर पड़ा हुआ है। कर्म ही इसका कारण है, यह कहा नहीं जा सकता। कारण, कर्म भी इस अज्ञान से उत्पन्न है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है, माया भी जड़ है। माया सूक्ष्म है, प्रकृति उसकी अपेक्षा स्थूल है। स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण देह इस जड़ के ही कार्य या विकार हैं। देहरूप आवरण से आच्छन्न होकर आत्मा देह को ही 'मैं' मान कर अभिमान कर रहा है। यह अभिमान स्थूल में जितना स्पष्ट है, सूक्ष्म या कारण में उतना स्पष्ट नहीं है, किन्तु फिर भी वह है। सभी देह अनात्मवस्तु हैं।

अनात्मा में ज्ञाता के रूप से अथवा कर्ता के रूप से जब आत्माभिमान उत्पन्न होता है तभी से सांसारिक जीवन का सूत्रपात होता है। कर्मबीज संचित होते हैं, उनसे अनुरूप देह का ग्रहण करना पड़ता है और उस देह के द्वारा सुख-दुःखभोग निष्पन्न होता है। विपक्व बीज भोग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। फिर उस देह में भोगकाल में भी अभिमानवश नूतन कर्म उत्पन्न होते हैं। वह भी बीज-भण्डार में संचित हो जाते हैं। मृत्यु के बाद समय पर विपक्व होने पर बीज के कर्म फिर देह-धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म बार बार यह चक्र चलता रहता है। मूल अज्ञान रह ही जाता है, इसलिए कर्मरचना का भी विराम नहीं होता एवं भोग का भी विराम नहीं होता। अनादि काल से काल के राज्य में यह खेल चल रहा है। कर्म देह में उत्पन्न होता है एवं उस कर्म का फलभोग देह

से अनुभूत होता है। चौदह भुवनरूप ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही भोग का खेल चल रहा है। देह आदि में आत्मबोधरूप अज्ञान के हटे बिना किसी भी उपाय से इस चक्र से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि में जो आत्म-भावना है वही मिथ्या ज्ञान का स्वरूप है। आत्मा देह आदि से सर्वथा विलक्षण, शुद्ध चिद्रूप, अपरिणामी नित्यवस्तु है। किन्तु अज्ञानवश देह आदि में यह आत्मभाव फूट पड़ता है। यही अनात्मा में आत्मबोध है। तब अभिमान जागता है—देहाश्रित रूप से अपनेको ज्ञाता के रूप में जाना जाता है और उसके अनुरूप ज्ञेयराशि उसके ज्ञान का विषय होती है। यह ज्ञान अज्ञान का ही कार्य है। वैसे ही देहाश्रितरूप से स्वयं कर्ता होकर कर्म किया जाता है। उसी से कार्य उत्पन्न होता है। इस तरह कर्मानुष्ठान भी अज्ञान का ही फल है।

इसलिए इस भवचक्र से उद्धार पाने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। अनात्मा को अनात्मा समझ कर पृथक् रूप से जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। अनात्मा को 'मैं नहीं हूँ' यों पहिचान सकने पर ही विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ, यह कहना बनता है। यही विशुद्ध बोध है। आत्मा जो शुद्ध चिद्रूप है, वह इस बोध से ही प्रकाशित होता है। इस बोध के उदय के साथ ही साथ अनात्मसम्बन्ध हट जाता है। यही विशुद्ध चिद्भावमय अवस्था है—इस अवस्था में आनन्द की अभिव्यक्ति रहती नहीं। यह निष्क्रिय भावमात्र है। उत्तम कर्तृत्व अथवा अहंभाव इस स्थिति में रहता नहीं। अहंभाव के आत्मविश्रान्तिरूप से अभिव्यक्त होने पर उसे आनन्द नाम दिया जाता है। आनन्द ही स्वातन्त्र्य का नामान्तर है। यह शुद्ध बोध परमेश्वर के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी सब प्रकार से अभिन्न नहीं है। क्योंकि परमेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र और अखण्डबोधस्वरूप हैं, किन्तु इस शुद्धबोधमय स्थिति में स्वातन्त्र्य नहीं है। इसलिए शुद्धबोध को यह यथार्थतः भगवत्स्वरूप है यों निर्देश करना नहीं बनता। अहंभाव के बिमर्श से बिशिष्ट जो बोध है वही भगवत्ता है। शुद्धबोध दोनों में समानरूप से विद्यमान रहता है।

जिज्ञासु—दिव्यज्ञान और शुष्कज्ञान का पार्थक्य अब भी स्पष्टरूप से हृदयंगम नहीं हो रहा है। दोनों प्रकार के ज्ञानों के स्वरूप, उद्भव-प्रणाली और फल यदि निर्दिष्ट हों तो ज्ञात होता है कि अधिक सरलता से इस पार्थक्य को बुद्धि में आरूढ़ कर सकूँगा।

वक्ता—विशेष मनोयोग के साथ सुनने पर मुझे आशा है कि तुम दोनों ज्ञानों के पार्थक्य को अनायास ही समझ सकोगे। देखो, शुष्कज्ञान चिदचिद्विवेक से उत्पन्न होता है। इसी का नाम अहङ्कारग्रन्थि या हृदयग्रन्थि का भेद है। अवस्था विशेष में उत्कट वैराग्य, संन्यास, उपासना आदि से भी यह उत्पन्न हो सकता है। यह ज्ञान अग्निस्वरूप है। कर्मबीज को दग्ध करना ही इसका स्वभाव है। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, मन्त्रजप, भजन आदि के प्रभाव से कर्माशय तनु होता है। उसके उपरान्त ज्ञानाग्नि उस तनु अवस्था को प्राप्त हुए कर्मबीज को जला डालती है। यह ज्ञान बिवेक-ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सत्त्व से विविक्त-स्वरूप पुरुष का

ज्ञान ही बीज का दाहक है। अज्ञान अर्थात् देहादि में अहंबोध रहने पर कर्माशय विपाक को प्राप्त होता है, किन्तु ज्ञान का उदय होने पर कर्माशय जल जाता है। यह शुष्कज्ञान चित्त का धर्म है। उपाय के अवलम्बन से अपने से वह प्रकट होता है और अज्ञान का नाश करता है। बाद में यह स्वयं निवृत्त हो जाता है। तब केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा की स्थिति रहती है। यही कैवल्य या मुक्ति है। यह जन्म-मृत्यु की अतीत अवस्था है। यह पुरुष निष्क्रिय चित्स्वरूप है—इसमें आनन्द नहीं है, गुणरूप से भी नहीं और स्वरूप से भी नहीं है। सत्त्वगुण के साथ जब चिदात्मक पुरुष का सम्बन्ध था तब अवश्य आनन्द था, किन्तु इस समय अब वह नहीं है।

किन्तु दिव्य ज्ञान इस प्रकार का नहीं है। यह एकमात्र भगवान् के अनुग्रह से ही उत्पन्न होता है, यह अपनी साधना से उत्पन्न नहीं होता। भगवान् ने क्रीडा के व्याज से अपने को संकुचित कर पशु या जीव के रूप में स्वाँग रचा है। जो महान् हैं वे अणु बने हैं, जो सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं वे अल्पज्ञ और अल्पकर्ता हुए हैं, जो नित्य और विभु हैं उन्होंने काल और देश का आवरण ग्रहण किया है एवं जो आप्तकाम और नित्यतृप्त हैं वे अपने को अपूर्ण समझ कर अपने से अतिरिक्त और कुछ प्राप्ति के लिए कामनायुक्त हुए हैं। इस प्रकार महान् पुरुष के संकोच ग्रहण करने पर माया और कर्मरूप दो पाश (फन्दे) उन्हें बाँधते हैं। पूर्ववर्णित संकोच के कारण स्वभाव-सिद्ध अभेदज्ञान ढँक जाता है, किन्तु भेदज्ञान तब भी आता नहीं। माया का आवरण ग्रहण करने के उपरान्त भेदज्ञान का उदय होता है। उसके बाद कर्म के प्रभाव से कर्तृत्व-अभिमान का उदय होता है और कर्मों के अनुष्ठान से कर्मजनित सुख और दुःख का भोग करना पड़ता है। कर्म करना और उसका फलभोग करना दोनों देहसापेक्ष हैं। यह देह मायिक उपादानों से रचित होती है। कारणदेह, सूक्ष्मदेह और स्थूलदेह देह के ही विभिन्न प्रकारमात्र हैं। जब तक स्थूलदेह का विकास पूर्णरूप से नहीं होता तब तक कर्म भी ठीक तरह से नहीं होता और उसका फलभोग भी ठीक ठीक नहीं हो सकता।

निवृत्तिमार्ग में लौटने के समय माया और कर्म की निवृत्ति हो जाने पर भी पशुभाव अथवा जीवभाव निवृत्त नहीं होता। कर्म अज्ञान से उत्पन्न है, यह पहले ही कह आये हैं। इस अविवेकरूप अज्ञानके हट जाने पर कर्तृत्व-अभिमान नहीं रहता। इसीलिए कर्म भी नहीं रहता। इसके फलस्वरूप पुनः पुनः देहग्रहणरूप संसार भी निवृत्त हो जाता है। मृत्युराज्य से जीव का उद्धार हो जाता है एवं कर्म का अभाव होने से मृत्युराज्य में पतन की सम्भावना नहीं रहती। यह अचित् से मुक्त शुद्धबोध की अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं। यह मुक्ति कही जाती है एवं इस अवस्था को मुक्ति कहने में कोई दोष भी नहीं है। क्योंकि इसमें संसार का बन्धन सदा के लिए कट चुका रहता है एवं उस बन्धन के पुनः उद्भव की सम्भावना भी नहीं रहती।

किन्तु इस अवस्था में भी आत्मा का पशुभाव हटता नहीं, आत्मा को भगवत्ता प्राप्त नहीं होती, यहाँ तक कि आत्मा का भगवत्-राज्य में प्रवेश भी नहीं होता, पूर्ण महेश्वरत्व की प्राप्ति तो दूर की बात रही।

जिज्ञासु—अविवेक की निवृत्ति होने पर आत्मा की जब स्वरूप में स्थिति होती है उस समय की अवस्था कैवल्य कही जाती है। इस अवस्था में क्या स्थितिगत भेद रहने की सम्भावना है?

वक्ता—विशुद्ध कैवल्य एक ही है, उसमें किसी प्रकार के भेद की आशंका नहीं है। पर अचित् या जड़ सत्ता के स्थूल आदि भेद माने जाते हैं, इसलिए उस सत्ता से विवेक प्राप्त करना भी भिन्न भिन्न रूपों से वर्णित है। जड़ के प्रकृति, माया और महामाया ये मुख्य तीन स्तर हैं। इनमें प्रकृति स्थूल और त्रिगुणात्मक है। माया सूक्ष्म है, यह निर्गुण और मलिन है। महामाया सूक्ष्मतम है, यह विशुद्ध अवस्था होने पर भी अचित् की ही अवस्था है, यह स्मरण रखना चाहिये। साधारण आत्मा पशुभाव से ही महामाया के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकती। प्रकृति और माया के राज्य में जो अज्ञान रहता है, उससे भिन्न प्रकार का अज्ञान महामाया के राज्य में खेल खेलता है। अनात्मा में आत्मबोध ही अज्ञान का स्वरूप है, यह हम पहले ही बतला आये हैं। यह अज्ञान प्रकृति और माया के राज्य में व्यापकरूप से विद्यमान रहता है। इस अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर अर्थात् 'केवल' ज्ञान का उदय होने पर जो शुद्धबोधरूप स्थिति प्राप्त होती है उसमें पशुत्व निवृत्त न होने पर भी संसार और जन्म-मृत्यु का चक्कर सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। इस कैवल्य अवस्था की चर्चा हम पहले कर आये हैं।

जिज्ञासु—इसके बाद भी क्या कैवल्य अवस्था है? यदि है तो उसका हेतुभूत विवेकज्ञान किस प्रकार का है?

वक्ता—इन दो प्रकार के कैवल्यों के ऊपर उत्तम कैवल्य का स्थान है, यह जानना चाहिये। उस अवस्था में आत्मा को महामाया से भी अपने स्वरूपका पृथक् रूप से साक्षात्कार होता है। किन्तु यह अवस्था साधारण जीव के लिए तो दूर की बात है केवली के लिए भी अतिदुर्लभ है। इसका कारण यह है कि महामाया-देह प्राप्त हुए बिना उस देह से पृथक् रूप से अपने को जानने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

महामाया की देह एकमात्र भगवान् के अनुग्रह के बिना प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है। यह अधोवर्ती काल के राज्य की देह नहीं है। कुण्डलिनी शक्ति जागकर चिन्मय ज्योति द्वारा इस देह की रचना करती है। सद्‌गुरु के कृपाकटाक्ष के बिना सुप्त महामाया क्षुब्ध नहीं होती और देह की रचना भी नहीं करती। इस देह का Spiritual Body नाम से St. Paul, St. John आदि प्राचीन पाश्चात्य साधकगण निर्देश कर गये हैं। गुरु-शक्ति की क्रिया के बिना यह देह उत्पन्न ही नहीं होती। मलपाक, कर्मसाम्य आदि निमित्तों की सहायता से अथवा निमित्तों के बिना परमेश्वर के स्वातन्त्र्य अथवा श्रीभगवान् की अनुग्रहशक्ति का संचार होने पर विशुद्ध महामाया से यह देह रचित होती है एवं दीक्षार्थी शिष्य को यह प्राप्त होती है। इस देह के द्वारा शुद्ध आत्मकर्म का अनुष्ठान होता है एवं विशुद्ध वासना क्षय का उपयोगी मार्ग खुल जाता है। इस देह का कार्य सम्पन्न हो जाने पर इसके प्रति भी वैराग्य

हो जाता है एवं अपना आत्मस्वरूप, जो इससे भी भिन्न है, अनुभूत होता है। यही श्रेष्ठ कैवल्य अवस्था है। पूर्वोक्त दोनों प्रकार के कैवल्यों से इसका अधिक उत्कर्ष है। महामाया की देह को बैन्दव देह कहते हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप, जो इससे भी भिन्न है, इस कैवल्य में ही प्रतिष्ठित है।

जि०—जिसे शिवत्व अथवा भगवत्ता कहा गया है वही क्या वह अवस्था है?

व०—नहीं, भगवत्ता या शिवत्व आत्मा का परम स्वरूप है। आंशिकरूप से महामाया-देह की प्राप्ति के साथ-साथ वह अधिगत होता है, किन्तु उसकी पूर्ण प्राप्ति महामाया-देह रहने तक हो नहीं सकती। महामाया-देह की प्राप्ति दिव्यज्ञान से हो सकती है। वह शुष्कज्ञान का कार्य नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि दिव्य-ज्ञान भगवत्-अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है। दिव्यज्ञान के प्रभाव से ही पशुत्व निवृत्त होता है एवं शिवरूपी आत्मा फिर शिवधर्म से युक्त होती है। महामाया के राज्य में इस व्यापार की सूचना होने पर भी पूर्णाभिषेकरूप पूर्णत्व-लाभ नहीं होता। हम पहले अनात्मा में आत्मबोधरूप अज्ञान की चर्चा कर चुके हैं। किन्तु आत्मा में अनात्मबोधरूप अज्ञान भी विद्यमान है। पूर्ण शिवत्व के पहले उसकी भी निवृत्ति होना आवश्यक है। वह प्रकृति के राज्य में अथवा माया के राज्य में अर्थात् अधोवर्ती काल के राज्य में हो नहीं सकती, यहाँ तक कि कैवल्य अवस्था में भी नहीं हो सकती। क्योंकि कैवल्य अवस्था विदेह अवस्था है,—विदेह-दशा में कर्म की सम्भावना नहीं रहती। ज्ञान और क्रिया दोनों के सम्मिलन से ही दिव्यज्ञान का विकास होता है। अतः दिव्यज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञान की पूर्णता होने पर भी क्रियाशक्ति की पूर्णता धीरे-धीरे क्रमशः होने के कारण परिपूर्णता प्राप्त नहीं होती। क्रियाशक्ति का विकास हुए बिना स्वातन्त्र्य का विकास कैसे होगा? स्वातन्त्र्य-शक्ति की अभिव्यक्ति के बिना परमेश्वरत्व असम्भव है। दिव्यज्ञान के पथ पर सम्यक् आत्मज्ञान का उन्मेष होता है, इसलिए पहले सर्वज्ञत्व-लाभ करके भी उसी समय साथ ही साथ इष्टसिद्धि नहीं होती, पूर्ण महेश्वरत्व का भी उदय नहीं होता। वह ज्ञान के बाद क्रियाशक्ति के क्रम-विकास से धीरे-धीरे होता है। इस क्रियाशक्ति के विकास के साथ-साथ ही आत्मा में अनात्म-बोधरूप अज्ञान कट जाता है। आत्मा में आत्मबोध ही पूर्ण अवस्था या सम्यक् ज्ञान है। अविवेकरूप अज्ञान बीजभूतरूप में उस समय भी जो रहता है, उसके कट जाने पर विशुद्ध विज्ञान कैवल्य का उदय होता है। यही आत्मस्वरूप की विशुद्धतम स्थिति है, वस्तुतः यही आत्मा का निष्क्रिय शवभाव है। अभिषेक के फलस्वरूप विशुद्ध चित्शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। तब वह शव शिवरूप में अपने को प्रकट करता है। यह शिव ही महेश्वर हैं। दीक्षाकाल में अर्थात् दिव्यज्ञान के उन्मेष के समय जिस सम्यक् ज्ञानशक्ति का संचार हुआ था, वह इस अवस्था में पूर्ण क्रियाशक्ति के साथ अभिन्न होकर इच्छाशक्ति के रूप में प्रकट हो आत्मा में स्थान-लाभ करती है। यह इच्छाशक्ति ही परमेश्वर का पूर्ण स्वातन्त्र्य अर्थात् श्रीभगवान् की पूर्ण भगवत्ता है। अवश्य इच्छा की अतीत स्थिति भी है, पर वह अव्यक्त है।

जि०—ऐसी स्थिति में ज्ञात होता है कि अज्ञान जैसे दो प्रकार का है, अज्ञान

का विरोधी ज्ञान भी वैसे ही दो प्रकार का है। प्रथम ज्ञान का नाम शुष्कज्ञान और द्वितीय ज्ञान का नाम दिव्यज्ञान। क्या यह ठीक नहीं है?

व०—यह सत्य है। शुष्कज्ञान से भगवत्ता की प्राप्ति तो होती ही नहीं, श्रीभगवान् के राज्य में सेवकरूप में भी प्रवेश नहीं किया जा सकता। फिर भी वह व्यर्थ नहीं है, क्योंकि कर्मबीज का नाश कर तथा माया को तिरोहित कर विशुद्ध बोधरूप में आत्मा को प्रतिष्ठित करना उसी का कार्य है। इस अवस्था में संसार में पतन की आशंका नहीं रहती, यह सत्य है। किन्तु ऊपर उत्थान की भी सम्भावना नहीं रहती।

जि०—शुष्कज्ञान का पथ अलग है और दिव्यज्ञान का पथ अलग है। दोनों के फल भी पृथक् हैं। महत्त्व के विषय में भी दोनों का तारतम्य है।

व०—विवेक या वियोग के पथ पर शुष्कज्ञान का उदय होता है, योग के पथ पर दिव्यज्ञान का उदय होता है। महत्त्व दिव्यज्ञान का ही अधिक है, क्योंकि शुष्कज्ञान का जो लक्ष्य है, वह दिव्य ज्ञान से भी सिद्ध हो सकता है—वस्तुतः वह होता ही है। किन्तु शुष्कज्ञान से दिव्यज्ञान का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। शुष्कज्ञान से जिस अज्ञान की निवृत्ति होती है उससे कर्मबन्धन स्थगित किया जाता है एवं आत्मा काल के चक्कर से मुक्ति पाता है। यह स्थिति अवश्य ही ज्ञान की ही स्थिति है। जागतिक दृष्टिकोण से देहबीज तक नष्ट होते हैं, इसलिए फिर देहान्तर भी प्राप्त नहीं होता। किन्तु भगवान् के साथ योग-लाभ (मिलन) नहीं होता—भगवत्ता तो दूर की बात रही।

श्री श्री नवमुण्डी महासन

भारत वर्ष के, विशेषतः बङ्ग देश के, साधकों के लिए पञ्चमुण्डी आसन का नाम सुपरिचित है। परमहंस रामकृष्ण, साधक रामप्रसाद, साधक कमलाकान्त आदि सभी ने पञ्चमुण्डी आसन पर बैठ कर साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। इस समय भी बङ्ग देश के बहुत स्थानों में यहाँ तक कि बङ्ग देश के बाहर भी किसी किसी विशिष्ट तीर्थ स्थान में, किसी किसी सिद्ध साधक का पञ्चमुण्डी आसन विद्यमान है।

पञ्चमुण्डी आसन की चर्चा तन्त्रशास्त्र में थोड़ी-बहुत दीख पड़ती है। उसी प्रकार त्रिमुण्डी तथा एकमुण्डी आसन की चर्चा भी तन्त्रशास्त्र में यत्र तत्र की गई है। पञ्चमुण्डी आसन में कौन कौन पाँच सामग्रियाँ पञ्चमुण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं, उसका भी वृत्तान्त साधकसमाज में अपरिचित नहीं है।

किन्तु पञ्चमुण्डी आसन वास्तव में क्या है यह बहुतों को अवगत नहीं है। साधारण साधक के लिए आसन का विचार आवश्यक होने पर भी उतना आवश्यक नहीं है, किन्तु योगी के लिए आसनतत्त्व एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है। क्योंकि इसके समाधान के ऊपर ही साधक की सिद्धि की उत्कर्षमात्रा निर्भर है। पर यह सत्य है कि आसन-रहस्य न जानने पर भी अनेक लोग पञ्चमुण्डी आसन के माहात्म्य को भली भाँति जानते हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि नवमुण्डी आसन का नाम तक आज भी किसी दूसरे ने कहीं भी सुना नहीं होगा। परमाराध्यपाद श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव द्वारा श्रीकाशीधामस्थित अपने आश्रम में श्री श्री नवमुण्डी आसन की स्थापना होने के अनन्तर अल्पाधिक मात्रा में इस आसन का नाम चारों ओर प्रसारित हुआ है। किन्तु इसका स्वरूप क्या है, इसका माहात्म्य क्या है एवं पञ्चमुण्डी आसन के साथ इसका सम्बन्ध क्या है? ये जटिल प्रश्न इस समय भी प्रायः दुर्बोध्य ही हैं। जो लोग बहिरङ्ग हैं उनके लिए इस तत्त्व का ज्ञान होना सम्भव नहीं, यह सत्य है, किन्तु श्री श्री परमहंसदेव के अन्तरङ्ग भक्तों में भी बहुत लोगों ने इस तत्त्व की भली भाँति आलोचना की है या नहीं, यह मैं नहीं जानता।

परमहंसदेव के तिरोभाव के कुछ अधिक दो वर्ष पूर्व इस आसन की स्थापना हुई थी। स्थापना के बाद आलोचना के सिलसिले में एक दिन उन्होंने कहा था, "चालीस वर्ष से भी अधिक समय के कठोर परिश्रम के बाद आज हम इस महासन की स्थापना में समर्थ हुए हैं। श्रीकाशीधाम ज्ञानक्षेत्र है, इसलिए इसी क्षेत्र में महाविज्ञान का केन्द्रस्वरूप यह महासन स्थापित हुआ। संकल्पित विज्ञानमन्दिर की कार्यकारिणी शक्ति का मूल स्रोत यही महासन है। इसकी शक्ति असीम है। यह क्रमशः फैल कर समय आने पर विश्व को व्याप्त करेगा। विज्ञानों की अर्थात् सूर्यविज्ञान आदि सब विज्ञानों की

सफलता के सम्बन्ध में अब कोई सन्देह रहा नहीं।" नवमुण्डी आसन परम पवित्र और अत्यन्त महनीय है। इसका तत्त्व इतना गुह्य है कि साधारणतः इसके सम्बन्ध में परमहंसदेव किसी से भी विशेष कुछ कहते न थे। लौकिक कामनाओं की सिद्धि की असाधारण सामर्थ्य इसमें है, यह वे कहते थे, किन्तु लोकोत्तर परम सिद्धि के मूल में यही एकमात्र महाशक्ति के रूप में कार्य करती है एवं करेगी यह वे विशेष अन्तरङ्ग भक्तों के सिवा और किसी से भी अभिव्यक्त नहीं करते थे। क्योंकि यह सब के समझने का विषय नहीं है एवं सब के लिए इसको जानना भी आवश्यक नहीं है।

(२)

वर्तमान प्रबन्ध में नवमुण्डी आसन का तात्पर्य क्या है ? इसका विश्लेषण करने की मैं चेष्टा करूँगा। श्रीगुरुकृपा से इस सम्बन्ध में मुझे जितनी जानकारी प्राप्त है शास्त्रीय परिभाषा का अवलम्बन कर यथासम्भव सरलता से उसी की आलोचना करने की मैं चेष्टा करूँगा। यदि किसी अंश में भ्रम या त्रुटि दीख पड़े तो वह मेरी अपनी धारणा और प्रकाश की सामर्थ्य की न्यूनता से हुई है ऐसा समझना चाहिए। विषय अत्यन्त कठिन है। सरलता से आलोचना करने पर भी सम्भव है यह अनेकों की समझ में आने योग्य न हो, किन्तु ऐसा होने पर भी आलोचना से विरत रहना उचित नहीं, ऐसा सोच कर मैं आज इस दुरूह विश्लेषण कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। पञ्चमुण्डी आसन के साथ नवमुण्डी आसन का क्या सम्बन्ध है, यह इस आलोचना से ही ज्ञात हो सकेगा।

'आसन' और 'आसीन' इन दो शब्दों का साधारणतः हम प्रयोग करते हैं। आसन पर आसीन होकर अर्थात् उपविष्ट होकर योगसाधन कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। साधारणतः आसन कहने से बाहरी किसी आस्तरण की प्रतीति होती है। कुशासन, कम्बल, गलीचा, अजिन, व्याघ्रचर्म, सिंहचर्म आदि बहुत प्रकार के बाहरी आसन मानवसमाज में प्रचलित हैं। आसन पर बैठने पर योगाङ्ग आसन का अनायास सम्पादन किया जा सकता है एवं उससे प्राणायाम और चित्त का एकाग्रता-साधन सहज होता है, इसलिए आसन का व्यवहार होता है। प्रकृति के अनुसार जिन लोगों के लिए जो आसन उपयोगी होता है, गुरु और शास्त्र उनके लिए उसी की व्यवस्था कर देते हैं। प्रचलित तान्त्रिक साहित्य में एवं योग-साधन के ग्रन्थों में सिद्धासन, पद्मासन आदि बहुत से बाह्य आसनों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। यहाँ उनका उल्लेख निष्प्रयोजन है। आसनों की उपयोगिता की दृष्टि से तन्त्रशास्त्र में शवासन की भी व्यवस्था है। तान्त्रिक साधना में शास्त्र के निर्देशानुसार आसन के उपयोगी शव का वर्णन दिखाई देता है। आत्मिक तेज के विकास के लिए बहिरङ्ग कुश, कम्बल आदि के आसनों की अपेक्षा शवासन अधिक उपयोगी है। किन्तु वह सब के लिए नहीं है, किसी किसी विशिष्ट साधना के लिए ही वह आवश्यक होता है।

वास्तव में शवासन शब्द से शवीकृत अपनी देह समझनी चाहिए अर्थात् अपनी देह को शवरूप में परिणत कर देहस्थ चैतन्य के उसके ऊपर अधिष्ठान करने पर

वह शवरूपी देह होती है 'आसन' और उसका अधिष्ठाता चैतन्य होता है 'आसीन'। यह आसन और आसीन का योग योगसाधना में नित्यसिद्ध है, पर साधना के उत्कर्ष के साथ साथ इसकी भूमि क्रमशः अधः से ऊर्ध्व की ओर उत्थित होती है।

(३)

आगम की परिभाषा से समग्र विश्व छत्तीस तत्त्वों द्वारा निर्मित है। इन छत्तीस तत्त्वों का भेद कर जब तक इनके ऊपर न उठा जा सके तब तक विश्व का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। विश्व में एकांश में नीचे और ऊपर अनेक स्तर हैं। ये सब स्तर विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न अण्डों के रूप में योगियों के समाज में परिचित हैं। एक एक अण्ड में एक से अधिक भुवन स्थित रहते हैं एवं अन्तर्वर्ती वे सब भुवन किसी विशिष्ट तत्त्व अथवा तत्त्वसमष्टि द्वारा विरचित हैं। हम लोगों का जिस जगत् के साथ परिचय है वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है। यह ब्रह्माण्ड तथा इसके अन्तर्गत सब भुवन प्रधानतः पृथिवीतत्त्व से बनाये गये है। पौराणिक लोग ब्रह्माण्ड का चतुर्दश भुवनात्मक के रूप में वर्णन करते हैं। इन चतुर्दश भुवनों में अवान्तर भुवन कितने हैं इसकी गिनती नहीं की जा सकती। इनमें नरक अथवा निरयस्थान और पाताल ये दो अधोराज्य के अन्तर्गत हैं। नरक के बहुत प्रकार के भेद हैं, पाताल के भी विभिन्न प्रकार के भेद हैं; किन्तु दोनों ही अधोलोक के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक लोक या भुवन के निर्दिष्ट अधिष्ठाता हैं। नरकों में अवीचि नाम का स्थान घोर अन्धकार से आच्छन्न है—वहाँ आलोक की किरणरेखा तक कभी प्रविष्ट नहीं होती। पाताल-समूह यद्यपि अधोलोक हैं फिर भी वहाँ एक व्यापक प्रकाश दिखाई पड़ता है—उसे मणि-मुक्ता का प्रकाश एवं कुछ अंशों में अग्नि-ज्योति का प्रकाश समझना चाहिए। पाताल के ऊपर भूतल है, भूतल के ऊपर अन्तरिक्ष एवं अन्तरिक्ष के ऊपर स्वर्ग है। स्वर्ग एक नहीं, बहुत हैं। इन सब स्वर्गों में जो निम्नतम स्तर का स्वर्ग है, उसमें देवराज इन्द्र शासनकर्ता के कार्य में नियुक्त हैं। ऊपरी स्वर्ग उस प्रकार के किसी शासनकर्ता के अधीन नहीं हैं। ये एक प्रकार से भोगलोक होने पर भी वास्तव में ज्ञानयुक्त कर्म के फलभोग के स्थान हैं। इसीलिए ये अन्य दृष्टि से मुक्तिक्षेत्र के रूप में भी परिगणित होते हैं। महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये कई लोक ऊपरी स्वर्ग या द्युलोक के नाम से परिचित हैं। त्रिगुण के अधिष्ठाता त्रिदेव ईश्वर ऊर्ध्वस्थित सत्यलोक में अवस्थान करते हैं। अवीचि के निम्नप्रदेश से लेकर सत्यलोक के ऊर्ध्वतम प्रदेश तक एक ही अण्ड के अन्तर्गत हैं। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, इसीलिए इस अण्ड का ब्रह्माण्ड के नाम से निर्देश किया जाता है। बाहरी जगत् में जैसे ब्रह्माण्ड है वैसे ही मनुष्य के देहरूप अन्तर्जगत् में भी ब्रह्माण्ड है, अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों स्तरों की बनावट एक ही प्रकार की है।

जो योगी अपनी देह की ब्रह्माण्ड के रूप में धारणा कर सकते हैं (इसका नाम वैराज धारणा है) एवं इस धारणा से अपने को इस ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता के रूप में पहिचान सकते हैं, वह तब ब्रह्मा के समकक्ष होते हैं। ब्रह्मा जैसे ब्रह्माण्डरूप देह के

अभिमानी हैं पिण्डावच्छिन्न आत्मा भी तब वही हैं। इस अवस्था में योगी का पद ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ के पद से साम्ययुक्त होता है। इस योगी को यदि ब्रह्मा कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी।

किन्तु जो योगी अपनी चैतन्यसत्ता को ब्रह्माण्ड के तादात्म्यसम्बन्ध से छिन्न कर ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करने अथवा भेद करने में समर्थ होते हैं तथा ब्रह्माण्ड का त्याग नहीं करते, किन्तु अपने साथ युक्त कर रखते हैं वह असाधारण और उत्कृष्ट योगी हैं। ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित चैतन्य के ब्रह्माण्ड से निष्क्रान्त होने पर ही समग्र ब्रह्माण्ड तब शवरूप में परिणत होता है। इस ब्रह्माण्ड के ऊपर जो योगी अधिष्ठित होते हैं वह ब्रह्माण्ड के भी अतीत हैं। वह ब्रह्माण्डरूपी अपनी काया को शवरूप में परिणत कर उसके ऊपर स्वयं आसीन होकर ध्यान में मग्न होते हैं। ब्रह्मा तब प्रेत हैं और ब्रह्मा का शरीर आसन होता है। वास्तव में इसी आसन का नाम एकमुण्डी आसन है। ब्रह्माण्ड एक नहीं है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड महाशून्य में झूल रहे हैं। किन्तु सभी ब्रह्माण्ड प्रधानतः पृथिवी तत्त्व द्वारा विरचित हैं। इसलिए एकमुण्डी आसन के योगी पृथिवी तत्त्व का जय कर उसके नियामक होते हैं, यही उनका ऐश्वर्य है। यद्यपि कोटि कोटि ब्रह्माण्ड उनके आयत्त रहते हैं फिर भी ब्रह्माण्ड के ऊपर उनकी गति नहीं होती। यह सही है कि वह योगी ब्रह्माण्ड का भेद कर चुके हैं, किन्तु पृथिवीतत्त्व के ऊपर चढ़ने की सामर्थ्य उनमें नहीं है—पृथिवी के ऊपर का कोई भी तत्त्व उनके आयत्त नहीं है। इसलिए उनका विराट् ऐश्वर्य रहते भी उनका बहुत कर्म शेष रह जाता है। एकमुण्डी आसन पर कर्म करने का तात्पर्य ही यह है कि जलतत्त्व से आरम्भ कर आगे के सब तत्त्वों को क्रमशः आयत्त करना।

(४)

ब्रह्माण्ड एक स्तरमात्र है एवं इसके चारों ओर सामान्यतः पृथिवीतत्त्व विराजमान है। इसलिए योगी के निकट 'पृथिवी' शब्द का अर्थ साधारण लोगों की परिचित पृथिवी से भिन्न है। व्यष्टि और समष्टि रूप से सभी ब्रह्माण्ड पृथिवी के अन्तर्गत हैं। ब्रह्माण्ड के बाहर अथवा ऊपर ब्रह्माण्ड से भी विशाल जो अण्ड विद्यमान है, वह प्रकृत्यण्ड है। वास्तव में इस विशाल प्रकृत्यण्ड में छोटे छोटे बालूकणों की तरह सब ब्रह्माण्ड तैरते हैं। योगी योगमार्ग में प्रवेश कर कर्म के प्रभाव से इस अण्ड को भी अपने वश में ले आते हैं। ब्रह्माण्ड के तुल्य प्रकृत्यण्ड भी विचित्र है। ये सब अण्ड प्रकृति के अन्तर्गत हैं एवं जलतत्त्व से प्रकृतितत्त्व तक विभिन्न तत्त्वों के सम्मिलित स्वरूप से ये रचित हैं। इन अण्डों के अधिष्ठाता को विष्णु कहते हैं। ये विष्णु सत्यलोक के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड की रक्षा करनेवाले विष्णु से सर्वथा भिन्न हैं।

जो योगी अपनी देह को प्रकृत्यण्ड के साथ अभिन्नरूप से ग्रहण करने में समर्थ होते हैं एवं उसके फलस्वरूप अपने को प्रकृत्यण्ड के अभिमानी विष्णु से अभिन्न मानते हैं वे पूर्वोक्त योगियों से उत्कृष्ट हैं, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु प्रगतिशील योगी का लक्ष्य इस जगह बँधता नहीं। प्रकृत्यण्ड में व्याप्त चैतन्य को संकुचित कर

प्रकृत्यण्ड का भेद कर सकने पर यह अण्ड भी ब्रह्माण्ड के तुल्य शवरूप में परिणत होता है। तब वह अण्डभेदी चैतन्यसम्पन्न योगी शवरूप आसन में परिणत प्रकृत्यण्ड पर बैठकर योगक्रिया में प्रवृत्त होता है। इस योगी को द्विमुण्डी आसन साधक योगी कहा जा सकता है। ब्रह्माण्डभेदी योगी से प्रकृत्यण्डभेदी योगी का स्थान बहुत ऊपर है। चौबीसों तत्त्व इस योगी के आयत्त रहते हैं एवं योगी के संकल्प के अनुसार इन सब तत्त्वों का परिणाम होता है।

(५)

अण्डों में प्रकृत्यण्ड ही अन्तिम नहीं है। प्रकृत्यण्ड भी वस्तुतः एक नहीं है। लौकी की लता के सहारे जैसे बहुत लौकियाँ झूलती रहती हैं वैसे ही माया के सहारे से असंख्य प्रकृत्यण्ड प्रकाशित होते हैं। यह माया भी अण्डाकार से सब प्रकृत्यण्डों को वेष्टित कर उनके मूल उपादान, भित्ति एवं वेष्टन-प्राचीर के रूप में विद्यमान रहती है। माया का घेरा अत्यन्त विशाल है, यह तमोमय, अविद्यामय और दुर्भेद्य है। दूर से देखने में प्रतीत होता है कि यह मायाराज्य एक विशाल कारागार है, इसके बाहर गये बिना मुक्ति का आस्वाद पाया नहीं जा सकता। मायाका प्रधान लक्षण ही भेदज्ञान है। इसलिए मायाण्ड के अन्तर्गत असंख्य प्रकृत्यण्ड हैं एवं प्रत्येक प्रकृत्यण्ड के अन्तर्गत असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। सर्वत्र ही मायाकृत यह भेदज्ञान निरन्तर जाग्रत् रहता है। जब तक भेदज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक मायाण्ड के बाहर जाने का अधिकार उत्पन्न नहीं होता। पुरुष तथा सपरिवार माया इन दोनों के सम्मिलन से समग्र मायाण्ड की रचना हुई है। वास्तव में मायावच्छिन्न पुरुष ही मायाण्ड की प्राणशक्ति है। माया मुख्यरूप से स्वरूपशक्ति को आवृत कर रखती है। शिवस्वरूप दिव्य आत्मा की स्वभावसिद्ध पाँच शक्तियाँ हैं। उनकी अनन्त शक्ति इन्हीं पाँच शक्तियों का अनुवर्तन करती है। ये पाँचों शक्तियाँ उनके स्वरूप से अभिन्न हैं। इन पाँच शक्तियों के सहयोग से शिवरूपी आत्मा नित्य, विभु, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता तथा आप्तकाम हैं। किन्तु जब आत्मा अपने अन्तर्निहित और स्वरूपभूत स्वातन्त्र्यशक्ति के उन्मेष से क्रिया करने में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् लीलामञ्च में अभिनय के लिए खड़े होते हैं तब वे अपनी पूर्ण स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा ही अपने स्वरूपभूत नित्यत्व आदि धर्मों को आच्छादित करते हैं, क्योंकि यदि ऐसा न करें तो लीला में प्रविष्ट होना नहीं बनेगा। इसके फलस्वरूप जो नित्य हैं वे नित्य रहकर भी लीला के बहाने अनित्य का स्वाँग करते हैं। इस प्रकार का स्वाँग ग्रहण करने में माया की आवरणरूप जिस शक्ति का व्यवहार किया जाता है उसे कालशक्ति कहते हैं। जो काल के अतीत हैं वे खेलने को उद्यत होने की इच्छा करके ही काल के अधीन होते हैं। उसी प्रकार जो स्वभावतः विभु अर्थात् सर्वव्यापक हैं वे स्वस्वरूपभूत इस विभुत्व धर्म को नियतिशक्ति के द्वारा आच्छन्न करते हैं। नियति भी माया का दूसरा एक अंग है। शिवरूपी आत्मा स्वभावतः ही सर्वज्ञ हैं। आत्मा सभी वस्तुओं को अपने से अभिन्न रूप में जानते हैं एवं उनका यह ज्ञान अपरिच्छिन्न है। इसको आत्माका स्वरूपसर्वज्ञत्व कहते

हैं। किन्तु यह सर्वज्ञत्व परिच्छिन्न होकर लीलाभूमि में अल्पज्ञत्व के रूप में परिणत होता है। इसी लिए पशुपति शिव सर्वज्ञ होते हुए भी अभिनयस्थल में पशुरूपी जीव होकर अल्पज्ञ हुए हैं, यह सब जानते हैं।

माया की अङ्गभूत जिस आवरण शक्ति से ज्ञान का यह आच्छादन कार्य सम्पन्न होता है उसका नाम अशुद्ध विद्या है। आत्मा स्वभावतः सर्वकर्ता अर्थात् क्रिया-शक्ति के पूर्ण अधिष्ठाता हैं। किन्तु लीलाभूमि में यह सर्वकर्तृत्व नामक स्वरूप-धर्म तिरोहित हो कर अल्पकर्तृत्व के रूप से अपने को प्रकट करता है। माया के जिस अङ्ग के द्वारा इस प्रकार का परिच्छिन्नभाव सम्पन्न होता है उसे कला कहते हैं। आत्मा स्वरूपावस्था में अखण्ड आनन्द में नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं, इसलिए वह अभावरहित और सब आकांक्षाओं से रहित हैं। इसलिए उन्हें आप्तकाम कहा जाता है। उनकी कोई कामना अपूर्ण नहीं है, इसलिए वे आप्तकाम अथवा नित्यतृप्त हैं। किन्तु इस नित्यतृप्त अवस्था में अभिनयभूमि में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसलिए उनमें अतृप्ति न रहने पर भी वे क्रीडा करने के लिए अपने में कृत्रिम अतृप्ति की रचना कर लेते हैं। माया की जिस शक्ति के द्वारा यह कार्य निष्पन्न होता है उसे राग कहते हैं। इस प्रकार जो स्वभाव से परमेश्वर अथवा परमात्मा थे वे माया के खोल से आवृत हो कर जीव या पुरुष के रूप में परिणत होते हैं। अतः आत्मा या भगवान् ने ही अपने को संकुचित कर और माया के द्वारा आच्छन्न कर पुरुष-रूप ग्रहण किया है, यह सत्य है। जिस मूल पुरुष ने समग्र मायाण्ड की अपने शरीर के रूप में गणना करना सीखा है एवं जो इस मायाण्ड में अभिमानशील है, उसका रुद्र के रूप में आगमशास्त्र में वर्णन किया गया है। प्रगतिशील योगी भी ब्रह्मभूमि और विष्णुभूमि से ऊपर चढ़ कर एवं दोनों भूमियों को शवाधार श्मशान भूमि में परिणत कर स्वयं रुद्र अवस्था प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त जब मायाण्ड का भेद कर इस अण्ड को भी पूर्वोक्त दो अण्डों के सदृश शवरूप में परिणत करते हैं एवं उसी शवरूपी आसन के ऊपर मायातीत चैतन्यसत्ता-रूप में स्वयं अधिष्ठान करते हैं तब वह अतिश्रेष्ठ योगी होते हैं। उनका हम त्रिमुण्डी आसन के योगी के रूप में वर्णन कर सकते हैं। समग्र माया इस योगी की सङ्कल्प-शक्ति के अधीन होती है।

(६)

माया-राज्य के ऊपर चिन्मय, शुद्धसत्त्वमय, आनन्दमय, कालातीत, विशुद्ध महामाया-राज्य है। वास्तव में यह महामायाराज्य भी पूर्वोक्त तीन राज्यों के तुल्य अण्डरूप में ही कल्पित है। यह अण्ड अत्यन्त विशाल है। मायाण्ड चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो वह इस ज्योतिर्मय महान् अण्ड के छोटे से एक कोने में स्थित है। विशाल राज्य में जैसे प्रान्त-प्रदेश में अपराधियों के दण्ड अथवा आत्मशुद्धि के लिए कारागार की व्यवस्था होती है वैसे ही इस विशाल चिन्मय राज्य के बाहर, वस्तुतः अन्दर का स्थान होने पर भी बाहरी देश के रूप में कल्पित एक छोटे से स्थान में,

मायाण्ड स्थित है। इस बृहत्तम अण्ड का शास्त्रीय परिभाषा से शाक्ताण्ड के रूप में वर्णन किया जाता है। शक्ति शब्द से यहाँ चिन्मय शक्ति को समझना होगा। इस शाक्ताण्ड के भीतर स्वरूपतः कोई विभाग न रहने पर भी समझने की सुविधा के लिए इसमें परस्पर मिलित दो विभागों की कल्पना की गई है। एक के अधिष्ठाता ईश्वर हैं एवं दूसरे के अधिष्ठाता सदाशिव हैं। ईश्वर परमेश्वर की तिरोधानशक्ति के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं एवं सदाशिव उनकी अनुग्रहशक्ति के प्रतीक हैं। अतः समझना होगा कि प्रभु के मुख्य कृत्य निग्रह और अनुग्रह के व्यापार इसी शाक्ताण्ड में होते रहते हैं। जो आत्मा भगवान् की स्वातन्त्र्य-लीला से संकोच को प्राप्त हुए हैं एवं अणुत्व-सम्पन्न हुए हैं वे ऐश्वरिक शक्ति के द्वारा प्रेरित हो कर अपने संकोच के अनुरूप वेश ग्रहण करने के लिए शाक्ताण्डरूप कारागार में डाल दिये जाते हैं। यह व्यापार निरन्तर ही हो रहा है। सम्पूर्ण विश्व की शासन-प्रणाली के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वर आत्मदृष्टि के निमेषरूप और सदाशिव आत्मदृष्टि के उन्मेषरूप हैं। जो बाएँ हाथ से धक्का देकर अन्धकारमय कर्मप्रधान दुःखप्रचुर मायाराज्य में डालते हैं, वे ही फिर दाहिने हाथ से चैतन्यशक्ति के उन्मेष द्वारा अन्धकार, दुःख और अज्ञान से ज्योतिर्मय और आनन्दमय चिद्राज्य में खींचते हैं। इसलिए ईश्वर और सदाशिव शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता की ही बहिर्मुख और अन्तर्मुख दो मूर्तियाँ हैं। दिव्ययोगी माया-भेद करने के बाद शाक्ताण्ड में प्रविष्ट होकर ईश्वर और सदाशिव दशा में पहले पहुँचते हैं। तब सारा शाक्ताण्ड ही उनकी काया के रूप में कल्पित होता है। वस्तुतः अनन्तकोटि प्रकृत्यण्ड तथा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों से युक्त सम्पूर्ण माया-राज्य इस महान् काय के एक अङ्ग के एक अणु प्रदेश में स्थित है। तब योगी समानरूप से निग्रह और अनुग्रह में समर्थ होते हैं ईश्वर और सदाशिव के रूप में। किन्तु महाशक्ति की ओर जिसकी दृष्टि आकृष्ट हुई है उसके लिए इस अण्ड का भी अतिक्रमण करना आवश्यक है, क्योंकि ईश्वर और सदाशिव सम्पूर्ण मायिक जगत् के चरम अधिष्ठाता होने पर भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं। उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा नियन्त्रित है। वे परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में ही अपना कार्य करते हैं। यथार्थ स्वाधीनता उनमें भी कुछ नहीं है। इसलिए योगी को अपने शाक्ताण्डरूप महत्तम काय को भी शवरूप में परिणत करना पड़ता है। तब ईश्वर और सदाशिव दोनों ही निष्क्रिय शवरूप में स्थित होकर आसनरूप में कल्पित होते हैं। यही पञ्चमुण्डी आसन है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन पाँच प्रेतों के ऊपर अधिष्ठित होकर योगी करोड़ों सूर्यों की तरह देदीप्यमान होते हैं।

पञ्चमुण्डी आसन वास्तव में सदाशिव का आसन है। सदाशिव में ही ब्रह्मादि चार अन्तर्भूत हैं। सदाशिव शवरूपी हैं। उनकी छाती पर खड़ा माँ का जो रूप—कालीरूप—है, वही वस्तुतः इस आसन पर आसीन है। साधक उनके चरणों में स्थान प्राप्त करते हैं, यहाँ तक कि इस आसन की महिमा से तादात्म्य भी प्राप्त करते हैं। पञ्चमुण्डी की साधना कालचक्र के अन्तर्गत कृष्ण पक्ष की साधना है। कृष्ण प्रतिपदा

से अमावास्या तक इसका विकास है। कालचक्र का पूर्ण भेद यहाँ भी होता नहीं। अमावास्या ही तो काली का प्रतीक है।

(७)

सदाशिव तक ही साकार विश्व की सीमा है। साकार जगत् का भेद कर निराकार शक्ति-राज्य में प्रवेश करना चाहिए। सृष्टि और प्रलय साकार राज्य में ही हो सकते हैं। ब्रह्मा के शरीर के रूप से समग्र ब्रह्माण्ड कल्पित है। इस शरीर का नाश ही ब्रह्माण्ड का ध्वंस है। यही साधारणतः महाप्रलय कहा जाता है। ब्रह्मा की आयु उनके परिमाण के अनुसार सौ वर्ष की है। इस आयुकाल का अन्त होने पर उनका शरीर छूट जाता है एवं वे अधिकार से मुक्ति पा जाते हैं। यही महाप्रलय है। ब्रह्माण्ड के जीवों के दृष्टिकोण से यही सबसे बड़ा प्रलय है। लोक-लोकान्तरों की तुलना में ब्रह्माण्ड जैसे व्यापक है वैसे ही खण्ड प्रलयों की तुलना में महाप्रलय व्यापक है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि विष्णु का एक दिन ब्रह्मा के १०० सौ वर्षों के समान है। उसी तरह विष्णु की भी अपने परिमाण के अनुसार सौ वर्ष की आयु निर्दिष्ट है। उसके बाद विष्णु का देहान्त हो जाता है और प्रलय का उदय होता है। यह प्रलय महाप्रलय की अपेक्षा भी बड़ा है। विष्णु की सृष्टि अर्थात् प्रकृत्यण्ड ब्रह्माण्ड से जैसा विशाल है उसका प्रलय भी ठीक वैसा ही जानना चाहिए। रुद्र की सृष्टि और प्रलय पूर्वोक्त नियम के अनुसार विष्णु की सृष्टि और प्रलय की अपेक्षा बृहत्तर हैं। ठीक उस नियम से ईश्वर और सदाशिव के सृष्टि-प्रलय भी जानने होंगे। सदाशिव का देहावसान होने पर जिस प्रलय का उदय होता है वही सबसे विशाल प्रलय है। सदाशिव के राज्य के बाद फिर साकार राज्य नहीं रहता। तब निराकार शक्तिराज्य में प्रवेश होता है।

साकार विश्व के सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु आदि पाँच कारणों की नियुक्ति की गई है। शास्त्रों में बहुत जगह ये ही पञ्चब्रह्म के नाम से परिचित हैं। ये ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर भी अधिकारी पुरुष हैं—किन्तु इनका अधिकार सीमाबद्ध है। इनमें कोई भी अपना स्थान छोड़कर शक्ति-राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। यदि किसी प्रकार कर भी सकें तो थोड़ी दूर तक जाकर इनकी गति रुक जाती है। शक्तिराज्य के आरम्भ में ही बिन्दु-मण्डल का भेदन करना आवश्यक होता है। बिन्दुमण्डल में बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका ये तीन स्तर हैं। बिन्दु में प्रविष्ट होकर अर्द्धचन्द्र के बीच से निरोधिका कला तक जाने के साथ ही साथ इनका आगे बढ़ना बन्द हो जाता है। रोधिनी शक्ति की क्रिया इनको आगे नहीं बढ़ने देती। इसलिए ये सब अधिकारी पुरुष आदि सृष्टि के मूल स्थान पर्यन्त जा नहीं सकते। और तो और वह मार्ग भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। जब तक प्रलयराज्य का अतिक्रमण न किया जा सके तब तक अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार दुर्घट है। अक्षर ब्रह्म ही परमात्मा परमशिव हैं। बिन्दुराज्य के ऊपर नाद, शक्ति और उन्मना रहते हैं। नाद के स्तर में नाद और नादान्त एवं शक्ति के स्तर में शक्ति, व्यापिनी और समना अन्तर्गत हैं, यह ध्यान रखना चाहिए। ये तीन त्रिशूल के तीन शूल हैं। समना तक ही मन है। उसके

बाद मन का अस्तित्व खोज कर भी नहीं पाया जाता। इस अवस्था का नाम महाशून्य-रूपी उन्मना अवस्था है। यह अत्यन्त कठिन स्थान है, क्योंकि साधारण किसी उपाय से इस महाशून्य का भेद नहीं किया जा सकता। एकमात्र विश्वजननी महाशक्ति के प्रसन्न होने पर उनके अनुग्रह से इसका भेद करना सम्भवपर है। इस स्थान में मन नहीं है, प्राण नहीं है, काल नहीं है, देव-देवियाँ नहीं हैं एवं पकड़ने छूने के लिए कुछ भी नहीं है। निरोधिका शक्ति की बाधा (रुकावट) का भेद कर इतने दूर आ सकने पर भी महाशून्य का भेद करना नहीं बनता। परन्तु महाशक्ति की कृपा रहने पर एक ओर जैसे रोधिनी कला मार्ग छोड़ देती है, दूसरी ओर वैसे ही पथहीन महाशून्य में भी पथ प्राप्त हो जाता है। तब सेतु रचना होती है तथा यात्री अनायास विश्व से विश्वातीत चित्शक्ति के राज्य में प्रवेश प्राप्त करते हैं।

पञ्चमुण्डी आसनका पञ्चम अङ्ग महाप्रेत सदाशिव हैं[1]। उनपर अधिष्ठित हैं अमारूपिणी कालीजी। उसी तरह नवमुण्डी आसन के नवम अङ्ग परमशिव हैं। वे पञ्चप्रेतरूप आसन पर शयन अवस्था में विराजमान हैं। इन सुप्त परमशिव का आश्रयण कर उनकी अधिष्ठात्री महाशक्ति ललिता अपने को प्रकट करती हैं। ये पूर्णिमारूपिणी महाशक्ति हैं। सदाशिव प्रेत होकर आसन के रूप में परिणत हुए हैं। किन्तु परमशिव ने प्रेत के ऊपर निद्रित होकर आसन का रूप धारण किया है। पञ्चमुण्डी आसन को कहा जाता है माँ का चरण—माँ श्यामा हैं, किन्तु नवमुण्डी आसन को कहना चाहिए माँ की गोद—माँ हैं राजराजेश्वरी ललिता श्रीविद्या, जो समानरूप से उमा और दुर्गा दोनों का ही स्वरूप है। पञ्चमुण्डी आसन महाशून्य के इस पार है, किन्तु नवमुण्डी आसन महाशून्य के उस पार है।

वस्तुतः नवमुण्डी आसन पञ्चमुण्डी आसन का ही पूर्णतम स्वरूप है, क्योंकि

---

१. 'सदाशिवासन' ही वास्तविक आसन है। योगिनीहृदयतन्त्र में लिखा है—'बैन्दवासन-संरूढसंवर्तानलचित्कलम्।' इस जगह में व्याख्याकार अमृतानन्दनाथ ने समझाया है कि महाबिन्दु-रूप सदाशिव-आसन ही बैन्दवासन है। योगिनीहृदय में भी 'सदाशिवासनं देवि महाबिन्दुमयं परम्।' इस वाक्य के द्वारा इसी अभिप्राय का समर्थन होता है। संवर्तानल—प्रलयाग्नि, जिस अग्निसे छत्तीस तत्त्वरूप विश्व दग्ध हो जाता है, अर्थात् शिव अथवा अनुत्तरप्रकाश (=आदिवर्ण 'अ' कार)। चित्कला=चिद्रूपा अथवा विमर्शमयी शक्ति (=अन्त्यवर्ण 'ह' कार या हार्धकला)। शिवशक्तिरूप पूर्ण भगवत्स्वरूप बिन्दुरूप सदाशिवतत्त्व के ऊपर स्थित है, इसलिए उनका 'बैन्दवासन संरूढ' रूपसे वर्णन किया गया है। यहाँ महाबिन्दु शिवशक्ति का सामरस्यरूप माना गया है। श्रीचक्र का (अर्थात् विश्वचक्र का या देहचक्र का) यह मध्यचक्र—बैन्दवचक्र है। इससे त्रिकोण का आविर्भाव होता है—वही अम्बिकास्वरूप है। परात्रिंशिका के भाष्यमें अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि परा, परापरा और अपरा पारमेश्वरी सत्ता सदाशिवतत्त्व और अनाश्रितशक्तितत्त्व के भी ऊपर विद्यमान है, क्योंकि वहीं तक आसन विस्तृत है। ('तदन्तस्यापि आसनपक्षीकृतत्वात्')। आचार्यगण कहते हैं कि दिव्य शरीर के संजीवन के लिए क्रम मानना पड़ता है। न्यास के प्रसंग में तन्त्रशास्त्र में लिखा है—'महाप्रेतं न्यसेत् पश्चात् प्रहसन्तमचेतनम्।' इत्यादि। यहाँ पर 'महा-प्रेत' शब्द से सदाशिव को ही लक्ष्य किया गया है। उसके अनेक कारण हैं। ये हैं चतुष्किका-रूप शुद्धविद्या-कमलके ऊपर विराजमान। ग्रन्थि है माया, दण्ड है अनन्त— यह कलातत्त्व तक (लम्बिका के प्रान्तदेश में) स्थित है और जड़ है आधारशक्ति के मूल में।

सदाशिवासन ही तो यथार्थ आसन है। सदाशिव ही महाबिन्दु हैं, यह महाबिन्दु ही माँ की गोद है। पहले जो उन्मना की बात कही गई है उसका आलम्बन कर तीन शुद्ध स्थितियाँ हैं—उनमें पहली ऊर्ध्व-कुण्डलिनीपद है, दूसरी परमधाम और तीसरी है श्वेतकमल। यहीं पर विश्वमय भेद तिरोहित होने पर सामरस्य की प्राप्ति होती है। यही परम आसन है। यही वास्तविक माँ की गोद है[१]। यहाँ जिन्हें स्थान की प्राप्ति होती है, यहाँ जो उपविष्ट हैं, इसके जो व्यापक और आधेय हैं, वे ही वह परमवस्तु हैं।

(८)

बहुत दिन पहले श्रीपरमहंसदेव ने किसी तत्त्व की आलोचना के प्रसङ्ग में मुझे एक पत्र में लिखा था—"जगत्प्रसविनी माँ, जो प्रत्यक्ष हैं, उन माँ के माध्यम से ब्रह्मातीत महाभावरूपी माँ का रहस्य कर्म द्वारा सदा ही हृदय में ग्रहण करो।" उनके इस छोटे से वाक्य में गम्भीर तत्त्व निहित है। इससे प्रतीत होता है कि जो इस स्थल में ब्रह्म कहे गये हैं उन्हीं के अन्तर्गतरूप से माँ के जिस स्वरूप का अनुभव किया जाता है वह साक्षात्कार का विषय है। इस माँ को प्रत्यक्ष करना ही योगी का प्रथम लक्ष्य है, क्योंकि इन्होंने जगत् को पैदा किया है। जीव, ईश्वर और जड़, यह तीन प्रकार की सत्ता ही इस स्थान से उत्पन्न हुई है। ये ही जगदम्बा हैं—योगी सन्तान के रूप में इन्हीं माँ का प्रत्यक्ष किया करते हैं एवं प्रत्यक्ष के फल-स्वरूप इन माँ के साथ ही योगी युक्त होकर अभिन्नता प्राप्त करते हैं। किन्तु माँ का जो परम स्वरूप है उसका साक्षात्कार उस समय भी होता नहीं, क्योंकि वे ब्रह्म के अतीत हैं। उनका ब्रह्मातीत माँ के रूप में उस वाक्य में निर्देश किया गया है। वे महाभाव स्वरूपा हैं, इसका भी इंगित उस वाक्य में निहित है। वे जगत्-प्रसविनी नहीं हैं, इसलिए स्पष्ट प्रपञ्च के साथ एक दृष्टि से उनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

जो प्रत्यक्ष हैं वे जगत्प्रसविनी मूल प्रकृति हैं, किन्तु जो महाभावरूपा माँ हैं उन्हें इस प्रकार प्रकृति कहना नहीं बनता, क्योंकि उनके स्वरूप में पुरुष-प्रकृति का कोई भेद नहीं है। उन्हें पुरुष भी कह सकते हैं और प्रकृति भी कह सकते हैं, फिर वे एक साथ उभयरूप भी हैं और उभय के अतीत भी हैं। वे ही आनन्द या रसरूप हैं। रस और प्रेम एक ही वस्तु है, इसलिए महाभावरूपा कह कर उनका वर्णन करना युक्तियुक्त है। उनकी चर्चा ही श्री श्री परमहंसदेव के

१. पूर्व में जिन महाप्रेत सदाशिव की चर्चा की गई है उनकी नाभि से ऊपर उठी हुई और उनके मस्तक के तीन छिद्रों से निकली हुई तीन धाराएँ हैं—ये सब नाद के अन्तर्गत हैं। यह द्वादशान्तस्थिति की बात है। इसके ऊपर अर्थात् त्रिशूल के तीन शिखरों के ऊपर तीन शाक्त कमल हैं। ये मनोराज्य के अतीत उन्मना-पद के अन्तर्गत हैं। इनके नाम हैं ऊर्ध्वकुण्डली, परमधाम और श्वेतकमल। अन्तिम कमल है सर्वाधिष्ठायक परम आसन या माँ की गोद। यहीं पर ज्ञानशक्ति का परम प्रकाश है। यही वास्तविक पश्यन्ती भूमि है। इसके बाद पराभूमि भगवती स्वयं हैं, जहाँ "सर्वमभेदेनैव भाति च विमृश्यते च।"

रचित एक गान के पद में उल्लिखित है—"ब्रह्म याँरे ब्रह्म भेवे पूजेन दिये बिल्वदले।" अर्थात् ब्रह्म जिनको ब्रह्म समझ कर बिल्वदल से पूजा करते हैं।

(९)

ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं। सत्, चित् और आनन्द तीन एक ही वस्तु हैं। किन्तु प्रत्येक में भावगत भेद है। तदनुसार तीन पृथक् भाव दृष्टियाँ हैं, लेकिन वस्तु अभिन्न है। सद्भाव व्यापक है। सत् का कुछ अंश चित् है और कुछ अंश आनन्द है। चित्-ब्रह्म शब्द से सत्-चित् ब्रह्म की प्रतीति होती है एवं आनन्द-ब्रह्म शब्द का तात्पर्य सदानन्द ब्रह्म है। जो पहला है वह अक्षरब्रह्म है और जो दूसरा है वह रसब्रह्म है। यह रसब्रह्म ही परम पुरुष, उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम है। अक्षरब्रह्म में आनन्द का किञ्चित् अंश प्रकट रहता है एवं रसब्रह्म में भी चिद्भाव रहता है। चित् और आनन्द ये दोनों ही जहाँ तिरोहित रहते हैं ऐसी भी एक स्थिति ब्रह्मस्वरूप में कल्पित है। इसको सत् ब्रह्म कहा जा सकता है। प्रचलित क्षर पुरुष शब्द से इसी की एक अवस्था का निर्देश मिलता है।

यह जो आनन्द की बात कही गई है यही अखण्ड प्रेमतत्त्व है, जिसमें आश्रय और विषय का सामञ्जस्य अभेदरूप से नित्य वर्तमान है। यह आनन्द की एक अवस्था है, उसका घनीभूत आनन्द के रूप में वर्णन किया जा सकता है। यह अद्वैतस्वभाव है। किन्तु इसकी और एक स्थिति है जहाँ यह आनन्द अपेक्षाकृत तरलरूप से अपने में आप क्रीड़ा करता है। आनन्द जब घनीभूत रहता है तब वह शान्त, स्थिर और निष्क्रिय रहता है, किन्तु द्रुत अवस्था में वह सदा ही लीलान्वित रहता है। किन्तु इस लीला से ही आनन्द का आस्वादन होता है। घनीभूत आनन्द का आकार है, किन्तु वह आकार अचिन्त्य और अव्यक्त है। तरल आनन्द भी साकार है, किन्तु वह आकार अनन्तवैचित्र्यसम्पन्न है। रसमय ब्रह्म का नित्य लीलास्थान, लीलापरिकर, लीला की उपयोगी सारी सामग्री, सभी उस आनन्द से गठित हैं। लीलाराज्य में लीला के उपयोगी सभी रूप हैं, पुरुष रूप भी है और प्रकृतिरूप भी है। किन्तु वस्तुतः सभी का स्वरूप एक और अभिन्न है। इस स्थान की प्रकृति ठीक प्रकृति नहीं है, यह स्वरूप-शक्तिमात्र है। पुरुषरूप में जो दिखाई देता है वह भी स्वरूपशक्ति है। प्रकृति के रूप में जो दिखाई देती है वह भी वही है। स्वरूपशक्ति जहाँ अन्तर्लीन अथवा समरस होती है, वहाँ पुरुष भी नहीं है, प्रकृति भी नहीं है। धाम, लीला, गुण, क्रिया कुछ भी नहीं, और सभी कुछ है एक अद्वय स्थिति के रूप में।

तरल अवस्था आस्वादन की अवस्था है, वहाँ अनन्त प्रकार के आस्वादन होते हैं और प्रत्येक आनन्द के अनन्त प्रकार के भेद हैं। किन्तु मूल में वह एक सत्ता है। अर्थात् वही घनीभूत आनन्द है। द्रुति अनन्त प्रकार की है और उसके खेल भी अनन्त प्रकार के हैं। तरलता की वृद्धि के साथ साथ लीला के वैचित्र्य अनन्त प्रकार से विकसित होते हैं। तरलता के हटने पर एक ही परम रस नित्य विराजमान रहता है।

लीला में प्रधानतः दो अवस्थायें उल्लेखयोग्य हैं। उनमें से एक मिलन है और

दूसरी विरह अवस्था है। मिलने के बाद विरह, विरह के बाद मिलन इस प्रकार का चक्र पारापारी से चल रहा है। पक्षान्तर में मिलन में ही विरह एवं विरह में ही मिलन, इस तरह आस्वादन भी होता है। फिर, मिलन ही विरह है और विरह ही मिलन है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के आनन्दांश में यह खेल चल रहा है, यह नित्य लीला है। इसे कोई उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम भूमि कहते हैं, किन्तु यह यथार्थ सत्य की एक दिशामात्र है। इसका वास्तविक रहस्य क्या है, इसकी अन्य निबन्धमें आलोचना करने की इच्छा है। वस्तुतः यह पूर्ण ब्रह्म ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह अद्वैत-रूपिणी माँ हैं। जब तक सन्तान शिशु और अपरिणत रहता है तब तक ये सन्तान को गोद में लेकर विकास के मार्ग में सहायता करती हैं। सन्तान जब सर्वाङ्गपूर्ण हो जाती है माँ तब सन्तान के निकट आत्मसमर्पण करती हैं। तब सन्तान पुरुषोत्तम होती है और मातृभाव अप्रकट हो जाता है।

ब्रह्म के चित्-अंश में अक्षर ब्रह्म है। यह चित्स्वरूप है। इसकी प्रकृति चित् शक्ति है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया इसी के धर्म हैं। साधारणतः इच्छामयी के रूप में ही इसका वर्णन किया जाता है। यह अक्षर पुरुष के हृदयरूप कमल की कर्णिका में अर्थात् हृदयाकाश में निवास करती है।

उत्तम पुरुष की प्रकृति आनन्दरूपा या ह्लादिनी हैं। यह उत्तम पुरुष से अभिन्न हैं। एक अवस्था में यह पुरुष की जननीस्वरूपा हैं, किन्तु जगत्प्रसविनी नहीं हैं। दूसरे पक्ष में पुरुष जब पुरुषोत्तम रूप में विकास को प्राप्त होते हैं तब यह ह्लादिनी के रूप में उन्हें आनन्द प्रदान करती हैं। दोनों ही अवस्थाओं में पुरुष के साथ यह सङ्गत (अभिन्न) हैं। यह उदित होती हैं मिलन अथवा संयोगलीला की रचना के लिए। विप्रलम्भलीला में इनका साक्षात् कोई उपयोग नहीं होता। श्रीपरमहंसदेव ने जिन्हें महाभावरूपा माँ कहा है ये ही वह चिदान्दरसमयी माँ हैं। ये अक्षर ब्रह्म के अतीत हैं। चित्-शक्तिरूपा इच्छादिमयी विश्वसृष्टि की हेतुभूता मूल प्रकृतिरूपा माँ श्रीपरमहंसदेव की भाषा में जगत्प्रसविनी प्रत्यक्ष 'माँ' हैं। यह विरहलीला के आयोजन के लिए उत्थित होती हैं। स्मरण रखना होगा कि अक्षरपुरुष चिद्रूप हैं, अक्षरप्रकृति भी चिद्रूपा हैं। आनन्दरूपा शक्ति में इच्छा नहीं रहती; चित्शक्ति में उसका (इच्छा का) उन्मेष हो भी सकता है। प्रपञ्च-सृष्टि के मूल में इच्छाशक्ति की क्रिया आवश्यक है। दोनों ही पुरुष साकार हैं एवं दोनों प्रकृतियाँ भी साकार हैं। किन्तु ब्रह्मस्वरूप में ऐसी एक अवस्था है जहाँ आकार नहीं रहता। केन्द्र से जैसे प्रकाश अथवा प्रभा निकलती है एवं चारों ओर बिखर जाती है वैसे ही अक्षर-पुरुष के अङ्ग विशेष की (नख की) प्रभा से प्रभा निकलती रहती है। अनेक लोग इसका ब्रह्म के रूप में निरूपण करते हैं, किन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होता। अवश्य यह पुरुष और प्रकृति से विलक्षण व्यापक ज्योतिस्वरूप है, किन्तु वास्तविक ब्रह्म ऐसी कोई ज्योति नहीं है जो किसी केन्द्र से निकलती है।

उत्तम पुरुष या उत्तमा प्रकृति की स्थिति में कई एक अवस्थायें दिखाई

पड़ती हैं। उनमें एक स्थूल दृष्टि से पुरुष और प्रकृति का देहगत भेद है। दूसरी है एक ही देह के एक अङ्ग में पुरुष और दूसरे अङ्ग में प्रकृति का प्रतिभास। इसके बाद और एक स्थिति है, जिसमें केवल एकमात्र आकार है एवं वह स्वगतभेदहीन और निरवयव है। उसको पूर्ण पुरुष भी कहना बनता है एवं पूर्ण प्रकृति भी कह सकते हैं। उसमें अङ्गों का भेद नहीं है। दृष्टि में जो प्रतिभास निखर उठता है वह एक ही है वह चाहे पुरुष ही हो या प्रकृति ही हो अथवा ऐसा कुछ हो जिसका नाम मानवीय भाषा में रखा नहीं जा सकता। यहाँ तक जो कहा गया है वह विश्वातीत अथवा सृष्टिके बाहर की महासत्ता की बात है; वहाँ सृष्टि की तरङ्ग इस समय भी उठी नहीं, दृश्य इस समय भी स्फुट हुआ नहीं एवं जीव, जगत् और ईश्वर इस समय भी प्रकट हुए नहीं।

पूर्वोक्त आनन्दमय लीला में जब स्वाभाविक नियम से संयोग के बाद विप्रलम्भ जागने का समय आता है तब नित्य मिलन में भावी विरह का सूत्रपात हो जाता है। इच्छाशक्ति की अचिन्त्य महिमा से यह होता है। पुरुषोत्तम के अथवा महाभावरूपा माँ के आनन्दमय मन्दिर में इच्छा का कोई स्थान नहीं है, फिर इच्छा भी तो उस महामाया का ही एक रूप है, वह भी उस महाशक्ति की एक सनातन धारा है। इसलिए लीला की पुष्टि के लिए इच्छा का उन्मेष होता है। अक्षर पुरुष की चित्शक्ति में इच्छा सुप्त रहती है, अक्षर पुरुष में किञ्चित् रूप में आनन्दसत्ता रहने के कारण पुरुषोत्तम की रसमयी लीला देखने के लिए उनके हृदय में उत्कण्ठा उत्पन्न होती है। अक्षर पुरुष को वह लीलादर्शन कहाँ होता है? वस्तुतः वह लीला-दर्शन उन्हें अपने हृदयाकाश में ही होता है। वही चिदाकाश है—नित्य गोलोक और नित्य वृन्दावन आभासरूप से इस चिदाकाश में ही प्रतिष्ठित हैं। महाभावरूपा आनन्दशक्ति का विहार-स्थान वही है।

वस्तुतः अक्षर ब्रह्म असङ्ग, निर्गुण, निर्मल, मात्राहीन, शब्दहीन, स्वरव्यञ्जनहीन, बिन्दु-नाद-कलाविहीन प्रणवाक्षरमात्र है। पक्षान्तर में रसब्रह्म परमानन्दस्वरूप परम ब्रह्म है। अक्षर पुरुष का वस्तुतः उस लीला में प्रवेश करने का कोई अधिकार ही नहीं है, क्योंकि कोई भी पुरुष अपना पुरुषभाव लेकर वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता। वह एक पुरुष और अनन्त प्रकृतियों का राज्य है। उस स्वयंप्रकाश पुरुष के निकट सभी प्रकृतियाँ हैं। पुरुषभाव लेकर यदि कोई वहाँ जाने का प्रयत्न करे तो उसे पुरुष का दर्शन प्राप्त नहीं होगा। वह एक पुरुष ही जब एकमात्र पुरुष हैं तब सभी पुरुष मूलतः प्रकृतियाँ हैं। इसीलिए प्रकृति-भाव लेकर पुरुष की उपासना करनी चाहिए तथा सन्तानभाव ग्रहण कर जननी की उपासना करनी चाहिए। तृष्णा का भाव अपने में जब तक पहले जाग्रत् न होगा तब तक सुगन्धि, सुशीतल जल प्राप्त होने पर भी अच्छी तरह तृप्ति का उदय नहीं हो सकेगा।

(१०)

जो भी हो, अक्षर पुरुष को भी अन्त में उस लीला में प्रवेश करना ही होगा, अन्यथा पूर्णत्व प्राप्त नहीं होगा। किन्तु वह इस समय का नहीं, भविष्य का व्यापार

है। त्रिकाल (भूत, भविष्य और वर्तमान) जब एक काल में परिणत होगा तब वह एक काल ही नित्य वर्तमान अथवा महाक्षण के रूप में प्रकट होगा। अनादिकाल से अक्षरपुरुष ने परमपुरुष से बिछुड़ कर (पृथक् होकर) यही आशा जगा रखी है। आज तक भी वह आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं हुई। अक्षर पुरुष इसीलिए मानो किसी एक गहरी चिन्ता में मग्न हैं, मानो महासमाधि में बैठे हैं। इस चिन्ता का विषय और कुछ भी नहीं है, वह अपूर्व आनन्द की लीला है। इस चिन्ता से ही उनके हृदयाकाश से महाशक्ति जननी प्रकट होकर महामोहरूप निद्रा उत्पन्न करती हैं और उसी मोहनिद्रा से अक्षरपुरुष को आच्छन्न करती हैं। यह मोहरूपा निद्रा ही घोर तमोमय महाशून्यात्मक आवरण के रूप से आविर्भूत होती है। यह अक्षर पुरुष को घेर कर रहती है। वस्तुतः यह अक्षर पुरुष की आवरण नहीं है, अक्षर पुरुष के स्वप्न में दृष्ट स्वाप्निक जगत् की सृष्टि की आवरण है। यह महाशून्य अपार और अनन्त समुद्र के रूप में अपने को प्रकट करता है।

अक्षर पुरुष के स्वप्नदर्शन से विश्वप्रपञ्च सृष्टिरूप में प्रतिभासमान होता है। उनकी दृष्टि ही सृष्टि है। हम जिस अवस्था की बात कह रहे हैं उसमें कोई दृश्य पदार्थ नहीं है, मोहमुग्ध द्रष्टा की दृष्टि से मानो दृश्य का उद्भव होता है। सचमुच वे देखते हैं यह भी कहा नहीं जा सकता, किन्तु प्रतीत होता है कि वे देखते हैं। इसीलिए यह सृष्टि प्रतिभास-मात्र है—वास्तव में यह उनके हृदय में इच्छामयी माँ के ही लीला-विस्तार के सिवा और कुछ नहीं है। आत्मा स्वेच्छा से अपनी शक्ति के द्वारा विमोहित हैं यह जैसे सत्य है वैसे ही वे अपने इच्छानुसार अपनी स्वरूपभित्ति में ही समग्र विश्व को अभिव्यक्त करते हैं यह भी वैसे ही सत्य है। विश्वचित्र के अङ्कन के लिए वे अपने से अतिरिक्त प्रच्छदपट की (पर्दे की) प्रतीक्षा नहीं करते। द्वैतभूमि में ईश्वर शून्य को आधार बनाकर उसी में संकल्पानुरूप दृश्य की अवतारणा करते हैं। यह अत्यन्त रहस्यलीला है। यह अद्वयज्ञानस्वरूप के हृदय में मानो ज्ञान को आच्छन्न कर स्वयं ही स्फुरित हो रही है। मनुष्य को जागतिक किसी उपाय या साधन से इस लीला के दर्शन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। जिन्हें माँ की कृपा प्राप्त हुई है वे ही लोग उन्हीं की कृपा से कुछ कुछ दर्शन का अधिकार पाते हैं। इच्छामयी माँ की अनुग्रहरूपा इच्छा उदित होने पर परमात्मा के निद्रारूपी उस महाशून्य में चिद्वृत्ति का उन्मेष होता है, अन्धकार हट जाता है, मानो तमोमय महाशून्य में क्षणिक बिजली-प्रभा के तुल्य एक सेतु की रचना होती है। उसके बाद उस सेतु के अवलम्बन से साधक का वास्तविक चक्षु खुल जाता है। तब महाशून्य के पार होकर साधक एकाएक माँ के श्रीचरणों के निकट पहुँच जाता है।

अक्षर पुरुष जिस महानिद्रा में मग्न है वह निद्रा मूल अज्ञान है। प्रचलित साम्प्रदायिक दृष्टि से वे जिस शय्या में सोये हैं उसका फलक अज्ञान की एक वृत्ति है और वह फलक पलङ्ग के जिन चार पावों के ऊपर बिछाया गया है वे अज्ञान की अवशिष्ट चार वृत्तियाँ हैं। प्राचीन काल में इन पाँचों को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझाने की चेष्टा की गई है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश अथवा तामिस्र,

अन्धतामिस्र आदि अथवा निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता ये पाँच कलाएँ अथवा आप्यायनी, धारिणी आदि वृत्तियाँ— सब इन मूल पाँचों के ही प्रतीक हैं। साधक तब इन पाँच कारण देवताओं के अधिकार में विद्यमान रहता है।

इस महामोहरूप निद्रा में जो स्वप्नजगत् में स्वाप्निक आत्मबोध लेकर जाग्रत् हुए वे प्रणवपुरुष नारायण हैं। क्षब्दब्रह्म इन्हीं का नामान्तर है। प्रणव के पांच अवयवों में जो पांच देवता हैं वे क्रमशः ब्रह्मा से सदाशिव पर्यन्त पांच स्तरों के अधिष्ठाता हैं। यह अन्धकारमय निद्रारूपी महाशून्य ही है कारण समुद्र। शब्दब्रह्म में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का एक अभिमान उदित हुआ। अ से ह तक समस्त वर्णात्मक जगत् ही 'अ'—'ह' है, बिन्दु उसे घेरे रहता है, यही 'अहम्' का बिन्दु है, जो शून्य का नामान्तर है एवं जिसमें वाच्यवाचक कुछ भी नहीं है। मोह चैतन्य को आच्छन्न कर मात्रा, स्वर आदि के द्वारा जिस चित्र का अंकन करता है उसी का नाम प्रणव अथवा शब्दब्रह्म है। इसमें नाद ही समग्र विश्व है, नादान्त ज्योति-स्वरुप है एवं बिन्दु है ज्योति का घेरा, जो ज्योति को घेरे रहता है। यह बिन्दु ही निद्रा अथवा मोह है, जिससे नाद और ज्योति स्फुरित होकर उसी के भीतर अपने को प्रकट करते हैं।

अक्षर पुरुष महाकारण मञ्च पर सोये हैं, किन्तु प्रणवपुरुष कारण सलिल में सोये हैं। कोई लोग इस प्रणवपुरुष को ही नारायण अथवा महाविष्णु समझते हैं, यह मैं कह चुका हूँ। अक्षर पुरुष कूटस्थ अथवा साक्षिचैतन्य हैं, ये सबके द्रष्टा हैं परन्तु इनको कोई नहीं देख सकता। यह सबके आत्मस्वरूप हैं। इनके दर्शन का नाम ही आत्मदर्शन है। किन्तु स्वभाव की विचित्र लीला से कूटस्थ पुरुष द्रष्टा होकर भी अब आत्मविस्मृत हैं। ये सबको देखते हैं, केवल अपने को नहीं देखते, अर्थात् समग्र विश्व ही इनकी दृष्टि से संभूत है। किन्तु यह दृष्टि निद्राविष्ट दृष्टि है एवं दृश्य स्वाप्निक दृश्य है। ये जब निद्रा से जागेंगे तब स्वप्न नहीं रहेगा एवं स्वप्नदृष्ट दृश्य भी नहीं रहेगा। तब स्वभावतः सभी को आत्मदर्शन होगा। प्रणव पुरुषरूप में इन्हींने बहुत होने का सङ्कल्प किया है, इसीलिए इनकी स्वरूपप्रतिष्ठा होने पर बहुतों को आत्मदर्शन होगा और स्वरूपप्रतिष्ठा होगी।

प्रणव-पुरुष अक्षर पुरुष की ही विभूति हैं, फिर भी दोनों में कुछ भेद है। अक्षर पुरुष मोहनिद्रा में निद्रित हैं, उन्हें 'मैं' (अहम्) ऐसा अभिमान नहीं है। वे निर्विकार कूटस्थ स्वरूप में ही रहते हैं, मोह उनका शरीर नहीं है। किन्तु जो इस मोह से मोह में ही उत्थित होते हैं, वे प्रणवपुरुष हैं, वे मोह का अपने शरीररूप में वरण करते हैं। उन्हीं का कारणार्णवशायी के रूप में वर्णन किया जाता है। वे नेत्र खोलकर देखते हैं कहीं कुछ नहीं; चारों ओर अनन्त महाशून्य विराजमान रहता है। किन्तु वे स्वयं अकेले हैं—एकमात्र वही हैं और कुछ भी नहीं है। तब वे बहुत होने का संकल्प करते हैं,—'मैं बहु रूपमें अथवा विश्वरूप में अर्थात् अनन्त रूपों में प्रकट होऊँ' इस तरह की एक अव्यक्त इच्छा उनके हृदय में जागती है। यहीं से तत्त्वसृष्टि का आरंभ होता है।

प्रणव-पुरुष बिन्दुका अभिमानी है, यह पहले कहा गया है। बिन्दु के क्षुब्ध होने पर पृथक् पृथक् गुणों का आविर्भाव होता है—शुद्ध भागमें विशुद्ध तत्त्वका प्रकाश होता है एवं मिश्रित भाग में सत्त्व, रज और तम इन तीन मिश्रित गुणों का आविर्भाव होता है। ये चार बिन्दु के ही अन्तर्विभाग हैं—विशुद्ध सत्त्व अंश में जैसे प्रणवपुरुष के प्रतिबिम्ब का संचार होता है वैसे ही अन्यान्य तीन अंशों में भी होता है। इन्हें प्रणव-पुरुष के ही चार रूप जानना चाहिये। जो लोग चतुर्व्यूह स्वीकार करते हैं वे प्रकारान्तर से इन मूल चार विभागों को ही लक्ष्य करते हैं।

प्रणव-पुरुष और उनकी इच्छा दोनों ही एक प्रकार से अक्षर पुरुष के प्रतिभास-मात्र हैं। तात्त्विक सृष्टि के दृष्टिकोण से ये ही शिवशक्तिरूप में परिणत हुए हैं। प्रणव-पुरुष की अनन्त रूपों में फूट उठने की जो इच्छा है वही विश्वसृष्टि का मूल कारण है। यह सम्पूर्ण विश्व शक्तिस्वरूप में बीजरूप से निहित रहता है, वे जब जैसा उद्गिरण करते हैं तब वैसा ही स्फुरित हो उठता है। वही विश्व में अनन्त वैचित्र्य है, कोई इसकी 'अहम्' रूप में धारणा करते हैं और कोई इसकी 'इदम्' रूप में धारणा करते हैं। वस्तुतः जो 'अहम्' रूप में धारणा करते हैं वे जानते हैं कि यह विश्व 'इदम्' रूप में, 'अहम्' रूप का आश्रयण करके ही प्रतिभासमान हो रहा है। 'इदम्' रूप में प्रतिभास जिनका होता नहीं, जिनके निकट सब कुछ 'अहम्' रूप है, वे पूर्ण 'अहम्' स्वयं शिव हैं। इस 'अहम्' रूप में 'इदम्' भाव के स्फुरण का एक क्रम है, तदनुसार विश्व के विचित्र स्तरों की धारणा की जाती है। जैसे एक ऐसी स्थिति है जहाँ 'इदम्' भाव बिलकुल भी स्फुरित नहीं होता, वैसे ही एक ऐसी भी स्थिति है जहाँ 'इदम्' भाव इतना प्रबल रहता है कि 'अहम्' भाव का प्रकाश उससे पूर्णतया आच्छन्न हो जाता है। इस प्रकार माया-स्तर एवं क्रमशः कर्मबीज के प्राकट्य और विकास के क्षेत्र में अवतरण होता है। उसके अनन्तर एक विचित्र स्थिति का उदय होता है। तब इदंभावापन्न वस्तु ही प्रबल होकर अपने में से अहंभाव को प्रस्फुटित कर डालती है। वस्तुतः यह सब 'अहम्' पूर्वोक्त प्रणवपुरुष के ही भिन्न अंश हैं। ये सब खण्ड 'अहम्' चित्कण के रूप में कर्मयुक्त होकर कर्मानुसार शुभ और अशुभ गति को प्राप्त होते हैं एवं लोक-लोकान्तर में फलभोग के लिए सञ्चरण करते रहते हैं।

तत्त्व-सृष्टि के पश्चात् सब तत्त्वों के संघटन के कारण अण्ड-सृष्टि होती है। तब उस अण्ड के भीतर प्रणवपुरुष प्रविष्ट होते हैं एवं अणुरूप में विचित्र देहों के अभिमानी बन कर चौदह प्रकार की मौलिक जीवसृष्टि का विस्तार करते हैं। वस्तुतः सृष्टि की धाराएँ अनन्त हैं। चौरासी लाख योनियाँ कहने से भी धाराओं की समाप्ति नहीं कही जा सकती। आश्चर्य की बात यह है कि इतनी बड़ी सृष्टि अक्षर पुरुष का स्वप्नदर्शनमात्र है। उनका स्वप्नदर्शन अथवा उसका मूलभूत आदिम अज्ञान जब तक निवृत्त नहीं होगा तब तक समग्र जगत् का सामूहिक रूप से आत्मदर्शन, अर्थात् यथार्थ आत्मदर्शन, असम्भव है।

(११)

यह विश्व कितना विशाल है इसका हम लोग बहुधा अनुसरण नहीं कर सकते।

बहुत दिशाओं से यह विशालता लक्षित होती है एवं चित्त को स्तंभित करती है। देश और काल की विशालता का चिन्तन करने पर मानवहृदय अपनी क्षुद्रता से चिन्तनरहित हो पड़ता है। जिसे ब्रह्माण्ड कहा गया है वह पृथ्वीतत्त्व को प्रधान उपादान के रूप में ग्रहण कर रचा गया है। इस प्रकार के ब्रह्माण्ड कितने हैं इनकी कोई इयत्ता नहीं है। एक हिसाब से यदि देखा जाय तो पृथ्वी को मूल उपादानरूप में ग्रहण कर जिन असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि हुई है उनमें से सभी को पृथ्वी कहा जा सकता है। पृथ्वीतत्त्व के जैसे असंख्य अण्ड है वैसे ही उसमें बहुत से भुवन भी हैं। पृथिवीतत्त्व निवृत्ति कला में आश्रित है। उसी प्रकार दूसरी कला प्रतिष्ठा का आश्रय कर बहुत से प्रकृत्यण्ड हैं। उनमें वैसे ही बहुत भुवन भी हैं। उसी प्रकार मायातत्त्व का आश्रय लेकर विशाल मायाण्ड स्थित है एवं उसके अनुरूप भुवन भी उसमें हैं। शक्ति-तत्त्व का आश्रय लेकर जो शक्ति-अण्ड (शाक्ताण्ड) स्थित है, उसमें भी स्तर स्तर में बहुसंख्यक भुवन हैं। व्यापकता के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो सदाशिव का राज्य अत्यन्त विशाल है, उसको एक प्रकार से विशालतम राज्य भी कहा जा सकता है। एक-एक सृष्टि का स्थितिकाल भी कोई कम नहीं हैं। ब्रह्माण्ड का स्थितिकाल और ब्रह्मा का आयुकाल एक ही है। सत्य आदि चार युगों की समष्टि का नाम यदि एक महायुग है तो इकहत्तर महायुगों की समष्टि एक मनु का शासनकाल है। क्रमशः एक के बाद एक चौदह मनु ब्रह्मा के दिन में शासनकार्य चलाते हैं। फलतः चौदह मनुओं के स्थितिकाल की समष्टि ब्रह्मा का केवल एक दिन है। इसी तरह उनकी रात्रि भी है, जब समग्र सृष्टि लीन हो जाती है। इस प्रलय को कल्प-प्रलय कहते हैं। इस प्रकार दिन-रात में सृष्टि और प्रलय का चक्कर चलता रहता है। तदनुसार ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु समाप्त होने पर उनका देहस्वरूप इस ब्रह्माण्ड का ध्वंस हो जाता है। इसीका नाम महाप्रलय है। कल्प-प्रलय में त्रिलोकी का अवसान होता है। उसका कारण यह है कि उनका अन्तःकरण और इन्द्रियसंस्कार त्रिलोकी के उपादान से उत्पन्न हैं। किन्तु महाप्रलय में समग्र अण्ड और उसके आनुषङ्गिक रूपसे सभी लोक माया में लीन हो जाते हैं। तब ब्रह्मा अधिकाररूपी मल से मुक्त होते हैं। ब्रह्माण्ड का नाश और ब्रह्मा का देहत्याग एक ही बात है। पर एक ब्रह्माण्ड का नाश होने पर भी दूसरे ब्रह्माण्ड रहते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ लीन नहीं हो सकते। उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु जब यह असंभव भी सम्भवपर होगा तब फिर एक स्तर खुल जायगा, जिसका नाम प्रकृति-स्तर है, जिसके अधिष्ठाता विष्णु हैं। ब्रह्मा के सौ वर्ष के आयुष्यकाल में विष्णु का केवलमात्र एक दिन व्यतीत होता है। तदनुसार विष्णु की सौ वर्ष की आयु जाननी चाहिये। विष्णु का समग्र आयु-काल रुद्र का केवल एक दिन है। किन्तु रुद्र भी अपने मान के अनुसार सौ वर्ष की आयु धारण करते हैं। रुद्र के सौ वर्ष ईश्वर का केवल एक दिन है। उसी प्रकार ईश्वर भी अपने परिमाण के अनुसार सौ वर्ष जीवित रहते हैं। उसके अनन्तर वे भी ब्रह्मा आदि त्रिदेवों के तुल्य 'प्रेत' अवस्था को प्राप्त होते हैं। ठीक इसी तरह सदाशिव की अवस्था भी होती है। सदाशिव के देहरूप विश्व के संकोच को प्राप्त होने पर क्रमशः पाँच प्रेतों का

आविर्भाव होता है। यह अत्यन्त सुदीर्घकाल की बात है। स्वभाव के नियम के अनुसार इस पञ्चप्रेत अवस्था का उदय होता है। व्यापकतम देश और व्यापकतम काल का अभिनय यहाँ समाप्त हो जाता है।

किन्तु जो योगी अपने पौरुष-बल से प्रत्येक स्तर का कर्म समाप्त कर उस स्तर के अधिष्ठाता का साम्य प्राप्त करते हैं एवं तदुपरान्त उसका अतिक्रमण कर उसे प्रेतासन के रूप में ग्रहण करते हैं, वे थोड़े ही दिनों में सुदीर्घकाल का कर्म समाप्त करने में समर्थ होते हैं। पाँच स्तरों के कर्म समाप्त होने पर एवं पञ्चमुण्डी आसन पर बैठ सकने पर क्रमशः विश्वातीत होकर परमशिव की ओर अग्रसर होने में समर्थ होते हैं। यही पञ्चमुण्डी आसन के कर्म का रहस्य है। स्वभाव के नियम से जिसके सुदीर्घ काल में होने की बात है, उसे उपाय तथा संवेग के द्वारा थोड़े दिनों में सम्पन्न करना सम्भव है। किन्तु वह होने पर भी वह व्यक्तिगत कर्म है। यह कर्म माँ के एक प्रधान रूप के चरण का आश्रय कर पूर्ण करना पड़ता है—ये ही आद्याशक्ति हैं। महाशून्य का भेद भी इसी के अन्तर्गत है। इसके बाद नवमुण्डी आसन का कर्म परमशिव के वक्षःस्थलविलासिनी महाशक्ति के अङ्क का आश्रय कर होता है। ये ही ललिता, राजराजेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी आदि विविध नामों से वर्णित हैं। पञ्चमुण्डी आसन जैसे सदाशिवरूपी आसन है वैसे ही नवमुण्डी आसन परमशिवरूपी आसन है। सदाशिव के वक्षःस्थल में महाशक्ति का जो रूप विराजमान रहता है उनका आश्रय कर पञ्चमुण्डी आसन का कर्म होता है। वैसे ही परमशिव के हृदय में विहार करनेवाली महाशक्ति का आश्रय कर नवमुण्डी आसन का कार्य होता है।

पञ्चमुण्डी आसन विश्व के अतीत है, यह सत्य है, किन्तु यह विश्व पञ्चब्रह्ममय कार्य विश्व है—चार अण्ड इसके अन्तर्गत हैं। यह विश्व की कारणसत्ता के अतीत नहीं है। नवमुण्डी आसन कारण समुद्र के, यहाँ तक कि महाकारण समुद्र के भी, अतीत है—वस्तुतः निद्रामग्न परमशिव तक इसका विस्तार है। पञ्चमुण्डी आसन के कर्म का लक्ष्य है महाशून्य अथवा उन्मना का भेद करना। किन्तु उससे भी परमात्मा की निद्रा का भङ्ग नहीं होता, उनका स्वप्नदर्शन बन्द नहीं होता एवं समग्र विश्व आत्मस्वरूप में परिणत नहीं होता।

नवमुण्डी आसन कर्म के बिना परमशिव का निद्रा-भङ्ग नहीं हो सकता, विश्वमाया की निवृत्ति नहीं होती एवं सम्पूर्ण जगत् का वास्तविक कल्याण—जिससे अपना भी परम कल्याण हो—नहीं हो सकता। श्री श्री परमहंसदेव का प्रतिष्ठित आसन पूर्ववर्णित इस महासन का ही सजीव प्रतीकस्वरूप है। गुह्यतत्त्व की इससे अधिक आलोचना करना हमारे लिए उचित प्रतीत नहीं होता। इस आसन का कर्मरहस्य अत्यन्त गहन है, इसपर प्रकाश डालना यहाँ संभव नहीं।

जपविज्ञान

(१)

यद्यपि जपसाधना अध्यात्मसाधन-विज्ञान में एक सुपरिचित साधना है फिर भी इसका निगूढ़ रहस्य सर्वसाधारण के लिए एक अज्ञेय प्रहेलिका (बुझौवल) मात्र है। वैदिक, पौराणिक, स्मार्त, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन प्रभृति सभी साधनाओं में जप के महत्त्व और आवश्यकता की मुक्तकण्ठ से घोषणा की गई है। सूफी साधक और फकीरों में तथा ईसाई कैथोलिक सम्प्रदाय के भक्तों में जप की प्रथा अतिप्राचीन काल से ही प्रचलित है। योगियों ने जप की महिमा का बखान किया है—वे कहते हैं कि यह क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय का एक प्रकारविशेष-मात्र है। भली-भाँति विधिपूर्वक अनुष्ठान होने पर इससे परमात्मा का प्रकाश और इष्टदेव का साक्षात्कार होता है एवं अन्यान्य बहुत से आनुषङ्गिक फलों की प्राप्ति होती है। जिस नादानुसन्धान की महिमा की हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी और लययोगियों ने समानरूप से घोषणा की है, उसको जप की ही एक विशिष्ट अवस्था का नामान्तर कहना अनुचित न होगा। प्राचीन वैयाकरण इसका वाग्योग के रूप में वर्णन करते थे एवं "इयं हि मोक्षकामाणामजिह्मा राजपद्धतिः।" अर्थात् मुमुक्षु लोगों के लिए इसे ही सरल राजमार्ग मान कर वे इसकी सर्वोपयोगिता स्वीकार करते थे। मध्ययुग के सन्त-महात्मा "सुरतयोग" नामक जिस योगपथ का अनुसरण करते थे, वह वाग्योग का ही दूसरा प्रकारमात्र है। योग की कठिन प्रक्रिया, यज्ञ की जटिल विधि, ज्ञानमार्ग की विचारबहुल गम्भीर भावना तथा भावभक्ति का रसमय उल्लास सब साधकों के लिए सुलभ नहीं हैं। किन्तु जप सभी के लिए अल्पायाससाध्य है। जप यदि ठीक ढंग से किया जा सके तो इससे कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि सब साधनाओं का फल सहज में प्राप्त हो जाता है। केवल यही नहीं, सविशेष भाव की पूर्णता तथा सब विशेषों का उपशम अर्थात् ब्रह्म के महान् और परम रूप नाद के आश्रय वश जापक के लिए जितना सुगम होता है अन्य साधकों के लिए उतना सुगम नहीं होता।

सम्प्रति प्रकाशित ग्रन्थ (स्वा० प्रत्यगात्मानन्द सरस्वतीकृत जपसूत्र) में प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के लिए आनुषङ्गिकरूप से बहुत तत्त्वों की आलोचना की गई है। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र किसे कहते हैं, मन्त्रजपरूप क्रिया की निष्पत्ति किस तरह होनी चाहिये, उसका चरम लक्ष्य क्या है, ध्वनि (नाद), संख्या और भाव अथवा अर्थ का अर्थात् वाक्, प्राण और मनका अथवा अग्नि, सूर्य और चन्द्र का स्वरूप और प्रकारभेद क्या है, जप के अन्तराय क्या हैं एवं अन्तरायनिवृत्ति का उपाय क्या है—इस तरह के बहुत प्रश्नों का समाधान ग्रन्थ में दिखाई देता है एवं सप्तव्याहृतिरहस्य और महामाया-तत्त्व की प्रासङ्गिक बहुत विषयों के साथ विस्तारपूर्वक आलोचना की गई है।

चित्शक्ति केवल चिन्मात्र अथवा प्रकाश-मात्र नहीं है, वह चित् की अपने को विशेष विशेष भावों में ईक्षण की सामर्थ्य है। दोनों ही स्वरूपतः एक होने पर भी दोनों में वैलक्षण्य है। इस वैलक्षण्य का अङ्गीकार करके ही दोनों की अद्वयता स्वीकार करनी चाहिए। विमर्शहीन प्रकाश प्रकाशमान नहीं होता, इसलिए वह अप्रकाश अथवा असत्कल्प है। किन्तु प्रकाश तो विमर्शहीन नहीं होता। इसीलिए प्रकाश की स्वप्रकाशता और सद्भाव अक्षुण्ण ही रहते हैं। सत् और असत् यह विरुद्धभाव विकल्प-मात्र है—निर्विकल्प अथवा अद्वय ही तत्त्वातीत परमतत्त्व है। पूर्वोक्त ग्रन्थ में आगम और उपनिषदों का सारांश अपूर्व युक्तियों और विवेचन शैली द्वारा ऐसे मनोज्ञभाव से सुकौशल के साथ स्थापित किया गया है कि वह मन्दमति पाठकों की भी समझ में न आवे ऐसा नहीं हो सकता। फिर भी आन्तरिकता और मनोनिवेश आवश्यक है।

और एक विषय में दो एक बातें कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। वर्ण-मातृकाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा न रहने पर प्राण के स्पन्दन का तत्त्वनिर्णय नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्र में इसके लिए मातृकाओं का विवेचन किया गया है। प्राचीनकाल के किसी किसी मूल आगम ग्रन्थ में वर्णमाला का विचार दिखाई देता है। अभिनवगुप्त, स्वतन्त्रानन्दनाथ आदि ने भी इस विषय में अपने अपने दृष्टिकोण से आलोचना की है। वर्तमान समय में भी किसी किसी महात्मा ने थोड़ी बहुत आलोचना की है। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध और जैन आगमों में सर्वत्र ही इस विषय में प्रचुर तथ्य प्राप्त हो सकता है।

(२)

शास्त्रों में लिखा है—शब्दब्रह्म में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार यदि करना हो तो शब्द का आश्रय लेकर ही शब्दराज्य का भेद करना होगा। समग्र विश्व शब्द से ही उद्भूत है एवं शब्द में विधृत है। "शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी", "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।" इत्यादि शास्त्र-वचनों से ज्ञात होता है कि शब्द ही सृष्टि का मूल है। यदि सृष्टि के बाहर जाना हो तो शब्द ही एकमात्र अवलम्बन है। इसीलिए जपसाधना में शब्द का अवलम्बन करके ही शब्दातीत परब्रह्मपद में जाने का उपदेश दिया गया है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा के भेद से चार प्रकार की वाणियों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है। वैखरी वाणी शब्द के निम्नतम स्तर के रूप में प्रसिद्ध है। इसका सहारा लेकर क्रमशः परावाक् तक चढ़ने की और बाद में उसका भी अति-क्रम करने की आवश्यकता है। वैखरी इन्द्रियगोचर समग्र स्थूल विश्व में और स्थूल देह में अनन्त प्रकारों से तत् तत् स्थान के अनुसार कार्य कर रही है। "वैखरी विश्व-विग्रहा है" यदि इसका अतिक्रम न किया जा सके तो मनुष्य स्थायी रूप से बहिर्मुख वृत्ति का परित्याग कर आन्तरवृत्ति का ग्रहण नहीं कर सकता।

आत्मा स्वरूपतः पूर्ण प्रकाशात्मक परमेश्वररूप, स्वतन्त्र और भोक्ता है फिर

भी स्वेच्छापूर्वक जीवभाव ग्रहण करने के साथ ही साथ उनका स्वातन्त्र्य और भोक्तृत्व लुप्तप्राय हो जाता है। आत्मा में अखिल शक्तियों का अभेद से समन्वय है, इसलिए आत्मा का पूर्णाहंभाव स्वभावसिद्ध है। 'अ' से 'ह' तक सब वर्ण या कलाओं का परस्पर और आत्मा के साथ अभिन्नरूप से अखण्डभाव में स्फुरित होना ही आत्मा की पूर्णाहन्ता है। इसी का नामान्तर चैतन्य, विमर्श, स्वातन्त्र्य अथवा ऐश्वर्य है। इन सब अकारादि वर्णों के वाच्य अनुत्तरादि विमर्श आत्मा के स्वविमर्श के ही स्वरूपभूत हैं। अखण्ड स्थिति में ये सब एक और अभिन्नरूप में ही प्रकाशित होते हैं। किन्तु आत्मा के स्वेच्छापूर्वक सृष्टि में उन्मुख होने पर उनके स्वरूपाश्रित स्वविमर्शके लेशरूप में अनुत्तरादि के वाचक पूर्वोक्त अकारादि वर्ण उद्भावित होते हैं। अद्वैतस्थिति में जो सब कलाएँ अभिन्नरूप से आन्तर शब्द अथवा स्वभाव रूप में विद्यमान रहती हैं, वे अपने स्वरूप में अक्षुण्ण रहकर भी सृष्टि की उन्मेष-दशा में मानो अंशतः विभक्तरूप से क्रमशः ब्राह्मी आदि अष्टवर्गशक्ति और अ, आ आदि पचास रुद्रशक्तियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं। बाद में उन सब शक्तियों से पद और वाक्यसमूह रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकार आदि, आत्मा के अपने विमर्शस्वरूप और अपने से अभिन्न होने पर भी अज्ञानावस्था में अपनी आत्मा से भिन्न रूप में प्रतीत होने के कारण कला या अंश के नाम से अभिहित होते हैं। ये ही मातृकाशक्तियाँ हैं। इनके द्वारा आत्मा का स्वकीय ऐश्वर्य या विभव (आचार्य शङ्कर ने दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में महाविभूति के नामसे जिसका उल्लेख किया है) विलुप्तप्राय हो जाता है। कलाएँ आत्मस्वरूप से उत्पन्न होकर आत्मा के ऐक्यभाव को ढक देती हैं। तब शिवरूपी आत्मा जीव अथवा पशु के रूप में आविर्भूत होते हैं। यही उनका स्वरूप-संकोच अथवा अणुभाव-प्राप्ति है। यह अणुरूपी प्रमाता तब पूर्ववर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि शक्तियों, अकारादि रुद्रशक्तियों तथा उनसे उत्पन्न पद-वाक्यादिमय असंख्य क्षुद्रशक्तियों का खिलौना हो पड़ता है। मातृकाएँ अणुजीव के प्रत्येक संवेदन में ही अन्तः-परामर्शन द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती हैं तथा वर्ग, वर्गी आदि देवतासमूह के अधिष्ठान के द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि भाव या वृत्तियों को उद्भावित करती हैं। इस प्रकार आत्मा का असंकुचित स्वातन्त्र्यमय चिद्घन रूप आच्छन्न हो जाता है और देहात्मभाव, पारतन्त्र्य और पाशबन्धन का सूत्रपात होता है।

मातृकाओं का यह लयविक्षेपकारक प्रभाव वैखरी वाक् में अत्यन्त प्रस्फुट रहता है। चित्-उन्मेष के अभाव वश साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहते हैं, इसका उल्लंघन कर मध्यमा में प्रवेश नहीं कर सकते। वैखरी वाक् का कार्यक्षेत्र स्थूल होनेपर भी उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्म भूत और लिङ्ग शरीर में भी दिखाई देता है। काल के आवर्तन से पर्यायक्रम से स्थूल और सूक्ष्म भावों के उदयास्त होते रहते हैं। एक बार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होती है, दूसरी बार सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है, तदनन्तर स्थूल से फिर सूक्ष्म की ओर धारा बहती है। इस तरह निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म का आवर्तन होता रहता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्तन इस महा आवर्तन का ही एकदेश-मात्र है। गति का यह आवर्तन

वैखरी भूमिका वैशिष्ट्य है। मलिन वासना वश गति की वक्रता सम्पन्न होने से निम्नभूमि में आवर्तन स्वाभाविक है। उससे छुटकारा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय गुप्तमार्ग के अवलम्बन द्वारा सरल गति की सहायता से ऊपर की ओर क्रमिक आरोहण है। मध्यमा-क्षेत्र से ही इसका आरंभ होता है।

मध्यमा भूमि मन्त्रमयी कही जाती है, क्योंकि मन्त्ररूप में ही मध्यमा वाक् अपने को प्रकट करती है। मन का शोधन और उससे विज्ञान के द्वार को खोलने की सामर्थ्य की प्राप्ति क्रमशः इसी स्थान में होती है। मनुष्यकण्ठ से वैखरी वाक् उत्थित होती है—उसके मूल में मानसिक चिन्तन (चेतन और अवचेतन दोनों क्षेत्रों में) और मनोगत भाव जुटा रहता है। योगी लोग जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के सांकर्य की बात कहते हैं वह इस वैखरी भूमि के शब्द को लक्ष्य करके ही कहते हैं, ऐसा जानना चाहिए। स्मृति-परिशुद्धि के द्वारा सांकर्य का परित्याग वैखरी भूमि से मध्यमा भूमि में प्रवेश का आनुषङ्गिक फल-मात्र है। वाक् के साथ प्राणशक्ति और मनःशक्ति अविनाभूतरूप से विद्यमान हैं एवं प्राण सूत्र पकड़ कर पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का भी सम्बन्ध है। उनके अतिरिक्त चित्त का सम्बन्ध तो है ही। पर वैखरी स्तर में यह चिदंश आच्छन्न-प्राय रहता है। इसका आभास साधारणतः पाया नहीं जाता, इसलिए यह तब रहने पर भी न रहने के समान है। इसलिए इस भूमि में मनोमय, प्राणमय और अन्नमय इन निम्नवर्ती तीन कोषों की ओर आकर्षण रहता है। मन और प्राण की क्रिया से युक्त स्थूल देह के प्रति आकर्षण इसी का नामान्तर है। इसीलिए इस भूमि में देहात्म-बोध प्रबल रहता है। विषयों के प्रति आसक्ति की तीव्रता से वैराग्य, विवेक आदि सुकुमार भाव दबे रहते हैं। मध्यमा-क्षेत्र में नादमय चिद्रश्मियाँ नित्य विराजमान रहती हैं। ये सब रश्मियाँ स्वरूपतः वैखरी भूमि में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। वैखरी में इन सब के अवतीर्ण होने पर नाना प्रकार के वर्ण भी इन्द्रियगोचर उज्ज्वल आलोक के रूप में प्रतिभासमान होते हैं। उनके साथ चिदनुसन्धान नहीं रहता। इसीलिए सूक्ष्मतम चैतन्य का मिश्रित अनुभव वैखरी से उत्तीर्ण होकर जब तक मध्यमा में न पहुँचा जाय तब तक नहीं होता।

इसलिए चाहे जिस किसी उपाय से क्यों न हो वैखरी से मध्यमा भूमि पर उत्थान अत्यन्त आवश्यक है। इस उत्थान व्यापार में एक ओर गुरुशक्ति और दूसरी ओर अपना प्रयत्न अपरिहार्य है। इस क्रमिक विकास के कार्य में जपसाधन परम सहायक है। ईश्वर-प्रणिधान या भजन, निष्काम कर्मयोग और भौतिक देह तथा चित्त-संस्कारमूलक आत्मशोधन इस उत्थान कार्य में यथासम्भव साहाय्य करते हैं। साधक की दृष्टि इसी भूमि में प्रत्यावर्तित होकर अन्तर्मुखी होने लग जाती है। वैखरी भूमि में लक्ष्य बाहर की ओर और नीचे की ओर रहता है—अर्थात् मूलाधार की ओर रहता है। किन्तु मध्यमा भूमि में वह लक्ष्य परिवर्तित हो जाता है—तब लक्ष्य बाहर की ओर अथवा नीचे की ओर न जाकर अन्तर अथवा ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। मूलाधार के बदले सहस्रार की अथवा गुरुधाम की ओर या अखण्ड नित्यसत्ता की ओर लक्ष्य स्थापित होता है। विषयासक्तिशून्य चित्त तब शुद्ध हो जाता है। भावनादि

अन्य उपायों से भी मध्यमा भूमि पर उत्थान हो सकता है, पर जपसाधना का सौकर्य अन्यान्य साधनाओं से अधिक है। मध्यमा शब्द का अर्थ है—जो दो प्रान्तों के छोरों के मध्यवर्ती है, वह है मध्यमा। उसके एक छोर पर दिव्य पश्यन्ती वाक् है और दूसरे छोर पर पाशव वैखरी वाक् है, इन दोनों के मध्य में संयोजक सेतुस्वरूप मध्यमा वाक् क्रियाशील है। इसलिए पशुभाव से दिव्यभाव में यदि जाना हो तो इस मध्यपथ-रूपी सेतु का सहारा लेना आवश्यक है।

पहले ही कहा जा चुका है कि वैखरी वाक् या लौकिक शब्द में चैतन्य की रश्मि प्रच्छन्न रहती है, किन्तु मध्यमा वाक् में वह प्रच्छन्न नहीं रहती, किन्तु प्रस्फुट रहती है। ये सब रश्मियाँ नादरूपी सूत्र का अवलम्बन कर अनन्त आकाश में व्याप्त रहती हैं। इसलिए मूल में सभी बीजात्मक हैं एवं बीज बिन्दुरूपी केन्द्र में नित्य अवस्थित है। वैखरी वाक् जैसे व्यक्त है मध्यमा को वैसे व्यक्त कहना नहीं बनता। किन्तु व्यक्तता मध्यमा में है – साथ ही साथ अव्यक्तता भी है। इसी लिए अर्थात् मध्यवर्ती होने के कारण मध्यमा व्यक्त और अव्यक्त उभयात्मक कही जाती है।

मन्त्र चिद्रश्मिमय है। वैखरी भूमि में चिद्-भाव गुप्त होने से तथा वाणी असंस्कृत होने से वैखरी वर्ण की मन्त्रमयता का स्वीकार नहीं किया जाता। पर स्व-रूपतः उसकी मन्त्रात्मकता न रहने पर भी मन्त्रमय चिद्रश्मि की वाचक होने से वैखरी वर्ण से उद्भूत सभी स्थूल विद्याओं को भी 'मन्त्र' संज्ञा दी जाती है। मीमांसक लोगों का मन्त्रात्मक देवतावाद इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है। "मन्त्राश्चिन्मरीचयः तद्-वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलासभूतानां विद्यानां मननात् त्राणता।"

मध्यमा के उस पार पश्यन्ती या दिव्य वाक् है। यह एक तरह से अव्यक्त है। इस वाणी से सब देवता प्रकाशित होते हैं। ये सब देवता सर्वज्ञ हैं एवं समग्र विश्व के कार्य में अपने अपने अधिकार के अनुसार व्यापृत रहते हैं। केवल देवताओं का प्रकाश-न ही पश्यन्ती वाक् का कार्य नहीं है—विष्णु के परमपदपर्यन्त पश्यन्ती वाक् से ही दृष्टि-गोचर होते हैं। सूरिगण जो परम पद का निरन्तर दर्शन करते हैं वह इसी भूमि से ही करते हैं, यह जानना चाहिए। वस्तुतः पश्यन्ती वाक् में ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। प्राचीन काल में मन्त्रसाक्षात्कार से जो ऋषित्व प्राप्त होता था, वह इसी पश्यन्ती भूमि के लाभ का फल है। यही आत्मा की अमृता कला है "विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्"। पश्यन्ती के स्वरूप का दर्शन होने पर अधिकार की निवृत्ति हो जाती है।—"तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।" एक तरह से यदि देखा जाय तो पश्यन्ती के बाद वाक् की और किसी उच्चतर अवस्था की कल्पना नहीं है। इसी लिए प्राचीन आचार्यों में से अनेक लोगों ने वाक् की त्रिविध (त्रयीवाक्) रूप में भी वर्णना की है। किन्तु फिर भी पश्यन्ती की भी एक परावस्था है ऐसा अङ्गीकार करना होगा। इसीलिए कोई कोई नामतः परावाक् को स्वीकार न करने पर भी "तस्याः वाचः परं पदम्" कह कर प्रकारान्तर से उसको स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए हैं।

यह परावाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि देवता का

प्रकाश नहीं है—समष्टि देवता अथवा ईश्वरचैतन्य में समस्त वाक् परिसमाप्त हुई है। यह वाक् सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि तक समानरूप से व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सर्वोच्च अग्रभूमि से उत्थित हो कर मूलाधार तक व्याप्त है, यह जैसे कहना बनता है वैसे ही यह मूलाधार के निम्न स्थित महाकारण समुद्र में प्रकाशमान अधः सहस्रार से उठ कर ऊर्ध्व सहस्रार के द्वादश दल में वाग्भवकूटपर्यन्त व्याप्त है, यह भी कहा जा सकता है। किसी किसी ने ऐसा कहा भी है। वास्तविक पक्ष में ऊर्ध्व सहस्रार के भिन्न भिन्न स्तरों में इन तीन वाणियों का उद्भव है। उन में एक का (मध्यमा का) विस्तार नीचे की ओर हृदय तक है, दूसरी का (पश्यन्ती का) नाभि या उसके कुछ नीचे तक है एवं तीसरी का (परा का) मूलाधार पर्यन्त विस्तार है। नीचे-ऊपर सर्व-देशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परावाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के बाद फिर शब्द की गति नहीं है। मध्यमा वाक् से इस अक्षर ब्रह्मपर्यन्त योगी की गति शब्दब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षर-ब्रह्म-भेद होने पर ही परब्रह्म का द्वार खुल जाता है। परब्रह्म शब्दातीत है। इसी लिए शास्त्रकारों ने कहा है—"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।"

जितनी दूर तक शब्द का विकास है उतनी दूर तक ही आकाश की कल्पना होती है। जो नित्य अक्षर अथवा सत् है उसी का नाम परमाकाश है, जिसका विभिन्न प्रस्थानों तथा वैदिक मन्त्र आदि में भी परमव्योम के नाम से निर्देश किया गया है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहाँ आकाश नहीं है। वहाँ शक्ति और शिव दो तत्त्व अवि-भाज्य युग्म के रूप में विराजमान रहते हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्धभाव शिव-शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना करते हैं। समना और उन्मना दोनों ही शक्तियाँ ब्रह्मशक्तियाँ हैं। समना शक्तितत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म के इच्छानुसार सृष्टि का विस्तार करती है एवं उन्मना शिवतत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की विमर्श-हीन विश्वातीत दिशा की ओर उन्मुख होती है। शिव और शक्ति अभिन्न हैं, इसलिए किसी को छोड़कर कोई अवस्थान नहीं कर सकते। इसके बाद फिर तत्त्व नहीं है। तत्त्वातीत अद्वैतस्थिति है।

किन्तु इस अद्वैत में भी दिशाओं का पता प्राप्त होता है। उनमें एक है अखण्ड सच्चिदानन्द की दिशा, जो विश्वातीत होने पर भी सूक्ष्मतम ध्यानगम्य होने के कारण आरोप दृष्टि से यथाकथंचित् वर्णनीय है एवं दूसरी है सब प्रकार से निर्विकल्प और ध्यानसमाधि की अगोचर। प्रथम अवस्था में स्वशक्ति परिस्फुट है और द्वितीय अवस्था में वह अस्फुट अथवा अव्यक्त है, किन्तु उसको नहीं है कहना नहीं बनता। वस्तुतः ये दोनों दिशाएँ अभिन्न हैं। वहाँ निष्कल और सकल में भी भेद कल्पना का अवकाश नहीं रहता। यही परमाद्वैत का रहस्य है। एक ही अखण्ड स्वरूप में विश्व और विश्वातीत, "अमात्र" और "अनन्तमात्र" (माण्डूक्यकारिका १।२९), निष्कल और सकल, निष्क्रिय और अनन्तक्रिय, अक्षर और क्षर स्वयंप्रकाश अद्वयरूप में विराजमान रहते हैं। काल वहाँ कालातीत के साथ एक होकर प्रकाशमान होता है।

(३)

परम पद में प्रविष्ट होकर स्वभाव की धारा प्राप्त होने के लिए जप अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है। जप के नाना प्रकार के भेद हैं। उनमें बाह्य और आभ्यन्तर ये दो प्रधान हैं। जिसका शास्त्रों में वैखरी-जप के नाम से निर्देश किया गया है वही बाह्य जप है, यह प्रारम्भिक क्रिया है। आन्तर जप इससे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। बाह्य पूजा से जैसे आन्तर पूजा श्रेष्ठ है वैसे ही बाह्य जप से आन्तर जप भी श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक नाना प्रकार के वर्णों का उच्चारण ही बाह्य जप का लक्षण है—इसका आचार्यों ने विकल्पात्मक संजल्प के नाम से उल्लेख किया है। जो परम पथ के और परम पद के अभिलाषी हैं उनके लिए क्रमशः बाह्य जप से विमुख होकर आन्तर जप में निविष्ट होना आवश्यक है।

प्रथम आरंभ अवश्य वैखरी से ही होता है। कर्तृत्वाभिमान लेकर ही संकल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। कण्ठ-जप ही वैखरी-जप का स्थूल लक्षण है। वाचिक, उपांशु और मानसिक—ये तीन प्रकार के जप ही वैखरी के अवान्तर भेद हैं। इन तीनों भेदों में जप करने का भाव रहता है। मानस कर्म भी जैसे कर्म है वैसे ही मानस जप भी वस्तुतः वैखरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानस जप करने के मूल में और कर्ता के रूप में अहं भाव अक्षुण्ण रहता है। अर्थात् 'मैं जप कर रहा हूँ' यह भाव स्फुट अथवा अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। इसके बाद धीरे-धीरे दूसरी अवस्था का उदय होता है। तब कण्ठ-रोध हो जाता है, प्रयत्न द्वारा जप करना फिर नहीं बनता। कर्मकारिणी नाड़ियाँ कुछ अंश में निरुद्ध हो जाती हैं, तब जप अपने आप ही भीतर ही भीतर चलता रहता है। इसका नाम 'जप होना' है। यह स्वभाव का जप है। इसके तीन भेद हैं। पहले भेद में हृदय में जप होता है, उसके बाद द्वितीयावस्था में नाभि में होता है एवं अन्त में मूलाधार में होता है। हृदय-जप को ही मध्यमा-मार्ग में प्रवेश जानना चाहिये। उस अवस्था में नाद अपने आप चलने लगता है। मध्यमा में प्रवेश न होने तक केवल बाह्य जप से नादश्रुति नहीं होती। बाह्य जप में मन्त्राक्षरों का अलग अलग उच्चारण रहता है, इसलिए वह विकल्पमय है, अतएव वह यथार्थ मन्त्र नहीं है। मध्यमाभूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है तभी उसे आन्तर जप जानना चाहिए। अपने अपने विषयों से इन्द्रियों का संचार रोक कर आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना चाहिए।

"संनियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः॥

परमभाव की ओर जो पुनः पुनः भावना है वही आन्तर जप अर्थात् नाद की प्रकटावस्था है।

हृदयकमल के मध्य में जो आकाश दिखाई देता है, जिसका उपनिषदों में हृदयाकाश के रूप में वर्णन किया गया है, उसमें अर्थात् उस अनाहत प्रदेश में सर्वदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नादरूप में परिणत होकर चारों ओर फैलता रहता

है। हम लोगों का मन साधारणतः बहिर्मुख है, इसलिए नाद का पता नहीं चलता। किन्तु जब गुरुकृपा से मन अन्तर्मुख होता है तब स्पष्टरूप से उसका परिचय प्राप्त होता है। उसके प्रभाव से तब नेत्रों से आँसू निकलते हैं, सारे शरीर में रोमांच छा जाते हैं एवं अन्यान्य सात्त्विक भावों का आविर्भाव होता है।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वररूपी श्रीगुरु के मुख से निःसृत वाणी मध्यमा वाणी के रूप में प्रकट होती है, सहस्रदलकमल के दल से हृदय तक इस वाणी के विस्तार का अनुभव होता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमशः हटता रहता है और साधक का अपना स्वरूप सद्विद्यायुक्त होकर पुरुष और प्रकृति का एक अभिन्न ज्ञान के अन्तर्गत रूप में बोध करने लगता है। नौ नादों में इसे प्रथम नाद जानना चाहिए।

इस विषय की और भी विशदरूप से आलोचना करने की चेष्टा कर रहा हूँ। महर्षि पतञ्जलि के निर्देशानुसार मन्त्र-जप के साथ मन्त्रार्थ की भावना की आवश्यकता होती है, भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध से जुटे हैं। आगम-रहस्यवेत्ता विद्वान् कहते हैं कि जप के साथ मन्त्र के अवयव-समूह में छह शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुवों की भावना करनी चाहिये। छह शून्यों में से पाँच का वर्णवैचित्र्यमय अपना-अपना पृथक् मण्डलाकार रूप है। किन्तु छठा शून्य अनुत्तर या महाशून्य है। प्रथम पाँच शून्यों को ठीक निराकार कहना नहीं बनता, क्योंकि जब तक मन का स्पन्दन रहता है तब तक किसी न किसी प्रकार के अतिसूक्ष्म आकार का सम्बन्ध रह ही जाता है। किन्तु छठा शून्य मन के अतीत होने से वास्तव में निराकार, महाशून्य है। प्रणव अथवा बीजमन्त्र के पहले के तीन अवयव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं। उनके बाद जो जो सूक्ष्मतर अवयव हैं उनमें सबके सब वस्तुतः तुरीय और तुरीयातीत अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। इन सब अवयवों के नाम इस प्रकार हैं—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। प्रथम तीन अवयवों के साथ इन नौ अवयवों के सम्मिलित होने से बारह अवयव हो जाते हैं। इनमें से प्रत्येक द्वितीय अवयव की ही शून्यरूप से भावना करनी चाहिये। इसका अत्यन्त गंभीर रहस्य है, किन्तु इस जगह उसका विवेचन अनावश्यक है। इस प्रकार द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम और द्वादश—ये छह अवयव शून्यपदवाच्य हैं। उनमें पहले के पाँच अवान्तर शून्य हैं और छठा महाशून्य है। पाँच निम्नवर्ती शून्यों में क्रमविकास और क्रमलय के भाव का अनुभव किया जाता है, जिसकी साधनमार्ग में प्रविष्ट व्यक्तिमात्र ही गुरुकृपा से अल्पाधिक धारणा कर सकते हैं।

जिस अवस्था में दस इन्द्रियों द्वारा जागतिक व्यापार सम्पन्न होता है उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। वस्तुतः प्रकाश इसका करण है, इसलिए प्रकाश की ही जाग्रत् के रूपमें भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में आन्तर चार प्रकार के करणों द्वारा व्यवहार की निष्पत्ति होती है उसका नाम स्वप्नावस्था है। स्वप्न में विद्य-मान अन्तःकरण-वृत्ति का लय होने पर सब इन्द्रियों का उपरम जिस अवस्था में उदित

होता है उसका नाम सुषुप्ति है। सुषुप्तिभावना का स्थान भ्रूमध्य में स्थित बिन्दु में है। इस बिन्दु को हृल्लेखा का ऊर्ध्व बिन्दु जानना चाहिये। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के हेतु नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद इन तीन मन्त्रावयवों में इसकी भावना करनी चाहिये। तुरीयातीत अवस्था परमानन्दस्वरूप है। यह यद्यपि मन और वाणी के अतीत है तथापि मन और वाणी का आभास देह में अवस्थितिकाल में अधिकार के अनुसार किसी-किसी के रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के बाद उन्मना तक तुरीयातीत अवस्था व्याप्त रहती है। उन्मना के बाद फिर किसी प्रकार की अवस्था नहीं है।

मात्राहीन अथवा अमात्र शिवस्वरूप आत्मा से चित्कला का आभास बिन्दु अथवा विशुद्धसत्त्वरूप दर्पण में पड़ कर उसमें अवस्थित स्थिरीकृत मात्रा को आघात पहुँचाता है। यदि मात्रा उस आभास को धारण कर सके तो वह साधक अथवा योगी की योगानुभूति की भूमि के रूप में परिगणित होता है– एक मात्रा विभक्त होकर अर्द्ध मात्रा में परिणत होती है। एक मात्रा और अर्द्ध मात्रा का सन्धिस्थान अत्यन्त गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है उसका एक मात्रा के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरंभ उस एक मात्रा में होता है। मात्रा का आधिक्य जाड्यवृद्धि के कारण होता है। मनक्षेत्र सारा का सारा चेतन या बोधमय नहीं है, उसमें अवचेतन अंश भी है। हम लोगों की स्मृति में जो नाम अथवा शब्दराशि संचित रहती है, वह हमारे अनुभव का ही परिणाम है। यह अनुभव स्थलविशेष में मन की एकाग्रता के कारण उदित होता है। भले ही वह एकाग्रता अंशतः हो, पूर्ण न भी हो। इसलिए उस शब्द का स्मरण करने के साथ शब्द का अर्थ या रूप चित्तक्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्ति हो जाती है। साधक का कर्तव्य है—साधना का उद्देश्य है—अपने मन को एकाग्र करना अथवा केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में स्थित रखना। समाधि आदि के अभ्यास का वास्तविक उद्देश्य भी यही है। साधारणतः मन एक मात्रा में रहता नहीं। विक्षिप्त और क्षिप्तावस्था में चञ्चलता वश मात्रा का बाहुल्य हो जाता है। मूढावस्था की बात का यहाँ आलोचन करने की आवश्यकता नहीं है। मन उत्थित होकर यदि एक मात्रा में स्थित हो जाय तो ऊपर से उसमें गुरुकृपारूपी चिद्रश्मि का संपात होता है। उसके कारण एक मात्रा स्वस्थान में एक मात्रा के रूप में अक्षुण्ण रहकर भी विश्व के ऊर्ध्व में अर्द्ध मात्रा आदि के रूप में परिणत होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना प्राप्त होती है—दिव्य अनुभूति का आरम्भ होता है। चिद्-रश्मि के संपात की वृद्धिके अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता रहता है अर्थात् मात्रांश क्रमशः न्यून से न्यूनतर होता रहता है एवं प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल और स्पष्ट होता रहता है।

जिस स्थान में चिद्रश्मि का संपात होता है उसको एक मात्रा और अर्द्ध मात्रा की सन्धि समझना चाहिये। ऊपर से एक मात्रा में उस रश्मि के पड़ने से ऊपर की

ओर एक मात्रा टूटना आरम्भ करती है पर नीचे की ओर एक मात्रा अक्षुण्ण ही रहती है।

यह एक मात्रा ही समग्र स्थूल विश्व का मध्य बिन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इस एक मात्रा में उपसंहृत होता है एवं यहीं से प्रबुद्ध होकर दसों दिशाओं में स्तर-स्तर पर फैल जाता है। इस मात्रा को एक दृष्टि से सुषुप्ति की तुल्यधर्मा कह सकते हैं। उसी दृष्टि से अर्द्धमात्रादि तुरीय और अतितुर्य अवस्था के आभास के ज्ञापक माने जा सकते हैं।

मन की मात्रा जितनी ही फैलती है उतना ही मन का अंश क्षुद्रतर (न्यूनतर) होता जाता है, उतना ही चिदालोक उज्ज्वलतर होता जाता है। अर्द्धमात्रादि में प्रतिफलित जो चैतन्य है वही मन्त्र है। जो चित्त उसका आधार है उसको भी मन्त्र कहते हैं।

पहले हम जिस बिन्दु की बात कह आये हैं वही मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है। यहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं और निरालम्बभाव का आरंभ होता है। साथ ही साथ मात्राभङ्ग के कारण अर्द्ध मात्रा का उदय होता है। इसी भूमि से ईश्वरभाव की पूर्व सूचना प्राप्त होती है, ऐसा कहा जा सकता है। यह ज्योतिर्मय एकाकारता ही शून्य है। यहाँ भेदबोध एकदम हटता नहीं, क्रमशः हटता है। यह वास्तव में द्वितीय शून्य होनेपर भी जागतिक अवस्था के ऊपर यही प्रथम शून्य है। बिन्दु से सहस्रार में चढ़ने के मार्ग में कपालप्रदेश में जो सोमरस दिखाई देता है वही अर्द्धचन्द्र है, जिसके भीतर त्रिविध वर्णमाला (सौम्य, सौर और आग्नेय) चिद्बीज के रूप से सहस्रार के प्रत्येक दल में प्रकाशित होती है। कपाल के ऊपर और ब्रह्मरन्ध्र के नीचे त्रिकोण में रोधिनी की अवस्थिति है। यह 'ब्रह्मादि' कारणपञ्चक को अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच जगत्पतियों को ऊर्ध्वगति से निवृत्त करती है, इसलिए इसका नाम रोधिनी है। कोई-कोई इसे निरोधिका भी कहते हैं। रोधिनी तक ही बिन्दु का आवरण है। इसका भी शून्यरूप में चिन्तन करना चाहिये। यहाँ दिक् और कालका पार्थक्य प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त निम्नवर्ती मन और प्राण का अनुभव भी यहाँ नहीं रहता। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के मुख में नादस्थान है। मन्त्रमहेश्वररूपी महापुरुषों द्वारा यह परिवृत है। नाद के अन्तर्गत भुवनपञ्चक की मध्यवर्ती शक्ति ऊर्ध्वगा के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं से शुद्ध चिद्बोध का सूत्रपात होता है। ब्रह्मरन्ध्र में नादान्त है। इसकी भी शून्यरूप में भावना करनी चाहिये। नाद अथवा चिद् यहाँ सद्रूप से प्ररूढ कहा जा सकता है। ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्णा के ऊपर है। ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर शक्ति का स्थान है। यही ऊर्ध्व कुण्डलिनी प्रसुप्त सर्पाकार और ऊर्णाचक्र (सहस्रदल) समप्रभ है। अनुन्मिषित समग्र विश्व इसी के गर्भ में स्थित है—इसीलिए यह विश्वाधार है। सब तत्त्व और भुवन इसी का आश्रय कर विद्यमान हैं। इस स्थान में एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव होता है।

इसके बाद व्यापिनी का अधिकार है। वस्तुतः शक्ति के केन्द्र में स्थित कला ही व्यापिनी के नाम से परिचित है। किन्तु शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथिवीपर्यन्त

सब शक्तितत्त्व का ही प्रपञ्च है। शक्तितत्त्व ही एक हिसाब से यदि देखा जाय तो अनाश्रित भुवन है, जिसमें व्यापिनी के मध्य में शिवतत्त्व अवस्थित है। अनाश्रित भुवन के चारों ओर व्यापिनी, व्योमात्मिका, अनन्ता और अनाथा नामक शक्तियाँ अवस्थित रहती हैं और मध्य में अनाश्रिता शक्ति विराजमान रहती है। व्यापिनी की भी शून्यरूपमें कल्पना करनी चाहिये, यह कहना अनावश्यक है। किसी-किसी ने व्यापिनी को ही महाशून्य के रूप में ग्रहण किया है। वस्तुतः यह महाशून्य नहीं है, इसके बाद भी शून्य है। यहाँ साकार और निराकार का भेद तिरोहित रहता है। यहाँ की अनुभूति एक अद्वय आत्मानुभूति की अङ्गीभूत है। व्यापिनी के बाद व्यापिनीपदावस्थित अनाश्रित भुवन के ऊपर समना है। यह ब्रह्मबिल के बाहर और अतीत मन का स्थान है। यहाँ मन नहीं है, अथ च मन है। नादान्त से ही इस अतीत मन की सूचना पाई जाती है। सूक्ष्म समष्टि मन नाद में ही परिसमाप्त होता है। उसके बाद ही अतिमानस है। समना ही सब कारणों की कर्तृभूत महेश्वर की परा-शक्ति है। पूर्ण ब्रह्म की ईक्षणशक्ति अवतरण के समय समनारूप में उतर कर समष्टि मन में संचारित होती है। परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्यों का सामना में आरूढ़ होकर ही सम्पादन करते हैं। समना की दूसरी दिशा उन्मना है—यह अतीत मन की भी अतीत है। आत्मा के विकल्परहित केवल स्वरूप में अवस्थान का बोध इसी जगह होता है। यह अमेय और अनिर्देश्य है। नौ नादों में यही नवम नाद है। बिन्दु में जिन नाद-समूहों की सूचना होती है, उन्मना में उनका शेष हो जाता है। यही यथार्थ महाशून्य है। श्रीमाता की महाकरुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इसके बाद फिर शब्दब्रह्म नहीं है—अथवा शब्दब्रह्म ही पर ब्रह्म अथवा अद्वैत आत्मस्वरूप में स्वयं प्रकाश होता है।

जप की आनुषङ्गिक भावना से सम्बद्ध छह शून्य और पाँच अवस्थाओं की कुछ रूप-रेखा ऊपर दिखलाई गई है। अब सात विषुवों की बात यथासम्भव संक्षेप में लिखने की चेष्टा करता हूँ। सात विषुवों के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं—प्राणविषुव, मन्त्र-विषुव, नाड़ीविषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव और तत्त्वविषुव। प्राण, आत्मा और मन के परस्पर योग को प्राणविषुव कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद की जापक द्वारा अपनी आत्मा के रूप में भावना करना मन्त्रविषुव का तात्पर्य है। मूल मन्त्र के द्वारा छह चक्र और द्वादश ग्रन्थियों का क्रमशः भेद होने पर मध्यनाड़ी में नाद-स्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त बीजशिखरवर्ती नाद के उच्चारित होने पर नाड़ीविषुवरूप स्पर्श का उद्भव होता है। नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की शक्ति में लयभावना प्रशान्तविषुव के नाम से कही जाती है। शक्तिमध्यस्थित नाद का समना पर्यन्त चिन्तन शक्तिविषुव कहा जाता है। यहाँ तक काल का खेल रहता है। कारण, समना तक ही काल की सीमा है। वस्तुतः नाद काल की सीमा के ऊपर भी है। काला-तीत उन्मना तक नाद के चिन्तन को कालविषुव कहते हैं। उन्मना में काल नहीं है, किन्तु वह भी परमतत्त्व नहीं है। कालविषुव के बाद तत्त्वविषुव का अङ्गीकार होता है। नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है, पर जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं

होता तब तक तत्त्वबोध नहीं होता। नादान्त तो दूर की बात है, शक्ति में अथवा समना में भी नाद का अन्त नहीं होता। शाक्त योगी उन्मना में भी नाद के अन्त का अङ्गीकार नहीं करते। उन्मना के ऊपर—उन्मना का भेद करने के साथ ही साथ—नाद लीन हो जाता है। तब तत्त्वबोध अथवा स्वात्मसाक्षात्कार स्वभावतः हो जाता है। इसलिए तत्त्वविषुव को ही चैतन्य की अभिव्यक्ति का स्थान कहना युक्तिसंगत है।

इसके बाद ही परम पद है। यह छह शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुवों के कोलाहल के अतीत, विश्व की परम विश्रान्तिभूमि और परमानन्दस्वरूप है। यही परम शिव की अवस्था है। तान्त्रिक योग में निष्णात परम योगी कहते हैं कि उन्मना पर्यन्त सब मन्त्रावयवों के १०८१७ वार उच्चारित होने पर नाद का अन्त और तत्त्वज्ञान का उदय होता है। तदनन्तर परम पद की प्राप्ति होती है। मन्त्रजप के साथ मन्त्रार्थ की भावना आवश्यक है, यह बात पहले कही जा चुकी है। अर्थज्ञान के विना अर्थभावना हो नहीं सकती। शास्त्रों में विविध प्रकार के मन्त्रार्थों का विवरण पाया जाता है। उनमें भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ ये कई एक प्रधान हैं। किसी किसी मत में १६ प्रकार के अर्थों का वर्णन भी दिखाई देता है। मन्त्र के अवयवभूत अक्षरों का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारणंकारण पूर्ण परमेश्वर ही सब मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से अपने मन्त्र का उद्भव और उसका अवतरण-क्रम अथवा परम्परा का ज्ञान ही मन्त्र का सम्प्रदायार्थज्ञान है। परमेश्वर, गुरु और निज आत्मा का ऐक्यानुन्धान ही निगर्भार्थ है। परमेश्वर निष्कल निरवयव हैं—गुरु भी वही हैं। निष्कल परमेश्वर का जो निज आत्मरूप से साक्षात्कार करते हैं वे ही गुरु है। इसलिए गुरु और परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक का ऐक्यानुन्धान ही कौलिकार्थ है। मूलाधारस्थ कुण्डलिनीरूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है, इस प्रकार की भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल अणु से अणुतर और महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परम तत्त्व के साथ प्रकाशानन्दरूप से विश्वातीत और विश्वमय निज गुरु-प्रबोधित निर्मल स्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुप्रवेश महातत्त्वार्थ है। इन सब अर्थों के विज्ञान से पाशात्मक विकल्पजाल भली भाँति निवृत्त हो जाता है।

इस देहरूप विश्व में अधः और ऊर्ध्व रूप में तीन स्तर हैं। पहला स्थूल अथवा स-कल है, दूसरा सूक्ष्म अथवा स-कल-निष्कल है एवं तीसरा कारण अथवा निष्कल है। पहला स्तर अकुल से आज्ञाचक्र तक विस्तृत है। सुषुम्णा नाड़ी के मूल में स्थित ऊर्ध्वमुख रक्तवर्ण सहस्रदलकमल ही अकुल पद का अर्थ है। सुषुम्णा के शिखर पर स्थित अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल भी एक प्रकार से वही है।

दोनों के अन्तराल में सुषुम्णा के मध्य में विभिन्न प्रकार के आधार कमल ग्रथित रहते हैं। दूसरे का (सकल-निष्कल का) विस्तार आज्ञा के ऊपर बिन्दु से उन्मना पर्यन्त है।

तीसरा महाबिन्दु है, जो उन्मना के परे और देशकाल द्वारा अपरिच्छिन्न

है। इस त्रिभूमिक देहरूप विश्व में जो अधिष्ठाता होकर विराजमान रहते हैं वे पूर्ण ब्रह्मरूपी आत्मा हैं। वे विश्वात्मक होकर भी विश्वातीत हैं एवं विश्वातीत होकर भी विश्वात्मक हैं। जपसाधना की परम सिद्धि इस आत्मस्वरूप में स्थिति-लाभ के सिवा और कुछ नहीं है।

निबन्ध संक्षिप्तरूप से लिखने की इच्छा रहते भी कुछ लम्बा हो गया है। जप के सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश का मर्म क्या है इसकी थोड़ी-बहुत रूप-रेखा प्रस्तुत करना ही इसका उद्देश्य है।

नादतत्त्व

(१)

आत्मस्वरूप में पुनः पुनः प्रतिष्ठित होने के लिए शास्त्रों में जितने उपाय निर्दिष्ट हैं उनमें नादसाधना अथवा नादानुसन्धान की उत्कृष्ट उपायों में गणना है। महात्माओं ने मुक्तकण्ठ से नाद की महिमा का बखान किया है। प्राचीनकाल में वाग्योग मुमुक्षुओं द्वारा आश्रयणीय सब उपायों की अपेक्षा सरल राजमार्ग माना जाता था। परवर्ती काल में सन्तों ने "सुरतशब्दयोग" नाम देकर तथा कीर्तन की महिमा की घोषणा कर प्रकारान्तर से मन के स्थैर्य-साधन के लिए तथा मूढ चित्त के बोधन के लिए नाद की परम उपयोगिता स्वीकार की है। योग और तान्त्रिक साधना में मन्त्रजप में भी सर्वातिशायी महिमा नाद की ही प्रकाशित होती है।

आत्मा निर्विकल्प प्रकाशात्मक स्वातन्त्र्यमय शिवस्वरूप है—यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। किन्तु जीव यद्यपि परम स्वरूप में शिवमय है तथापि पतित दशा में उसे अपने पर स्वरूप और केवल-चिद्रूप अपर स्वरूप दोनों ही विस्मृत हो जाते हैं। केवल यही नहीं। वह अनात्म वस्तु को आत्मा मानकर उसमें अहंभाव का आरोप करता है एवं तदनुसार कर्मसम्पादनपूर्वक सुख-दुःखरूप में उसके फल का भोग करता है। यही उसका मायाधीन सांसारिक जीवन है।

जब तक अशुद्ध विकल्पों का शोधन नहीं हो जाता तब तक आत्मा निजस्वरूप में स्थिति-लाभ नहीं कर सकता एवं उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य भी फूट नहीं उठता। किन्तु यह अशुद्ध विकल्पयुक्त आत्मा की स्थिति सबके लिए एक ही तरह की नहीं है। ऐसी आत्माएँ हैं, जो विकल्पयुक्त होने पर भी अति उच्च अधिकारसम्पन्न हैं। इन्हें नियमादि का पालनपूर्वक किसी विशिष्ट साधनापद्धति का अनुसरण नहीं करना पड़ता। ये मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि किसी नियन्त्रण के अधीन नहीं रहतीं। ये भगवान् के अतितीव्र अनुग्रह प्राप्त महापुरुष हैं। इनको आत्मस्वरूप में समावेश के लिए किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। समय आने पर भीतर से ही इनका स्वाभाविक विवेकज्ञान उत्पन्न होने से ये समझ सकते हैं कि स्वप्रकाश शिवरूपी आत्मा को प्रकाशित करने की सामर्थ्य किसी साधन अथवा उपाय में नहीं है। इस प्रकार का विवेक उत्पन्न होने के कारण ये एक ही क्षण में क्रमविरहितरूप से शिवावेश प्राप्त करते हैं। इनका विवेचनप्रकार कई अंशों में इस प्रकार का है—एकमात्र चिदात्मक अपरिच्छिन्न तत्त्व है; देश, काल, उपाधि, आकार, शब्द और प्रमाण उसका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकते। यह तत्त्व अन्य-निरपेक्ष होने से स्वतन्त्र और आनन्दघन है। केवल यही नहीं। ये भीतर से ही अनुभव करते हैं कि यह तत्त्व ही इनका निजस्वरूप

है। इनमें प्रत्येक ही 'अहम्' रूप से इस तत्त्व की उपलब्धि करते हैं एवं देख पाते हैं कि समग्र विश्व इस 'अहम्' में प्रतिबिम्ब की तरह भासमान है।

इन सब पुरुषों के कुछ निम्न स्तरों में ऐसी आत्माएँ हैं जो पूर्वोक्त आत्म-वर्ग के तुल्य अखण्ड-मण्डलरूप महाप्रकाश में स्वयं प्रवेश नहीं कर सकतीं यह सत्य है, किन्तु आत्मस्वरूप से अभिन्न स्वातन्त्र्य-शक्ति का उपाय के रूप में आश्रय कर बिना आयास उसमें प्रविष्ट होती हैं और किसी पृथक् उपाय के अवलम्बन की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती। ये भी विधि-निषेध के अतीत एवं मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्यादि नियन्त्रण से मुक्त हैं। यह जो स्वातन्त्र्यशक्ति की चर्चा की गयी है, यही दर्पणतुल्य बोधाकाश में प्रतिबिम्बात्मक भावराशि को स्फुटित कर डालती है। प्रकाश से पृथक् रूप में भावराशि भासमान नहीं हो सकती, इसलिए सभी भावस्वरूपता प्रतिबिम्बात्मक हैं। परमेश्वर को जो विश्वरूप कहा जाता है यही उसका कारण है। वे अजड़ और चिदात्मक हैं, इसलिए निजस्वरूप का आमर्शन सदा ही उनमें होता रहता है। अपना मुख जैसे स्वयं देखना है यह भी बहुत अंशों में वैसा ही है। यही स्वयंप्रकाश तत्त्व की महिमा है। इस आमर्शन का जो मूल है उसी का नाम परनाद है। 'परा वाक्' के रूप से इसका स्वरूप आगमशास्त्र में वर्णित है। स्वररूपी परामर्श बीज हैं एवं उनसे उद्गत व्यञ्जनरूपी परामर्श योनि हैं। ये सब परामर्श ही शक्ति के निज स्वरूप हैं। मायिक भूमि में एवं मायातीत विशुद्ध विद्या के स्तर में ये सब कार्य करते हैं। विशुद्ध शिवमय आत्मस्वरूप में ये समष्टिरूप से 'पूर्ण-अहन्ता' रूप ग्रहण कर परा वाक् के रूप में विराजमान होते हैं, किन्तु विशुद्ध विद्या के स्तर में इनमें माया का उन्मेषमात्ररूप कुछ संकोच आविर्भूत होता है। मन्त्र का स्वरूप तथा मन्त्राधिष्ठाता गुरु का स्वरूप इसी स्थान में प्रतिष्ठित है। किन्तु मायिक भूमि में ये सब परामर्श मायिक वर्ण का रूप धारण कर अपने को प्रकट करते हैं। इस स्थल में भेद और विभाग दोनों ही स्पष्टरूप से प्रकाशित होते हैं। ये सब वर्ण पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी अवस्था में व्यवहारयोग्य होते हैं और क्रमशः बाह्यरूप में प्रकट होकर तत्त्व के रूप में फूट उठते हैं। ये सब मायीय वर्ण जीवनी शक्ति से शून्य शव के तुल्य हैं—इनमें अपनी कोई सामर्थ्य नहीं, किन्तु पूर्वोक्त सब शुद्ध परामर्शों के इनको उज्जीवित करने पर ये कार्यक्षम होते हैं। तब ये सब वर्ण वीर्यसम्पन्न होकर भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। जो पुरुष अपनी आत्मा का साक्षात्कार करते समय देख पाते हैं कि वही सब परामर्श अथवा शक्तियों का एकमात्र विश्रान्तिस्थल है, उन्हीं में सब तत्त्व और भुवन आदि प्रतिबिम्बित रहते हैं, वे बिना परिश्रम निर्विकल्प भगवत्स्वरूप में समावेश-लाभ करते हैं, उनके लिए किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती—यहाँ तक कि विकल्प-संस्कार के लिए भावना भी आवश्यक नहीं होती।

जो आत्माएँ और भी निम्न स्तर में हैं, उनका अधिकार और भी संकुचित होता है। पूर्ववर्ती स्तर में विकल्प-संस्कार में क्रम नहीं रहता—वह एक ही क्षण में सम्पन्न हो जाता है, किन्तु निम्न स्तरों में क्रम रहता है एवं उसका नाम भावना है। किन्तु भावना के पहले सत्तर्क, सद्आगम और सद्गुरु के उपदेश की आवश्यकता

होती है। वर्तमान क्षेत्र में शुद्ध विकल्पों द्वारा अशुद्ध विकल्पों का संस्कार कार्य सम्पन्न करना पड़ता है। अनादि काल से प्रत्येक जीव के हृदय में 'मैं बद्ध हूँ' इस तरह की जो धारणा बद्धमूल है वही अशुद्ध विकल्प है—उसी से संसार उत्पन्न होता है।

भगवान् की अनुग्रह-शक्ति तीव्रमात्रा में संचारित होने पर सद् आगम आदि क्रम का अवलम्बन करने से विकल्प शोधित होते हैं और परतत्त्व में प्रवेश-लाभ होता है। परतत्त्व शुद्ध विकल्पों का भी विषय नहीं है। शुद्ध विकल्पों से अशुद्ध द्वैतवासना निवृत्त होती है, परतत्त्व के प्रकाशन में इसकी कोई कारणता नहीं है। परतत्त्व सर्वत्र सर्वरूप होने से स्वप्रकाश है, विकल्पों का किसी तरह का प्रभाव उसके ऊपर नहीं पड़ता। शक्तिपात अत्यन्त अधिक होने पर अपने आप ही हृदय के भीतर सत्तर्क का उदय होता है। इसका साधारणतः 'दैवी दीक्षा' के नाम से वर्णन किया जाता है। शक्तिपात की मात्रा अपेक्षाकृत कम होने पर साक्षात् रूप से सत्तर्क उदित नहीं होता यह सत्य है, किन्तु आगम का आश्रय करके सत्तर्क का उदय होता है। आगम का निरूपण जो करते हैं वे गुरु हैं। आगम शङ्काहीन सजातीय विकल्पात्मक है, उससे समुचित विकल्प उत्पन्न होते हैं। ये सब विकल्प विशुद्ध विकल्प हैं, इनका अविच्छिन्न प्रवाह ही सत्तर्क का स्वरूप है। प्रचलित भाषा में जिसे भावना कहा जाता है वह इस सत्तर्क की ही धारामात्र है। जो भूतार्थ अस्फुट होने से अभूत के तुल्य वर्तमान रहता है वह भी इसके द्वारा परिस्फुट हो जाता है। यही वास्तव में शुद्ध विद्या का प्रकाश तथा योग का एकमात्र अङ्ग है। यही साक्षात् योगाङ्ग है—अन्यान्य योगाङ्ग अल्पाधिकमात्रा में व्यवधान युक्त हैं।

किन्तु जिन साधकों की आधारगत योग्यता और भी कम रहती है, उनके मलिन विकल्पों के शोधन के लिए शुद्ध विकल्प पर्याप्त नहीं होते। उनकी सहायता करने के लिए जीवसत्ता की ओर से किसी न किसी उपाय का अवलम्बन करना आवश्यक होता है। इन सब उपायों का ही साधारणतः जीव के साधनरूप से वर्णन किया जाता है। ये सब साधन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। उनमें तीन प्रधान हैं—

१—एक ध्यानरूप है। यह बुद्धि का कार्य है। बुद्धि का असाधारण धर्म अनुसन्धान है।

२—दूसरा स्थूल में उच्चारणात्मक और सूक्ष्म में वर्णात्मक है। यह प्राण का कार्य है। यही प्राण का असाधारण धर्म है।

३—तीसरा करण, मुद्रादि क्रियात्मक है। ये देह, इन्द्रिय आदि के व्यापार हैं। इन्द्रिय, विषय, प्राणादि सबका पिण्डरूप में एकीभाव से संस्थान ही देह का विशिष्ट धर्म है।

जो उपाय देह से भी बाह्य हैं वे अत्यन्त स्थूल उपाय हैं। यहाँ उनकी आलोचना नहीं की जा रही है।

जो बुद्धि के स्तर में अभिमान रखते हैं उनके लिए ध्यान ही श्रेष्ठ उपाय है। जो प्राणमय भूमि में अधिष्ठित हैं उनके लिए उच्चारण ही प्रधान उपाय है। जिन साधकों का देहात्मभाव अत्यन्त प्रबल है उनके लिए करण, मुद्रा, आसन आदि

उपाय विकल्प के उपशम के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। किन्तु इन सबके पृष्ठदेश शून्यभूमि में साधना का कोई उपयोग नहीं हो सकता।

इस विषय को और भी स्पष्टरूप से कहता हूँ—यह विश्व प्रमातृ-प्रमेयात्मक है। यह आत्मा के साथ अविभक्तरूप से स्थित होने के कारण सब वैचित्र्यों के रहने पर भी वस्तुतः प्रकाशात्मक है। शुद्धसंवित्स्वरूप आत्मा पूर्ण होकर भी लीला के बहाने स्वातन्त्र्य के बल से अपने में अपूर्णत्व का अवभासन करने की इच्छा कर अपने से अविभक्त समग्र विश्व को अपने से विभक्तवत् करते हैं एवं तब अपना विश्वोत्तीर्णरूप में आमर्शन कर विविक्त आकाशका रूप धारण करते हैं अर्थात् सब प्रकार के भावों से मुक्त होकर अनावृतरूप में स्फुरित होते हैं। यही चैतन्य की शून्यरूपता है। जो प्रमाता इस दशा का अधिष्ठाता है उसीको शून्यप्रमाता कहा जाता है। स्मरण रखना चाहिये कि यह शून्य वस्तुतः शून्य नहीं है, यह अभाव का ही नामान्तर है—अर्थात् सब अवलम्बन धर्म, सत्त्ववर्ग और क्लेशों के न रहने पर उस अभाव की ही शून्यरूप में गणना की जाती है। इस अवस्था में भावात्मक अनुभूति नहीं होती।

शून्यप्रमाता कुछ बहिर्मुख होने पर ही प्राण-प्रमाता के रूप में परिणत होता है। शून्यप्रमाता अपने को अपूर्ण मानता है, इसीलिए उसके हृदय में आकांक्षा जागती है एवं उस आकांक्षा के विषय को ग्रहण करने के लिए वह अपनी सत्ता से पृथक् किये गये आन्तर और बाह्य पदार्थों की ओर आकृष्ट होता है, अर्थात् उसके बहिर्मुख भाव का उदय होता है। उस समय वह प्राणप्रमाता के नाम से अभिहित होता है।

प्राण क्या है? किञ्चित् चलन अथवा स्पन्दन का प्रथम प्रसर प्राण है। संवित् अथवा चैतन्यशक्ति शून्यता प्रकट कर उसके पश्चात् प्राणरूप धारण करती है। वास्तव में बुद्धि के आविर्भाव के पहले ही प्राण का उल्लास हो जाता है, क्योंकि अन्तःकरणतत्त्व की सारभूत बुद्धि प्राण का आश्रय करके ही अपने को प्रकट करने में समर्थ होती है। जीव की स्वाधिष्ठित भूमि के तारतम्य वश उसके साधनप्रकार का तारतम्य होता है। निम्नतम स्तरों की आत्मा में जीवभाव के प्रबल रहने से जीव के आधारनिष्ठ वैचित्र्य के अनुसार उसके साधन का वैशिष्ट्य स्वाभाविक है।

अतएव प्रमाणभूमि में उच्चारण, बुद्धिभूमि में ध्यान एवं देहभूमि में करण आदि उपायरूप में परिगणित होते हैं। इनमें उच्चारण आदि सबकी अपेक्षा अन्तरङ्ग उपाय हैं। ध्यानादि उनकी तुलना में बहिरङ्ग जानने चाहिये। प्राणादि जड़ और अपारमार्थिक हैं, फिर भी उनके उच्चारादि के पारमार्थिक स्वरूप प्राप्ति में सहायक होने में बाधा नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि प्राणादिप्रमाता में अहन्ता रहने के कारण ज्ञातृत्व और कर्तृत्वरूप परम ऐश्वर्य विकल्परूप से उपस्थित हो सकता है। क्योंकि विभिन्न प्रकार के अवच्छेदों के मध्य से परिस्फुटरूप में अवधारण होना सम्भव है। इससे तद्गत उच्चारण अथवा ध्यान पारमार्थिक स्वरूप लाभ के निमित्त हो सकते हैं। शून्यप्रमाता में भी अवश्य उस प्रकार का ऐश्वर्य सम्भवपर है, किन्तु

प्राणादिप्रमाता में जैसा नियत अवच्छेद है शून्यप्रमाता में उस प्रकार का कोई अवच्छेद नहीं है। इसलिए वह विकल्पित नहीं हो सकता एवं इसीलिए परमार्थ प्रकाश का निमित्त भी नहीं हो सकता।

प्रश्न हो सकता है कि प्राणादि जड़ होने पर भी यदि उनका व्यापार पारमार्थिक स्वरूपप्राप्ति का निमित्त हो सकता है तो घट, पट आदि बाहरी जड़ पदार्थों का व्यापार भी उस प्रकार निमित्त क्यों नहीं हो सकता? इसका समाधान यह है—प्राणादि जड़ और चित् दोनों धर्मों से युक्त हैं। मायिक सृष्टिविकास के समय परमेश्वर स्वेच्छा से बाहर अवभासित भावराशि के मध्य में से प्राणादि किसी जड़ पदार्थ में स्वगत अहन्तात्मक कर्तृत्व का अभिषेक कर उसकी ग्राहकरूप में रचना करते हैं, किन्तु घट, पटादि पदार्थों को इदन्ता का विषयीभूत बनाकर चिद्रूपता के लङ्घनपूर्वक ग्राह्यरूप में प्रकट करते हैं। इसलिए प्राणादि जड़ होने पर भी एक हिसाब से परमेश्वर के स्वातन्त्र्य वश चित् हैं। जीव जब चिद्रूप जड़ प्राणादि के जडात्मभाव को ढक कर अर्थात् उसमें अहन्ताभिमान का त्याग कर स्वातन्त्र्य के उल्लास वश चिद्रूप आकार से पारमार्थिक स्वरूप में, अर्थात् अकृत्रिम पूर्णाहन्ता के आस्पदरूप में, अपना अनुभव करता है, तब वह जीव फिर जीव नहीं रहता वह अद्वय हो जाता है एवं संवित्-मात्र रूप में स्फुरित होता है।

(२)

नादतत्त्व यदि समझना हो तो हमें पूर्ववर्णित तीन प्रकार के साधनों में प्राणगत उच्चार का रहस्य भली भाँति अवगत करना होगा। प्राण का स्वाभाविक धर्म ही उच्चार है। इसकी दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं—एक सामान्य या स्पन्दात्मक और भेदहीन है एवं दूसरी विशिष्ट है, जो प्राणादिभेद से पाँच प्रकार की हैं। सामान्यवृत्ति-विशिष्ट वृत्तिराशि की भित्ति स्वरूप है। इसने देह को अपने अधीन कर रखा है, इसीलिए देह अचेतन होने पर भी चेतनवत् प्रतीत होती।

इस प्राणात्मक उच्चार से एक अव्यक्त ध्वनि निरन्तर स्फुरित होती रहती है। इसको अनाहत नाद कहते हैं। यह प्राणिमात्र के हृदय में स्वाभाविकरूप से सर्वदा ही चलता रहता है—इसका कोई कर्ता नहीं है एवं कोई इसे रोकने वाला भी नहीं है। अविभक्तरूप से सब वर्ण इसमें विद्यमान रहते हैं—यह वर्णोत्पत्ति का निमित्त है। इसीलिए यह भी वर्णपदवाच्य है।

अनाहत नाद के मुख्य अभिव्यक्ति-स्थान दो बीज हैं—एक सृष्टि-बीज "स" कार और दूसरा संहार-बीज "ह" कार। इन दो बीजों का आश्रय करके ही नाद अभिव्यक्त होता है। योगी लोग जानते हैं कि प्राण के आदि मूल का सन्धान करने पर चिदाकाश का प्रथम स्पन्दन ही दृष्टिपथ पर पड़ता है। चिदाकाश का स्पन्दन भी वस्तुतः स्वतःसिद्ध नहीं है—वह परम पुरुष और परमा प्रकृति की योगावस्था से उद्भूत है। बिन्दुयुक्त "ह"कार (हं) परम पुरुष का और विसर्गयुक्त "स"कार (सः) परमा प्रकृति का वाचक है। दोनों की युक्तावस्था ही आदि हंस का रूप है, जिसे निःस्पन्द

और स्पन्दतत्त्व का सन्धिस्थान माना जा सकता है। इस आदि प्राण को ही संवित् का प्रथम परिणाम कहते हैं—यही सृष्टि के सब तत्त्वों को धारण करने वाली शक्ति है। हम लोगों के शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल इस हंसरूपी प्राण का ही व्यापार है। हंकार से बहिर्मुखगति अथवा अनन्त की ओर गति होती है एवं सःकार से अन्तःप्रवेश अथवा देह में प्रत्यावर्तन सूचित होता है। इस गमनागमन का नियामक आपाततः त्रिगुणस्थ ईश्वर और मूल में कुलाकुल में अवस्थित परमहंस है। यही अजपामन्त्र है जिसका जप प्रत्येक मनुष्य अहोरात्र में २१६०० बार करता रहता है।

(३)

सृष्टिक्रम में शब्द की गति परा वाक् से वैखरी वाक् की ओर है, किन्तु साधन-क्रम में संहार अथवा प्रत्याहार की धारा का अवलम्बन होता है। तब शब्द की गति होती है क्रमशः वैखरी से मध्यमा और पश्यन्ती से होते हुए परा वाक् की ओर। वाग् इन्द्रिय के द्वारा जिस शब्द का उच्चारण होता है एवं श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जिसका श्रवण होता है वह शब्द की वैखरी अवस्था है। यही शब्द का स्थूल रूप है। जप और कीर्तन आदि में वैखरी वाक् का आश्रय कर के ही साधन कार्य आरब्ध होता है। इस कार्य के मूल में कर्ता की इच्छा और कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहते हैं। अन्यान्य कर्म जैसे संकल्पमूलक हैं यह भी ठीक वैसे ही है। किन्तु गुरुदत्त मन्त्र अथवा भगवन्नाम का निष्ठापूर्वक यथाविधि उच्चारण करते-करते क्रमशः ऐसी एक अवस्था का उदय होता है जब चेष्टापूर्वक उच्चारण की आवश्यकता नहीं होती। मन्त्र अथवा नाम तब अपने आप ही कण्ठ से स्फुरित होता रहता है अथवा कण्ठ-निरोध होने पर हृदय में चलता रहता है। अतएव स्थूलरूप से उच्चारण की सामर्थ्य भी तब नहीं रहती अथवा भीतर स्वतःस्फूर्तरूप से उच्चारण चलता रहता है, यह स्पष्टतः सुना जाता है। इस अवस्था को साधकगण साधारणतः जप करना अथवा नामकीर्तन करना नहीं कहते, यह जप अथवा नामकीर्तन की अपने आप होने की अवस्था है। क्योंकि यह किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती। साधक केवल सावधान चित्त से इस भीतर के नाम के खेल को लक्ष्य कर आनन्दित होते हैं।

देखा जाता है कि सद्गुरु द्वारा दिया गया नाम चैतन्यसम्पन्न होने से, साधक का हृदय यदि परिष्कृत हो तो, अपने आप ही चलता रहता है। इसको चेष्टा कर के चलाना नहीं पड़ता। इसका एकाग्रभाव से श्रवण करना चाहिये। साधक के सुदीर्घ काल के अभ्यास से, विशेषतः श्रद्धा-भक्ति के प्रभाव से, साधारणरूप से अनुष्ठित जप भी उस प्रकार की अवस्था में परिणत हो जाता है। यही मन्त्रचैतन्य का पूर्वाभास है। इस अवस्था का उदय होने पर स्वभाव की धारा के खुल जाने के कारण पुरुषकार की आवश्यकता क्रमशः घट जाती है। तत्त्व-विश्लेषण से जाना जा सकता है कि मनुष्य जिस परिमाण में कर्तृत्व के अभिमान से बंधा है एवं पूर्व-संस्कार और फलाकांक्षा द्वारा संकुचित है ठीक उसी परिमाण में उसके प्राण की क्रिया भी चैतन्य की स्वाभाविक गति से वञ्चित है। उस समय उसके प्राण वक्रगतिसम्पन्न रहते हैं,

इसलिए इडा और पिंगला नाड़ियों का अवलम्बन कर क्रिया करते हैं। विधिपूर्वक साधन का अनुष्ठान होने पर प्राण और अपान का विरुद्ध प्रवाह क्रमशः साम्य को प्राप्त हो जाता है और वह समशक्ति सुप्त कुण्डलिनी के जागरण वश मध्यनाड़ी सुषुम्णा में प्रविष्ट होकर सरल गति से ऊपर की ओर संचालित होती रहती है। यह ऊपर की ओर चलन या चरण ही उच्चरण के नाम से अभिहित होता है। प्राण के साथ मन भी क्रमशः सूक्ष्म और निर्मल होकर उर्ध्वगति-लाभ करता है। कुण्डलिनी के प्रबोधन (जागरण) से प्राण और मन एक साथ संस्कार-लाभ करते हैं। कुण्डलिनी शब्द-मातृका है। बिन्दु अथवा विशुद्ध सत्त्व इसी के नामान्तर हैं। मन और वायु के ऊर्ध्वमुख संचार के साथ यह भी क्षुब्ध होकर नाद का रूप धारण करती हुई ऊपर की ओर बहने लगती। नाद का अधिष्ठान सुषुम्णा है। यह अधःशक्ति के द्वारा उत्थित होकर, मूलाधार से जागकर प्राणात्मिका ऊर्ध्वशक्ति के द्वारा समग्र जगत् और तत्-तत् भूमि के अधिष्ठाता रूप कारणवर्ग का भेद कर उस सुषुम्णा नाड़ी के ही ऊपरी भाग से निकलती है एवं ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्त होकर सब भूतों में चैतन्यरूप से अपने को प्रकट करती है। वस्तुतः नादान्त का स्थान ब्रह्मरन्ध्र के कुछ ऊपर में है—वहीं नाद लीन होकर सब प्राणियों के हृदय में स्फुरित होता है। यह नाद अव्यक्त ध्वनि अथवा अचल अक्षरमात्र है।

वास्तविक अनाहत नाद के अभिव्यक्त होने के पहले इड़ा और पिङ्गला की क्रिया मन्द होने के साथ ही साथ नाना प्रकार के श्रुतिमधुर नाद सुनने में आते हैं। मन, प्राण और कुण्डलिनी के संयुक्तरूप से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर नाड़ी मार्ग में संचरण वश वे सब आनन्ददायक ध्वनियाँ श्रुतिगोचर होती हैं। वे सब विभिन्न स्तरों से उदित होती हैं एवं उनकी संख्या वस्तुतः अगणित होने पर भी साधारणतः वे नौ श्रेणियों में विभक्त होती हैं। तत्त्वविद् ज्ञानियों का उपदेश यह है कि उन सब ध्वनियों में कतिपय अनाहत प्रापक होने पर भी वास्तव में वे अनाहत नहीं हैं। इसीलिए उनका परित्याग कर जो वास्तव में अनाहत ध्वनि अथवा परमनाद है उसी का आश्रयण करना चाहिए। पक्षान्तर में ऐसा भी हो सकता है कि उन सब मधुर ध्वनियों को सुनते सुनते अकस्मात् गुरुकृपा से अनाहत नाद श्रवणगोचर होता है। तब वे सब अवान्तर ध्वनियां सुनने में नहीं आतीं, क्योंकि उस समय मन अनाहत में लीन हो जाता है। इसके साथ ही साथ विशुद्ध चैतन्य का प्रकाश-द्वार खुल जाता है।

किन्तु इसमें भी क्रम है। अविच्छिन्न नाद का उदय मध्यमा वाक् को सूचित करता है। वैखरी वाक् में साधक की अभिमानमूलक कण्ठक्रिया रहती है, किन्तु मध्यमा का उदय होने पर बहुधा कण्ठ रुद्ध हो जाता है अथवा कण्ठ का रोध होने लगता है। एक ओर जैसे कण्ठ-द्वार निरुद्ध होता है दूसरी ओर वैसे ही मध्यनाड़ी का अधोद्वार क्रमशः अधिक उन्मीलित होता रहता है एवं क्रमशः अधिक मात्रा में प्राण, मन और कुण्डलिनी सूक्ष्मभाव को प्राप्त होते हैं। क्रमशः ही दृष्टि की अन्तर्मुखता बढ़ती रहती है। फलतः अविद्याच्छन्न हृदयाकाश निर्मल होने के साथ ही साथ आलोकित हो उठता है। वासना-कालिमा अथवा कुहरा चित्त से हट जाता है। अन्त-राकाश के निर्मल होने के साथ साथ हृदय सरोवर में स्थित भावरूपी कमल खिल कर

ऊर्ध्वमुख हो जाता है। अनाहत के सूचक अवान्तर सभी नाद नाड़ीशोधन, भूतशोधन और चित्तशोधन का कार्य करते हैं। वस्तुतः चेतन शब्द ही ज्योतिरूप उन सब संस्कार कार्यों को करता रहता है। किन्तु इस अवस्था में भी साधारणतः स्थिररूप से ज्योति का दर्शन नहीं होता, पर तमोहरणरूप ज्योति का कार्य अबाधगति से चलता रहता है। तमोनिवृत्ति के साथ साथ वे सब अवान्तर ध्वनियाँ क्षीण से क्षीणतर होती रहती हैं। तदुपरान्त ऐसी एक स्थिति का उदय होता है जब निर्मल बाह्य आकाश में सूर्यमण्डल के उदय के तुल्य विशुद्ध अन्तराकाश में ज्योति का मण्डल स्पष्टरूप से भासित हो उठता है। यह व्यापार क्रमिक भी हो सकता है अथवा बिना क्रम के एक ही क्षण में भी हो सकता है। मध्यमा पार होकर पश्यन्ती अवस्था में वाक् के संचार का यह लक्षण है। पूर्ण पश्यन्ती अवस्था का उदय होने पर पूर्वोक्त सब नादध्वनियाँ रहकर भी मानो फिर रहतीं नहीं अर्थात् तब फिर वे श्रुतिगोचर नहीं होतीं, क्योंकि उस समय मन उपरम को प्राप्त हो जाता है। यही मन्त्रात्मक इष्टदेवता के साक्षात्कार की अवस्था है। यही षोडशकलाविशिष्ट आत्मा की षोडशी अथवा अमृतकला की अभिव्यक्ति की सूचना है। इस अवस्था में आत्मा का अधिकार निवृत्त हो जाता है, क्योंकि भोग और अपवर्ग ये दोनों पुरुषार्थ तब सम्पन्न हुए रहते हैं। त्रयी वाक् का यहीं पर उपशम होता है, यह जानना चाहिए। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति जैसे अन्त में अस्मिता में उत्कर्ष प्राप्त करती है वैसे ही ज्योतिर्दर्शन भी क्रमशः अपने सत्ता-साक्षात्कार में पर्यवसित होता है। वैखरी में शब्द और अर्थ के मध्य में परस्पर भेद रहता है, मध्यमा में दोनों में भेद भी रहता है एवं उसके साथ ही साथ अभेद भी रहता है, किन्तु पश्यन्ती में शब्द और अर्थ में परस्पर भेद बिलकुल ही नहीं रहता। तब एकमात्र अभेद ही विराजमान रहता है अर्थात् पश्यन्ती अवस्था में शब्द और अर्थ अभिन्न हो जाते हैं—इसी का नाम मन्त्रसाक्षात्कार है। इसके पश्चात् सब विकल्पों का उपशम होने पर जब पूर्ण अहन्ता का विकास होता है तभी जानना होगा कि परा वाक् का आत्मप्रकाश हुआ। यह परा वाक् ही परमेश्वर की परम शक्ति है एवं यह उनसे अभिन्न है। इसका स्वरूप नित्योदित है एवं इसीलिए इस स्थान में ही जीव अपने शिवभाव को पुनः प्राप्त होता है। पश्यन्ती में अखण्ड ज्योतिर्मण्डल का दर्शन होता है, चिदाकाश में इस ज्योतिर्मण्डल का भेद कर सकने पर स्वयंप्रकाश निज स्वरूप फूट उठता है। तब फिर आकाश नहीं रहता, अतएव चिदाकाश भी नहीं रहता, अपने में ही अपना स्वरूप फूट उठता है। इसीलिए उपनिषद् ने कहा—"स्वे महिम्नि"। "ज्योतिरभ्यन्तरे रूपमचिन्त्यं श्याम-सुन्दरम्।" इसी का नाम ज्योतिर्भेद से स्वरूप की प्राप्ति है। पश्यन्ती की जो पृष्ठभूमि है वही परा है। दृष्टिकोण की विलक्षणता वश उस परा को विशुद्ध आत्मस्वरूप की शक्ति जैसे कोई-कोई मानते हैं वैसे ही कोई-कोई उसका भेद करना ही मानवजीवन की चरम सार्थकता है, ऐसा विश्वास करते हैं। इस द्वितीय मत में परा वाक् ही शब्दब्रह्म-रूप सूर्यमण्डल है एवं उसका भेद कर आत्मस्वरूप में स्थित होना ही महाज्ञान का यथार्थ फल है।

चित्-शक्ति आत्मस्वरूप की अन्तरङ्ग शक्ति है। आनन्दशक्ति भी ऐसी ही

है। किन्तु ऐसी एक अवस्था है जिसमें चित्शक्ति आत्मस्वरूप में समरसरूप से विराजमान रहती है, इसलिए उसका प्राधान्य दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु सृष्टि के पहले यह चित्शक्ति क्रियात्मक रूप धारण करती है, अर्थात् चित्स्वरूप में अक्षुण्ण साम्य रहते हुए भी चित्शक्ति मानो उद्रिक्त होकर महामाया को क्षुब्ध करती है। महामाया कुण्डलिनी अथवा बिन्दु के रूप में विश्व के मूल उपादान स्वरूप में अव्यक्त रहती है। वह है या नहीं इसका कोई निदर्शन नहीं रहता, क्योंकि वह अव्यक्त है। किन्तु परमेश्वर की स्वातन्त्र्यरूपा चित्शक्ति के क्रियारूप से प्रबलता धारण करने पर बिन्दु क्षुब्ध होता है। तब उस क्षुब्ध बिन्दु से नाद और ज्योति का स्फुरण होता है। वस्तुतः नाद और ज्योति नित्य होने के कारण एक हिसाब से बिन्दुक्षोभ के पहले ही विद्यमान रहते हैं। उस समय की वह ज्योति परम प्रकाश के रूप से एवं नाद परनाद के रूप से किसी-किसी जगह वर्णित हुए हैं। विश्व की दृष्टि के अनुसार उस परिस्थिति में नाद अथवा ज्योति किसी की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह अव्यक्त पद है। किन्तु चित्शक्ति के क्रियात्मक होने के साथ-साथ नाद और ज्योति समानान्तररूप से सृष्टि के मूल से ही क्रमशः बहिर्मुख होकर अधिकाधिक आत्मप्रकाश करने लगते हैं। इसलिए चित्शक्ति की जो परबिन्दु के अभिमुख दिशा है वह नादमय कही जा सकती है एवं जो उसकी चित्स्वरूप परमेश्वर के अभिमुख दिशा है उसे नादातीत कहा जा सकता है। वस्तुतः चित्शक्ति में इस प्रकार का विभाग नहीं है एवं रह भी नहीं सकता। अर्थात् शक्ति की बहिर्मुख अवस्था में ही नाद और ज्योति का स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु शक्ति की अन्तर्मुख अवस्था में बिन्दु के अक्षुब्ध रहने के कारण अथवा क्रियाशक्ति का उन्मेष न होने के कारण सभी एक परम अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। तब नाद नहीं, ज्योति नहीं, बिन्दु नहीं एवं शिव-शक्ति भी मानो नहीं रहते अथवा सभी हैं एक अव्यक्त महासत्ता के रूप में।

इसीलिए प्राचीन आगम में परबिन्दु और परनाद में किन्हीं किन्हीं ने अभेद-कल्पना की है एवं किन्हीं किन्हीं ने भेदकल्पना की है। द्वैतदृष्टिकोण के अनुसार परबिन्दु से परनाद भिन्न है—यह नाद सृष्टि के हृदय में निहित बीजरूप नाद नहीं है, क्योंकि वह बिन्दु से आविर्भूत होता है, किन्तु यह बिन्दु से अतीत है। इसका किसी तत्त्व में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता अथवा यदि अन्तर्भाव करना हो तो विश्वातीत शक्ति में किया जा सकता है। इस स्थल में परनाद और विशुद्ध संवित् अथवा चित्सत्ता एक प्रकार से अभिन्न हैं। अद्वैतदृष्टि में परा वाक् आत्मा की स्वरूप-शक्ति एवं स्वरूप से अतिरिक्त न होने के कारण चिद्रूपा है। परा शक्ति और परा वाक् अभिन्ना हैं—इसीलिए इस शक्ति का बोध की नित्य-सिद्ध वाग्रूपा शक्ति के नाम से वर्णन किया गया है, जिसके अभाव से प्रकाश प्रकाशमान होकर भी स्वयंप्रकाशपद-वाच्य नहीं हो सकता। यह परा वाक् ही आत्मा की अपनी विमर्शरूपा स्वरूपा-नुबन्धिशक्ति है।

बिन्दु के क्षुब्ध होने के बाद जिन नाद और ज्योति के प्राकट्य की बात

कही गई है वे ही सृष्टि के मूल हैं। पर स्मरण रखना होगा कि सृष्टि के मूल में सर्वत्र ही दो व्यापार विद्यमान रहते हैं। एक व्यापार के मूल में एकमात्र स्वभाव ही कार्य करता है, पुरुष की इच्छा अथवा प्रयत्न की कुछ जरूरत नहीं होती—केवल सांनिध्य ही पर्याप्त होता है। किन्तु दूसरे व्यापार के मूल में इच्छाशक्ति अथवा तदनुरूप कोई शक्ति विद्यमान रहती है। प्रथम व्यापार यदि न रहे तो दूसरे व्यापार की कोई सम्भावना नहीं रहती। वायुमण्डल में वायु सूक्ष्मरूप से निरन्तर चलता रहता है। सूर्य आदि ज्योतिर्मण्डल से निरन्तर रश्मियों का विकिरण होता रहता है। इसी तरह स्वभाव की शक्ति स्वभाव वश निरन्तर स्वकार्य साधन की ओर उन्मुख होकर चलती रहती है। यह नित्य एवं स्वयंस्फूर्तिशील है। किन्तु इस क्रियाशील शक्ति को किसी प्रयोजन-साधन में लगाना हो तो उसका नियन्त्रण करने के लिए इच्छाशक्ति आवश्यक होती है। इच्छाशक्ति के प्रभाव एवं निर्देश से वह स्वभाव की शक्ति इच्छानुरूप आकार धारण करती है। इच्छा की प्रेरणा यदि न रहे तो वह किसी भी कार्य का साधन नहीं करती। अथ च शक्ति का स्पन्दन होता रहता है, इसमें सन्देह नहीं। सांख्य में सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम की चर्चा की गई है। सदृश परिणाम में सृष्टि आदि कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि तब गुण-वैषम्य नहीं होता, प्रकृति में साम्यभाव का खेल चलता रहता है। किन्तु इच्छा का संस्रव होने पर अथवा भोग के लिए कर्मबीज के परिपक्व होने पर अर्थसृष्टि के सम्पादन के लिए धर्मपरिणामसाधक तत्त्वान्तर परिणाम-स्थल में गुण-वैषम्य अपने आप ही फूट उठता है। यह विसदृश परिणाम है। स्वरूप परिणाम अपने आप ही होता है, किन्तु धर्म-परिणाम के मूल में साक्षात् रूप से इच्छा अथवा कर्म विद्यमान रहता है और तत्त्वान्तर के परिणाम में वही विप्रकृष्टभाव से रहता है। तान्त्रिक योगी के दृष्टिक्षेत्र में भी ऐसा ही दृष्टान्त दिखाई देता है। सृष्टि के प्रारम्भ में कला का प्रसार अपने आप ही होता रहता है, किन्तु तत्त्व का प्रसार ठीक उस प्रकार नहीं होता। तदनन्तर तत्त्वों से भुवनों का आविर्भाव एक प्रकार की अर्थसृष्टि के अन्तर्गत होने से स्पष्टरूप से ही प्रयोजन की अपेक्षा रखता है। इसलिए इच्छा, कर्म अथवा अधिकार भुवन-सृष्टि के पीछे अवश्य रहते हैं।

(४)

इस जगह भी नाद के सम्बन्ध में इस रहस्य को ध्यान में रखना चाहिए। प्राण के चलन से वर्णादि का उदय होता रहता है। प्राण का चलन दो प्रकार का है—एक स्पन्दात्मक और स्वाभाविक, दूसरा क्रियात्मक और प्रयत्नजन्य। जो स्पन्दरूप स्वाभाविक चलन है, उससे स्वभावतः ही वर्ण का उदय होता है। वर्णों के उदय में किसी की भी इच्छा अथवा प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती—सभी वर्ण नियतरूप और सर्वत्र अविशिष्ट हैं। किन्तु मन्त्रपदादि का उदय योगी की इच्छा के बिना नहीं हो सकता। वे अगणित और अनियत हैं, वर्णों के तुल्य परिगणित और नियत नहीं हैं। योगी प्रयोजनविशेष के अनुरोध से विशिष्ट

मन्त्रादि को अभिव्यक्त करने की इच्छा करने पर तदनुरूप प्रयत्न करते हैं एवं उससे अभीष्ट मन्त्रादि उदित होते हैं। यह उदय अवश्य प्राण के चलन से ही होता है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु उसके लिए इच्छा और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। दीक्षाकाल में भावी शिष्य का मन्त्रोद्धार भी इसी प्रणाली से होता है। किन्तु वर्णों की अभिव्यक्ति के लिए इच्छा अथवा प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वभावतः ही अभिव्यक्त होते हैं—वास्तव में वह निरन्तर ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। चित्शक्ति अथवा संवित् स्पन्दरूपा है। जब सृष्टि के प्रारम्भ में वह प्राणरूप में परिणत होती है तब उस प्राण को भित्ति बनाकर विराट् काल का प्रासाद गढ़ उठता है। मूर्ति-वैचित्र्य की आभासनशक्ति से ही देश एवं क्रम की कल्पना से काल उद्भूत होता है। समग्र विश्व ही प्राण में प्रतिष्ठित है। जहाँ प्राण है अथवा स्पन्दशक्ति का खेल है वहाँ प्रवाह रहेगा ही—मूल में यह प्रवाह सरल रहता है, बाद में वह क्रमशः वक्रभाव में परिणत होता है। नाद का जो परमरूप है वह उस सरल प्रवाह में ही परिस्फुरित होता है। वह सर्वदा ही प्रकाशमान है—उसका तिरोभाव कभी नहीं होता। किन्तु नाद के दूसरे रूप का निरन्तर उदय और अस्त हो रहा है। दोनों ही वर्णोदय के अन्तर्गत तथा प्रयत्ननिरपेक्ष और स्वारसिक हैं। नाद के पर और अपर रूप में सूक्ष्मतम तारतम्य है। वर्ण का जो परम स्वरूप है, उसकी सूक्ष्मतर अवस्था में वर्णगत भेद अथवा विभाग नहीं रहता, क्योंकि वही सब वर्णों का अविभक्त सामान्य रूप है। पहले जो अनाहत ध्वनि की बात कही गई है वही उसका स्वरूप है। यह ध्वनि प्राणिमात्र के ही हृदय में सर्वदा ही अपने आप ध्वनित होती है—

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वाद् अनाहत इवोदितः॥

इसका उदय ही होता है, अस्त नहीं होता है। पर वर्ण की जो अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म अवस्था है वहाँ उदय भी है और अस्त भी है। पर यह अस्त अस्त नहीं हैं, क्योंकि इस अस्त में भी पुनः उदय का सन्धान पाया जाता है। सूक्ष्म वर्ण के तीन स्तर हैं—सूक्ष्मता का तारतम्य तीनों में ही है। स्थूल वर्ण का उदय वर्गक्रम से होता है। एक अहोरात्र में अष्टवर्ग का उदय होता है। इस उदय के सम्बन्ध में विविध मत हैं—एक मत में यह बाह्य अहोरात्र के अधीन है, अन्य मत में यह किसी के अधीन नहीं है। पूर्व मत में जो उदय नहीं होता है वह विषम है, किन्तु उत्तर मत में यह उदय विषम न होकर समभावापन्न होता है। उत्तर मत के अनुसार प्राण-संचार का परिमाण ३६ अंगुल होने से एक एक वर्ग का उदय ४$\frac{१}{२}$ अंगुल होता है। पूर्व मत से एक एक संक्रान्ति में ९०० सौ बार प्राण का संचार अर्थात् श्वास की संख्या होती है। दिन में १२ संक्रान्तियाँ और रात्रि में १२ संक्रान्तियाँ निर्दिष्ट हैं। दिन में प्राण का जो संचार होता है उसकी संख्या १०८०० है। रात्रि के समय में इसी तरह जानना चाहिए। कुल संचार अथवा श्वास-प्रश्वास की संख्या २१६०० है। यही अहोरात्र में मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की संख्याविशिष्ट अजपा है।

यह जो वर्ण के अविभक्त सामान्य रूप अथवा नाद की बात कही गई है यह ब्रह्म-प्रणव-संलग्न नाद अथवा ज्योति है। यहाँ मन के लीन होने पर ही परम पद का साक्षात्कार होता है। मन न रहने पर नाद नहीं रहता और नाद न रहने पर मन नहीं रहता। कोई कोई इस अवस्था का परब्रह्म अवस्था के नाम से निर्देश करते हैं। जब (आवरण वश) नाद सुनने में नहीं आता वह विक्षिप्त, क्षिप्त अथवा मूढ़ दशा है। किन्तु जब नाद श्रुतिगोचर होता है वह एकाग्र अवस्था ज्ञान की अवस्था है और जब नाद-श्रवण स्थगित हो जाता है वह चित्त की निरोध अवस्था है। तब मन की वृत्ति नहीं रहती, केवल संस्कारमात्ररूप से मन विद्यमान रहता है। किन्तु यह संस्कार भी जब नहीं रहता तब चिन्मात्र या शुद्ध आत्मा की स्वरूपस्थिति जाननी चाहिए।

यह अविभक्त वर्ण या (पर) नाद अथवा (पर) ज्योति वस्तुतः चिदात्मिका शक्ति है। यही 'परा वाक्' पदवाच्य है। पूर्ण अहन्ता इसका स्वरूप है, यह पहले कहा जा चुका है। जो लोग परा वाक् और ज्योति को बिन्दुक्षोभजन्य मानते हैं, वे कारण अवस्था के कार्यभाव की ओर लक्ष्य करते हैं। इसलिए उस मत में परा वाक् का भेद किए बिना आत्मा अपने शिवस्वरूप का लाभ नहीं कर सकती। इस दृष्टि में परा वाक् ही शब्दब्रह्मरूप रवि है, जिसका बोधरूपी खड्ग द्वारा भेद कर स्वरूप-लाभ करना पड़ता है।

यह मात्रातीत चिन्मय और असीम नाद-प्रवाह विश्वकल्याण के लिए ऊपर से भ्रूमध्य में पतित होता है। विष्णुपद से जैसे गंगा शिवमस्तक में उतरीं हैं वैसे ही यह नादगंगा भी विश्वसृष्टि के लिए और जीव का परम कल्याण करने के लिए अवतीर्ण हुई है। भ्रूमध्य स्थान ही चित्त का केन्द्रबिन्दु है। इस स्थान में प्रकृति ह, क्ष और उनके मध्य में 'लं' बीज की रक्षा कर सृष्टि की दिशा में नीचे अवतीर्ण होती है। मनोभूमि के संचालन के लिए ये तीन वर्ण भ्रूमध्य में संरक्षित होते हैं। इसके बाद चित्सूत्र का अवलम्बन कर अधःप्रदेश में क्रमशः तीन मण्डल रचित होते हैं। पहले सोममण्डल, उसके बाद सूर्यमण्डल एवं अन्त में अग्निमण्डल। तीनों ही मण्डल वर्णमय जानने चाहिये। उनमें सोममण्डल स्वरवर्णमय, सूर्यमण्डल ककारादि २५ व्यञ्जनवर्णमय एवं अग्निमण्डल यकारादि अवशिष्ट व्यञ्जनवर्णमय है। इन तीन मण्डलों में क्रमशः कारणदेह, सूक्ष्मदेह और स्थूलदेह उत्पन्न होती हैं। इच्छा, मन और प्राण की अभिव्यक्ति का यही क्रम है। यहाँ तक वर्णमालात्मक रचना सम्पूर्ण होने पर वर्णसमष्टि और भी नीचे अवतरण करती है एवं अज्ञानमय कारण समुद्र में जाकर निमग्न होती है। तब इसका नाम पड़ता है कुण्डलिनी। यह चिन्मय वर्णमाला की सुप्तावस्था है। यह व्यष्टि में और समष्टि में समानरूप से होती रहती है।

यहाँ तक जो कहा गया उससे प्रतीत होगा कि नाद से ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि होती है एवं सृष्ट विश्व के अन्दर नाद ही प्राण अथवा जीवनी शक्ति के रूप में निहित रहता है। यही अनन्त विश्व को गर्भ में धारण कर प्रसुप्त सर्पाकार में रहता है। आगमवेत्ता लोग इसको स्वयं उच्चरणशील अनच्क हकार अथवा परम बीज कहते हैं। इस अवस्था में इसका नाद-भाव अभिभूत रहता है एवं प्राणात्मक भाव

खुला रहता है। जब यह विश्व को गर्भ में धारण करके रहता है तब इसका नाम होता है पराकुण्डलिनी; जब इसका नादात्मक रूप में स्फुरण होता है तब इसका नाम होता है वर्णकुण्डली एवं जब यह नाद रूप भी डूब कर गमीर सुषुप्ति में अवस्थिति होती है तब इसका नाम होता है प्राणकुण्डली।

यह प्राण ही हंस है। यह अपने स्वभाव के अनुसार नीचे ऊपर संचरण करता है—'ह' कार विमर्शरूप से हान (त्याग) करता है और 'स' कार विमर्शरूप से समादान (ग्रहण) करता है। त्याग और ग्रहण इसका स्वभाव है। यही नादात्मक हंस का नित्य उच्चारण है। अनच्क (ह) का अभिव्यंजक अकार है। यह नाद के सिरके रूप में कल्पित है। इस अकार के साथ योग होने पर उकार अधः ऊर्ध्व संचारक होने से चरण रूप में कल्पित होता है। उकार का योग होने पर बिन्दु आदि प्रमेय के प्राकट्य का सूत्रपात होता है। यह अनुस्वार अथवा मकार मात्रा में ही होता है। इस प्रकार अ-उ-म रूप में अथवा प्रणवरूप में इस उच्चरण की उपलब्धि संभव-पर होती है। यही वर्ण का उच्चार है।

यह जो वर्ण-उच्चार का विवरण दिया गया है इसकी अनुभूति तनिक अन्तर्मुख होने पर साधारण व्यक्तिमात्र को ही हो सकती है। यह नाद की स्थूल अनुभूति है। कुण्डलिनी शक्ति के प्रबुद्ध होने पर इसको अल्पाधिक मात्रा में सब लोग प्राप्त कर सकते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि मन और प्राण के सम्मिलित हो जाग्रत् कुण्डलिनी के साथ युक्त होकर मध्य नाड़ी में प्रवेश करते ही अनन्त प्रकार की विचित्रताओं से सम्पन्न स्थूल नाद का अनुभव होने लगता है। साधारणतः दस प्रकार की ध्वनियों का वर्णन प्राप्त होता है। इनके भी नाना प्रकार के भेद हैं। नौ ध्वनियों को छोड़कर दशम ध्वनि को सुनते रहने का विधान है। ये सब क्रमशः अधिकतर सूक्ष्म हैं। सुषुम्णा नाड़ी ही ब्रह्मनाड़ी है, यह सत्य है, किन्तु जब तक इसके साथ सम्बद्ध अन्य नाड़ियों का योगसूत्र विच्छिन्न नहीं होता तब तक वह वास्तविक ब्रह्मनाड़ीपदवाच्य नहीं होती। वज्रा, चित्रिणी आदि नाड़ियाँ ब्रह्मनाड़ी की ही पूर्वाभास हैं। इस नाड़ी-संघट्ट से मन, वायु और कुण्डलिनी का संचार विभिन्न मार्गों से होता है। व्यक्तिगत आन्तर प्रकृति के भेद से ऐसा होता है। इसी से स्थूल नाद की विचित्रता होती है। नाद के साथ ज्योति का सम्बन्ध है। नाद की भिन्नता के अनुरूप ज्योति में भी भिन्नता होती रहती है। विशुद्ध ज्योति वही है जिसमें कोई रंग नहीं रहता—जो शुभ्र प्रकाश अथवा अवर्ण प्रकाश है। विशुद्ध नाद भी वही है जिसमें स्वरगत, मात्रागत और गुणगत कोई विभाग नहीं है।

हठयोग में नादसाधना का उपदेश है। आदिनाथशङ्करप्रोक्त सवा करोड़ लययोग में नादानुसन्धान का ही श्रेष्ठत्व स्वीकृत है। हठयोगियों ने आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति इन चार नादभूमियों का वर्णन किया है। निष्पत्ति अवस्था ही सिद्ध अवस्था है। इसकी एक एक अवस्था में एक एक ग्रन्थिका भेद होता है और एक एक प्रकार के शून्य के उदय से एक एक प्रकार की ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है। इस सम्बन्ध में अधिक विवरण वर्तमान प्रसङ्ग में अनावश्यक है।

अ-उ-म के रूप से जिस नादक्रिया की बात पहले कही गई है वह योगाभ्यास से क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्मता को प्राप्त होती है। मकार-मात्रा के बाद वह उच्चार भ्रूमध्य में बिन्दुरूप धारण करता है। अकारादि तीन मात्राओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप से प्रसिद्ध सब भेद विद्यमान हैं—ये सब भेद एकीभूत होकर अविभक्तरूप से जहाँ विदित होते हैं वही बिन्दु है। यहाँ वेद्य अथवा ज्ञेय ही प्रधान है। योगियों की नौ योगभूमियों अथवा चिन्मय अनुभूतियों में बिन्दु ही प्रथम है। ये नौ भूमियाँ भी 'नव नाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्थूल में जैसे नाद के नौ विभाग कल्पित हैं सूक्ष्म में भी वैसे ही नौ ही विभाग कल्पित हैं। बिन्दु का उच्चारण-काल अर्धमात्रा है—अर्धमात्रा में प्रविष्ट न होने तक वे सब योगभूमियाँ प्राप्त नहीं होतीं। एकमात्रा से अर्धमात्रा में प्रवेश अत्यन्त दुरूह है। मन की लौकिक स्थिति से अर्धमात्रा में प्रवेश बिलकुल ही नहीं होता। क्योंकि एकाग्रता और निरोध के सन्धि-स्थान में अर्धमात्रा स्थित है। प्रज्ञा का उत्कर्ष यदि विभूति की ओर होता है तो सर्वज्ञत्व का आविर्भाव होता है, किन्तु वह यदि चित्प्रकाश की ओर होता है तो ऐसी स्थिति में सर्वज्ञत्व का निरोध और विवेक का उदय यही उक्त उत्कर्ष का लक्षण है। अस्मिता ही ग्रन्थि है—इसके खुलने पर पूर्ण मुक्ति न होने तक जो विवेक-प्रवाह चलता रहता है वही पूर्ण निरोध की ओर ले जाता है। इसी का नाम उन्मनी है। मात्रा-ह्रास के अनुसार काल का सम्बन्ध जितना कम होता है जड़ का सम्बन्ध भी उतना ही कम होता रहता है एवं उसी अनुपात से चित्प्रकाश की उज्ज्वलता भी बढ़ती रहती है। इसीलिए निरोध अथवा उन्मनी अवस्था में काल नहीं रहता।

देहतत्त्व अत्यन्त जटिल है। इसका यदि भेद करना हो तो देह के स-कल, स-कलनिष्कल और निष्कल इन तीन स्तरों का भेद करना चाहिये। अकुल सहस्रार से मूलाधारादि सब कुल-पद्मों का भेद कर क्रमशः ऊपर की ओर चढ़ना चाहिये। हमने साधारणतः जिस सहस्रदल कमल की बात सुनी है वह देह के ऊपरी भाग में स्थित है। अकुल से आज्ञाचक्र पर्यन्त प्रदेश की भावना स-कल है, बिन्दु से उन्मनी पर्यन्त स-कलनिष्कल है एवं महाबिन्दु निष्कल है।

भ्रूमध्य में कुछ ऊपर की ओर ललाट में बिन्दु का स्थान है। यह वर्तुलाकार एवं देखने में दीप के तुल्य है। बिन्दु-आवरण में मूल पाँच कलाओं की स्थिति रहती है। चारों ओर निवृत्ति आदि चार कलाएँ हैं एवं शान्त्यतीता नामक पाँचवीं कला बिन्दु के मध्य में स्थित है। 'मतङ्गपरमेश्वर' नामक आगम के मत से जिस परम तत्त्व को लय अवस्था में शिव कहा जाता है—व्यक्त अवस्था में उसी को बिन्दु भी कहा जाता है। सृष्टि की उन्मुख अवस्था ही बिन्दु है। फिर दूसरी ओर से देखने पर अनन्त में प्रवेश करने का प्रथम द्वार ही बिन्दु है। सकल अवस्था में साधक सीमा में विद्यमान रहता है, किन्तु इस अवस्था में पर पर भूमिभेद करने से चित्त क्रमशः अधिकतर एकाग्रता-लाभ करता है। आज्ञाचक्र में एकाग्रता का पूर्ण विकास होता है। पातञ्जल मत में सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्ण विकास अस्मिता नाम से अभिहित है। उसमें प्रज्ञा का पूर्ण विकास होने पर भी वह स्थूल का ही व्यापार है, क्योंकि सर्वज्ञत्व

भी स्थूल के धर्म के सिवा और कुछ नहीं है। विशुद्ध चिदनुभूति इस भूमि में नहीं होती। ग्रन्थि-भेद के बाद निरोध का द्वार खुल जाने पर सूक्ष्म चिदनुभूति का सूत्र-पात होता है। निरोध के क्रमविकास का इतिहास तथा पूर्वोक्त नौ नादों का क्रमिक उत्कर्ष एक ही बात है। निरोध की चरम अवस्था में चित्त वृत्ति-शून्य होता है। अतएव यह नौ नादों का व्यापार निरुद्ध चित्त का गुप्त रहस्य है।

बिन्दु की बात पहले ही कही गई है। इस भूमि में ज्योतिर्मय ज्ञानरूप से ईश्वरबोध की सूचना होती है। यहाँ प्रवेश हुए बिना जागतिक ज्ञान विलुप्त नहीं हो सकता। समाधिजनित प्रज्ञा से यह बहुत ऊपर की अवस्था है, क्योंकि समाधि-जनित ज्ञान उत्कृष्ट होने पर भी जागतिक ज्ञान ही है। किन्तु अर्द्धमात्रा का ज्ञान चिन्मय अनुभव है, इसीलिए यह श्रेष्ठ है। लौकिक ज्ञान में त्रिपुटी का लोप नहीं होता—विराट् अभेदज्ञान का उदय होने पर भी भेदज्ञान की निवृत्ति क्रमशः होती है। वह भेदज्ञान क्रमशः स्तरभेद करते करते कटता है। तब पहले के देश-काल का ज्ञान रहता है सही, पर वह तनिक दूसरे प्रकार का होता है। योगियों को जिन पञ्चशून्यों का परिचय मिलता है उनमें बिन्दु ही प्रथम शून्य है। बिन्दु के स्तर में बीज नहीं रहता अर्थात् प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता, इसीलिए उसको पुरुष का अभिन्नस्वरूप भी कहा जा सकता है।

बिन्दु के बाद अर्धचन्द्र है। यह दूसरी भूमि है। इसकी मात्रा १/४ है। बिन्दु की पूर्णचन्द्र अथवा चन्द्रबिन्दु के रूप में कल्पना कर अर्धचन्द्र की उसी के अर्धांश के रूप में कल्पना की गई है। यह बिन्दु के ऊपर स्थित है। इसके चारों ओर चार और बीच में एक कुल पाँच कलाएँ हैं। किन्तु यह शून्य नहीं है। ललाट-स्थित अर्धचन्द्र में बिन्दु का ज्ञेयप्रधानभाव कट जाता है।

इसके बाद तृतीय भूमि का नाम निरोधिका या रोधिनी है। इसकी मात्रा और भी सूक्ष्म अर्थात् १/८ है। इस निरोधिका भूमि का लंघन करना अत्यन्त कठिन है। समग्र विश्व के शासन का भार ब्रह्मादि जिन पाँच कारणों को सौंपा गया है, उनकी भी ऊर्ध्वगति इस निरोधिका भूमि में रुक जाती है। क्योंकि इस भूमि का भेद करने पर विश्वशासन का कार्य करना फिर उनके लिए सम्भवपर नहीं होता। एकमात्र योगी ही इसका भेद कर नाद-पथ में प्रवेश कर सकते हैं। वस्तुतः यह बिन्दु-आवरण का ही शेष प्रान्तमात्र है।

निरोधिका के बाद नाद और नाद के बाद नादान्त क्रमशः ये दो भूमियाँ हैं। नाद की मात्रा १/१६ है और नादान्त की मात्रा १/३२ है। इस नाद को घेर कर असंख्य मन्त्र-महेश्वर विराजमान रहते हैं। नाद का स्थान ब्रह्मरन्ध्र के मुख में है—विशुद्ध त्रिगुणातीत और चित् का आभासयुक्त शब्द यहाँ अनुभूत होता है। विशुद्ध चित् की धारा यहीं से आरम्भ हुई है, यह कहना अनुचित न होगा। नादान्त शून्य है—यही तृतीय शून्य है। किन्हीं किन्हीं आचार्यों के मत में नाद और नादान्त ईश्वर-पदरूप माने गये हैं। इसमें गुणीभूत वेद्य का भेद ही प्रधान है। इस भूमि में समस्त

वाचक शब्द अभिन्न रूप से विमर्शन के विषयीभूत होते हैं। इसके बाद अनाहत ध्वनि अथवा हंस ललाट में ध्वनित होते रहते हैं। नादान्त नाड़ियों के आधार और ब्रह्मबिल में लीन है। इसने मोक्षद्वार को रुद्ध किया है। यह अपनी अधःशक्ति के द्वारा सकल जगत् का भेद कर ऊर्ध्वशक्ति में समाप्त होता है।

इसके बाद शक्तिस्थान है। यही षष्ठ चिद्भूमि है। यह स्थान ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर है। ऊर्ध्वकुण्डली इसी शक्ति का नामान्तर है। यह विश्व की आधार है, क्योंकि इसीके गर्भ में अनुन्मिषित विश्व निहित रहा। यह चार कलाओं से वेष्टित है—इसके केन्द्र में स्थित कला का नाम व्यापिनी है। शक्ति की मात्रा १/६४ है। शक्ति में ही आनन्दसत्ता का अनुभव होता है। इसके अनन्तर ब्रह्म की सगुण शक्ति के आनन्द का आभास है। शक्ति से उन्मनी पर्यन्त प्रत्येक भूमि दीप्त बारह आदित्यों के तुल्य उज्ज्वल है। शक्ति शून्यात्मक नहीं है, किन्तु व्यापिनी शून्यस्वरूप है। पञ्चशून्यों में यही चतुर्थ शून्य है[1]। शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथिवी पर्यन्त सब तत्त्व और भुवन वस्तुतः शक्ति का ही प्रपञ्च है। शक्तितत्त्व ही अनाश्रित भुवन अथवा योगियों की वास्तविक निरालम्बपुरी है। शिवतत्त्व वास्तव में शक्तितत्त्व में ही व्यापिनी में अवस्थित है। इस अनाश्रित भुवन के चारों ओर चार अनुरूप शक्तियाँ अवस्थित हैं—मध्य में है अनाश्रिता शक्ति। शिवरूपी अनाश्रित देव की गोद में अनाश्रिता शक्ति विराजमान है।

व्यापिनी के अनन्तर समना का स्थान है। यही पराशक्ति है। यह व्यापिनी-पद में अवस्थित अनाश्रित भुवन के भी ऊपर है। यही सब कारणों की कर्तृभूत और सब अण्डों की आधारभूत है। इस शक्ति पर आरूढ़ होकर ही शिव समग्र विश्व के सृष्टि, रक्षा, संहार, निग्रह और अनुग्रह रूप पाँच कार्यों का सम्पादन करते हैं। तन्त्र-मत में महेश्वर हेतुकर्ता हैं और शक्ति उनकी करण है।

व्यापिनी की मात्रा १/१२८ और समना की मात्रा १/२५६ है।

---

१. अधिकांश योगी उपासकों का यही मत है। स्वच्छन्दागम भी इसी मत का समर्थक है। इस मत में (क) ऊर्ध्वशून्य = शक्तिपद है, जहाँ नादान्त पर्यन्त सब पाश प्रशान्त हैं। (ख) अधःशून्य = हृदयक्षेत्र है, जिसमें इस समय भी प्रपञ्च का उल्लास नहीं हुआ। (ग) मध्य-शून्य = कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र हैं। व्यापिनी ब्रह्मरन्ध्र के भी अनन्तर है। ब्रह्मरन्ध्र ही शक्तिस्थान है। इसीलिए व्यापिनी चतुर्थ शून्य है। तीन शून्य चल और हेय हैं, क्योंकि ये आपेक्षिक हैं। वस्तुतः चतुर्थ शून्य भी वैसा ही है। इस मत में समना में पञ्चम शून्य और उन्मना में षष्ठ शून्य है। ये भी चल और हेय हैं। परतत्त्व की अपेक्षा उन्मना में भी कुछ चलत्व है। परन्तु ये सब शून्य तत्त्व भी परम शिव द्वारा अधिष्ठित हैं—इसीलिए सिद्धिप्रद हैं। इसलिए स्वच्छन्दशास्त्र की परिभाषा में छह शून्यों का त्याग कर सातवें में प्रवेश आवश्यक है। वही वस्तुतः परमपद है। छहों शून्य अवस्थाएँ हैं और पथ के अन्तर्गत हैं। सप्तम ही योगी का महालक्ष्य है। वह—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते। अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः परं गताः॥

अतएव यह सप्तम शून्य ही अखण्ड महासत्ता है।

इनके अनन्तर उन्मना है। किसी मत में इसकी मात्रा $\frac{१}{५१२}$ है। मतान्तर में इसका उच्चारण-काल नहीं है, क्योंकि यह मन की अतीत है। इसी जगह नादरूपी शब्दब्रह्म की समाप्ति होती है। यही पञ्चम शून्य है एवं नौ नादों में यही नवम भूमि है।

शक्ति में आनन्दमय स्पर्श का अनुभव होता है—उसके पश्चात् ऊर्ध्व में प्रवेश होता है। व्यापिनी में (त्वक् और केश-स्थानों में) व्याप्ति-लाभ होता है। उसके अनन्तर शिखा केश-स्थान में अथवा समनापद में केवलमात्र मनन रहता है, किन्तु मनन का कोई विषय नहीं रहता। उसके बाद मनन भी नहीं रहता—तब हंस शुद्ध आत्मा का रूप धारण करता है। उस स्थिति में एक साथ सम्पूर्ण विश्व का अभेद से प्रकाश होता है। यह उन्मना शक्ति के आश्रय से होता है। तब शिवत्व की प्राप्ति होती है—चिदानन्दघन परमेश्वरस्वरूप में समावेश होता है एवं हंस संकोचहीनरूप से प्रसृत होता है अर्थात् व्यापक होकर ३६ तत्त्वों के रूप में एवं उनसे उत्तीर्ण के रूप में स्फुरित होता है।

स्थूल वर्ण के उच्चारण-काल को मात्रा कहते हैं। विश्व से समना पर्यन्त सूक्ष्म वर्ण का उच्चारण-काल अर्द्धमात्रा से पूर्वोक्त विवरण के अनुसार एक मात्रा का $\frac{१}{५१२}$ भाग तक है। कालांश क्रमशः अधिकतर सूक्ष्म होता है। प्राचीन आचार्यों ने सूक्ष्मतम काल के अवयव का नाम रखा है 'लव'। पद्म के एक दल का भेद करने में जो समय लगता है उसका नाम 'लव' है। उनके मत में इसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर काल और नहीं है। वस्तुतः यह ठीक नहीं है।

मन्त्र अथवा नाम चैतन्यसम्पन्न होने पर क्रमशः सूक्ष्मता प्राप्त करता है। तब काल-मात्रा अर्द्ध-मात्रा से क्रमशः अधिकाधिक कम हो आती है। फोटो-ग्राफर के Instantaneous exposure के साथ इस काल की क्रमिक सूक्ष्मता की तुलना करनी चाहिए। सूक्ष्मता क्रमशः अर्द्ध मात्रा की धारा पकड़ कर बढ़ती रहती है। मात्रा कितनी ही कम क्यों न हो एकदम शून्य नहीं होती एवं हो भी नहीं सकती। परन्तु शून्य न होने पर भी व्यवहार-क्षेत्र में वह शून्यवत् है। $\frac{१}{२५६}$ मात्रा को मन की सूक्ष्मतम मात्रा का उच्चारण माना जाता है। मात्रा और भी सूक्ष्म होने पर मन की क्रिया नहीं रक्खी जाती है, इसीलिए उसे उन्मना कहा जाता है। तब फिर मन का सन्धान नहीं किया जा सकता। मन ही तो चन्द्र है—बिन्दु पूर्ण चन्द्र है, अवश्य वह विशुद्ध और चिन्मय है। इसीलिए बिन्दु से ही चिदनुभव का आरम्भ होता है। स्वच्छ दर्पण में जैसे ज्योति प्रतिबिम्बित होती है वैसे ही बिन्दु में चिदालोक प्रतिबिम्बित होता है। मात्रा-विभाग के कारण मन का उपादान क्रमशः क्षीण होता जाता है। मन के रहने पर ही काल का भय रहता है। क्योंकि मन चन्द्र है और काल राहु है। यह काल अवश्य सूक्ष्म काल है जो जरा और क्षय का हेतु है। मन जितना ही क्षीण होता है काल-स्पर्श उतना ही कम होता है। किन्तु कम होने पर भी रहता अवश्य है। पक्षान्तर में प्रतिबिम्बित चित् की उज्ज्वलता उतनी ही अधिक होती है। यह क्षीयमाण मन समना

पर्यन्त रहता है। बिन्दु पूर्णिमा है—उसके अनन्तर ही कृष्ण पक्ष का आरम्भ होता है। समना को कृष्ण चतुर्दशी कहते हैं। उसके बाद ही उन्मना है—यह अमावस्या है।

किन्तु समना से उन्मना किस तरह होती है यह समझाना कठिन है। योगी उसका स्वयं अनुभव करते हैं, वह स्वयंवेद्य है। एक हिसाब से उन्मना में कला नहीं रहती—किन्तु न रहने पर भी रहती है। जैसे असंप्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्तिरूप से नहीं रहता, किन्तु फिर भी रहता है, अर्थात् संस्कार रूप से रहता है वैसे ही समना में सूक्ष्म मन नहीं है, पर संस्कार है।

और भी एक रहस्य है। हमने बिन्दु को पूर्णिमा कहा है, किन्तु वह ठीक पूर्णिमा नहीं है। यथार्थ पूर्णिमा षोडशी है—पञ्चदशी नहीं है। ठीक पूर्णिमा होने पर पूर्णता अक्षुण्ण रहती—कृष्ण पक्ष नहीं आता। कृष्ण पक्ष ही कालग्रास है। बिन्दु में १५ कलाएँ हैं, एक कला नहीं है। अर्थात् अमृतकला अथवा षोडशी का अभाव है। वैसे ही उन्मना में १५ कलाओं का अवसान है, किन्तु गुप्त-कला है—उसमें षोडशी का आभास है। १५ कलाएँ वहाँ अस्तंगत रहती हैं। यथार्थ ही यदि षोडशी रहती तो अमावास्या के बाद शुक्लपक्ष न होता। कालचक्र का आवर्तन होता है षोडशी की अभिव्यक्तता के अभाव से। षोडशकल पुरुष में अमृतकला एक है। वही वास्तविक अमाकला है, शेष १५ कलाएँ कालस्पृष्ट हैं और कालराज्य में संक्रमण करती हैं।

(५)

नाम-साधना की दो दिशाएँ हैं—एक में नामसाधना नाद में पर्यवसित होती है, दूसरी में यह रूपाभिव्यक्ति के माध्यम से भावसाधना पथ पर रस में पर्यवसित होती है। इसका पथ ही नित्य लीला का पथ है। दोनों पथों में परस्पर सम्बन्ध अथवा योग है, और पृथक् रूप से भी प्रस्थान हो सकता है। वर्तमान निबन्ध में हमने नाद के दृष्टि-कोण से संक्षेपतः दो चार बातें कही हैं।

नाम से भावसाधना के पथ में पहले सद्गुरु की प्राप्ति तथा मन्त्र-साधना का अधिकार उत्पन्न होता है। मन्त्र-साधना से दैहिक उपादान विशुद्ध होते हैं और मन्त्र-सिद्धि के साथ ही साथ भावदेह का विकास होता है। तब स्वभाव का पथ खुल जाता है और विधि-निषेध की सीमा कट जाने से रागमार्ग में भजन का अधिकार उत्पन्न होता है। यही वास्तविक साधना है। साधना के प्रारंभ में आश्रय-तत्त्व अभिव्यक्त होता है, इसीलिए रागसाधना संभवपर होती है—यह भावराज्य का व्यापार है। भावकुसुम के विकसित होने पर प्रेम का विकास होता है। तब विषयतत्त्व का अधिकार होता है। भाव-साधना एक प्रकार से विरह का क्रन्दन है, किन्तु प्रेम-साधना मिलन का उल्लास है। बाद में आश्रय और विषय परस्पर मिल कर एक हो जाते हैं। यह एक सत्ता ही रस है—यह समरसता सिद्धावस्था अथवा रसाद्वैत है। इस महास्थिति में अनन्त लीलाओं का स्फुरण होना संभव है। तब एक सत्ता अनन्त रूपों में फूट उठती है तथा अपना आनन्द अनन्त काल तक अनन्त रूपों से अपने में ही आस्वादित होता रहता है, किन्तु स्थिति रहती है उसी एक में।

केवल नाम की महिमा से भी इतने दूर पर्यन्त का पथ तय हो सकता है। सारांश यह कि नाम की शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। विभिन्न सन्तों की वाणियों से उसका महत्त्व समर्थित है। वे करुणापूर्ण हृदय से उपायविहीन दुःखी जीव का आह्वान कर पूर्णरूप से आश्वासन प्रदान करते हुए नाम का आश्रय ग्रहण करने को कहते हैं। नाम चिन्मय, रसविग्रह और चिन्तामणिस्वरूप है—वह जीवों के सब दुःख दूर करने में समर्थ है। उद्धार का ऐसा सहज उपाय कलियुग में निराश्रय जीवों का महाकल्याण करने के लिए ही उद्भावित हुआ है।

शाक्तदृष्टि से श्रीगुरुतत्त्व

साधारण भारतीय दर्शनशास्त्र की तत्त्व-विचारमूलक आलोचना अल्पाधिक मात्रा में यद्यपि हुई है तथापि शाक्त दर्शन की उस प्रकार की आलोचना आज तक एक प्रकार से नहीं ही हुई ऐसा यदि कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। प्राचीन दार्शनिकों द्वारा संस्कृत भाषा में निर्मित संग्रहग्रन्थों में जिस प्रकार इसकी उपेक्षा हुई है वैसे ही नवीन ऐतिहासिकगणों द्वारा संकलित दार्शनिक इतिहास में भी यह उपेक्षित रहा है। तत्त्वविचार की ही जब यह दशा है तब उस विचार की पृष्ठभूमि में जो गम्भीर साधना का अनुशीलन है उसके विवरण के सम्बन्ध में क्या आशा की जा सकती है? जब भविष्य में तान्त्रिक साधना के क्रमबद्ध इतिहास के संकलन का समय आयेगा तब उसमें शाक्त साधना गौरवपूर्ण और महनीय स्थान प्राप्त करेगी, इसमें सन्देह नहीं है।

साधनामात्र ही अनुभूति में पर्यवसित होती है एवं उस अनुभूति के ऊपर तदनुरूप तत्त्वविचार प्रतिष्ठित होता है। अनुभूतिरहित शुष्क युक्ति और तर्क अप्रष्ठित हैं। अवश्य युक्तिहीन अनुभूति भी प्रेक्षावान् पुरुष के हृदयंगम नहीं होती। इसलिए अनुभूति को भी यथासंभव युक्ति के द्वारा आत्मप्रकाश करना चाहिये।

किन्तु अलौकिक विषय में यह भी पर्याप्त नहीं है। क्योंकि अनुभूति में जैसे भ्रम रह सकता है वैसे ही विचार में भी भ्रम रह सकता है। यद्यपि दोनों का परस्पर समर्थन रहने पर भ्रम की सम्भावना अपेक्षाकृत कम रहती है। इसलिए अनुभूति और विचार दोनों का ही शास्त्रीय विशेषतः आगमीय सिद्धान्त के द्वारा परीक्षित और समर्थित होना आवश्यक है।

अभी हाल में शब्दब्रह्मस्वरूप श्रीगुरुतत्त्व के विषय में गुरुतत्त्व[1] नाम से एक लघुकाय पर उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसके साथ श्रीगुरुपादुका स्तोत्र की ग्रन्थकारविरचित व्याख्या भी संलग्न है। यह ग्रन्थकार के व्यक्तिगत अनुभव के ऊपर प्रतिष्ठित है एवं उसको उन्होंने शास्त्र और युक्तियों द्वारा समर्थित कर सरल भाषा में शाक्त साधनमार्ग के अनुरागी विद्वत्समाज में उपहृत किया है।

शाक्त तन्त्रसाहित्य के इतिहास में शाक्ताद्वैतवाद के दर्शन और साधन से सम्बद्ध आलोचना के आकर ग्रन्थों का अभाव नहीं है। शब्दब्रह्मवाद और वर्णमाला के रहस्य के उद्घाटन के सम्बन्ध में भी बहुत आलोचना विद्यमान है। वैष्णव सम्प्रदाय की पाञ्चरात्रसंहिताओं के अन्तर्गत किसी-किसी विशिष्ट ग्रन्थ (जैसे अहिर्बुध्न्यसंहिता) में भी वर्णतत्त्व की आलोचना हुई है। बौद्ध तन्त्रसाहित्य में भी वर्णमाला का विचार है, किन्तु इन सबके रहते भी पूर्वोक्त ग्रंथ का वैशिष्ट्य और उपादेयता में कमी नहीं आती।

---

१. श्रीसुरेन्द्रनाथ सेन रचित।

गुरुतत्त्व शब्दब्रह्मस्वरूप है। "शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति", यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। अर्थात् परब्रह्मरूप उपेय को यदि पाना हो तो शब्दब्रह्म ही उसका एकमात्र उपाय है। शब्दब्रह्म से उद्भूत चैतन्यशक्तिसम्पन्न शब्द या वाक्य ही मन्त्ररूप में परिगणित होता है। यह शब्द जिनके मुख से उच्चारित हो कर शुश्रूषु शिष्य के कान में तथा उसके द्वारा हृदय में अर्पित होता है, उनके व्यवहारभूमि में गुरुपद-वाच्य और गुरुरूप से पूजनीय होने पर भी वास्तव में यह मन्त्र ही यथार्थ गुरुरूप में ग्राह्य है। इस शब्दब्रह्म से परा, पश्यन्ती आदि के क्रम के अनुसार वैखरी पर्यन्त चार प्रकार की वाक् उत्पन्न हुई हैं एवं वाक् से पृथिवी से लेकर सदाशिवपर्यन्त सब तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए गुरु व्यक्त और अव्यक्तरूप से समग्र विश्व में व्याप्त हैं एवं वे विश्व के बाहर शब्द-ब्रह्म के रूप से एवं शब्दब्रह्म का अतिक्रमण कर परब्रह्म सच्चिदा-नन्दरूप से नित्य विराजमान हैं। पूर्ण ब्रह्म का परम स्वरूप अव्यक्त है और वह बद्ध जीव के लिए अवाङ्मनसगोचर है। इसीलिए वे जीव को स्वरूप धरा देने के लिए गुरुरूप से नीचे उतर आते हैं एवं जीव को धर कर क्रमशः फिर उसी अव्यक्त परम धाम में पहुँचा देते हैं। यही उनकी महाकृपा का विलास है। वह परम धाम सकल तत्त्वों के अतीत, चित्त के संचारक्षेत्र के ऊपर एवं शिवशक्ति की सामरस्यमय अद्वय भूमि है। इनका बाहरी अंश अतिसूक्ष्म ध्यान के गोचर और अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप होने पर भी अन्तरतम अंश वैसे ध्यान के भी अगोचर तथा सब प्रकार के विकल्पों के अतीत होने के कारण 'नेति नेति' रूप से ही निर्देश के योग्य है।

शाक्त लोग सब विकल्पों के अतीत परब्रह्म में भी स्वशक्ति अथवा ईक्षणशक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म की स्वशक्ति कभी लुप्त नहीं होती, पर स्थितिविशेष में केवलमात्र याप्य रहती है। पूर्वोक्त ग्रन्थकार ने श्रीगुरु की स्वरूपगत कई एक भूमियाँ अपनी अनुभूति के आलोक से व्याख्यात पादुकास्तोत्र के प्रमाण से प्रदर्शित की हैं।

माया के प्रभाव से पुरुष की अपने में 'अहम्' और प्रकृति में उक्त परिमित अहं भाव से भिन्न 'इदम्' प्रतीति उत्पन्न होती है। शुद्ध विद्या के उदय से माया के निवृत्त होने पर ये दोनों प्रतीतियाँ एक अभिन्न अहमात्मक ज्ञान के अन्तर्गत होती हैं। यही पूर्ण अहन्ता में प्रवेश है और इस स्थान से ही श्रीगुरुस्वरूप का आत्म-प्रकाश आरम्भ होता है। तान्त्रिक दृष्टि से शुद्ध विद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्व ही श्रीगुरु के आत्मप्रकाश के क्षेत्र हैं। प्रथम तत्त्व के अधिष्ठाता मन्त्रविद्येश्वर, द्वितीय तत्त्व के अधिष्ठाता मन्त्रेश्वर एवं तृतीय तत्त्व के अधिष्ठाता मन्त्रमहेश्वर के नाम से अभिहित होते हैं। जिस भूमि में श्रीगुरु शिष्य को प्रारम्भिक मन्त्र का उपदेश प्रदान करते हैं, वह त्रिगुणातीत होने पर भी शिष्य के त्रिगुण के अधीन होने के कारण उसमें दोनों का सम्बन्ध है। इसलिए उनके साथ जैसे त्रिगुणातीत क्षेत्र की वर्णशक्ति का सम्बन्ध है वैसे ही त्रिगुण-क्षेत्र की वर्णशक्ति का भी सम्बन्ध है। महायोग के प्रतीकस्वरूप जिस षट्कोण की बात योगिसमाज में प्रचलित है, जो बौद्धतान्त्रिकों की युगनद्ध कल्पना की और वैष्णव सिद्ध साधकों की योगपीठ और युगलस्वरूप कल्पना की मूलभित्ति है, वह वस्तुतः समना और उन्मना के त्रिकोण का संयुक्त

रूप है एवं ये दोनों ही त्रिकोण द्वादशदल के अन्तर्गत होने से त्रिगुण-भूमि के ऊपर अवस्थित हैं। इस भूमि में चित् और अचित् संकीर्णरूप से रहते हैं।

किन्तु ऊपर की भूमि विशुद्ध चिन्मय क्षेत्र है, इसीलिए ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठाता विशुद्ध चिदात्मक होने के कारण उस स्थान में मन्त्रेश्वररूपी गुरु और उनकी शक्ति अथवा गुरुशक्ति एकांगभावापन्न हैं। उनका अधिष्ठानस्थान बिन्दु, बीज और नादशक्ति के ऊपर अर्थात् त्रिगुणमयी त्रिविध प्रकृति के ऊपर तीनों का ही साक्षिरूप है। यह तुरीय भूमि है। ब्रह्मादि तीन गुणाधिष्ठाता निर्गुण भावातीत ईश्वर के ही तीन भावमात्र हैं।

इसके ऊपर ही पर व्योम है। वहाँ सदाशिव तत्त्व और उस तत्त्व के अधिष्ठाता श्रीगुरु का मन्त्रमहेश्वररूप विराजमान रहता है। यहाँ चित् घनीभूत होकर सत्स्वरूप से प्रकाशमान होती है। शब्दब्रह्म यहाँ परा वाक् के भी अतीत अव्यक्त वाक् के रूप में श्रीगुरु के साथ साथ रहते हैं, वर्णमाला में जो शब्दब्रह्म का प्रकाश है उसका एकमात्र प्रयोजन अचित् को चित् में प्रतिष्ठित कर चित् को सत् रूप में प्रकट करना है। किन्तु वर्णमाला के ऊपर भी शब्दब्रह्म का प्रकाश है। उसका परम प्रयोजन परब्रह्म की उभयमुखी शक्ति का सामरस्यसम्पादन एवं उसके अंगीभूतरूप से परब्रह्म का एक से बहुभाव में प्रसारण और बहुत से एक भाव में संकोच की लीला का अनुष्ठान है। इस सन्धिस्थल में ही श्रीभगवान् की आनन्दपीठ आत्मप्रकाश करती है। अद्वय आनन्द में ही सब तत्त्वों की समाप्ति होती है। यहीं से सब तत्त्वों का स्फुरण होता है। यहीं संहार या सृष्टि का अवसान होता है और यहीं स्थिति होती है। यह आनन्द-भूमि ही आदि हंसमिथुन के पादपद्म से निकले आनन्दामृत से आपूरित है। यह आनन्दरस शिवशक्ति-युगल के मिलन से उद्भूत है। योगी यहाँ आने पर ही परमहंसपद से आख्यात होने योग्य होते हैं।

मन्त्रेश्वरभूमि में ब्रह्मादि चिद्-अचिद्-मिश्र तीन सगुण ईश्वर और चित्स्वरूप निर्गुण साक्षिभूत चतुर्थ ईश्वर विराजमान रहते हैं। मन्त्रमहेश्वर भूमि में सत्स्वरूप पञ्चम ईश्वर हैं। उनके ऊपर आनन्दभूमि में षष्ठ ईश्वर—जो परम पुरुष और परमा प्रकृति का एकीभूत रूप है—विद्यमान हैं। इस आनन्दभूमि के अधिष्ठाता आनन्दनाथ श्रीगुरु के पादपद्म से अनन्त आनन्दालोक चन्द्रकिरणों के तुल्य विकीर्ण होता है। इसके भी ऊपर जो है वह अलख अर्थात् परब्रह्म की असीम अव्यक्त सत्ता है। उक्त ग्रन्थ आलोच्य विषय के गुरुत्व की अपेक्षा बहुत स्वल्पकाय होने पर भी उसमें आनुषङ्गिकरूप से बहुत तथ्यों की अवतारणा और मीमांसा का श्लाघनीय उद्यम दृष्टिगोचर होता है। प्रायः प्रत्येक स्थल में लेखक की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, गाढ़ अभिज्ञता तथा प्रतिपादन कौशल का परिचय प्राप्त होता है। पर किसी स्थान में आलोचना अति संक्षिप्त हुई है, ऐसा प्रतीत होता है।

शास्त्र में लिखा है—"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥" अर्थात् अनादि अनन्त शब्द नामक ब्रह्मतत्त्व ही अर्थ रूप से विवर्तित होता है और जगत् की रचना करता है। 'वागेव विश्वा भुवनानि

जज्ञे'—यही वह है। सब वर्णमातृकाएँ इस शब्दब्रह्म की ही अङ्ग हैं। ये किस तरह से स्थूल विश्व में अवतीर्ण होकर लोकमण्डल आदि की सृष्टि करती हैं, किस प्रकार से इनकी चिद्रश्मियाँ सूक्ष्म जगत् में संचरण करती हैं एवं किस किस प्रणाली से कारणभूमि में इनका अनुभव होता है, इसका विवरण उक्त ग्रन्थ में दिया हुआ है। वर्णों का अवतरण होता है अव्यक्त से व्यक्त जगत् में मानस-मात्रा के अवलम्बन से, यह भी समझाया गया है। वाक् के साथ प्राण की धारा और मन की धारा अर्थात् शक्ति की धारा किस रूप से युक्त है, यह भी प्रदर्शित हुआ है। ग्रन्थकार ने दिखलाया है कि यह अवतरण आज्ञा-चक्र होकर सोम आदि तीन मण्डलों के गठन के लिए होता है। इस प्रसंग में देश और काल के आविर्भाव तथा कारण आदि तीन देहों के निर्माण की आलोचना की गई है। देह की रचना में और षट्चक्र के प्रकाश में मातृकाओं का विशेष कार्य क्या है इस सम्बन्ध में यथासम्भव विचार किया गया है। नादस्थ ईश्वर के साथ वर्णमातृकाएँ योगिनीरूप से सृष्टिकार्य का निर्वाह करती हैं। चार प्रकार की वाक् का न्यास किस प्रकार से करना आवश्यक है इसका विस्तृत विवरण ग्रन्थकार ने देने की चेष्टा की है। तान्त्रिक साधना में न्यास का कितना उच्च स्थान है इस बात को प्रत्येक तान्त्रिक साधक जानता है। दिव्य जीवन लाभ के लिए उसका महत्त्व सर्ववादि-सम्मत है। वस्तुतः देवता के अङ्ग से निकली हुई चिद्रश्मियों का अपनी देह में संनि-वेश करना ही न्यासप्रक्रिया का उद्देश्य है। न्यास के द्वारा ही देवभाव प्राप्त होने से उपासना में अधिकार प्राप्त होता है। यह न्यास-तत्त्व अत्यन्त जटिल और दुर्ज्ञेय है, किन्तु अनुभूतिसम्पन्न साधक की सुबोध वर्णनशैली की महिमा से यह चिन्तनशील पाठकों के बोधगम्य होगा, ऐसा हमें प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार ने शाक्ताद्वैतवाद की भित्ति में ही उपर्युक्त आलोचना की है। इसके मूल में है उनकी प्रत्यक्ष योग-अनुभूति एवं उसके समर्थक हैं आगमप्रमाण और युक्तियाँ। जिस प्रकार उन्होंने उस मूल का अवलम्बन कर तत्त्वविचार तथा साधन-पद्धति का समन्वय किया है, वह वास्तव में विस्मयावह है। श्रीगुरु का विशेष अनु-ग्रह न रहता तो इस तरह के कठिन विषय में वे ऐसा अभिनव प्रकाश डालने में समर्थ न होते। परन्तु यह सत्य है कि सरल और सहज भाषा में समझाने की चेष्टा करने पर भी बहुतों के लिए ये सब विषय दुर्ज्ञेय ही रह जायँगे, क्योंकि ये सब तत्त्व केवल बुद्धि-गम्य नहीं हैं, श्रीगुरुकृपा से प्राप्त अनुभूति के गोचर हैं।

इस प्रसंग में यह भी वक्तव्य है कि व्यक्तिगत अनुभूति सत्य होने पर भी निरपेक्ष सत्य नहीं है। इसीलिए अधिकार-भेद से अनुभूति में भी भेद दिखाई देता है। दृष्टान्त-रूप में ग्रन्थकार प्रदर्शित वर्णमाला के स्वरूप और अवतरण के सम्बन्ध में विविध धाराओं का निर्देश किया जा सकता है।

मालिनीविजय की धारा की बात इस प्रसंग में याद आती है। लोग जिसे वर्णमाला कहते हैं वह वस्तुतः ही माला है—अकारादि क्षकारान्त क्रम से सजी अक्ष-माला है। यह पूर्वमालिनी नाम से प्रसिद्ध मातृका है। किन्तु उत्तरमालिनी भी है, उसके अनुसार वर्णमाला का क्रम भिन्न है। उसमें प्रथम वर्ण न और अन्तिम वर्ण फ है,

बीच में कोई क्रम नहीं है। इसका भी प्रयोजन है, यह कहना अनावश्यक है। स्वच्छन्द तन्त्र में जैसे पूर्वमालिनी के प्रयोग की व्यवस्था है वैसे ही मालिनीविजयोत्तर में उत्तरमालिनी की व्यवस्था का विधान है। उत्तरमालिनी के मत में फ = पृथिवी है। द से झ तक के वर्ण जलादि प्रकृति पर्यन्त तत्त्व हैं। छ से अ तक वर्ण पुरुष से माया पर्यन्त तत्त्वों के वाचक हैं। इ से घ पर्यन्त वर्ण शुद्ध विद्या, ईश्वर और सदाशिव के वाचक हैं। ग से न पर्यन्त १६ वर्ण षोडश वर्णात्मक शिव के वाचक हैं। परात्रिंशिका की व्याख्या में लिखा है अ—अः ये सोलह शिव-तत्त्व के वाचक हैं, क—ङ पृथिव्यादि पञ्चभूतों, च—ञ गन्धादि पञ्च तन्मात्राओं, ट—ण पादादि पंच कर्मेन्द्रियों, त—न प्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, प—म ये मन, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष के वाचक हैं। य—व अर्थात् वायु प्रभृति राग, विद्या, कला और माया के वाचक हैं। श ष स ह क्ष महामाया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति के वाचक हैं। तन्त्रालोक में तथा मातृकाचक्रविवेक में भी मातृकाओं का विचार है। यहाँ उसका उल्लेख निष्प्रयोजन है।

उन्मना के सम्बन्ध में भी दो-चार बातें कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। शास्त्र का सिद्धान्त संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित किया जाता है। इससे ग्रन्थकार की अनुभूति का पार्थक्य कहाँ है यह विचारशील प्रत्येक समझ सकेंगे। आगम में समना और उन्मना के भेद से दो धाराओं की बात पाई जाती है। इनमें से उन्मनाशक्ति अधिकांश स्थलों में पराशक्ति के रूप से गृहीत होती है। समना तक पाशजाल है—"समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।" यह अभिज्ञ योगी को ज्ञात है कि व्यापिनी का भेद कर समना में उत्थित होकर वहाँ मन का त्याग करना चाहिए। यह मन अविकल्प अर्थात् विकल्पशून्य है, यह कहना अनावश्यक है। स्पर्श पर्यन्त मन का विषय है। शक्ति-भेद के बाद जिस व्यापिनी की उपलब्धि होती है वह शक्ति पर्यन्त समग्र अध्वा की व्यापक है। वहाँ का अनुभव चींटी के संचार के तुल्य स्पर्श है। नादान्त तक शब्द रहता है। स्पर्शातीत अवस्था में मन क्षीणविषय होता है। तब निर्विकल्प मन का निर्विकल्प मन के द्वारा ही त्याग करना पड़ता है। इस त्याग का स्वरूप क्या है? इसका उत्तर है—प्रकृष्ट एकाग्रता वश आभासमय ज्ञेय पदार्थ के ग्रहण की इच्छा संकुचित होती है। यही संवेदन की प्रशान्ति है। यह प्रशान्ति ही अर्थात् संवेदन की निवृत्तिरूप अवस्था ही मन के त्याग के नाम से अभिहित होती है। इस अवस्था में विकल्पों का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जिस मन का त्याग होता है वह भी निर्विकल्प है एवं जिस मन के द्वारा यह त्याग सम्पन्न होता है वह भी निर्विकल्प है। मन का उपशम होने पर जीवात्मा केवलत्व-लाभ करता है। आत्मा तब शुद्ध ज्ञाता के स्वरूप में स्थित रहती है। यह स्थिति ही आत्मव्याप्तिरूप अवस्था का पूर्वाभास है। इस अवस्था का योगी लोग शुद्धविज्ञानकैवल्य के नाम से वर्णन करते हैं। इस अवस्था में सब बन्धन कट जाते हैं,

---

१. पृथिवी = फ, जल = द, तेज = औ, वायु = ओ, आकाश = ऐ, पाँच तन्मात्राएँ = ए, त, अं, श, म, ११ इन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि और प्रकृति = क्ष, ष, ह, अः, स, आ, ल, ज, प, ट, र, ज, झ; पुरुष से माया तक = ठ, ढ, ड, य, भ, ब, अ; शुद्ध विद्या = इ, ईश्वर = ङ, सदाशिव = घ, शिव = ग, ख, क, व, ऊ, उ, ण, ई, ध, च, थ, ऌ, ॡ, ऋ, ॠ, न, (सोलह वर्ण)।

केवल जीव का आत्मज्ञान-क्रियारूप चैतन्यमात्र अवशिष्ट रहता है। यह सत्तामात्र अथवा प्रकाशमात्ररूप में स्थिति है। यह अतिउच्च अवस्था है, क्योंकि यह समना के अतीत है, इसलिए समग्र विश्व इसके नीचे प्रतिभासमान होता है। विश्व पृथिवी से सदाशिव पर्यन्त जानना चाहिए। शुद्धविज्ञानकैवल्य में सदाशिव पर्यन्त समग्र विश्व का जैसे ग्रहण नहीं है वैसे ही शिवात्मक परमभाव का भी ग्रहण नहीं होता। यह अपने स्वरूप में शान्तरूप से स्थितिमात्र है। सांख्य आदि प्रस्थानों के कैवल्य के आदर्श से यह आदर्श अतिउच्च है, इसमें सन्देह नहीं। इस अवस्था में आत्मा की निजानुरूप ज्ञानक्रिया विद्यमान रहती है। यही साधारणतः शुद्ध चैतन्यरूप से परिचित है। किन्तु परमशिव की ज्ञानक्रिया इससे भी विलक्षण है, क्योंकि वह सामरस्यरूप है। शुद्धविज्ञानकैवल्य में सामरस्य का उदय नहीं होता।

माया के ऊपर जो विज्ञानकैवल्य है, उसमें आणवमल रहता है, इसीलिए वह मलिन है। किन्तु यहाँ वह नहीं रहता। निम्न स्तर के विज्ञानकैवल्य में जो ज्ञान रहता है वह माया और पुरुष का विवेकरूप है, किन्तु इस विशुद्ध ज्ञान में अशेष विश्व ज्ञेयरूप से प्रतिभासमान होता है। मन्त्र और मन्त्रेश्वर का जो ज्ञान है उसमें विज्ञेय के साथ सम्पर्क रहता है, किन्तु यह केवल अवस्था है, इसलिए इस ज्ञान में उसका सम्पर्क नहीं रह सकता। पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि यह शुद्ध कैवल्य-स्थिति सदाशिव की अवस्था से भिन्न है एवं पक्षान्तर में परम शिव की स्थिति से भी भिन्न है। परम शिव की स्थिति स्वच्छ, स्वच्छन्द और चिदानन्दघन है, किन्तु यह विज्ञानकैवल्य शुद्ध होने पर भी वैसा नहीं है—इस अवस्था में शिव का अपर रूप अतिक्रान्त होता है सही, परन्तु परमरूप की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा तब अपने स्वरूप में अर्थात् शुद्ध ज्ञाता हो कर अवस्थान करती है। यही आत्मव्याप्ति है।

इसके पश्चात् उन्मना-पद पर आरूढ़ हो सकने पर शिवव्याप्ति होती है। तब चिदानन्दघन परतत्त्वव्याप्ति हो सकती है। समना पर्यन्त ही कलङ्क रहता है। शुद्ध-विज्ञानकैवल्यदशा में समना पर्यन्त सब बन्धन निवृत्त हो जाते हैं सही, किन्तु निवृत्ति का संस्कार रह जाता है। शुद्धविज्ञानकैवल्य भी निवृत्तिसंस्कारयुक्त होने से सोपाधिक अवस्था है, निरुपाधिक नहीं है। परम शिव की अवस्था इसके भी ऊपर है। यही अनवच्छिन्न स्थिति है। यह विश्व के अतीत अथच विश्वात्मक स्वतन्त्र चिदानन्दघन परमस्थिति है।

शिवव्याप्ति का ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न साधक शुद्धविज्ञानकैवल्यप्राप्त आत्मा में ही शिवत्व का आरोप करते हैं। इन सब साधकों के लिए परम शिव अवस्था में प्रवेश पाना अति कठिन है। व्यापकत्व, नित्यत्व, चित्त्व, स्रष्टृत्व आदि अनन्त धर्म शिव में तथा शुद्धज्ञानात्मक आत्मा में समानरूप से विद्यमान रहते हैं। सब शुद्ध आत्मा ही इस साम्य के कारण शिवरूपी हैं। किन्तु यह शिवरूपत्व भेदभावमूलक है, इसमें सन्देह नहीं है। अद्वयमार्ग में इसके द्वारा परम शिवावस्था का उदय नहीं होता। नेत्रतन्त्र में स्पष्ट ही कहा गया है कि ये सब आत्म-उपासक परमपद या परम शिवपद को प्राप्त नहीं हो सकते।

अतएव स्वातन्त्र्यहीन मुक्त अणुभाव का त्याग कर स्वातन्त्र्यमय संकोचहीन परम शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए आत्म-व्याप्ति के बाद विद्या-व्याप्ति की आवश्यकता होती है। यह विद्या ही उन्मना के नाम से परिचित है। संकल्प या इच्छा अथवा क्रमिक ज्ञान ही मन का स्वरूप है; किन्तु उन्मना में जिस ज्ञान का विकास रहता है वह क्रमिक ज्ञान नहीं है युगपत् ज्ञान है। इसमें विश्व के आभास, अवभास, निर्माण आदि अनन्त प्रकार के वैचित्र्य विद्यमान रहते हैं। ये अनन्त वैचित्र्य नित्योदित आनन्दघन स्वातन्त्र्य-शक्ति के आभासरूप से उन्मना में अवस्थित रहते हैं। यह उन्मना-ज्ञान ही उन्मना-शक्ति या परा विद्या है। निम्नवर्ती शुद्ध विद्या आदि से यह अत्यन्त भिन्न है। आत्मतत्त्व की अवधि माया पर्यन्त है, उसके ऊपर शुद्धविद्या से शक्ति तक समग्र विशाल राज्य को व्याप्त कर विद्यातत्त्व रहता है। यह उससे भी विलक्षण है। इस अवस्था में सर्वज्ञत्व आदि परम धर्मों की एक साथ प्राप्ति होती है। ये सब धर्म अभेदात्मक होने के कारण परमधर्म के नाम से अभिहित होने योग्य हैं।

उन्मना का पराविद्या के रूप में ग्रहण करने का युक्तिसंगत कारण भी है। परमेश्वर का स्वातन्त्र्य शक्तिरूप अनादि धर्म या स्वभाव का संवेदन ही उन्मना का कार्य है, क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मस्वरूप में जो परमात्मभाव अथवा शिवभाव है, वह जाना जाता है। उन्मना नामक विद्या में स्थिति होने पर अपना असंकुचित तेज अथवा चित्-ज्योति खुलती है। इसी का नाम परम शिवत्व है। इस तेज या चित्-ज्योति के अभिव्यक्त होने पर शिव के साथ तादात्म्य-लाभ होता है। अरणि-मन्थन से अग्नि के प्रज्वलित होने पर उसकी ज्वाला जैसे दाह्य पदार्थ को जलाकर आकाश में लीन हो जाती है अथवा आकाशभाव को प्राप्त हो जाती है वैसे ही दिव्यकरणों की उत्तेजना वश देहस्थ प्राण के अत्यन्त प्रदीप्त होने पर अर्थात् उसके मध्यस्थित ऊपर को प्रवाहित होनेवाली उदानाग्नि के रूप में परिणत होने पर देहस्थित शुद्धविज्ञानकैवल्यापन्न आत्मा अग्नि की ज्वाला के तुल्य समना पर्यन्त समस्त देहपाश को जलाकर तत्पद में लीन हो जाती है और निरुपाधिक परमशिव के साथ एकात्मता प्राप्त करती है।

ग्रन्थकार ने मात्रा के प्रसङ्ग में मानस मात्राओं का विचार किया है। यह विचार अतिसूक्ष्म और गम्भीर है। उन्होंने दिखलाया है कि स्थूल विश्व की अनुभूति समग्र मन की मात्रा को लेकर होती है। किन्तु उस मात्रा में सूक्ष्म अनुभूति की धारणा नहीं होती। तब मात्राओं का प्रसार बढ़ाना पड़ता है अर्थात् मात्राओं को स्वच्छ और तरल करना पड़ता है। मात्राओं की घनता जितनी कम होने लगती है उतनी ही उसकी स्वच्छता बढ़ती है। अर्द्धमात्रा से ही सूक्ष्म अनुभूति का सूत्रपात होता है। नव नादों के प्रसङ्ग में उन्होंने दिखाया है कि प्रथम नाद-स्तर बिन्दु में अर्द्धमात्रा है,—इसका स्थान भ्रूमध्य में है। यहाँ प्रथम शून्य है। नवम नाद-स्तर उन्मना है, उसकी मात्रा $\frac{१}{५१२}$ है। वहाँ पञ्चम शून्य है। इसके अनन्तर फिर नाद नहीं है—उन्मना में ही शब्दब्रह्म का नादरूप समाप्त हो जाता है। उसके आगे महा-नाद परसंवित्, अद्वैत आत्मा अथवा परब्रह्म स्वरूप है।

साम्प्रदायिक मत के अनुसार काल का परमाणु लव कहा जाता है। उपलब्धि-

योग्य सूक्ष्मतम काल ही काल का परमाणु या लव है। कोई कोई कहते हैं कि २५६ लवों से एक मात्रा होती है वह लघु स्वर का उच्चारण-काल है। योगिनीहृदय के मत से ५१२ लवों से एक मात्रा होती है। बिन्दु का काल अर्द्धमात्रा है। उसके बाद प्रत्येक का काल आधा आधा है। अर्थात् उन्मना को एक लव मानने पर बिन्दु में २५६ लव अथवा अर्धमात्रा होती है। भास्करमत में उन्मना में काल का परिच्छेद नहीं है—समना में काल का आरम्भ है। योगिनीहृदय के मतानुसार उन्मना से काल की प्रवृत्ति है—उन्मना के ऊपर काल नहीं है। किसी किसी तन्त्र में लिखा है—बिन्दु की मात्रा $\frac{१}{२}$ है, अर्द्धचन्द्र की $\frac{१}{४}$, निरोधिका की $\frac{१}{८}$, नाद की $\frac{१}{१६}$, नादान्त एक प्रकार से नाद का ही पल्लवित रूप है। शक्ति की $\frac{१}{३२}$, व्यापिनी की $\frac{१}{६४}$ तथा समना की भी $\frac{१}{६४}$ मात्रा है। उन्मना अमात्र है अर्थात् कालस्पर्शहीन है। इस मत में समना + व्यापिनी = $\frac{१}{३२}$, उसके साथ शक्ति का योग होने से मात्रा = $\frac{१}{३२}$ + $\frac{१}{३२}$ या $\frac{१}{१६}$ है। उसके साथ नाद का योग होने से $\frac{१}{८}$। उसके साथ निरोधिका के योग से $\frac{१}{४}$। अर्द्धचन्द्र के योग से वह होती है $\frac{१}{२}$। उसके साथ बिन्दु की $\frac{१}{२}$ मात्रा के योग से होती है एक मात्रा। मात्रा के सम्बन्ध में अधिक विवरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि इस एकमात्रा को छोड़कर प्रणव के अकार की मात्रा १, उकार की मात्रा २ और मकार की मात्रा ३ = सब मिलाकर ६ मात्राएँ होती हैं। इसलिए समना तक मात्राओं की संख्या ७ है। निष्कलनाथ अमात्र उन्मना परतत्त्व स्वरूप है— उसी में पूर्वोक्त सात मात्रारूपी सात देवियाँ हैं। यह जो मात्रा है वह सूक्ष्म मन्त्रकला का उच्चारण-काल है। मन्त्रावयव का काल अति सूक्ष्म है, वह मन्त्रवाच्य देवता का अवधिभूत बाह्य स्थूल काल नहीं है। स्थूल काल बाह्यतत्त्वगत है। सूक्ष्म काल का प्रशमन होने पर ही अति विशाल कालराज्य का प्रशमन हो सकता है। ये सब मन्त्रावयव के विमर्श-काल में तत् तत् वाच्य देवता के अनुभव होते हैं। निम्नतर पद का अनुभव ऊर्ध्वतर पद के अनुभव के अन्तर्गत हो जाता है। यहाँ संक्षेप में कहा जा सकता है कि मतविशेष में अकार का अनुभव स्थान हृदय है, उसके बाद क्रमशः कण्ठ (उ का), तालु-मध्य (म का), भ्रूमध्य (बिन्दु का), ललाटान्त (निरोधी का), मूर्द्धा (नाद का), ३६ अंगुल रन्ध्रान्त (शक्ति का), त्वक्शेष (व्यापिनी का) और केशशेष (समना का) स्थान जानना चाहिये। अन्तिम तीनों के स्थान में भेद नहीं है। समना ही चरम है। उन्मना इसके अतीत है।

वाक्तत्त्व के सम्बन्ध में भी बहुत बातें कहने योग्य थीं। किन्तु निबन्ध का कलेवर अधिक लम्बा हो गया है। इसलिए और अधिक आलोचना की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

शाक्त-साधना और शाक्त-दर्शन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल से ही शाक्तों का मत प्रचलित था एवं इसके भिन्न-भिन्न प्रस्थान भी थे। तन्त्र-साहित्य के सम्यक् उद्धार और अनुशीलन से इन सब प्रस्थानों के स्वरूपनिर्णय और परस्पर सम्बन्ध के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त हो जायगा, ऐसी आशा है। काश्मीर, केरल और गौडीय धारा में नाना विषयों में मुख्य और अवान्तर मतभेद हैं, यह सत्य है। प्रत्येक धारा में भी जो आभ्यन्तर मतभेद हैं, उनका भी परिचय मिलता है।

सृष्टितत्त्व पर कुछ प्रासङ्गिक बातें

शाक्त-दृष्टि के अनुसार सृष्टि का उन्मेष कैसे होता है ? इसपर कुछ विवेचन पहले (पृ० १३०–१३७ में) किया गया है। यह विषय इतना जटिल तथा गहन है कि संक्षेप में इसके रहस्य का उन्मीलन होना कठिन है। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थसृष्टि शब्द के अधीन है अर्थात् सृष्टि का यह क्रम है कि पहले ज्ञान से शब्द का उद्भव होता है तदनन्तर उससे अर्थ का आविर्भाव होता है। ज्ञान में जिस सत्ता की आत्मरूप से प्रतीति होती है शब्द में उसी का अनात्मरूप से स्फुरण प्रतीत होता है। इसके अनन्तर शब्द से अर्थ के स्तर में पहुँचने पर सृष्टिक्रिया पूर्ण होती है। रहस्यवित् आचार्य भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दतत्त्व से ही अर्थ का आविर्भाव होता है। अनादि और अनन्त शब्दतत्त्व को ही उन्होंने मूल तत्त्व माना है। वही अक्षरस्वरूप है। वही अर्थरूप से विवर्तित होता है। इस विवर्त से ही जगत् की सृष्टिप्रक्रिया चलती रहती है। जिस सिद्धान्त के अनुसार शब्दब्रह्म का सिद्धान्त माना जाता है उसके अनुसार शब्दातीत पर ब्रह्म से शब्द से अर्थ स्वभावतः ही प्रकट होता है।

यहाँ जिस धारा की आलोचना की जा रही है उससे भी शब्द के बाद ही अर्थ का आविर्भाव माना जाता है अर्थात् अर्थ की स्फूर्ति होती है शब्द से और शब्द का स्फुरण होता है शब्दातीत चैतन्य से। शब्द ही अर्थरूप में परिणत होता है। वास्तव में शब्द भी शक्ति ही है और अर्थ उसका बाह्य विकासमात्र है।

हम इस विषय को और स्पष्टरूप से समझने का यत्न करते हैं। मूल में जो निष्कल परमपद है, वही परमशिव हैं, वही पराशक्ति या महाशक्ति है और वही विश्व का परमस्वरूप है। वास्तव में वह एक अखण्ड सत्ता है। उस स्थिति में विश्व का महाशक्ति के साथ अभेद है। महाशक्ति परमशिव से अभिन्न है। वास्तव में स्वातन्त्र्य या शुद्ध स्पन्द ही महाशक्ति का स्वरूप है। इसलिए उसका सम्बन्ध भी एक प्रकार से नित्ययोग ही कहा जा सकता है। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि इस स्पन्दहीन सत्ता में नित्य ही स्पन्दन हो रहा है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि निःस्पन्द सत्ता का निःस्पन्दनत्व स्पन्दन होने पर भी बन्द नहीं होता। यह बुद्धि का अगम्य विषय है, बुद्धि से इसकी धारणा हो नहीं सकती। किन्तु शुद्धात्मा इसको स्वानुभव में चढ़ा सकते हैं, क्योंकि प्रमाण का गोचर न होने पर भी यह नित्य स्वप्रकाश है।

शुद्ध स्पन्दन की बहिरुन्मुखता के साथ ही साथ उस मूल अविभक्त एक सत्ता में वैचित्र्य का मानो भान होने लगता है। तब शिवशक्ति और विश्व कुछ कुछ पृथक्

ऐसे भासने लगते हैं। पर इनका नित्ययोग मिटता नहीं। उस स्थिति में शिव मानो शक्त्युन्मुख होते हैं और शक्ति होती है बहिरुन्मुख। अथवा यों कहना चाहिए कि शिव के अखण्ड स्वरूप में सांशता व्यक्त होती है जिससे उनका एक अंश उनसे युक्त रहने पर भी पृथक्-सा मालूम पड़ता है। इस अंश का नाम है शक्ति। परन्तु शक्ति भी सांश होती है। पूर्ववत् उसका भी एक अंश उससे युक्त रहकर पृथक्-सा हो जाता है। इस अंश का नाम है विश्व। यह शक्ति के गर्भ में प्रकट होता है और शक्ति से युक्त रहता भी है। इसे एक दृष्टिकोण से शक्ति का गर्भाधान समझा जा सकता है। इसके अनन्तर जब विश्व शक्ति-गर्भ से पृथक् हो जाता है तब उसका नाम पड़ता है सृष्टि। यह प्रसव-व्यापार के सदृश एक व्यापारविशेष है। इसमें शक्ति सृष्टि करती है एवं शिव तटस्थ या उदासीन रहते हैं। अथवा शिव को कर्त्ता मानकर शक्ति को सहकारी या करण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

अतिप्राचीन आगमों में सृष्टि के प्रसंग में मायिक सृष्टि के पहले की सृष्टि आदि सर्ग के रूप में वर्णित है। यह आदि सर्ग परमेश्वर की सृष्टिविषयक इच्छा से प्रकट होता है और यह परमेश्वर के निज स्वरूप से भासमान रहता है। यही शिव से अभिन्न विश्वरूप है। मायिक सृष्टि की इच्छा होने पर परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से आत्मरूप दर्पण में अनन्त ग्राह्य और ग्राहकों को अविच्छिन्न रूप से प्रतिभासित करते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि आदि सर्ग में ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं रहता। ये सब ग्राह्य और ग्राहक आभासरूपी भाव हैं। ये परमेश्वर के निज अंग कहे जा सकते हैं। मायिक सृष्टि में वे सब विचित्र भावों में से जो जो भाव देह, प्राण और बुद्धि से शून्य रहते हैं उनमें अपने अहन्त्वरूप कर्तृत्व का अर्पण कर उन्हें ग्राहकरूप में परिणत करते हैं। उनसे अतिरिक्त शब्द, स्पर्शादि भावों को इदं प्रतीति के विषय होने के कारण, अचिद्रूप में आभासित करते हैं। ये सब पूर्वोक्त ग्राहकों के ग्राह्य बन जाते हैं। इसीलिए कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्म देहादि में प्रकट होते हैं एवं कार्यत्व, ज्ञेयत्वादि धर्म शब्दादि विषयों में रहते हैं। इसीलिए एक की अजड़रूप में और दूसरे की जड़-रूप में प्रतीति होती है। मूल में जड़ और अजड़ में कोई भेद नहीं रहता। इसमें अनन्त वैचित्र्य और अनन्त तारतम्य भी हैं। वे शब्दादि जड़ों में भी हैं और देहादि अजड़ों में भी हैं। अजड़ों का वैचित्र्य सन्तानभेद से तो होता ही है इसके अतिरिक्त बन्धन के तारतम्य से भी होता है। प्रमाताओं का संकोच विभिन्न प्रकार का है और उनकी गतियाँ भी विभिन्न प्रकार की हैं।

शाक्त दृष्टि से आदि स्पन्दन का प्रसर यों है—मूल में जो निष्कल और निःस्पन्द सत्ता है, स्पन्दन के सम्बन्ध से वही शिव-शक्ति के रूप में भासमान होती है। इसका मूल है बिन्दु। वह ब्रह्मबिन्दु भी कहा जाता है। परन्तु वह ब्रह्मबिन्दु नहीं है। सृष्टि की उन्मुख अवस्था का नाम है बिन्दु। वह प्रपञ्चहीन और निराकार है। वर्णमाला में उसका प्रतीक 'अः' है, अर्थात् शून्याकार विसर्गान्त बिन्दु। वास्तव में यह स्पन्दन से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह प्रकाशस्वरूप है। ब्रह्म भी प्रकाशस्वरूप है, परन्तु यह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि इसमें स्फुरत्तारूप लहरी है। ब्रह्म में वह नहीं है। यह

सामरस्यस्थिति या काम है जो कि सृष्टि का प्रवर्त्तक है। आगमों की परिभाषा में इसका नाम 'रवि' है। क्षोभ-अवस्था में जब इसके साम्य का भंग होता है, तब दो बिन्दु पृथक् हो जाते हैं। उनमें से एक बनता है 'अग्नि' और दूसरा बनता है 'सोम'। अग्नि और सोम की साम्यावस्था ही काम या रवि है। वैषम्यावस्था में अग्नि और सोम पृथक्-पृथक् रहते हैं। साम्यभंग होने पर अग्नि की क्रिया पृथक् होती है और सोम की क्रिया भी पृथक् होती है। अग्नि सक्रिय होकर जब सोमबिन्दु का स्पर्श करती है, तब सोमबिन्दु विगलित होकर क्षरित होने लगता है। दूसरी ओर सोम जब सक्रिय होकर अग्निबिन्दु का स्पर्श करता है, तब अग्नि प्रदीप्त होकर सोम का शोष करती है। सोम के क्षरण से सृष्टि होती है तथा क्षरण बन्द होने पर संहार होता है। संहारकाल में सोम का क्षरण नहीं होता, आहुति होती है। आहुति में संहार होता है और क्षरण में सृष्टि होती है। स्थिति में आहुति और क्षरण दोनों साथ-ही-साथ चलते रहते हैं। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि स्थिति में आहुति भी नहीं होती और क्षरण भी नहीं होता।

साम्यरूपी कामबिन्दु के विषय में पहले कहा जा चुका है। उसमें दो कलाएँ हैं—एक है अग्निरूपी, जिसका स्वरूप रक्तवर्ण बिन्दु है और दूसरा है सोम अथवा शुक्लवर्ण बिन्दु। इस महाबिन्दु से बैन्दव चक्र या मध्य चक्र की रचना होती है। इसका उपादान पूर्वोक्त क्षरित अग्निसृष्ट सोमधारा है, जिसकी चित्कला या हार्धकला के नाम से प्रसिद्धि है। यह सोमप्रधान होने पर भी अग्नीषोमात्मक है।

इस मध्य चक्र या मध्य त्रिकोण के दो पक्ष हैं—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर त्रिकोण पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी—इन तीन मातृकाओं से रचित है। पर मातृका या परा वाक् से इन तीन मातृकाओं का उद्भव होता है। बाह्य चक्र वैखरीरूप है। यह तत्त्वात्मक है। यही विश्व है।

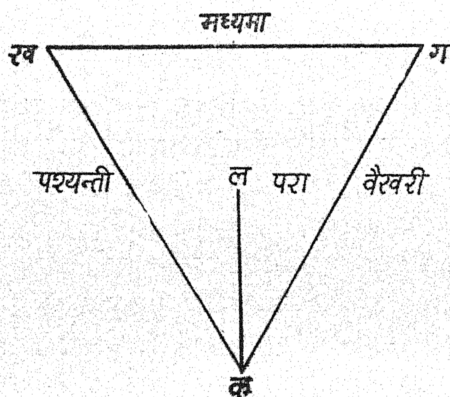
जिस स्थिति में शिव और शक्ति सर्वथा अभिन्न रहते हैं, वह निष्कल है। उसमें किसी प्रकार का भी अंश नहीं है। उस स्थिति में शिव भी निरंश हैं और शक्ति भी। वह ठीक साम्य भी नहीं है; क्योंकि उस अवस्था में दो तो हैं ही नहीं, एक ही एक है। जिस अवस्था में स्पन्दन होता है, उसमें परम शिव भी सांश हैं और परा शक्ति भी सांश है। परम शिव का अंश ही अम्बिका नाम से और परा शक्ति का अंश शान्ता नाम से प्रसिद्ध है। अम्बिका और शान्ता का जो सामरस्य है, वही महाबिन्दु है। कामरूप महाबिन्दु भी जात है, अजात नहीं, अर्थात् वह भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है।

जब विमर्शरूपा परा शक्ति परम शिव के स्फुरण पश्यन्त्यादि के क्रम से वैखरी पर्यन्त देखना चाहती है, तब वह अपने अंश शान्ता तथा प्रकाशांश अम्बिका—इन दोनों की सामरस्यावस्था को प्राप्त होती है। उस सामरस्यावस्था का नाम है परा वाक्। इस परा वाक् में छत्तीस तत्त्वमय विश्व बीजरूप में रहता है। जैसे बीज में वृक्ष रहता है। कई अंशों में यह भी ऐसा ही है। जब विश्व को गर्भ से परिस्फुट या निस्सारित किया जाता है तब उस शक्ति का नाम होता है वामा। वामा अंकुश के सदृश प्रतीत होती है। यह मूल त्रिकोण की वाम रेखा है। यह इच्छाशक्तिरूप पश्यन्ती है। ज्ञान-

शक्तिरूप ज्येष्ठा मध्यमा वाक् है। यह मूल त्रिकोण की अग्ररेखा या सरल रेखा है। अम्बिका और शान्ता शक्ति का साम्य होने पर शब्दब्रह्म का जिस रूप से प्रकाश होता है, उसका नाम है परा वाक्। इच्छा तथा वामा शक्ति के साम्य से पश्यन्ती का आविर्भाव होता है। ज्ञान तथा ज्येष्ठा शक्ति के साम्य से मध्यमा का आविर्भाव होता है। रौद्री क्रिया तथा रौद्री शक्ति की साम्यावस्था से वैखरी शक्ति का आविर्भाव होता है।

इस विवरण से ज्ञात हो जायगा कि प्रकाश की अंशभूत शक्ति अरूप है। परन्तु जब वह विमर्श की अंशभूत शक्ति से समरस होती है, तब वह रूपमयी हो जाती है। उस रूप का नाम है वाक्। वाक् के गर्भ में समग्र विश्व विद्यमान रहता है। विश्व तत्त्वात्मक है। सृष्टि के मूल में जो त्रिकोण है, वह वाङ्मय है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ पश्यन्ती आदि तीन प्रकार की वाक् हैं और मध्य बिन्दु परा वाक् है।

एक बात और ज्ञातव्य है। वह यह कि परा वाक् में विश्व है, पर वह उसके गर्भ में है। वामा में वह प्रसूत हो जाता है, ज्येष्ठा में उसका और भी अधिक विकास हो जाता है और वैखरी में वह पूर्ण विग्रह-रूप में आ जाता है। वैखरी क्रियाशक्ति का स्तर है। उसमें साकारता सबसे अधिक स्पष्ट रहती है। अर्थात्, पश्यन्ती में अर्थ वाक् से अभिन्न रूप में आविर्भूत होता है, मध्यमा में भिन्न और अभिन्न रूप में तथा वैखरी में भिन्न रूप से प्रकाशित होता है। यहाँ जिसका निर्गम होता है, वह पूर्ण है।



ल क और क ख सृष्टि, ख ग स्थिति और ग क तथा क ल संहार हैं। बिन्दु से सृष्टि होती है और संहार में बिन्दु में ही प्रवेश होता है। यह मध्य त्रिकोण अम्बिका-रूपी है। इसकी तीन रेखाएँ १५ स्वरों से रचित है। वाम रेखा में अ से उ तक पाँच स्वर हैं, ऊर्ध्व रेखा में उसके आगे के पाँच स्वर हैं एवं दक्षिण रेखा में अन्तिम पाँच स्वर हैं। इस प्रकार अ से अं तक १५ स्वरों से इस त्रिकोण का निर्माण हुआ है। इस त्रिकोण में अः यह सोलहवाँ स्वर है। वही सदाशिवरूपी आसन है, जिसपर शिव-शक्ति या परमेश्वर या परमेश्वरी नित्य विराजमान रहती है। प्रलया-नलरूपी शिव और चित्कलारूपी शक्ति अभिन्न स्वरूप से नित्य आसन पर अधिष्ठित रहती हैं। सृष्टि चित्कला से होती है और संहार होता है प्रकाशरूपी संहारा-नल से। चित्कला बहिर्मुख है तथा प्रकाश अन्तर्मुख है, परन्तु हैं दोनों ही अभिन्न।

छत्तीस तत्त्वों का विलयन होता है उस अग्नि में और उनका आविर्भाव होता है चित्-कला से। यह अग्नि वास्तव में अनुत्तर प्रकाश का ही प्रतीक है। इसकी द्योतना अवर्ण से होती है। चित्कला अन्तिम कला है, जिसका नामान्तर हार्धकला है। वह 'ह' है। दोनों मिलकर बिन्दुरूप से अभिन्न अवस्था में अहंपदवाच्य होते हैं। त्रिकोण की तीन रेखाएँ परस्पर समान हैं। मध्य बिन्दु से उत्पन्न होने के कारण त्रिकोण का नाम है 'अम्बिका'।

अन्तरतम बैन्दव चक्र से नौ त्रिकोण नवयोनिचक्र के नाम से उद्भूत होते हैं। नवयोनिचक्र के नौ अवयव यों हैं—धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रमाता जीव, प्रमेय और प्रमा। ये नवयोनिचक्र भीतर और बाहर चिदा-नन्दमय हैं, अर्थात् चैतन्यकलामय तथा पूर्णाहन्तास्फुरणात्मक आनन्दमय हैं। ये देश, काल तथा आकार द्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं। बैन्दव चक्र आभ्यन्तर और नवयोनिचक्र बाह्य है। ये नवयोनिचक्र वैखरीवाङ्मय हैं।

नवयोनिचक्र ही श्रीचक्र के नव चक्रों के रूप में परिणत होते हैं। भीतर से बाहर की ओर चक्रों के नाम यों हैं—(१) महाबिन्दु अथवा सर्वानन्दमय चक्र, (२) त्रिकोण या सर्वसिद्धिप्रद चक्र, (३) अष्टकोण या सर्वरक्षाकर चक्र, (४,५) दो दशकोण अथवा दशार या सर्वार्थसाधक और सर्वरोगहर चक्र, (६) चतुर्दशार या सर्वसौभाग्य-दायक चक्र, (७) अष्टदलकमल या सर्वसंक्षोभण चक्र, (८) षोडशदल कमल अथवा सर्वाशापरिपूरक चक्र, (९) तीन चतुरस्र या भूपुर अथवा त्रैलोक्यमोहन चक्र।

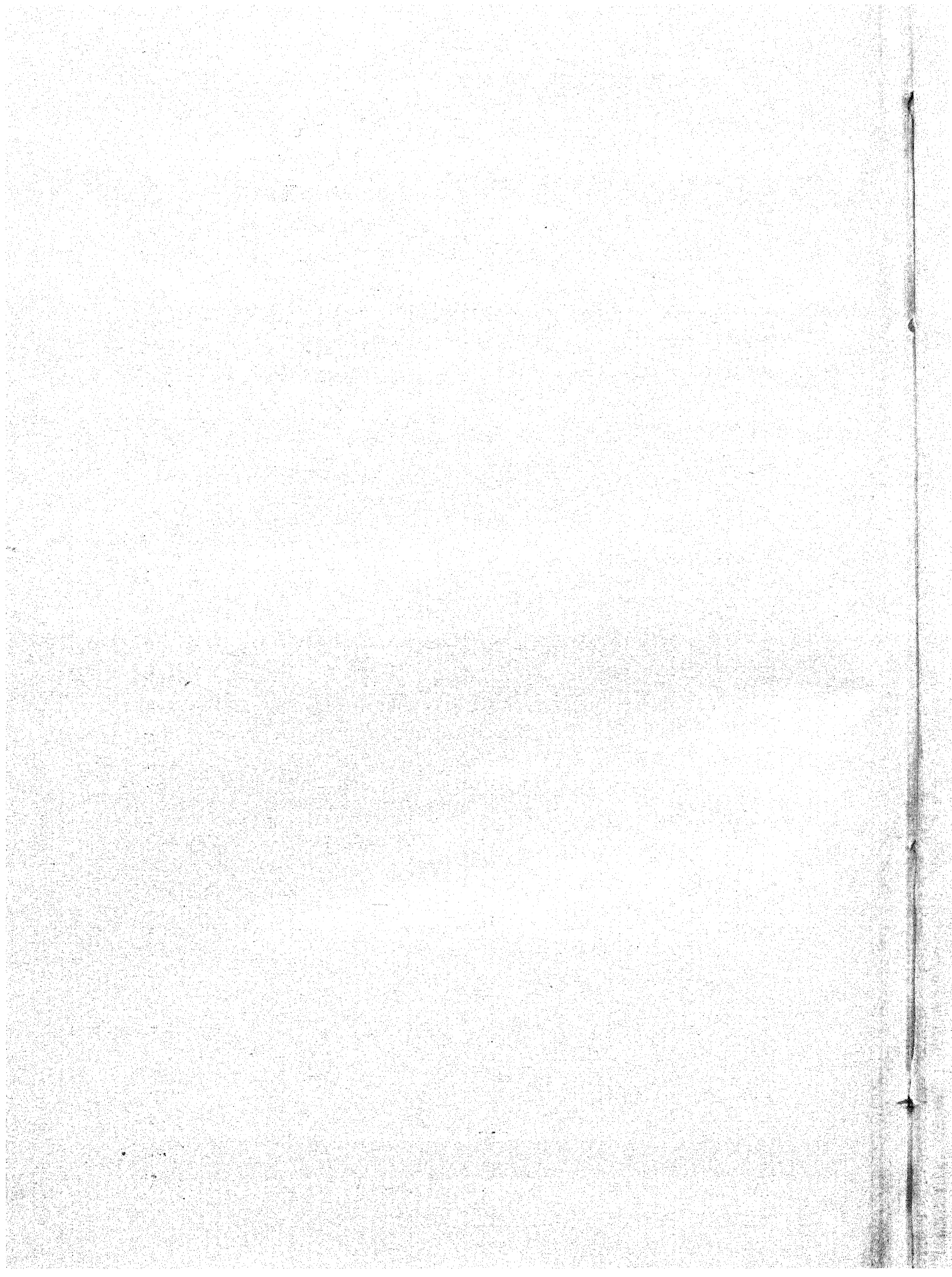
त्रिकोण के तीन स्पन्दनों से अष्टकोण का उद्भव होता है। यह त्रिकोण को वेष्टित करके रहता है। दशकोण दो हैं एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर दशकोण नौ त्रिकोणों और बैन्दव के चारों ओर स्फुरणशील प्रभाओं से निर्मित है। इससे य र ल व श ष स ह ळ और क्ष इन दस वर्णों की स्फूर्ति होती है। पृथिव्यादि पञ्चभूत और गन्धादि पञ्च तन्मात्राएँ या भूतसूक्ष्म इन दस वर्णों से प्रकाशित होते हैं। वर्ण शक्तिरूप हैं और अर्थ शिवरूप हैं। इसमें प्रकाश-विमर्शमय दश कोण हैं। ये सब मध्य में स्थित शिवशक्तिमय प्रभात्मक हैं। द्वितीय दशकोण, अर्थात् बाह्य दशार आभ्यन्तर दस कोणों की छाया है। इसमें क से ञ तक दस वर्ण हैं। शब्दादि पाँच तथा वचनादि पाँच इन्द्रियार्थों का स्फुरण इनसे होता है। इस द्वितीय दशार का परिणाम है चतुर्दशार। इसमें चौदह अर हैं, जिनमें बैन्दव, त्रिकोण, अष्टकोण और प्रथम दशार की चार प्रभाएँ हैं। दूरस्थ होने के कारण प्रभा ही दृष्टिगोचर होती है अवयवों के दर्शन नहीं होते। शेष दस और द्वितीय दशार की प्रभाएँ हैं। इस स्थान में अवयवों का दर्शन होता है। ये चतुर्दशार वास्तव में संवित्तिकरणात्मक १४ शक्तियों के रूप हैं—बाह्य इन्द्रियाँ दस और अन्तःकरण चार (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त)। यहाँ ट से भ तक चौदह वर्ण विद्यमान रहते हैं। इसके अनन्तर मध्यवर्त्ती अष्टदल और षोडशदल—इन दो कमलों के साथ तीन वृत्त हैं। इसके अनन्तर चार चतुष्कोण या भूपुर हैं। ये भी चक्र के बाह्य प्राचीर या सीमा हैं।

अनुक्रमणी

(१) "तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि" में उद्धृत ग्रन्थ ग्रन्थकार-नामों की सूची।

(२) "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि" में उद्धृत विशिष्ट पदों की सूची

(ह)



शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
शिवज्योति०	शिवं ज्योति०	३	२२
पूर्णाहं विम-शर्शात्मा	पूर्णाहं-विमर्शात्मा	४	१३
बदल	बगल	१०	५
सुषुम्ना	सुषुम्णा	११	३,१४
अग्निं	अग्नि		१४
प्रवृति	प्रवृत्ति	१३	१०
सूक्ष्म-उन्मुखता	सूक्ष्म-उन्मुखता शक्ति का		१२
प्रवृत्यारंभ	प्रवृत्त्यारंभ		२३
कमीवेसी	कमीवेशी	१६	१३
भगवद्नुग्रह	भगवदनुग्रह		२७
भोग भी कटतीं	भोग से भी कटती		३३
वैचित्र्य की बातें, परन्तु यह जानना आवश्यक है।	वैचित्र्य की बातें	१८	१०
०ग्निर्मस्मसात्	०ग्निर्भस्मसात्	१९	१२
विकास	विनाश	२०	१२
वाणी	प्राणी		१९
देवी-दीक्षा	दैवी दीक्षा		३५
हो हो सकता	हो सकता	२१	१३
सविकल्पक	निर्विकल्पक		२४
प्रमाणिक	प्रामाणिक		३४
स्तुति-गोचर	श्रुतिगोचर	२२	१७
विवेकोत्थ आगमोत्थ	विवेकोत्थ और आगमोत्थ		३०
श्रोती	श्रौती	२३	६
सालोक्य सामीप्य	सालोक्य, सामीप्य	२४	२०
तदन्तर	तदनन्तर	२४	२१
शक्तिपात का	शक्तिपात	२६	२०
भोगाकाँक्षा	भोगाकांक्षा		२७
स्तरों को	स्तरों के	२९	१२
करता	कराता		१४
न मी	न भी		१५
सर्व	सर्वे		२२
शुश्रुषा	शुश्रूषा		२५
हुए समयी-धर्म	समयी-धर्म	३०	२
शिखांच्छेद	शिखाच्छेद		६
अध्त्राओं	अध्वाओं		१०
जिसके	जिनके	३१	१
समयी चर्या	समयी चर्या		३
ऊपर	अपर		३०
करता	रहता	३६	१९
आत्मा का	आत्मा		२०
आत्मा का	आत्मा के		
शिवमय रूप से पूर्ण	शिवमय स्वभाव की पूर्ण	३७	३
स्थावर ले	स्थावर से		७
प्रकाश	प्रकाशक		३२
प्रधान पाशों	प्रधानसंबन्धी पाशों		३५
योनियों से	योनियों में	३८	४
सद्भाव	तद्भाव		८
है। ये	ये	३९	३०
भोग ओर	भोग और	४०	१५
दीक्षा ये	दीक्षा से		२४
विभन्न	विभिन्न	४२	७
कितना	कितनी	४३	१
प्रदर्शन	दर्शन		२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मनरूपेण	ममरूपेण	४४	५
वृक्षःसदृश	वृक्षसदृश		३१
प्रतीवक्त्री	प्रतिवक्त्री	४५	२२
शिप्य	शिष्य		२५
भुक्त्वा	मुक्त्वा		२६
नहीं	नहीं होती		३५
होता है	होती है		३८
पंचस्त्रोतोमय	पंचस्रोतोमय	४६	२
उद्धवान्मुख	उद्धवोन्मुख		३४
अर्जित	अजित	४७	२२,३५
अंशुमत	अंशुमत्		३३
सूक्ष्म शिवका	सूक्ष्म सूक्ष्म शिवका		३५
सुशिव का	सुशिव शिवका		३५
ईश्वर का	ईश्वर शिव का		३५
चन्द्रांशु	चन्द्रांशु	४८	१
आर्विर्भूत	आविर्भूत		१०
महोच्छूष्म	महोच्छुष्म		१८
गारुण-हृदय	गारुड-हृदय	४९	४
अविर्भाव	आविर्भाव		४
गम्य से	गम्य		१७
०पदैर्वाक्यः	०पदैर्वाक्यैः		३२
सद्रप्रकाशांशेन	सदा प्रकाशांशेन		३४
समवतयार-यामि	समवतार-यामि		३५
समझनी	समझना	५१	१२
मनुप्य-देह	मनुष्य-देह		१५
तारतभ्य	तारतम्य		१९
ताम्रिकशास्त्रों के	ताम्रिकशास्त्र		२५
स्वातन्त्र्य	स्वातन्त्र्य शक्ति	५२	२४
मे	में		५
वहिरग	बहिरंग		२४
अन्तःस्पदन	अन्तःस्पन्दन		३३
नहीं	नहीं	५३	९
इच्छा-शाक्त	इच्छा-शक्ति	५४	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अन्तमुंख	अन्तर्मुख	५५	२८
वर्गों	वर्णों	५६	१२
अभिव्यक्त	अभिव्यक्ति		१९
इस इस	इस		३१
आश्रय कर कर	आश्रय कर		३५
शक्ति का कार्य	शक्ति के कार्य	६१	३०
कमों	कर्मों	६८	२६
कविवर कृष्ण-दास	कविराज कृष्ण-दास	७१	२३
अन्याय	अन्यान्य	७२	१७
स्रष्ठा	स्रष्टा		१७
अतिवाहिक	आतिवाहिक		२६
के	की	७३	७
क्रियाा	क्रिया	७५	२३
के	की		३६
अग्निषोमात्मक	अग्नीषोमात्मक	७७	१४
उसके	उससे		२०
अनुप्रविष्ठ	अनुप्रविष्ट		३०
प्रकाश-शुक्रविन्दु	प्रकाश शुक्रबिन्दु		३३
मूल-त्रिलोक	मूल त्रिकोण	७८	१२
तत्त्वों की ओर	तत्त्वों की और		१३
करता	करती		२५
अनुगत	अनुभूत		२८
आविर्भाव का	आविर्भाव		३२
अधिष्टित	अधिष्ठित	७९	३
अचित	अचित्		२
का	के		२७
सुषुम्ना	सुषुम्णा	८२	१९
सम्भव	संभव		२३
उपासना सी	उपासना ही		२९
शिवाद्वत	शिवाद्वैत	८३	१५
जीव की	जीव के	८५	२४
दृष्ठि	दृष्टि		२५
चतुप्कोण	चतुष्कोण	८७	३१
गुरु को	गुरु की	८९	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
गिरजा	गिरिजा	८९	१५
षड् रसास्वादनं	षड्रसास्वादनं		३०
वर्ण	वर्णं		३१
पारावाक्	परावाक्	९३	२
वचित्र्य	वैचित्र्य		२७
विश्ववैचित्र्य के	विश्ववैचित्र्य की	९४	१०
प्रणाली से	प्रणालियों से		१२
सृष्ठि	सृष्टि		३०
आवृर	आवृत	९६	३०
परावाक्	परावाक्	९८	१५
अविछिन्न	अविच्छिन्न		२७
दृष्ठि	दृष्टि	९९	२
यहीं	यही		१०
ऊर्ध्वर्मुख	ऊर्ध्वमुख		१३
सुषुम्ना	सुषुम्णा		१५
वर्णमातृकाए	वर्णमातृकाएँ	१००	१
सुषुम्नास्रोत	सुषुम्णास्रोत		४
मेदन	भेदन		२०
भीं	भी	१०२	१४
एक के बाद	एक के बाद एक		२२
घनिष्ट	घनिष्ठ	१०५	१
योग	निस्तार		१४
यह	इस	१०८	१८
छोटी	छोटा	१०९	६
लगता	लगाना		१५
महात्भा	महात्मा		२३
सुषुम्ना	सुषुम्णा		२९
अलम्बूषा	अलम्बुषा		३३
क्लेदमव	क्लेदमय	११०	४
अनुष्ठान	अनुष्ठान		५
ब्रह्मरन्त्र	ब्रह्मरन्ध्र		१७
वर्णो	वर्णों	१११	१९
अवस्याओं	अवस्थाओं	११५	१८
जड़ाव	जड़भाव	१२०	१३
घनिष्ट	घनिष्ठ		२६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
यह	यह	१२६	१७
परमान्द	परमानन्द	१३१	२०
साम	सोम	१३४	५
अगनि	अग्नि		१५
उर्ध्व	ऊर्ध्व		३०
प्रकाशात्भक	प्रकाशात्मक	१३५	२५
शुद्व संसार	शुद्ध संसार	१३८	९
वस्तुभात्र	वस्तुमात्र	१४०	१६
जिसमैं	जिसमें	१४९	२०
अर्वमात्रा	अर्धमात्रा	१५१	६
सूक्ष्भ	सूक्ष्म	१५५	६
मुरव्य	मुख्य		१७
सृष्ठिकर्ता	सृष्टिकर्ता		२१
त्रह्मा	ब्रह्मा		२१
त्रह्माण्डों	ब्रह्माण्डों		२३
थह	यह	१५६	३
त्रह्माण्ड	ब्रह्माण्ड		१०
बबाकर	दबाकर	१५७	१४
प्रलर्यों	प्रलयों		१५
सी	सौ	१५८	२६
अर्थात्	अर्थात्	१५९	११
नित्व	नित्य		२१
चेष्ठाएँ	चेष्टाएँ	१६०	२२
उन्भेष	उन्मेष	१६१	९
सफलता	समता		१४
०मभिघत्ते	०मभिधत्ते		३५
भाषा	माया	१६५	२२
रहते हैं ?	रहते हैं ।	१६८	११
विषयसंघर्ष	विषम संघर्ष		१५
अहङ्कारात्मक	अहंकारात्मक भी		३२
लौल्य	लीला	१७१	१७
परमात्भा	परमात्मा	१७४	९
एक नित्याओं में	एक नित्या अन्य नित्याओं में	१८०	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सर्व समाधान के बाद भी	सर्वसमाधान-बाद भी	१८०	१५
शक्तिपुष्टि	शक्ति पुष्टि	१८१	२२
ब्रह्म	वस्तु	१८३	८
स्थूल	स्थूल	१८९	८
में कारण देह के कर्म पूर्ण	में कारण देह के कर्म अनारब्ध ही रह जाते हैं। स्थूल देह के कर्म पूर्ण	१९०	८
पूणरूप	पूर्णरूप	१९५	४
त्वाग	त्याग	१९६	३
पुरुषार्थं	पुरुषार्थ	२०६	२
अनुछाया	अनुच्छाया	२०७	३२
दृष्ठि	दृष्टि	२०८	३६
नौमक	नामक	२१०	६
नहीं है !	नहीं हैं।	२१३	२
स्थानों	स्थानों	२१५	२७
प्रणिपत्य	प्रणिपत्य	२३६	१५
परमानम्द	परमानन्द	२४४	१
निरवयय	निरवयव	२४८	३१
मायाचक्र	योगचक्र	२५०	१९
कर्म	कारण	२५५	२७
टीक	ठीक	२७९	१८
विरुद्धभाव	विरुद्ध भाव	२८०	६
वाक	वाक्	२८२	५
अर्न्तगत	अन्तर्गत	२८६	९
संक्षेप	संक्षेप	२८९	२३
पुनः पुनः	पुनः	२९२	९
उर्ध्वगति	ऊर्ध्वगति	२९८	६
भ्रमध्य	भ्रूमध्य	३०३	१८
आधारमूत	आधारभूत	३०७	२०
अप्रष्ठित	अप्रतिष्ठ	३११	१९
ग्रन्थ का	ग्रन्थ के	३११	२०
निस्मयावह	विस्मयावह	३१४	२४
उन्नेष	उन्मेष	३१९	१
जौर	और	३२०	३५